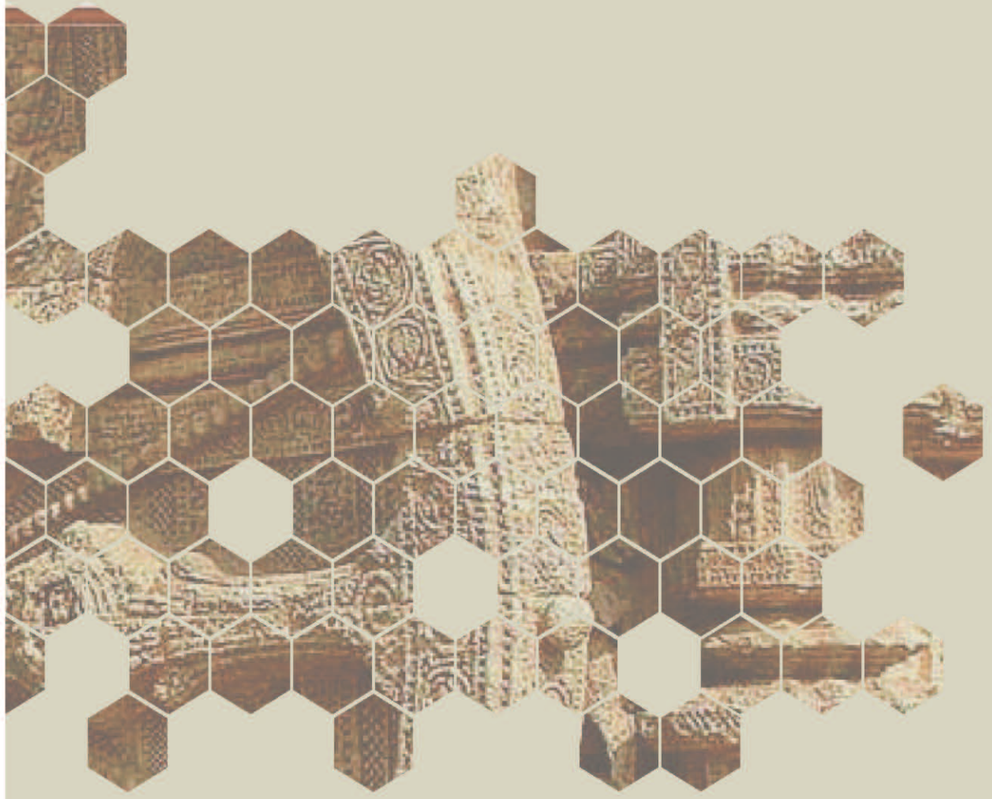

Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

Representative political thinkers

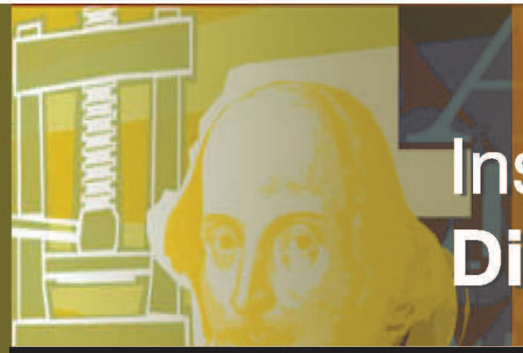

Institute of **Open** and **Distance Education**

Faculty of Arts

Representative Political Thinkers

3BA6

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur — A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

3BA6

Representative Political Thinkers

3BA6
Representative Political Thinkers

Credit- 4

Subject Expert Team

Dr Kajal Moitra, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr Mahesh Shukla, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr Reena Tiwari, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr Ram Ratan sahu, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr Anju Tiwari, Dr. C.V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh
Dr. Sandhya Jaiswal , Dr. C. V. Raman University, Kota, Bilaspur, Chhattisgarh

---

Course Editor:

Dr Ramsiya Charmkar, Assistant Professor Department of Political Science Humanities and liberal arts, Rabindranath Tagore University, Bhopal, M.P.

Unit Written By:

---

1. Dr. Sandhya Jaiswal

(Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Renu Sharan

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning: All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by: Dr. C.V. Raman University Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.), Ph. +07753-253801,07753-253872 E-mail: info@cvru.ac.in, Website: www.cvru.ac.in

इकाई इकाई का नाम पृष्ट संख्या

अनुक्रमणिका

ब्लॉक -I

इकाई -1 प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की मह मुख्य विशेषताएँ 1

इकाई -2 रामायण और महाभारत 17

इकाई -3 मनु 34

इकाई - 4 कौटिल्य 62

ब्लॉक -II

इकाई – 5 महात्मा गाँधी 96

इकाई – 6 जवाहर लाल नेहरू 147

इकाई – 7 भीमराव अम्बेडकर 175

इकाई – 8 राममनोहर लोहिया 202

ब्लॉक -III

इकाई – 9 यूनानी राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएँ 218

इकाई – 10 प्लेटो 230

इकाई – 11 अरस्तू 294

इकाई – 12 पाश्चात्य मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की मुख्य विशेषताएँ 359

ब्लॉक -IV

इकाई – 13 मेकियावेली 372

इकाई – 14 बेन्थम 415

इकाई – 15 जे.एस. मिल 454

इकाई – 16 जीन जेक्स रूसो 491

ब्लॉक - I

इकाई -1

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की मह मुख्य विशेषताएँ

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 प्राचीन भारत में राजदर्शन: विविध नाम

1.4 प्राचीन भारत में राजशास्त्र का महत्व

1.5 प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन अध्ययन स्रोत

1.6 प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप

1.7 प्राचीनभारतीय राजशास्त्रकीआलोचना

1.8 प्राचीन भारत में 'राज्य' सम्बन्धी चिन्तन

1.9 सार संक्षेप

1.10 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1.11 मुख्य शब्द

1.12 संदर्भ सूची

1.13 अभ्यास प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में राजनीति, धर्म, और नैतिकता का अद्वितीय समन्वय देखने को मिलता है। यह चिंतन भारतीय सभ्यता के आदिकाल से ही समाज के सुचारू संचालन और प्रशासनिक व्यवस्थाओं के लिए मार्गदर्शन प्रदान करता रहा है। प्राचीन ग्रंथ जैसे *मनुस्मृति*, *महाभारत* (विशेषकर शान्ति पर्व), और *अर्थशास्त्र* इस विचारधारा के प्रमुख स्त्रोत हैं। इस चिंतन का केंद्रबिंदु धर्म पर आधारित न्याय, समाज में समानता, और शासन प्रणाली की

स्थापना था। यह चिंतन राजा के कर्तव्यों, प्रशासन की संरचना, तथा प्रजा के अधिकारों पर बल देता है।

इस चिंतन में *राजधर्म* और *धार्मिक मूल्यों* का विशेष महत्व है, जो यह सुनिश्चित करता है कि राज्य और शासक जनता के कल्याण को प्राथमिकता दें। भारतीय दर्शन में 'सर्वजन हिताय' का सिद्धांत एक महत्वपूर्ण आधार है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन और उसके मूल सिद्धांतों को समझ सकेंगे।
2. *अर्थशास्त्र*, *मनुस्मृति*, और *महाभारत* जैसे ग्रंथों में वर्णित प्रशासनिक संरचनाओं का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. राजधर्म और धर्म आधारित शासन व्यवस्था के महत्व को समझ सकेंगे।
4. समाज में न्याय और नैतिकता की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।
5. धर्म, नैतिकता और राजनीति के आपसी संबंध को परख सकेंगे।
6. शासन और प्रजा के कर्तव्यों के बीच सामंजस्य की भूमिका को समझ सकेंगे।
7. प्राचीन विचारों की आधुनिक राजनीतिक संदर्भों में प्रासंगिकता को पहचान सकेंगे।

1.3 प्राचीन भारत में राजदर्शन: विविध नाम

हमारे अध्ययन के विषय को प्राचीन भारत में कई नामों से पुकारा गया है। प्राचीन भारत में इसे राजधर्म,दण्डनीति,नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।महाभारत के 'शान्तिपर्व' में इसे 'राजधर्म' कहा गया है। प्राचीन भारत में राजतन्त्र ही सबसे अधिक प्रचलित था,अतः राज्य और शासन

के अध्ययन को राजा का धर्म कहा गया है। राजधर्म में राजा के सभी कर्तव्य और शासन सम्बन्धी बातें सम्मिलित की गयीं। सब विद्याएँ राजधर्म में ही आ जाती थीं। कतिपय विचारकों के अनुसार यह शासन का विज्ञान व कला दोनों थी। दण्ड-नीति को प्राचीन भारत में 'प्रशासन का शास्त्र' समझा गया जिसका सम्बन्ध शासन के कार्यों अथवा शासन-तन्त्र से रहा। कौटिल्य के मतानुसार मनु,बृहस्पति और शुक्राचार्य द्वारा मान्य चार विद्याओं में दण्ड-नीति एक है। भारतीय विचारक बहुत पहले से ही सम्प्रभुता को राज्य का आधार मानने लगे थे। उनके मतानुसार बल-प्रयोग या दण्ड के बिना कोई राज्य कायम नहीं रखा जा सकता। दण्ड की महत्ता के सम्बन्ध में मनु का कहना था कि जब सभी लोग सो रहे होते हैं तो दण्ड उनकी रक्षा करता है। उसी के भय से लोग न्याय का मार्ग अपनाते हैं। डॉ. जायसवाल ने दण्ड-नीति को सरकार के सिद्धान्त (Principles of Government) कहा है। राज्य में दण्ड के इस अत्यधिक महत्व के परिणामस्वरूप ही शासकों के कार्यों तथा समाज के कल्याण का वर्णन करने वाले शास्त्र को दण्ड-नीति के नाम से जाना गया। उशनस् तथा प्रजापति द्वारा शासन-तन्त्र पर लिखित ग्रन्थ भी दण्ड-नीति के नाम से प्रसिद्ध है।

आगे चलकर इस विषय के लए 'अर्थशास्त्र' शब्द का भी प्रयोग किया जाने लगा। डॉ. जायसवाल ने अर्थशास्त्र को जनपद सम्बन्धी शास्त्र (Code of Commonwealth) कहा है। वैसे वर्तमान समय में अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग प्रायः सम्पत्तिशास्त्र (Economics) के लिए किया जाता है,जिसका अध्ययन •विषय धन व अर्थ की प्राप्ति के साधन तथा मनुष्य के हित में प्रयोग है। इसके विपरीत राजशास्त्र का अध्ययन विषय राज्य व शासन है अतएव दोनों में बड़ा अन्तर है,किन्तु कौटिल्य का कथन है कि 'अर्थ' शब्द से जैसे मनुष्य के व्यवसाय व धन्धे दिग्दर्शित होते हैं वैसे ही जिस भूमि पर रहकर वे व्यवसाय चलाते हैं वह भूमि भी सम्बोधित हो सकती है,इसलिए भूमि को प्राप्त करने व उसका पालन करने का जो साधन है,उसे भी अर्थशास्त्र कहना उचित है। चूँकि राज्य व शासन के विषय पर प्राचीन भारत में लिखा गया सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' के नाम से पुकारा गया,अतः अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र अथवा दण्ड-नीति के ही अर्थ में लिया जाने लगा। शुक्र-नीति में भी कहा गया है कि

अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल धन या सम्पत्ति प्राप्त करने के उपायों का विवेचन करना नहीं वरन् शासन शास्त्र के सिद्धान्तों को भी प्रस्थापित करना है। अमरकोश में अर्थशास्त्र या दण्ड-नीति को समानार्थक शब्द माना गया है। अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय के अवलोकन से भी यह प्रतीत होता है कि कौटिल्य उसे 'दण्ड-नीति' नाम ही देना चाहता थाबाद में हिन्दू राजनीति से सम्बन्धित ग्रन्थों को नीतिशास्त्र का नाम भी प्रदान किया जाने लगा। नीतिशास्त्र में नीति शब्द को 'नी' धातु का अर्थ 'ले जाना' होता है। इसे मार्गदर्शन के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जो शास्त्र भलाई-बुराई में भेद करे तथा उचित व अनुचित कार्यों का उल्लेख करे उसे 'नीतिशास्त्र' कहा जाता है। यह मार्गदर्शन मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है। राजनीतिक क्षेत्र में किए मार्गदर्शन के लिए भी नीतिशास्त्र शब्द का प्रयोग कर दिया जाता था। कामन्दक तथा शुक्र ने राज्य एवं शासन के सम्बन्ध में जो रचनाएँ की उनको नीतिशास्त्र का नाम दिया गया। कामन्दक ने अपने नीतिसार में राज कार्यों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण बातों को संक्षिप्त रूप प्रदान किया। बाद के समय में कामन्दक का नीतिशास्त्र इतना लोकप्रिय हो चुका था कि शुक्र-नीतिसार के रचयिता ने इसमें से अनेक उद्धरणों को बिना लेखक का नामोल्लेख किए ही स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण किया है। अग्नि पुराण के जिन कुछ अध्यायों में राम ने लक्ष्मण के साथ नीति के सम्बन्ध में जो वार्ता की है वह और कुछ नहीं वरन् कामन्दक के नीतिसार के ही कहीं-कहीं से लिये गए कथन हैं। राज्यशास्त्र को नीतिशात्र इसलिए कहा गया था क्योंकि दोनों के लक्ष्य में कोई भिन्नता नहीं थी। दोनों ही समाज की सर्वांगीण उन्नति करके उसे आनन्दमय बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। दोनों द्वारा धर्म,अर्थ,काम तथा मोक्ष प्रदान करने का प्रयास किया जाता था। ऐसी स्थिति में राज्य से सम्बन्धित शास्त्र को नीतिशास्त्र कहना अनुपयुक्त नहीं माना गया।

कामन्दक के समय में जो 'नीति' शब्द राज्य की नीति के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जाता था वही अब सामान्य आचरण के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। राजनीति (Polity) तो इसका एक भाग मात्र थी । ऐसी स्थिति में राज्य से सम्बन्ध रखने वाले नियमों या तथ्यों को आचरण के अन्य पहलुओं से पृथक्

दर्शाने के लिए 'नीति' शब्द के साथ 'राज' विश्लेषण का प्रयोग किया जाना आवश्यक बन गया। डॉ. भण्डारकर के शब्दों में "ऐसा लगता है कि जब नीति शब्द का प्रयोग सामान्य आचरण के नियमों के लिए किया जाने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि उनको (सामान्य आचरण के नियमों को) राजा के व्यवहार के नियमों से अलग करने के लिए राजनीति शब्द का प्रयोग किया जाए।" इसके बाद से 'राजनीति' शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ तथा इसी के अन्तर्गत शासन एवं राज्य व्यवस्था से सम्बन्धित रचनाएँ की जाने लगीं।

1.4 प्राचीन भारत में राजशास्त्र का महत्व

(प्राचीन भारत में राजशास्त्र का महत्व)

प्राचीन भारत में राजनीतिक विषयक ज्ञान को चाहे किसी भी नाम से पुकारा जाता रहा हो,तथ्य यह है कि राजशास्त्र को बहुत अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था और प्राचीन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर राजशास्त्र की महिमा का वर्णन करते हुए इसे सर्वोपरि ज्ञान की महिमा दी गयी है। कौटिल्य के अनुसार दण्ड-नीति चार प्रमुख विद्याओं में से एक है,आनवीक्षिकी,त्रयी और वार्ता। इन सभी विद्याओं की सुख-समृद्धि दण्ड पर निर्भर है। महाभारत में कहा गया है कि जिस प्रकार हाथी के पैर में सब का पैर आ जाता है उसी प्रकार राजशास्त्र में सभी शास्त्र आ जाते हैं। दण्ड-नीति के महत्व के सम्बन्ध में भीष्म ने कहा है कि यदि दण्ड-नीति नष्ट हो जाए तो तीनों ही वेद लुप्त हो जाएँगे। शुक्र ने भी कहा है कि ब्रह्मा द्वारा रचित राजशास्त्र के सार को वशिष्ठ और मेरे जैसे अन्य लेखकों ने पृथ्वी के शासकों तथा अन्य व्यक्तियों की समृद्धि के लिए संक्षिप्त किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि राजा को यत्नपूर्वक नीतिशास्त्र का अभ्यास करना चाहिए। इस शास्त्र के ज्ञान से राजा सुन्दर नीति में कुशल होता है और इसके बिना राजा अपने प्रमुख कर्तव्यों-प्रजा के पालन और दुष्टों के नाश का पालन नहीं कर सकता ।

मनु के अनुसार दण्ड ही धर्म और राजा है,इसके द्वारा ही राजा प्रजा की रक्षा करता है और चारों आश्रमों में सभी व्यक्तियों से अपने-अपने कर्तव्यों का पालन कराता है। जब सब सोए रहते हैं दण्ड ही जागता रहता है। कामन्दक के

अनुसार दण्ड-नीति में ही नीति व अनीति स्थित है।प्राचीन भारत में राजशास्त्र एक संकुचित विषय न होकर विस्तृत विषय था। राज्यविषयक मामलों को धर्म से पृथक नहीं रखा गया था। धर्म का पालन राज्य पर निर्भर करता था। इसी कारण राजशास्त्र का महत्व अन्य सभी शास्त्रों से बढ़कर माना गया। राजशास्त्र में सामाजिक व्यवस्था,धर्म और राजा की सत्ता आदि के साथ-साथ अन्य कई बातें भी सम्मिलित थीं। इनमें से मुख्य ये हैं - अन्तर्राज्य सम्बन्ध,मित्र,उदासीन व शत्रु राजा और उनकी विशेषताएँ,आय-व्यय,राष्ट्र,प्रजा के कर्तव्य,वृक्ष लगाना,मन्दिर बनाना,कानून व न्याय-पद्धति,दुर्ग,वन,सेना इत्यादि ।

1.5 प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन अध्ययन स्रोत(The Sources of the Study of Ancient Indian Political Thought)

प्राचीन भारत की शासन पद्धतिं का इतिहास वैदिक काल से आरम्भ होता है और साधारणतया मुगल शासन की स्थापना तक फैला है। वास्तव में,वैदिक काल और महाकाव्यों के काल का राजनीतिक इतिहास निश्चित और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं है। तीसरी शताब्दी ई.पू. से पहले राजशास्त्र पर कोई ग्रन्थ विशेष नहीं लिखा गया था। अतः हमें प्राचीन भारत की शासन पद्धति के बारे में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हुई है वह प्राचीन साहित्य तथ वेदों,ब्राह्मणों,धर्मसूत्रों,धर्मशास्त्रों,उपनिषदोंपुराणोंमहाकाव्यों,जैन-ग्रन्थों तथा बौद्ध जातकों आदि से मिली है। इनके अतिरिक्त प्राचीन भारत की शासन-पद्धति पर लिखे गए ग्रन्थ जैसे,कौटिल्य का अर्थशास्त्र,कामन्दकीय नीतिशास्त्र,शुक्र-नीति आदि विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। हिन्दूकाल के राजनीतिक इतिहास पर लिखे गए अनेक ग्रन्थों,ग्रीक लेखकों के वर्णनों आदि से भी हिन्दू राज्यों और उनकी शासन पद्धतियों के विषय में काफी जानकारी प्राप्त होती है। संस्कृत साहित्य में लिखे गए अनेक ग्रन्थों जैसे,पाणिनी के व्याकरण,कालिदास के रघुवंश,विशाखदत्त के मुद्राराक्षस आदि में भी प्राचीन भारतीय शासन पद्धति के बारे में भी कुछ सूचना मिलती है।

साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय शासन पद्धति के अध्ययन के लिए तीन अन्य स्रोत और हैं- (1) शिलालेख, (2) ताम्रपत्र,व (3) मुद्राशास्त्र ।

1.6 प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप (Characteristics of the Ancient Indian Political Thought)

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप (Characteristics of the Ancient Political Thought)

प्राचीन भारत में जो राजनीतिक चिन्तन किया गया था उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो कि उसे पाश्चात्य देशों के राजनीतिक चिन्तन से भिन्न बनाती हैं। ये विशेषताएँ उस समय के भारत की सामाजिक परिस्थितियों,आर्थिक प्रगतियों,राजनीतिक उथल-पुथल एवं बौद्धिक विकास के स्तर से प्रभावित होती हैं। प्राचीन भारत में जो राजनीतिक चिन्तन हुआ उसका स्वरूप निम्न प्रकार हैं

1. राजनीतिक सिद्धान्त धर्म के अभिन्न अंग प्राचीन भारत में राजनीतिक सिद्धान्तों का विकास धर्म के अंग के रूप में ही हुआ। इसी कारण हिन्दू राजशास्त्रवेत्ताओं ने राजनीति और धर्म को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया। यह भारतीय राजनीति की सबसे प्रमुख विशेषता तथा विश्व को प्रमुख देन है। राजा और शासक का प्रमुख कर्तव्य धर्म का पालन करना समझा गया और शत्रु से भी धर्मयुद्ध करने का निर्देश दिया गया। इसी कारण प्राचीन भारत की राजनीति में नैतिकता का समावेश रहा और राजशास्त्र को नीतिशास्त्र कहकर पुकारा गया। धर्म का रक्षण राज्य का प्रमुख दायित्व था। धर्म और राजनीतिक विचार एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं।

राजनीति और धर्म के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का आभास इसी तथ्य से हो जाता है कि जिन ग्रन्थों को प्राचीन भारतीय राजनीति के मुख्य ग्रन्थ माना जाता है वे धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। वेद,ब्राह्मण,उपनिषद,स्मृतियाँ,महाभारत,रामायण,पुराण आदि साहित्यिक ग्रन्थों का प्राचीन भारत की राजनीति को समझने के लिए जितना महत्व है उससे भी

अधिक महत्वपूर्ण इनको धार्मिक दृष्टि से माना जाता है। बौद्ध जातक एवं जैन धर्म के अनेक ग्रन्थ धार्मिक दृष्टि से उपयोगी तथा सार्थक होने के साथ-साथ उस समय की राजनीतिक संस्थाओं एवं विचारधाराओं का भी दिग्दर्शन कराते हैं।

2. राज्य एक आवश्यक एवं उपयोगी संस्था है प्राचीन राजनीतिक विचारकों ने इस बात का समर्थन किया है कि राज्य का होना सामाजिक जीवन के लिए सर्वथा आवश्यक और उपयोगी है। जीवन के तीनों लक्ष्यों धर्म,अर्थ और काम की राज्य के बिना प्राप्ति सम्भव नहीं,ऐसा सभी विचारकों का मत रहा। दूसरे शब्दों में,यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में व्यक्तिवादी और अराजकतावादी विचारकों का पूर्ण अभाव रहा। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य अनावश्यक और अनुपयोगी है और व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। इनके विपरीत प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्री राज्य का विस्तृत कार्यक्षेत्र मानते थे,जो आज के लोककल्याणकारी राज्य से बहुत साम्य रखता है।

1.7 प्राचीनभारतीय राजशास्त्रकीआलोचना

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की कई आधारों पर आलोचना की है,जिसका उद्देश्य उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का खण्डन करना है।

आलोचना का सर्वप्रथम आधार यह है कि हिन्दुओं ने राजनीति को धर्मशास्त्र व आध्यात्मवाद से स्वतन्त्र नहीं किया। डनिंग के शब्दों में, "भारतीय आर्यों ने अपनी राजनीति को धार्मिक और आध्यात्मवादी पर्यावरण से,जिसमें वह आज भी गड़ी हुई है,कभी भी स्वतन्त्र नहीं किया।" जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने कहा, "भारतीयों को राष्ट्रीयता की भावना का पता न था... एकमात्र क्षेत्र,जिसमें भारतीय मस्तिष्क ने कार्य करने,रचना करने और पूजा करने की स्वतन्त्रता पायी,धर्म और दर्शन का क्षेत्र था।" डॉ. घोषाल ने भी लिखा है कि "कुछ समय पूर्व तक भारतीयों की मानसिक प्रवृत्ति पर यह आरोप लगाया जाता था कि धर्म ने भारतीय मन पर ऐसा अनन्य अधिकार किया हुआ था कि वह राज्य के विचार की धारणा से वंचित रहा।"

प्राचीन भारत के राजशास्त्र पर दूसरा आरोप यह लगाया गया है कि भारत में केवल पूर्वात्य स्वेच्छाचारी शासन ही था। हेनरी मेन ने लिखा है कि "पूर्व के बड़े साम्राज्य मुख्यतः कर एकत्रित करने वाली संस्थाएँ थीं। कुछ प्रयोजनों के लिए और समय-समय पर वे अपनी प्रजाओं पर सबसे अधिक हिंसात्मक ढंग व बल का प्रयोग करते थे,परन्तु उन्होंने सामयिक आदेशों से भिन्न कानून लागू नहीं किए,न ही वे प्रथागत कानूनों को न्यायिक ढंग से लागू व प्रशासित करते हैं।"इन आरोपों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाश्चात्य आलोचक ऐसा मानते हैं कि भारतीय मस्तिष्क की गतिविधि धार्मिक व दार्शनिक विचारों में समाप्त हो गयी,जिसके परिणामस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता की भावना का कोई विकास न हो सका और राज्य के बारे में कोई धारणा न बन सकी ।फिर भी 'राजनीतिक दर्शन' के विद्वान लेखक मैक्सी ने राजनीतिक विचारों व क्षेत्र में भारत के योगदान के विषय में इस प्रकार लिखा है :

"हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राजनीतिक इतिहास यूरोप के इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनीतिक विचारों से निष्फल नहीं है। अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की अनेक शताब्दियों में भारतीय उपमहाद्वीप ने प्रायः सभी प्रकार के छोटे और विशाल राज्यों के उदय और पतन को देखा । यहाँ ग्रामीण गणतन्त्र से लेकर चन्द्रगुप्त व अशोक के मौर्य साम्राज्य थे। ये साम्राज्य ब्रिटेन के वर्तमान भारतीय साम्राज्य से अधिक विस्तृत थे और अपने काल में विश्व के महान् राज्य थे। उनके मिस्त्र और यूनान से कूटनीतिक सम्बन्ध थे। यह विश्वास नहीं होता कि इतने दीर्घकाल में अपनायी गयी परिवर्तनशील और विभिन्न प्रकार की राजनीतिक प्रक्रियाओं ने राजनीतिक विचारों को जनम न दिया हो। दुर्भाग्यवश मैक्समूलर के समय से यह मिथ्या विचार बन गया है कि हिन्दुओं के साहित्य में मुख्यतः अस्पष्ट आदर्शवाद,अव्यावहारिक आध्यात्मवाद और परलोक सम्बन्धी युक्तिहीन बातों का ही विवेचन है। इसके अतिरिक्त एक-दो प्राचीन हिन्दू लेखकों के इधर-उधर से लिये हुए उद्धरणों को भूल से हिन्दुओं के सम्पूर्ण विचारों का प्रतीक मान लिया गया है। संस्कृत साहित्य में सभी प्रकार के विचार मिले हैं और राजनीतिक ग्रन्थों का भी स्थान है।" गैटेल ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि हिन्दू राज्य

धर्मतन्त्रात्मक न थे । राज्य धार्मिक संगठन से स्वतन्त्र था और पुजारी प्रशासन कार्यों में हस्तक्षेप न करते थे ... राजनीतिक दर्शन को ज्ञान की एक पृथक् शाखा माना गया,उसका विस्तृत साहित्य है और उसके रचयिता राजशास्त्र को सबसे महत्वपूर्ण शास्त्र मानते हैं।

प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास में राजनीति का महत्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन भारतीयों को राजनीति के अनेक सिद्धान्तों का ज्ञान था। वेदों में वर्णित राजा,सभा व समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाएँ,राजा का पदच्युत किया जाना आदि बातों से वैदिककालीन राजनीतिक जागृति का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। प्राचीन हिन्दुओं ने विज्ञान और कला का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया। एक वर्गीकरण के अनुसार प्राविधिक विज्ञान विधाएँ 32 और कलाएँ 64 थीं। 32 विज्ञानों में अर्थशास्त्र एक था। उसका अभिप्राय आधुनिक अर्थशास्त्र आर राजशास्त्र दोनों से था।

प्राचीन भारत में राजशास्त्र में निष्णात् अनेक आचार्य हुए जिनके नामों का उल्लेख महाभारत व कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। उनमें से कतिपय प्रमुख उल्लेखनीय नाम हैं - विशालाक्ष,इन्द्र,बृहस्पति,शुक्र,मनु,भारद्वाज,पाराशर,कात्यायन आदि। इसके अतिरिक्त धर्मसूत्रों,स्मृतियों आदि में भी राजधर्म प्रकरण में राजनीति के तत्वों का विवेचन किया गया है। रामायण व महाभारत में अनेक राजनीतिक विचारों एवं संस्थाओं का वर्णन है,जिनसे विकसित सिद्धान्तों का संकेत मिलता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजनीति का विवेचन लौकिक दृष्टि से और स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में किया है।विधि (कानून) की संकल्पना उन कसौटियों में से एक है जो राजनीति के धर्मनिरपेक्ष व लौकिक स्वरूप को बताती है। अनेक पाश्चात्य लेखकों का मत है कि राजनीति के हिन्दू लेखक कानून की सकारात्मक धारणा से अपरिचित थे। सकारात्मक कानून वह होता है जिसे प्रभुत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकारी निर्मित व लागू करता है। शुक्र नीति में एक स्थान पर कहा गया है कि कतिपय कानूनों को केवल राजा द्वारा ही लागू किया जाना चाहिए,जैसे नाप-तौल व सिक्कों के बारे में किसी भी प्रकार के

मिथ्या व्यवहार की आज्ञा नहीं होनी चाहिए,घूस स्वीकार नहीं करनी है,चोरों को रक्षण प्रदान नहीं करना है आदि।

यह सच है कि संस्कृत साहित्य में राजनीतिक सिद्धान्तों एवं व्यवहार पर अविरल सामग्री है,किन्तु कठिनाई यह है कि उनमें से बहुतों काव अंग्रेजी में अनुवाद नहीं हुआ। इसी कारण पाश्चात्य जगत उनसे अनभिज्ञ है। सरकार ने स्पष्ट लिखा है कि संस्कृत साहित्य की प्रत्येक शाखा में राजनीतिक सिद्धान्तों और व्यवहार पर लेख है और राजनीति व लोक प्रशासन पर कई विख्यात विशिष्ट ग्रन्थ भी हैं जो यूरोपीय देशों के साहित्य में प्राप्त ग्रन्थों से सभी बातों में तुलना कर सकते हैं,परन्तु उनमें से अधिकतर का अंग्रेजी अनुवाद नहीं हुआ है और पाश्चात्य जगत उनसे अपरिचित है।

संक्षेप में,प्राचीन भारत में राजनीति की चार विचारधाराओं का अस्तित्व था जो मनु,पाराशर,बृहस्पति और उष्णा के मानने वालों के समूह में विभाजित थी। द्वितीय,शासन कला पर कम से कम सात बड़े ग्रन्थ थे जिनकी रचना भारद्वाज,विशालाक्ष,पाराशर,नारद,भीष्म,वातव्याधि और बहुदन्ति द्वारा मानी जाती थी। अन्त में प्राचीन भारत में राजतन्त्र स्वेच्छाचारी नहीं वरन् सीमित था,राजाओं के निर्वाचन की भी प्रथा थी और वे मन्त्रियों तथा परामर्शदाताओं की सहायता से शासन करते थे। इसके अतिरिक्त वैदिक काल में सभा व समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाएँ थीं तथा उत्तर वैदिककाल में गणतन्त्र भी थे।

1.8 प्राचीन भारत में 'राज्य' सम्बन्धी चिन्तन

राजशास्त्र के अध्ययन का प्रमुख विषय 'राज्य' संस्था है और प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने राज्य के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए हैं,उनसे उनके चिन्तन के उच्च स्तर का परिचय मिलता है। उनके राज्य सम्बन्धी विचारों का सार निम्नलिखित है :

राज्य का स्वरूप या प्रकृति

भारतीय विचारकों द्वारा अपने ग्रन्थों में विभिन्न स्थानों पर राज्य के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए गए हैं, उनके आधार पर राज्य की प्रकृति के

सम्बन्ध में कुछ सामान्य धारणाओं का प्रतिपादन किया जा सकता है, जो इस प्रकार है :

(1) राज्य साध्य नहीं, वरन् साधन भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य स्वयमेव एक लक्ष्य नहीं वरन् समाज की उन्नति में सभी प्रकार से सहायक हों। भारतीय विचारक राज्य की अनिवार्यता और उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी उसे समाज व्यवस्था के ऊपर नहीं, वरन् समाज व्यवस्था के अधीन और उसके अन्तर्गत ही स्थान प्रदान करते हैं और उससे समाज व्यवस्था के नियमों को मानकर चलने का आग्रह करते हैं।

(2) **लोक कल्याणकारी राज्य** भारतीय विचारकों द्वारा चित्रित राज्य को आज के अर्थों में पूर्णरूप से तो नहीं लेकिन सामान्यतया लोक कल्याणकारी राज्य कहा जा सकता है। राज्य को सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार था, लेकिन उतनी ही सीमा तक जहाँ तक कि समाज की व्यवस्था को सुचारु बनाने और समाज के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हो। व्यक्तियों तथा उनके समूहों को भी आवश्यक स्वतन्त्रताएँ सौंपी गयी थीं।

(3**) राज्य पितृवत और मातृवत** - भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य पितृवत और मातृवत और उसका कर्तव्य था कि वह प्रजा की रक्षा करे और उसकी सुख-सुविधा की सम्पूर्ण चिंता करे।

(4) **न्यायपूर्ण राज्य**- राज्य न्यायपूर्ण था और उससे इस बात का आग्रह किया गया था कि वह दुष्ट का दमन और सज्जन व्यक्तियों का संरक्षण करे। राज्य को कर वसूल करने व न्याय प्रदान करने में निष्पक्ष और न्यायपूर्ण आचरण करने का निर्देश दिया गया है। राज्य और राजा को यह भी निर्देश दिया गया है कि वह मर्यादा में रहे और किसी पर अत्याचार न करे।

(5) **राज्य शक्तिपूर्ण** अर्थात् दण्डधारी प्राचीन राजदर्शन में राज्य को बार-बार शक्तिपूर्ण और दण्डधारी कहा गया है, लेकिन इसके साथ ही यह जोड़ दिया गया है कि बाहरी शक्ति या अपने ही नागरिकों के विरुद्ध शक्ति प्रयोग अन्तिम अवस्था के रूप में ही किया जाना चाहिए और शक्ति प्रयोग करने में न तो अनावश्यक कठोरता बरतनी चाहिए और न ही अनावश्यक नरमी ।

(6) **राज्य धर्मपूर्ण** प्राचीन राजदर्शन में राज्य को धर्मपूर्ण माना गया है। अर्थात् वह व्यक्तियों को सत्मार्ग पर बनाए रखने और कुमार्ग से दूर रखने का कार्य करेगा। प्राचीन राजदर्शन में राज्य का लक्ष्य धर्म और मोक्ष की प्राप्ति बताया गया है। लेकिन धर्मपूर्ण राज्य का अर्थ संकुचित अर्थ में धार्मिक राज्य या ब्राह्मण राज्य नहीं है। ब्राह्मण वर्ग को यदि कोई विशेष सम्मान प्राप्त था, तो वह उसके गुणों के कारण था, जाति के कारण नहीं।ञान

(7) **राज्य प्रभुसत्ता** सम्पन्न, लेकिन समुदायों के अस्तित्व को मान्यता प्राचीन भारतीय दार्शनिक सामाजिक ढाँचे के अन्तर्गत न केवल राज्य वरन् समाज नियामकों द्वारा समाज व्यवस्था के अन्तर्गत और समाज के हित के लिए निर्मित समुदायों के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि राज्य इन समुदायों के अधिकार और कर्तव्यों में मनमाने तरीके से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, किन्तु इन संस्थाओं का स्थान राज्य के समान नहीं था और राज्य को इन संस्थाओं पर आवश्यक नियन्त्रण रखने का अधिकार था जिससे ये संस्थाएँ धर्म-विरुद्ध आचरण न कर सकें। राज्य के साथ-साथ अन्य समुदायों के अस्तित्व को स्वीकार करने और राज्य के अन्य समुदायों के साथ सम्बन्ध के विषम में भारतीय राजनीतिक चिन्तकों की जो धारणा थी, वह उनकी दूरदर्शिता का ही परिचय देती है।

(8) **राज्य की विजिगीषु प्रवृत्ति** (विजय की इच्छा) भारतीय विचारकों के अनुसार राज्य में अन्य राज्यों पर विजय प्राप्त करने और उनके क्षेत्र पर अधिकार करने की प्रवृत्ति होना नितान्त स्वाभाविक है, लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध को अन्तिम साधन के रूप में ही अपनाया जाना चाहिए। रमाक

(9) **कानून का राज्य** - भारतीय विचारकों ने एक निरंकुश राज्य का नहीं वरन् कानून के राज्य का प्रतिपादन किया था। उन्होंने राज्य में सदैव कानून की ही सर्वोपरिता का प्रतिपादन किया था और वे इस आदर्श को उस चरम सीमा तक ले गए, जिस सीमा तक आज के जनतान्त्रिक राज्यों में भी उसे नहीं अपनाया जा सका है। भारतीय विचारकों ने राज्य को कानून से इतना अधिक बाँध दिया था कि राज्य न केवल राज्य-व्यवस्था वरन् समाज-व्यवस्था के नियमों से भी

बँधा हुआ था और राजा सहित राज्य के सर्वोच्च अधिकारी इन नियमों का पालन करने के लिए बाध्य थे।

1.9 सार संक्षेप

प्राचीन भारतीय राजनीतिकचिंतन धर्म, नैतिकता, और लोक कल्याण पर आधारित है। इसमें व्यक्ति, समाज, और राज्यके बीच सामंजस्य स्थापित करने पर जोर दिया गया है। यह चिंतन भारतीय समाज केराजनीतिक, नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों को समझने और उनसे प्रेरणा लेने के लिए महत्वपूर्णहै।

स्व -प्रगति परिक्षण के प्रश्न

1.महाभारत में शांतिपर्व में भारतीय राज दर्शन को किस नाम से पुकारा गया है-

(अ) राजधर्म

(बी) दण्डनीति

(स) नीतिशास्त्र

(द) अर्थशास्त्र

2. कौन-सा लक्ष्य प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन से संबंधित नहीं है-

(अ) राजा का सर्वोपरि होना

(ब) राज्य उपयोगी संस्था है

(स) धर्म और राजनीति की विखण्डता

(द) आदर्शवादी राजनीतिक दर्शन

1.10 स्व -प्रगति परिक्षणकेप्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (अ), 2. (स)

1.11 मुख्य शब्द

- **राजधर्म**: शासक के नैतिक और प्रशासनिक कर्तव्य।

- **अर्थशास्त्र**: चाणक्य द्वारा लिखित ग्रंथ, जिसमें शासन और अर्थव्यवस्था का उल्लेख है।
- **धर्म**: समाज में न्याय और नैतिकता का आधार।
- **न्याय**: समाज में समानता और अधिकारों की स्थापना।
- **प्रजा धर्म**: नागरिकों के कर्तव्यों और अधिकारों का संकलन।
- **शांति पर्व**: महाभारत का एक हिस्सा, जिसमें धर्म और नीति की व्याख्या की गई है।
- **मनुस्मृति**: नैतिक और न्यायिक नियमों का ग्रंथ।
- **सर्वजन हिताय**: सभी के कल्याण के लिए शासन का सिद्धांत।
- **नैतिकता**: शासन और प्रजा के व्यवहार में उच्च आदर्श।
- **भारतीय सभ्यता**: प्राचीन भारत की सांस्कृतिक और राजनीतिक धरोहर।
- **साम्राज्य**अर्थ: विस्तृत शासन या अधिकार क्षेत्र; ऐसा क्षेत्र जो किसी राजा या शासक के अधीन हो।

1.12 संदर्भ सूची

- शर्मा, आर. एस. (2018). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सिंह, उपिंदर. (2019). *प्राचीन भारत में राजनीति और शासन*. नई दिल्ली: पेंगुइन रैंडम हाउस.
- ठाकुर, विनय. (2020). *भारतीय राजनीतिक विचार: प्राचीन से आधुनिक तक*. नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशंस.
- मिश्रा, सुधीर कुमार. (2021). *प्राचीन भारतीय राज्यcraft और प्रशासन*. वाराणसी: ज्ञान भारती प्रकाशन.

- वर्मा, अरुण कुमार. (2022). *भारत का राजनीतिक दर्शन: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य*. जयपुर: साहित्य सदन.
- चौधरी, प्रीति. (2023). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएं और उनके सिद्धांत*. पटना: विद्या विहार पब्लिकेशंस.
- दास, मनीषा. (2024). *भारतीय राजनीतिक विचारकों का योगदान*. कोलकाता: यूनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता प्रेस.

1.13 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1 निम्नलिखित की व्याख्या कीजिए।

1 प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए ।

2. प्राचीन भारत में राज्य के स्वरूप अथवा प्रकृति का परीक्षण कीजिए ।

3.प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के अध्ययन स्रोत ।

4. प्राचीन भारत में राजशास्त्र का महत्व ।

इकाई - 2

रामायण और महाभारत

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 महाकाव्य युग में राजनीतिक परिस्थितियाँ एवं विचा

2.4 शान्तिपर्व

2.5 शांतिपर्व में वर्णित प्रमुख राजनीतिक विचार

2.6 सार संक्षेप

2.7 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्न

2.8 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

2.9 मुख्य शब्द

2.10 संदर्भ ग्रन्थ

2.11 अभ्यास प्रश्न

2.1प्रस्तावना

रामायण और महाभारत भारतीय सभ्यता के दो ऐसे स्तंभ हैं जो जीवन की संपूर्णता को परिभाषित करते हैं। रामायण में भगवान राम का आदर्श जीवन, उनकी मर्यादाओं और कर्तव्यों का पालन, और पारिवारिक व सामाजिक संबंधों का महत्व सिखाया गया है। वहीं, महाभारत में मानव जीवन के जटिल पक्ष, संघर्ष, और धर्म व अधर्म के बीच का संतुलन प्रस्तुत किया गया है।

इन महाकाव्यों का अध्ययन विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन को समझने का अवसर प्रदान करता है। साथ ही, ये ग्रंथ उन्हें नैतिकता, सहिष्णुता, और नेतृत्व जैसे गुणों को अपनाने के लिए प्रेरित करते हैं।यह पाठ्यक्रम विद्यार्थियों को व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए वैचारिक और नैतिक दृष्टिकोण प्रदान करेगा।

2.2उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- रामायण और महाभारत की संरचना और उनके उद्देश्यों को समझ सकेंगे।
- दोनों महाकाव्यों में वर्णित नैतिक और आध्यात्मिक संदेशों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- धर्म, राजनीति, और समाज के संदर्भ में ग्रंथों की प्रासंगिकता समझ सकेंगे।
- पारिवारिक संबंधों और जीवन मूल्यों के महत्व को समझ सकेंगे।
- रामायण और महाभारत के पात्रों और उनकी भूमिकाओं का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- दोनों ग्रंथों के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व को समझ सकेंगे।
- भारतीय समाज और संस्कृति पर इन ग्रंथों के प्रभाव का आकलन कर सकेंगे।
- धर्म और राजनीति के बीच संतुलन को समझ सकेंगे।
- जीवन के जटिल मुद्दों पर इन ग्रंथों के दृष्टिकोण का उपयोग कर सकेंगे।

2.3 महाकाव्य युग में राजनीतिक परिस्थितियाँ एवं विचार

आर्यों के दो मुख्य महाकाव्य थे, रामायण और महाभारत। रामायण हिन्दुओं का प्राचीनतम और सर्वप्रिय महाकाव्य है और इसके सात काण्ड और 2,400 श्लोक हैं। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि इसकी रचना वाल्मीकि ऋषि ने की थी। महाभारत के अठारह भाग हैं और इसमें लगभग एक लाख श्लोक हैं। यह माना जाता है कि इसकी रचना व्यास मुनि ने की थी। हॉपकिन्स (Hopkins) का विचार है कि इसकी रचना एक व्यक्ति या एक पीढ़ी ने नहीं की। इसकी रचना तो कई व्यक्तियों और पीढ़ियों द्वारा हुई होगी। वास्तव में

यह एक महान् ऐतिहासिक घटना की कथा है जिसे "राजाओं के प्रशंसक, पारिवारिक पुरोहित और भाट ने लिपिबद्ध किया है। ये तीनों व्यक्ति प्रायः एक ही होते थे।" महाकाव्य सर्वसाधारण जनता के वेद हैं और "अपने सुख-दुःख में और दैनिक चर्या में भी इनसे सान्त्वना और प्रेरणा प्राप्त करने के लिए इनका पाठ करते हैं।" संस्कृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं की कई कृतियाँ इन्हीं पर आधारित हैं। महाकाव्यों के अभिनेता पारम्परिक नायक बन गये हैं और उनमें से कुछ की तो ईश्वर का अवतार मानकर पूजा भी की जाती है। ये दोनों राष्ट्रीय महाकाव्य हैं और इनकी स्मृति में भारत के प्रत्येक भाग में विभिन्न प्रकार के त्यौहार मनाए जाते हैं। अपने संगीत, नृत्य, कविता, नाटक, मूर्ति-कला आदि के लिए लोग इन महाकाव्यों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि रामायण और महाभारत में बहुत कम ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है। जैकोबी (Jacobi) और मैकडॉनैल (Macdonell) का विचार था कि दोनों काव्य परम्परागत कथाओं पर आधारित हैं और इनके नायक और नायिकाएँ ऐतिहासिक पात्र नहीं हैं।

पुराने विचारों वाले हिन्दुओं का विचार है कि रामायण त्रेता युग की कृति है और महाभारत द्वापर युग की। लेकिन आधुनिक इतिहासकार इस विचार को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि महाकाव्य काल तो वैदिक युग और बौद्ध काल के मध्य में था। महाकाव्य उसी युग की रचनाएँ हैं जिनमें सूत्रों की रचना की गई थी। पार्जिटर (Pargiter) का कथन है कि महाभारत युद्ध लगभग 4000 वर्ष पूर्व हुआ था। डॉ. विण्टरनिट्ज (Winternitz) का विचार था कि वर्तमान आकृति में रामायण की रचना वाल्मीकि ऋषि ने तीसरी शती ई.पू. पुरातन लोकगीतों के आधार पर की। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि महाभारत चौथी शती ई.पू. से पुराना नहीं है और चौथी ई.पू. के बाद का नहीं है। डॉ. राधा कुमुद मुकर्जी का मत है कि रामायण के भौगोलिक वातावरण से प्रतीत होता है कि यह महाभारत से काफी पुरानी है। इसमें विन्ध्य पर्वत तक का ही उल्लेख है, किन्तु महाभारत में तो सम्पूर्ण भारत ही ज्ञात था और दक्षिण के राजा भी महाभारत युद्ध में भाग लेने के लिए आये। पाणिनि ने वासुदेव, अर्जुन और युधिष्ठिर का उल्लेख किया है। ब्राह्मणों में पाण्डवों का नाम नहीं मिलता।

दूसरी शती ई.पू. पतंजलिकृत महाभाष्य के समय में भी महाभारत का वर्तमान रूप सर्वज्ञात प्रतीत होता है।

रामायण और महाभारत संज्ञक दो इतिहास-ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में सूत्र युग के हैं, यद्यपि उनकी सामग्री अत्यधिक प्राचीन है।

रामायण की भौगोलिक पृष्ठभूमि उसे महाभारत से पहले का सिद्ध करती है। उसमें विन्ध्याचल के बहुत आगे तक का विस्तार नहीं है और दक्षिण की जगह दण्डकारण्य का उल्लेख है, पर महाभारत में भारत के सभी प्रदेशों का और उसके अनेक जनपदों का, जिनमें आर्य-संस्कृति के फलते-फूलते केन्द्र थे, परिचय मिलता है।

साहित्य-रचना की दृष्टि से इन काव्यों के तीन अंश हैं- आख्यान, वंशावली और नीति, जिनमें से हरेक का मूल अति प्राचीन ग्रंथों में खोजा जा सकता है- ऋग्वेद में, जिसमें उर्वशी, यम-यमी और सूर्या और किल्व या अक्षधूर्त के छन्दोबद्ध आख्यान हैं, (10/91; 10; 85; 34 आदि), ऐतरय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में, जिनमें हरिश्चन्द्र का आख्यान इतिहास की विस्तृत शैली में कहा गया है; कालान्तर की गाथाओं में, जो बड़े आदमियों की प्रशंसा या स्तुति में गाई जाती थीं; और नाराशंसी नामक वीराख्यान या पँवाड़ों में, जबकि वंशावली का उद्गम उपनिषदों की देवजन विद्या से ज्ञात होता है। अथर्ववेद ब्राह्मण और उपनिषदों में जिस इतिहास-रूप पुराण का उल्लेख है उसका साहित्यिक उत्तराधिकार रामायण-महाभारत में ही मिलता है। महाभारत के प्रवक्ता पाराशर्य व्यास के द्वारा उसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से स्थापित होता है, जिसमें पराशर का नाम मुख्य रूप से आता है। पुनश्च, जनमेजय का उल्लेख महाभारत और शतपथ ब्राह्मण दोनों में हुआ है और महाभारत ने शतपथ को समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माना है। और भी पहले के ग्रन्थों में महाभारत के पात्रों का उल्लेख है, जिससे केवल इतना सूचित होता है कि महाभारत का वर्तमान रूप उनके बाद का है। उदाहरण के लिए, तैत्तिरीय आरण्यक में व्यास और वैशम्पायन दोनों का नामोल्लेख है, किन्तु महाभारत के रचयिता या संस्कर्ता के रूप में नहीं। पाणिनि ने महाभारत शब्द का उल्लेख किया है, पर ग्रन्थ के अर्थ में नहीं, विशेषण के रूप में, जिससे भरतों के किसी महत् की

सूचना हो (6|2|38), किन्तु उन्होंने वासुदेव, अर्जुन और युधिष्ठिर का नामोल्लेख किया है, और पहले दो देवता के रूप में।

यह भी उल्लेखनीय है कि पाण्डव, जिनके कौरवों के साथ युद्ध का वर्णन महाभारत का मुख्य विषय है, ब्राह्मण सदृश अपेक्षाकृत नवीन ग्रन्थों तक में अविदित हैं। महाभारत में बड़े आचार्य सुमन्त, जैमिनि, वैशम्पायन और पैल का उल्लेख शांखायन के गृह्य-सूत्र में आया है।अपने वर्तमान रूप में महाभारत पातञ्जल महाभाष्य के समय अर्थात् द्वितीय शती ई.पू. में भली प्रकार अस्तित्व में आ चुका था। वही समय भारत में विदेशी यवन, शक, पह्नव आक्रान्ताओं के आने का है, जिनका महाभारत में उल्लेख पाया जाता है। यह सच है कि महाभारत का रूप परिवर्धन और क्षेपकों द्वारा विकसित हो रहा था। आश्वलायन गृह्य-सूत्र में महाभारत और (उसके संक्षिप्त रूप) का उल्लेख है।

इतिहास- मूलतः रामायण का विषय राम-रावण का युद्ध है, जिन्हें आर्य और अनार्य संस्कृतियों के प्रतिनिधि और मूर्तरूप माना जा सकता है। युद्ध का अन्त लम्बे और कठिन संग्राम के बाद आर्य की अनार्य पर विजय के रूप में होता है, जिसका जीतना उसके संगठन-बल और सुदूर लंका में राक्षसराज रावण की अत्युन्नत भौतिक सभ्यता के कारण दुष्कर था। रावण को शिव का भी अनन्य भक्त कहा गया है, जिसके कारण उसने बहुत-सी अतिमानुषी और आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त कर ली थीं। दूसरी ओर राम विष्णु के अवतार एवं अध्यात्म-बल के प्रतीक थे। उनके पृष्ठपोषक वशिष्ठ और विश्वामित्र नामक दो ब्राह्मण-ऋषि सच्चे पथ-प्रदर्शक थे, जिन्होंने इस युद्ध का बन्धेज बाँधा और आर्य-पक्ष के अभ्युदय के लिए राम को उसमें अधिकृत कार्यसाधक के रूप में ले आए। वानर-राजाओं और उनकी सेनाओं ने युद्ध में राम की सहायता की और यदि ये अनार्य जाति के लोग हों, तो इससे आर्यों का अनार्यों के ऊपर बढ़ता हुआ अधिकार प्रकट होता है। अन्ततः रामायण आर्य-संस्कृति के दक्षिण की ओर लंका तक प्रसार की सूचना देती है। किन्तु उसकी लोकप्रियता तथाकथित इतिहास के लिए नहीं है, बल्कि पूर्ण चरित्रवान् व्यक्तियों के चित्रण के लिए है- आदर्श पिता, पुत्र, भ्राता, पत्नी, पति, मित्र और सेवक जो कोटि- कोटि हिन्दुओं के मन में घर किए हुए हैं।

महाभारत का विषय भी युद्ध ही है- आर्य और अनार्य के बीच में नहीं, किन्तु स्वयं आर्यजनों के बीच में; और कोई एक विशेष भाग नहीं, सारा भारत इसमें सम्मिलित था। दोनों वीरकाव्यों में युद्ध का मूल बीज एक- सा है, अर्थात् रामायण में कथा की नेत्री सीता और महाभारत में कृष्णा (द्रौपदी), इन कथा-नेत्रियों के प्रति अधिक्षेप और अपहरण का दुर्व्यवहार। महाभारत के कुरुक्षेत्र युद्ध के प्रभाव में भारत के सभी आर्य राजा आ गए, जो कौरवों या पाण्डवों इन दो पक्षों में किसी एक की ओर से लड़े। पाण्डव और उनके मित्र मध्यदेश के थे, जैसे पंचाल, काशी, कोशल, मगध, मत्स्य, चेदि और मथुरा के यदु, जबकि कौरवों के पक्ष में ये लोग थे- उत्तर-पूर्व में प्राग्ज्योतिष का राजा, चीन और किरात, उत्तर-पश्चिम में कम्बोज, यवन, शक, मद्र, कैकय, सिन्धु और सौवीर, पश्चिम में भोज, दक्षिण में दक्षिणापथ के राजा, दक्षिण-पूर्व में आन्ध्र और मध्य-देश में माहिष्मती और अवन्ति के राजा।

महाकाव्य युग में भारत में कई राज्य थे। सामान्य रूप से राजतंत्री सरकारें थीं, किन्तु कुछ प्रजातांत्रिक राज्य भी थे। राजा निरंकुश शासक नहीं था। उसे न्याय और नैतिकता के सिद्धान्तों पर चलना पड़ता था। अत्याचारी राजा को लोग पदच्युत भी कर सकते थे। यदि राजा अपनी प्रजा को किसी प्रकार का आघात पहुँचाए तो जनताका अधिकार था कि वह राजा को मार डाले। महाभारत में कहा गया है कि "अपराधी राजा देवों को स्वीकार नहीं है।" और ऐसे राजा को सिंहासन से हटाया जा सकता है। विशेष अवसरों पर राजा को जनता से परामर्श लेना पड़ता था। राम को युवराज नियुक्त करने से पहले दशरथ ने अपनी प्रजा से परामर्श किया। जब राम और भरत दोनों ही अनुपस्थित थे तो लोगों ने नया राजा चुनने का प्रस्ताव किया। राजा का कर्तव्य था कि वह सभी 'पूगों' (ग्रामीण समुदाय), 'श्रेणियों', 'जातियों', 'कुलों' और 'जनपदों' के कानूनों की पालना और रक्षा करे।

गणतन्त्र दो प्रकार के थे। कुछ तो अकेले गणतन्त्र थे और कुछ गणतंत्रों के समूह थे। अकेले गणतंत्रों को गण कहा जाता था और सामूहिक गणतंत्रों को संघटगण कहा जाता था। गणों के प्रशासन में सबसे बड़ी कठिनाई थी एकता की कमी; और आन्तरिक मतभेद को दूर रखने के लिए बहुत प्रयत्न किये जाते थे।

सामूहिक, गणतंत्रों में भी ऐसी ही कठिनाई होती थी। कहा जाता है कि यादव, कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णी गणतंत्रों ने मिलकर एक सामूहिक गणतंत्र या संघ का निर्माण किया और कृष्ण को इसका राष्ट्रपति या संघ-प्रमुख चुना। संघ के सदस्य गणतंत्रों के प्रमुखों को ईश्वर कहा जाता था। कहा जाता है कि विभिन्न दलीय नेताओं में ईर्ष्या चल रही थी और कृष्ण ने इसकी शिकायत की। नारद ने कृष्ण से कहा कि वह आन्तरिक मतभेद दूर करके संघ को सुदृढ़ बनाए।

राज्य के विभिन्न सामंतों का उल्लेख भी किया गया है जैसे 'मंत्रिण' (मंत्रि-परिषद के सदस्य), अमात्य, सचिव, मंत्री, सहायता, धार्मिक, अर्थकारिन आदि। विभिन्न संप्रदायों के प्रमुख मंदिरों के नाम थे: मंत्री, पुरोहित, चमूपति, द्वारपाल, कारगार अधिकारी, द्रव्यसंचयकृत, संघ, प्रधान, नगराध्यक्ष, कार्य-निर्माणकृत, दुर्गपाल, अटविपालक, राष्ट्रअनंतपालक, सभाप्रधान, धर्म प्रमुख और दण्डपाल।

ग्राम या गाँव ही प्रशासन की इकाई थी और ग्रामणी इसका प्रमुख था। ग्रामणी से ऊपर थे दशग्रामी, विंशतीप और शतग्रामी या ग्रामशताध्यक्ष। ये अधिकारी क्रमशः 10,20 और 100 गाँवों के अधिकारी थे। अधिपति 1,000 गाँवों का अधिकारी था। विभिन्न साधनों से राजस्व एकत्र किया जाता था और अन्त में राजा के पास भेज दिया जाता था।

राज्य में भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार था। राज्य केवल उत्पादन का छठा भाग भूमि-कर के रूप में लेता था। खानों को राज्य की सम्पत्ति समझा जाता था और उनकी खुदाई स्वयं राज्य द्वारा करवाई जाती थी। लोग जंगलों को खुली तरह प्रयोग कर सकते थे। चौदह या दस दिनों में एक दिन राजा बिना मजदूरी के मजदूरों से काम करवा सकता था। वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों को कर नहीं देने पड़ते थे, लेकिन शेष ब्राह्मणों के लिये कर देना अनिवार्य था। लेकिन कर अत्यान रोज उसकी देखभाल करता था। उस समय सुरक्षित पड़ा रहे। मेष के बारे में राजा को चौकस रहना पड़ता था। वह स्वयं को व्यय से अधिक रखे और कोष में कुछ धन हर

एक मंत्री और चार जातियों की एक सभा की सहायता से राजा न्याय का प्रशासन करता था। दोनों पक्षों के गवाह बुलाए जाते थे और परीक्षा प्रथा भी प्रचलित थी। धनी लोगों पर जुर्माने लगाये जाते थे और निर्धनों को कारागार में डाल दिया जाता था। स्थानीय पंचों से भी काम लिया जाता था, लेकिन उस समय वकील नहीं होते थे। पंच-निर्णय की प्रथा लोकप्रिय थी। राजा का कर्त्तव्य था कि वह अन्यायी को दण्ड दे। रिश्वत लेना पाप समझा जाता था। चोरी के अपराध में कड़ी सजा दी जाती थी।

सेना को नियमित ढंग से वेतन दिया जाता था। प्रत्येक सैनिक को नकद और पदार्थ दोनों दिए जाते थे। सर्वोच्च सेनापति सारी सेना का अधिकारी था। सेना के चार भाग थे- पैदल सेना, अश्वसेना, हाथी सेना और रथ-सेना। इसके अतिरिक्त परिवहन, जल-सेना, गुप्तचर और स्वयंसेवक भी थे। पैदल सैनिकों के पास एक तलवार या भाला होता था। बलिष्ठ सैनिक गदा प्रयोग करते थे। कवच भी बहुत प्रयोग किया जाता था। हाथियों को रक्षा और आक्रमण दोनों के लिए प्रयोग किया जाता था। धनुर्विद्या अत्युत्तम श्रेणी की थी। ढोल-नाट्य और मृदंग की ताल पर योद्धा युद्ध करते थे। सेना को कई आकारों से आयोजित किया जाता था और उनमें सर्वाधिक प्रचलित रूप था चक्रव्यूह। युद्ध नियमानुसार होता था। यह वीरता का युग था। युद्ध क्षत्रियों का कर्त्तव्य था और युद्ध-भूमि से भाग जाना अत्यन्त लज्जाजनक समझा जाता था। जो युद्ध में काम आ जाते वे सीधा स्वर्ग प्राप्त करते थे। स्त्री से या स्त्री जैसे किसी अन्य व्यक्ति से युद्ध नहीं किया जाता था। युद्ध में जख्मी होने वाले या हारने वाले पर प्रहार नहीं किया जाता था। लेकिन शत्रु प्रदेश को अग्नि से भस्म कर देना नीतिपूर्ण था। युद्ध में रथों का बहुत प्रयोग किया जाता था। अग्नि-शस्त्र और प्रक्षेपणास्त्र भी प्रयोग किए जाते थे।

2.4 शान्तिपर्व

प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजनीतिक विचारों के अध्ययन का महाभारत एक महत्वपूर्ण स्रोत है। महाभारत के शान्तिपर्व में दण्ड-नीति

(राजशास्त्र), राजधर्म (राजाओं के कर्तव्य), शासन पद्धति, मन्त्रिपरिषद और कर-व्यवस्था के बारे में अनेक महत्वपूर्ण विचार मिलते हैं।

शान्तिपर्व में राजा के कर्तव्यों एवं शासन व्यवस्था के विभिन्न अंगों का वर्णन किया गया है। इसमें राजशास्त्र के महत्व का वर्णन है तथा राजतंत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं। महाभारत में शान्तिपर्व के अतिरिक्त सभापर्व के पाँचवें अध्याय में आदर्श राज्य व्यवस्था के रूप का वर्णन किया गया है। आदिपर्व का 142वाँ अध्याय राज्य के कार्यों का सम्पादन करने के लिए कूटनीति का भी समर्थन करता है। डॉ. बेनीप्रसाद के अनुसार महाभारत तो एक प्रकार का ज्ञान कोष है जिसमें धर्म, नैतिकता, राजनीति आदि पर विभिन्न विरोधी विचारों का मिश्रण मिलता है

2.5 शांतिपर्व में वर्णित प्रमुख राजनीतिक विचार(Political Ideas of Peaceparva)

महाभारत के शान्तिपर्व में प्रमुख राजनीतिक विचार निम्न हैं-

(1) राज्य की उत्पत्ति- राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं किया गया है। शान्तिपर्व में एक स्थान पर कहा गया है कि मानव समाज की सृष्टि के बाद बहुत दिनों तक सुख और शान्ति का काल रहा, लोग स्वभावतः धर्म का पालन करते थे और राज्य एवं कानूनों के बिना भी शान्तिपूर्वक रहते थे। धीरे-धीरे लोगों का अधःपतन प्रारंभ हुआ। लोक सदाचार से भ्रष्ट होकर स्वार्थ, लोभ और वासना के वश में हो गये। लोगों में व्यसनों में आशक्ति बढ़ने से वेद आदि नष्ट-भ्रष्ट होने लगे और यज्ञादिक धर्म-कर्म भी लुप्त होने लगे। इससे भयभीत होकर देवता लोग जगत् पिता ब्रह्मा के पास गये और उन्हें अपनी व्यथा सुनाई। यह सब सुनकर ब्रह्मा ने एक शास्त्र की रचना कर उसमें धर्म, अर्थ और काम का विस्तारपूर्वक वर्णन किया और कहा कि लोक रक्षा करने वाली इस त्रुक्ति को दण्ड के सहित प्रयोग करने से यह सभी प्राणियों को नियंत्रित करती हुई पृथ्वी पर प्रचलित होगी। यह जगत् दण्ड से बना है। इसी कारण यह नीति दण्डनीति के नाम से विख्यात होगी। इस विस्तृत विधान के बाद उन्होंने अपने मानस पुत्र विरजस की सृष्टि करके उसे

राजा बनाया। जनता ने भी उसके अनुशासन में रहना स्वीकार किया, किन्तु विरजस, उसका पुत्र तथा पौत्र तपस्वी बने रहे और उन्होंने राजा के दायित्वों की ओर ध्यान नहीं दिया। आगे चलकर उसी पीढ़ी में पृथु का जन्म हुआ। वह वेदों का पण्डित, युद्ध करने तथा नीतिशास्त्र में प्रवीण था। उसे पृथ्वी का राजा बनाया गया, इस प्रकार राजा की उत्पत्ति हुई क्योंकि सम्पूर्ण प्रजा उससे सन्तुष्ट थी। उसे क्षत्रिय भी कहा गया क्योंकि उसने ब्राह्मणों की रक्षा की। पृथु ने धर्मपूर्वक मेदिनी (पृथ्वी) को पृथित किया था, इसी कारण यह धरा पृथ्वी नाम से विख्यात हुई।

शान्तिपर्व के 67वें अध्याय में राज्य की उत्पत्ति का जो वर्णन मिलता है उससे पता चलता है कि प्रारम्भ में लोगों में एक अनुबन्ध या सहमति हुई थी जिसका पालन नहीं हो पाया। परिणामस्वरूप चिरकाल तक अराजक दशा चली जैसे बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है। जब सब लोगों को नष्ट होने का भय लगा तो परस्पर मिलकर शपथपूर्वक यह नियम स्थापित हुआ कि 'हम लोगों के बीच जो कोई निष्ठुर वचन कहने वाला, कठोर दण्डयुक्त और पराया धन हरने वाला होगा, वह हम लोगों से त्याज्य समझा जायेगा।' किन्तु इस अनुबन्ध को कार्यान्वित करने के लिए राजसत्ता नहीं थी। अतः इसके बाद वे सब मिलकर ब्रह्मा की शरण में गये और उनसे बोले- 'हे भगवन! हम लोगों में कोई राजा न रहने से हमारा दुःख बढ़ रहा है और हम सब नष्ट प्रायः हो गये हैं अतः हम लोगों के लिए एक राजा नियुक्त कीजिए।" ब्रह्मा ने मनु को उन लोगों का राजा होने के निमित्त आज्ञा दी, किन्तु मनु ने राजा बनना स्वीकार नहीं किया क्योंकि अराजकता के बीच राज्य करना उनके लिए बड़ा कठिन था। तब प्रजा समूह ने उनसे कहा- आप चिन्ता न करिए, हम आपकी आज्ञा का पालन करेंगे, आपके कोष वृद्धि के लिए हम अपने पशु और सोने का 50वाँ भाग और धान्य का 10वाँ भाग प्रदान करेंगे। इस प्रकार लोगों ने स्वयं इकरार या सहमति के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करने की जिम्मेदारी ली और मनु को यह आश्वासन दिया कि शासन कार्य का खर्च चलाने के लिए उचित कर देंगे।

प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक.

(2) राज्य के अंग अथवा तत्व- महाभारत में राज्य को सप्तांग कहा गया है। शान्तिपर्व के अध्याय 69 में कथन है कि राजा को उचित है कि वह आत्मा, सेवक, कोष, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर इस सप्तात्मक राज्य का सब भाँति यत्नपूर्वक प्रति-पालन करे।

(3) राज्य का उद्देश्य- राज्य के उद्देश्यों के बारे में महाभारत में कहा गया है कि प्रजा कि सुरक्षा और सुख तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखना राजा अथवा राज्य का कर्तव्य है। महाभारत में मनुष्यों का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम बताया गया है और राज्य का उद्देश्य मनुष्यों को इनकी प्राप्ति में सहायता देना है।

(4) राजा का पद - महाभारत में 'राजा' शब्द की उत्पत्ति राज्य की उत्पत्ति से जुड़ी है। महाभारत के अनुसार प्रथम राजा की सृष्टि दैवीय थी। भीष्म के मतानुसार राजा देव है, क्योंकि वह धर्मपरायण है; परन्तु ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है, उसका देवत्व उसके दिव्य चरित्र पर आधारित है।

राज्य में राजा प्रशासन का अध्यक्ष होता है। राजा को मनुष्य समझकर उसका कभी भी अपमान करना उचित नहीं, क्योंकि वह महान् देवता नर रूप धारण कर पृथ्वी पर निवास करता है। राजा ही प्रजा के मानसिक उत्कर्ष, सद्गति, प्रतिष्ठा और परम सुख के लाभ का कारण है क्योंकि वह विभिन्न देवताओं के सदृश कार्य करके सदैव प्रजाहित चिन्तन में रत रहता है।

उत्तम राजा सभी गुणों का मूर्त रूप होता है। राजा को युद्ध विद्या में निपुण, यथासमय दान देने वाला शुद्धाचारी, जितेन्द्रिय, यथासमय भोजन करने वाला तथा मनोहर भूषणों को धारण करने वाला होना चाहिए।

महाभारत से पता चलता है कि राजगद्दी का उत्तराधिकारी पैतृक होता था, ज्येष्ठ पुत्र में कोई कमी होने पर उससे छोटा पुत्र गद्दी पर बैठता था। नये राजा की नियुक्ति पर साधारणतया जनता की स्वीकृति ली जाती थी। महाभारत में वर्णित अन्तः कथाएँ भी आनुवंशिक उत्तराधिकार की ओर संकेत करती हैं और जनता द्वारा राजा की स्वीकृति की ओर भी। राज्याभिषेक के बिना कोई

भी व्यक्ति वैध राजा नहीं माना जाता था, अतः राजसिंहासन पर आरूढ़ होने से पूर्व अभिषेक की क्रिया आवश्यक थी।

महाभारत में राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजाहित माना गया है। प्रजा की सम्पन्नता, सुख-शान्ति और समृद्धि ही राजा का एकमात्र लक्ष्य है। राजा का प्रत्येक कार्य प्रजा की प्रसन्नता एवं उसके कल्याणार्थ ही होना चाहिए। उस राजा को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहिए जिसके राज्य में प्रजा पिता के घर में पुत्र की भाँति निर्भय विचरती है।सभी प्राणी धर्म में स्थित रहते हैं और धर्म राजा में निवास करता है, अतः जो राजा उस धर्म की उत्तम रीति से रक्षा करते हैं वे ही पृथ्वी के स्वामी होते हैं। कहा जाता है कि जिस राजा में धर्म नहीं रहता, उसके घर से देवता लोग पलायन कर जाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर के पुण्य कर्मों के प्रभाव से पशुपालन, खेती और वाणिज्य की पूरी उन्नति हुई। उनके राज्य में अनावृष्टि, अतिवृष्टि, रोगमय, अग्निमय, अकाल मृत्यु आदि का पूर्ण अभाव था। इस सुख-समृद्धि का रहस्य यही था कि राजा के साथ-साथ प्रजा भी धर्मस्थ थी और पूर्णतः राजनिष्ठ थी। राजा और प्रजा के सम्बन्ध अत्यन्त आत्मीयता और सौहार्दपूर्ण थे।

महाभारत में जनता राजनीति में भाग लेती थी। जब धृतराष्ट्र युधिष्ठिर के स्थान पर अपने पुत्र को सिंहासन देने का प्रस्ताव करता है तो जनता शोर मचाती है। साधारणजन सभाओं, गलियों व चौकों में एकत्रित होते हैं और माँग करते हैं कि धृतराष्ट्र को गद्दी से उतारा जाये। अन्त में धृतराष्ट्र युधिष्ठर को सिंहासन देकर वन जाने से पूर्व सम्पूर्ण जनसमूह को सम्बोधित करता है और जनता को युधिष्ठिर के अधीन छोड़ता है। इस अवसर पर युधिष्ठिर भी जनसमूह के सामने बोलता है।

(5) शासन- शासन के द्वारा ही राज्य में शान्ति और व्यवस्था रहती है। महाभारत में शासन और राजा शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के लिए हुआ है। राज्य अथवा शासन का प्रमुख कार्य समस्त प्रजा की रक्षा करना है। महाभारत के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शासन कार्यों का ध्येय सर्वसाधारण का सुख है। शासन का एक प्रमुख कार्य न्याय का प्रशासन है।

जनसाधारण के भौतिक हितों को प्रोत्साहन देना शासन के आवश्यक कर्तव्यों का अंग है। जनता के प्रति शासन का रुख पित्रतुल्य अथवा स्नेहमय होना चाहिए। राजा को अपनी प्रजा के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि माँ. अपनी सन्तान से करती है।

राजा, मन्त्रियों व अन्य अधिकारियों से मिलकर कार्यपालिका बनती थी। कार्यपालिका के अतिरिक्त शासन के दो प्रमुख अंग विधायिका और न्यायपालिका होते हैं। महाभारत में विधायिका का तो कोई विशेष स्थान नहीं, केवल सभा का कुछ वर्णन आता है।

शान्तिपर्व में मंत्रियों की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि जिस राजा के अमात्य (मंत्री) नहीं हैं, वह राज्य को तीन दिन भी अपने शासन में नहीं रख सकता। इसलिए राजा वीर और बुद्धियुक्त मनुष्य को मंत्री नियुक्त करे।

सभापर्व में पुरोहितों के बारे में भी वर्णन मिलता है। पुरोहितों की गिनती विपक्षी के अट्ठारह तीर्थ और निज पक्ष के पन्द्रह तीर्थों में की गयी है। जो बुद्धिमान, विनीत और सत्कुल में उत्पन्न हुए ब्राह्मण लोग श्रेष्ठ निज बुद्धि के प्रभाव से विचित्र वाक्यों से राजा को सन्मार्ग पर लाते हैं, वे ही राज पुरोहित होते हैं। वे उपदेशयुक्ता, अभिमान रहित और क्षत्रिय राजा के आचरित धर्म के अंशभागी होते हैं। राजा पहले पुरोहित का अभिषेक करे, ऐसा करने पर ही उसका धर्म भली-भाँति रक्षित होगा।

(6) **न्याय व्यवस्था एवं दण्ड व्यवस्था-**भीष्म के मतानुसार विधि के शासन में रहने से मनुष्य सुखी रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी आस्था विधि की प्रधानता में है। उन्होंने विधि के चार स्रोत बताये हैं- प्रथम, देवसम्मत स्रोत अर्थात् मनुष्यों के कल्याण हेतु स्वयं ब्रह्मा द्वारा निर्मित विधियाँ। द्वितीय, आर्ष स्रोत अर्थात् ऐसे नियम जिन्हें मानव जीवन को देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अनुशासित और नियंत्रित करने के लिए ऋषि मुनियों ने बनाये हों। तृतीय, लोक सम्मत स्रोत अर्थात् ऐसी विधियाँ जिनका निर्माण जनता की

सम्मति से हुआ हो। चतुर्थ, संस्था सम्मत स्त्रोत अर्थात् प्राचीन काल की संस्थाओं द्वारा निर्मित नियम तथा कुलकर्म, जातिधर्म, देशधर्म आदि।

प्राचीन काल में दण्ड व्यवस्था को राजा का ही कार्य समझा गया। स्पष्टतः कहा गया है कि प्रजा को पालन करने के निमित्त राजदण्ड धारण करना ही क्षत्रिय धर्म है।

(7) **अन्तरराज्य सम्बन्ध-** महाभारत में उल्लेख है कि राजाओं में सम्राट बनने की भावना बड़ी प्रबल होती थी और उसकी पूर्ति के लिए वे अनेक प्रकार के यज्ञ करते थे, यथा वाजपेय, पुण्डरिक, सर्वमेघ, अश्वमेघ, राजसूय आदि।

सभापर्व के 25 से लेकर 32 तक के अध्यायों में युधिष्ठिर के चारों भाइयों द्वारा विभिन्न दशाओं में दिग्विजय का वृतान्त दिया गया है। राजसूय यज्ञ से पूर्व अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव चारों भाई दिग्विजय के लिए निकले। अर्जुन ने उत्तर दिशा, भीम ने पूर्व दिशा, सहदेव ने दक्षिण दिशा और नकुल ने पश्चिम दिशा को जय किया।शान्तिपर्व में राजाओं के चार प्रकार के मित्रों का वर्णन इस प्रकार है- राजाओं के मित्र, सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम ।महाभारत में लिखा है कि राजा शत्रुओं को पराजित करके सदा सुख की नींद न सोये, दुष्टात्मा शत्रु लोग सदा ही जागते रहते हैं। शत्रु के बालक या बूढ़ा होने पर भी उसे बालक समझना उचित नहीं है। युधिष्ठिर से यह पूछने पर कि प्रबल पक्ष वाले शत्रु के कोमल या कठोर होने पर राजा उसके प्रति कैसा आचरण करे, भीष्म ने उत्तर दिया - शत्रु वध की इच्छा करने वाला राजा शत्रुओं को सावधान न करे, क्रोध, भय और हर्ष को छिपाता रहे। उन्हें सदा प्रियवचन कहता रहे और उन पर कभी विश्वास न करे।

राजा बिना युद्ध किये ही विजय प्राप्त करे, युद्ध से जो विजय होती है पण्डित लोग उसकी निन्दा करते हैं। मेधावी राजा जब अपने प्रताप का समय समझे तभी पर-भूमि तथा पर-धन की लालसा करे। राजा को अधर्म के अनुसार जय की इच्छा नहीं करनी चाहिए, उससे स्वर्ग प्राप्त नहीं होता। जो पुरुष युद्ध में शस्त्र त्याग कर शरण में आये उसका वध नहीं करना चाहिए। दोनों ओर की सेना इकट्ठी होने पर यदि ब्राह्मण उनके बीच में आये तो उस समय दोनों

सेनाएँ युद्ध न करें।सभापर्व में चतुरंगिणी सेना का उल्लेख मिलता है जिसमें हाथी, रथ, घोड़े और पैदल सम्मिलित होते थे। जिस पुरुष ने धर्मशास्त्र के यथार्थ अर्थ, सन्धि विग्रह को विशेष रूप से जाना है, जो बुद्धिमान, धैर्यशाली, लज्जाशील, रहस्य के विषयों को गोपन करने वाला, कुलीन तथा पराक्रम से युक्त है, जो व्यह, यन्त्र तथा सब शस्त्रों के तत्वों का जानने वाला पराक्रमी और वर्षा, सर्दी, गर्मी वायु आदि को सहने वाला हो उसे सेनापति नियुक्त किया जाये।

महाभारत के छह प्रकार के दुर्गों का वर्णन आता है जिनके नाम ये हैं- मरुभूमियुक्त दुर्ग, महिदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्य दुर्ग, मृत्ति का दुर्ग और वन दुर्ग। महाभारत में शासन के लिए दूतों और गुप्तचरों की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

(8) **नैतिकता**- महाभारत में एक स्थल पर भीष्म कहता है कि आपातकाल में अधर्म भी धर्म के लक्षण पाता है, शास्त्र की मर्यादानुसार आपातकाल में प्रजापीड़न आदि भी धर्म में गिना जाता है, ऐसा न करने से अधर्म होता है। आपातकाल में श्रेष्ठ क्षत्रिय तपस्वियों और ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सभी के धन को ले सकता है। क्षत्रिय पुरुष आपातकाल में अधिक धनशाली पुरुषों के बलपूर्वक धन ग्रहण करके जीवन धारण करके। आपातकाल में अर्थ के लिए प्रजापीड़न किया जाना उचित है। आपातकाल में लिस उपाय से धन, बल और मित्रों की वृद्धि हो राजा वैसे ही उपाय करे। आपातकाल में नैतिकता के अपने सिद्धान्त होते हैं।

वैदेशिक नीति के क्षेत्र में महाभारत में अनेक बातें कूटनीति पर आधारित हैं। वनपर्व में कहा गया है कि राजा राज्य जीतने के लिए जो कुछ पाप करता है, उसे बाद में यज्ञ और उपहार द्वारा धोया जा सकता है। असाधारण परिस्थितियों के दबाव में वैदेशिक मामलों के संचालन में असाधारण सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। शक्ति के सामने योद्धा को प्रसन्नता से हार मान लेनी चाहिए परन्तु बलवान शत्रु अथवा अधिपति को नष्ट करने के लिए जो भी अवसर मिले उससे तुरंत लाभ उठाना चाहिए। राजा को सदैव याद रखना चाहिए

कि पराजित शत्रु सदा सावधान रहते हैं अतः कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए। गुप्त कूटनीति का पालन करना चाहिए।

महाभारत के शांतिपर्व में भारतीय आत्मा की अविरल छवि का अद्भुत दर्शन होता है। मनीषियों ने महाभारत के शांतिपर्व को इतिहास, धर्म, राजनीति, कूटनीति, दर्शन, चिन्तन आदि विविध विषियों का अखण्ड कोष कहा जाता है।

2.6 सार संक्षेप

विद्यार्थियों में सहिष्णुता, करुणा, और धैर्य का विकास होगा। वे नैतिकता और धर्म के गूढ़ अर्थों को समझ पाएंगे।नेतृत्व, सामूहिक निर्णय और सामाजिक कल्याण के प्रति जागरूकता बढ़ेगी। भारतीय संस्कृति और परंपराओं के साथ एक गहरा संबंध स्थापित होगा। रामायण और महाभारत न केवल भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं, बल्कि इनमें समाज, राजनीति, धर्म, नैतिकता और कर्तव्य का गहन विश्लेषण मिलता है। इनका अध्ययन विद्यार्थियों को जीवन मूल्यों, नेतृत्व, और सामाजिक व्यवस्था को समझने में मदद करता है।

2.7 स्व -प्रगति परिक्षण के प्रश्न

1. शांतिपर्व के किस अध्याय में राज्य की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है-

(अ) 65वें अध्याय में (ब) 66वें अध्याय में (स) 67वें अध्याय में (द) 68वें अध्याय में

2. शांतिपर्व में राजा के कितने प्रकार के मित्र बतलाये गये हैं-

(अ) चार प्रकार के

(ब) पाँच प्रकार के

(स) छह प्रकार के

(द) सात प्रकार के

2.8 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

प्रगति की जाँच

[उत्तर- 1. (स), 2. (अ)]

2.9 मुख्य शब्द

- **दण्डनीति**- सजा की नीति" या "दण्ड देने की कला,"
- **कूटनीति-** "गुप्त और चतुर नीति"
- **मनुष्य दुर्ग-** "मनुष्यों का दुर्ग।"
- **कुलकर्म-** "कुल (परिवार या वंश) से संबंधित कर्तव्य या कार्य।"

2.10 संदर्भ ग्रंथ

- शास्त्री, ह. (2019). *महाभारत का सांस्कृतिक दृष्टिकोण.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- शर्मा, आर. (2021). *रामायण और नैतिकता का आयाम.* वाराणसी: भारतीय विद्या परिषद।
- पांडे, एस. (2018). *भारतीय महाकाव्य: सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य.* जयपुर: साहित्य भवन।
- जोशी, क. (2022). *रामायण और महाभारत का तुलनात्मक अध्ययन.* मुंबई: गीता प्रेस।
- मिश्रा, ए. (2023). *धर्म और राजनीति: महाभारत के परिप्रेक्ष्य में.* पटना: ज्ञान गंगा पब्लिशिंग।

2.11 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न. 1- निम्नलिखित की व्यख्या कीजिए।

1 रामायण एवं महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचारों को स्पष्ट कीजिए।

2. महाभारत के शांतिपर्व में उल्लिखित राजनीतिक विचारों का परीक्षण कीजिए।

3 शांतिपर्व का महत्व बताइये।

4 शांतिपर्व के अनुसार राज्य की उत्पत्ति पर टिप्पणी लिखिए।

इकाई - 3

मनु

[MANU]

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 मनु महान स्मृतिकार

3.4 मनु कौन थे?

3.5 मनुस्मृति: रचनाकाल - मनुस्मृति: इसका निर्माण काल

3.6 मनुस्मृति: विषय-वस्तु

3.7 मनु का राजदर्शन

3.8 मनु और कौटिल्य: तुलना

3.9 मनु का महत्व एवं योगदान

3.10 सार- संक्षेप

3.11 मुख्य शब्द

3.12 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

3.13 संदर्भ ग्रन्थ

3.14 अभ्यास प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

परम्परागत भारतीय मान्यताओं के अनुसार मनु प्रथम समाज व्यवस्थापक तथा आदि पुरुष हैं। मनु द्वारा प्रतिपादित नियमों का अभिलेख 'मनुस्मृति' में सुरक्षित है। प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में मनु का नाम वर्णित है। ऋग्वेद में मनु का नाम विशेष रूप से उल्लिखित है और वहाँ वे पिता के रूप में स्वीकार किये गये हैं। काणे के अनुसार वैदिक संस्कृत साहित्य में मनु का वर्णन कई रूपों में किया गया है। सर्वप्रथम वे मानव जाति के पिता तथा आदि पुरुष के रूप में स्वीकार किए गये हैं। मनु की सन्तान ही मनुष्य अथवा मानव के नाम से जानी जाती है। कुछ अन्य वैदिक ऋचाओं में वे एक अत्यन्त प्राचीन ऋषि के रूप में भी उल्लिखित हैं। ऐसा भी वर्णन है कि मनु ही सर्वप्रथम अग्नि को पृथ्वी पर लाये । मनु वैदिक साहित्य में अर्द्ध-दैवी सत्ता के रूप में भी मान्य हैं, जिन्होंने ईश्वर से नियमों एवं उपनियमों को प्राप्त किया। कहीं-कहीं पर उनका उल्लेख कृतयुग के राजा के रूप में भी हुआ है। वैदिक मान्यताओं के अनुसार मनु स्वयं भुवः हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में ही मनु द्वारा प्रतिपादित विचारधारा एवं मान्यताएँ कितनी प्रतिष्ठित हो चुकी थीं, इसका आभास 'तैत्तिरीय संहिता' के कथन से होता है 'यदकिञ्च मनुरवदयत्भेषजम्।' अर्थात मनु ने जो कहा है वह औषधि के समान है।

3.2 उद्देश्य

इस अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को वेदों और उनकी रचनाओं के बारे में बतलाना है

1. प्राचीन भारतीय समाज को समझना
    - मनु ने समाज को व्यवस्थित करने के लिए चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) की संरचना दी।
    - अध्ययन से यह पता चलता है कि प्राचीन भारतीय समाज में वर्ग और पेशे का किस प्रकार विभाजन था।
2. न्याय और कानून की व्यवस्था

- मनुस्मृति को प्राचीन भारतीय कानून प्रणाली का आधार माना जाता है।
- इसका अध्ययन समाज में न्याय, दंड और अपराधों की परिभाषा और उनके समाधान को समझने में मदद करता है।

3. धर्म और नैतिकता का विश्लेषण
   - मनु ने धर्म, नैतिकता और कर्तव्यों का वर्णन किया है।
   - इसका उद्देश्य यह समझना है कि धर्म और नैतिकता ने कैसे समाज को एकजुट रखा।
4. स्त्री और पुरुष की भूमिकाएँ
   - मनुस्मृति में स्त्रियों के अधिकारों, कर्तव्यों, और उनकी समाज में स्थिति का उल्लेख मिलता है।
   - इसका अध्ययन महिलाओं के सामाजिक स्थान और उनके अधिकारों को ऐतिहासिक रूप से समझने के लिए किया जाता है।
5. आध्यात्मिक मार्गदर्शन
   - मनु ने धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष के चार पुरुषार्थों को मानव जीवन का लक्ष्य बताया।
   - अध्ययन से यह जाना जा सकता है कि प्राचीन भारत में जीवन की आदर्श संरचना कैसी थी।
6. वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता
   - अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि मनु की शिक्षाएँ और विचार आधुनिक समाज, राजनीति, और संस्कृति में कैसे लागू हो सकते हैं।
   - उदाहरण: नैतिकता, परिवार व्यवस्था, और पर्यावरण संरक्षण।
7. समाजशास्त्रीय अध्ययन
   - मनु के सिद्धांत सामाजिक संरचना, वर्ग भेद, और शक्ति संतुलन को समझने में सहायक हैं।

- यह अध्ययन समाज के विकास और परिवर्तनों के ऐतिहासिक कारणों को जानने में मदद करता है।

3.3 मनु महानस्मृतिकार

हिन्दुओं का कानूनी साहित्य तीन वर्गों में विभाजित है- धर्मसूत्र (Aphorisms of Law), धर्मशास्त्र (Codes of Law) और टीकाएँ (Commentaries and Digests) । इन तीन वर्गों में धर्मशास्त्रों का महत्व अधिक है और धर्मशास्त्रों में सर्वप्रमुख स्थान मनुस्मृति का है। इसे हिन्दु कानून की आधारशिला माना जाता है। मनुस्मृति केवल धर्मशास्त्र ही नहीं वरन् एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की व्यवस्था दी गयी है। मूलतः इसमें मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जिन्हें सभी कालों और देशों में लागू किया जा सकता है।

3.4मनु : कौन थे

मनु शब्द की उत्पत्ति स्वयं मानव से हुई है। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार मनु मानव जाति का जनक था। ऋग्वेद में बार-बार मनु को मानव सृष्टि का प्रवर्तक और समस्त मानव जाति का पिता कहा गया है। मनुस्मृति के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने विराट पुरुष को उत्पन्न किया और विराट पुरुष से मनु की उत्पत्ति हुई। मनु ही आदि पुरुष हैं जिन्होंने प्रजा की इच्छास्वरूप तप द्वारा दश प्रजापति महर्षियों को उत्पन्न किया। उनके नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, ऋतु, प्रचेता, पुलह, वशिष्ठ, भृगु तथा नारद हैं। सृष्टि के आरम्भ में धर्म तथा आचार के नियम ब्रह्मा द्वारा मनु को ज्ञात हुए और उन्होंने इन नियमों को अन्य महर्षियों को सुनाया। मनु ने इन नियमों को अन्य लोगों को सुनाने के लिए भृगु को आदेश दिया। इस सन्दर्भ में एक शंका उठ सकती है कि जब इन नियमों के निर्माता ब्रह्मा हैं तब इन्हें 'मनुस्मृति' की संज्ञा क्यों दी गयी। 'मनुस्मृति' के टीकाकार मेधातिथि के अनुसार विधिनिषेध समूह होता है। विधिनिषेध के नियम ब्रह्मा द्वारा बताये जाने पर मनु द्वारा लिपिबद्ध किये

गये जिन्हें भृगु ने अन्य लोगों को सुनाया। मेधातिथि की यह व्याख्या इस बात की ओर इंगित करती है कि मनु नामक कोई व्यक्ति थे जिन्होंने 'मनुस्मृति' को लिपिबद्ध किया। दूसरी ओर 'मनुस्मृति' के एक अन्य टीकाकार कुल्लुक भट्ट का कथन है कि 'मनु' शब्द अधिकारवाची है। जिसको सृजन करने का अधिकार होता है वहीं उस मन्वंतर में मनु नाम से अभिहित किया जाता है।

मनु शब्द 'मनन' शब्द से बना है। तैत्तरीय संहिता में मानव जाति को मनु की सन्तान कहा गया है। वह यज्ञ को प्रारम्भ करने वाला विश्व का प्रथम यज्ञकर्ता कहा जाता है। पुराणों में उसे सूर्य का पुत्र तथा पहला राजा माना है। मनु का काल महाभारत के युद्ध से 25 पीढ़ी पहले माना जाता है। पुराणों में यह भी उल्लेख मिलता है कि मनु एक नहीं 14 हुए हैं। वास्तव में ऐसा लगता है कि आदि पुरुष मनु के नाम पर फिर एक श्रृंखला चली जो मानव समाज के सुसंगठित रूप में राज्य के विकास और उसके चरम विकसित रूप के विकास तक चलती रही होगी। जिस प्रकार इंग्लैण्ड के राजाओं की सतत् चली आ रही एक श्रृंखला को 'कानून' कहा जाता है या शंकराचार्य की गद्दियों के सभी स्वामियों को शंकराचार्य कहा जाता है उसी प्रकार प्रारम्भिक और विकसित हो रहे मानव समाज के प्रत्येक अध्यक्ष को मनु कहकर पुकारा जाता होगा ।जनश्रुति के आधार पर मनु को ब्रह्मा का मानव पुत्र बताया गया है और पुराणों में ऐसा उल्लेख है कि जब जल प्रलय में सारी सृष्टि नष्ट हो गयी, उस समय नाव में बैठे हुए मनु और उनकी स्त्री शतरूपा ही बचीं। इन दोनों के साहचर्य से दो पुत्र और तीन पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। उनके प्रथम पुत्र प्रियव्रत के वंश में ऋषभदेव तथा भरत आदि हुए, जिनके नाम पर ही इस देश का नाम भारत रखे जाने का अनुमान किया जाता है। उनके दूसरे पुत्र तथा पुत्रियों के कुल में ही महान् ऋषि और बलशाली योद्धा हुए। इस प्रकार मनु की सन्तानों से मानव परिवार की वृद्धि होती चली गयी और समस्त मानव जाति उन्हीं के परिवार की अंश है।

3.5 मनुस्मृति : रचनाकाल - मनुस्मृति: इसका निर्माण काल

मनुस्मृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद हैं। इसमें ऐसे श्लोक और विचार हैं जो अति प्राचीन प्रतीत होते हैं और महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु का सन्दर्भ आता है। प्राचीन हिन्दू परम्परा के अनुसार मनु मनुष्यों का प्रथम राजा था। यद्यपि मनु के वचन या श्लोक अति प्राचीन थे, परन्तु समय बीतने पर उनमें वृद्धि होती रही और अन्त में वे वर्तमान 'मनुस्मृति' या मानव धर्मशास्त्र के रूप में संग्रहीत कर लिये गये जो बहुत बाद की रचना है।

डॉ. वी.सी. सरकार मनुस्मृति को ईसा से लगभग 150 वर्ष पूर्व की रचना मानते हैं। मैक्समूलर का मत है कि मनुस्मृति चौथी शताब्दी के बाद लिखी गयी, परन्तु जॉर्ज बुलर के अनुसार इस ग्रन्थ का अस्तित्व ईसा की दूसरी शताब्दी में भी था। कुछ भारतीय और पाश्चात्य विद्वान जिनमें डॉ. हण्टर सबसे प्रमुख हैं मनुस्मृति को ईसा से 600 वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन ग्रन्थ नहीं मानते । अन्य पाश्चात्य विद्वान जैसे कालडवेल एवं एलफिन्सटन इसे ईसा से 900 वर्ष पूर्व की रचना मानते हैं। कुछ लोग इसे रामायण और महाभारत काल की रचना मानते हैं। मजूमदार एवं पुसालकर मनुस्मृति का रचनाकाल ईसा पूर्व 3,110 वर्ष मानते हैं।

फ्रांसीसी विचारक रेनेगिनी मनु शब्द को ऐतिहासिकता के साथ जोड़ने का पक्षधर नहीं है। उसके अनुसार 'मनु' शब्द की उत्पत्ति मूल धातु 'मन' से हुई है जिसका अर्थ है मनन, चिन्तन अथवा सार्वभौम बुद्धि अथवा विचार । मन धातु से ही 'मनु' तथा 'मानव' दोनों की उत्पत्ति हुई है। उसके अनुसार मनु द्वारा प्रतिपादित नियम सिद्धान्ततः एक सार्वभौम इच्छा के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं। यह सार्वभौम इच्छा सृष्टि की विभिन्न अवस्थाओं में प्रजापति नाम से और सम्पूर्ण मन्वन्तर के अनुसार मनु नाम से व्यक्त होती है। रेनेगिनो इस बात पर भी बल देता है कि जिस प्रकार वेदों की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती है और सिद्धान्ततः तिथि निर्धारण के प्रयत्न निष्फल सिद्ध होंगे, वैसे ही स्मृतियों की रचना के विषय में तिथि निर्धारण का प्रयत्न निरर्थक है। वेद का दूसरा नाम श्रुति और धर्मशास्त्रों का नाम स्मृति है। श्रुतियों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रेरणा का फल है। प्रत्यक्ष प्रेरणा से

उद्भुत होने के कारण श्रुतियाँ आधारभूत हैं। स्मृतियाँ चेतना के प्रतिबिम्ब के समान हैं। इस तरह से चिन्तन, मनन एवं सामाजिक नियमन की परम्परा का नाम मनु है। 'वायु पुराण' भी मनु की उत्पत्ति मनन से ही मानता है।

भारतीय परम्परा के अनुसार विद्वान पुरुष अपने आपको ग्रन्थों का रचयिता न कहकर केवल ज्ञान का सन्देशवाहक मानते थे। अतः हम कह सकते हैं कि मनुस्मृति में प्रतिपादित नियम किसी एक दिन की उत्पत्ति नहीं हैं। वे एक लम्बे ऐतिहासिक काल तथा परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके वास्तविक रचयिता वर्तमान सृष्टि के प्रारम्भिक महापुरुष ही रहे होंगे। सम्भवतः मनुस्मृति का यह ज्ञान मनु से नारद, नारद से मारकण्डेय, मारकण्डेय से सुमति भार्गव और सुमति भार्गव से भृगु ऋषि को प्राप्त हुआ होगा। सम्भवतः वर्तमान मनुस्मृति विद्वान् भृगु के द्वारा संकलित की गयी है, परन्तु इस बारे में यह तथ्य ज्ञात नहीं है कि भृगु ने यह संकलन कार्य कब किया ? मनुस्मृति के अन्तर्गत प्रारम्भ में एक लाख श्लोक थे, जो कम होते-होते 12 हजार रह गये और वर्तमान संस्करणों में तो 2,694 श्लोक ही प्राप्त होते हैं।

मनुस्मृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में भले ही मतभेद हो, एक विधि ग्रन्थ के रूप में इसकी श्रेष्ठता को सभी पक्ष निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। गौतम के अनुसार मनु के अतिरिक्त और कोई स्मृतिकार नहीं है। बृहस्पति का कथन है कि मनुस्मृति में प्रतिपादित नियम वेदानुकूल है। अतः इससे भिन्न स्मृतियाँ मान्य नहीं हैं। पाश्चात्य विद्वान् कीथ के अनुसार, "इसकी तुलना सरलता से ल्यूक्रेटियस के महाकाव्य से की जा सकती है साथ ही साथ इसमें जीवन दर्शन का अभूतपूर्व वर्णन है।" जर्मन विद्वान नीत्शे के शब्दों में, "मनुस्मृति बाईबिल की अपेक्षा कहीं अधिक अनुपम, उत्कृष्ट और बौद्धिक ग्रन्थ है।" मैकेन्जी ब्राउन के अनुसार "यह हिन्दू कानून पर सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है।"

3.6 मनुस्मृति:विषय-वस्तु

मनुस्मृति में कुल 12 अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में जगत् की उत्पत्ति से पूर्व अवस्था, परमेश्वर का जगत् को उत्पन्न करना, द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्ष,

दिशा, जलस्थान की उत्पत्ति, मन, अहंकार महत्व तीन गुण, पाँच इन्द्रियों की उत्पत्ति, अन्य देवी सृष्टि, वेदोत्पत्ति, कालविभाग, नदी, समुद्रादि की उत्पत्ति, तप, वाणी, रति आदि की उत्पत्ति चारों वर्णों की उत्पत्ति, स्त्री-पुरुषों तथा विराट की उत्पत्ति, जरा युज, आण्डज, स्वेदज तथा उद्भिजों की उत्पत्ति तथा प्रलय की अवस्थाओं का वर्णन मन, आकाश, वायु आदि तत्व तथा इनके गुणों का वर्णन, मनवन्तर का परिणाम, युगों का प्रभाव, वर्णों के कर्म, प्राणियों में कौन-कौन श्रेष्ठ हैं, आचार आदि की प्रशंसा आदि विषयों का वर्णन किया है। इस अध्याय के अन्त में श्लोक 111 से 119 तक मनु ने मनुस्मृति के संक्षिप्त सूची पत्र का वर्णन किया है। जगत् की उत्पत्ति, संस्कारों की विधि और ब्रह्मचारियों के व्रत धारण और स्थान की परम विधि का वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में धर्मोपदेश, स्रुति, स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, आर्यावर्त की सीमा, सदाचार का लक्षण, ब्रह्मर्षि देश तथा मध्य देश की सीमा, यज्ञ, संस्कार, माता-पिता तथा आचार्य के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, 'चारों' आश्रमों आदि विषयों का वर्णन है।

तृतीय अध्याय में ब्रह्मचर्य की महिमा, गृहस्थ के कर्तव्य तथा यज्ञादि की महिमा का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में मनुष्यों के नित्यकर्मों का वर्णन है कि दिन में प्रत्येक मनुष्य को किस प्रकार कार्य करना चाहिए। इसमें पूर्ण दिनचर्या दी हुई है। इस अध्याय में यह भी वर्णित है कि कौन-कौन से कार्य करने योग्य और कौन-कौन से कार्य न करने योग्य हैं। पंचम अध्याय में स्त्री सम्बन्धी धर्मोपदेश तथा अन्य शिक्षाओं का वर्णन है। षष्ठम अध्याय में वानप्रस्थ अवस्था की महिमा, वानप्रस्थ धर्म से मुक्ति, संन्यास आश्रम, परमात्मा की सूक्ष्मता आदि विषयों का वर्णन है। सप्तम अध्याय में राजशास्त्र सम्बन्धी विषयों का वर्णन है। इस अध्याय में राजधर्म वर्णन की प्रतिज्ञा, राजा के बिना हानि, राज्योत्पत्ति का प्रयोजन, राजा के दैवत्य, राजा का प्रभाव, दण्ड की उत्पत्ति, राजा के कर्तव्य, कर आदि लेने का नियम तथा सेना सम्बन्धी विषयों का वर्णन है। अष्टम अध्याय में अभियोगों की छानबीन, दण्ड देने के नियम, सब प्रकार के अपराध तथा उनके दण्डों का वर्णन है। नवम, दशम तथा ग्यारहवें अध्यायों में वैश्य, शूद्रों के धर्म का अनुष्ठान, प्रकार, वर्ण संस्कारों की उत्पत्ति,

वर्णों का आपद् धर्म आदि का वर्णन है। बारहवें अध्याय में मनु ने देहान्तर प्राप्ति जो तीन प्रकार के कर्मों से होती है तथा मोक्ष का स्वरूप और कार्यों के गुणदार परीक्षा देश धर्म जो कुल परम्परा से चला आता है तथा पाखण्ड और गुण-धर्म आदि का वर्णन किया है।

3.7 मनु का राजदर्शन

1. राज्य

राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त- मनुस्मृति के सातवें अध्याय में राजधर्म का प्रतिपादन करते हुए राज्य या राजा की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। इसके अनुसार सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था बड़ी भयंकर थी। उस समय न कोई राज्य था और न कोई राजा तथा इसके अभाव में दण्ड व्यवस्था का कोई प्रश्न ही नहीं था। राज्य और अर्थव्यवस्था के अभाव में मनुष्यों की आसुरी प्रवृत्तियों को खुलकर खेलने का अवसर मिलता है, जिनके परिणामस्वरूप चतुर्दिक अराजकता का अखण्ड साम्राज्य था, चारों ओर भय का वातावरण था और सभी लोग दुःखी अवस्था में थे। कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करने की स्थिति में नहीं था। ऐसी स्थिति में ईश्वर ने सृष्टि की रक्षा के लिए राज्यपति (राजा) की व्यवस्था की। कौटिल्य ने भी इसका प्रतिपादन किया है कि जनता ने जब देखा कि अराजकता की स्थिति में आर्थिक संघर्षों के फलस्वरूप ही लोग नष्ट हो जायेंगे, तब वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और उन्हें अपने अन्न का छठा भाग, अपने व्यापार के अन्न का दसवाँ भाग देने का वादा किया ।मनु के अनुसार राजा सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, इन्द्र, वरुण, पवन और अग्नि-सृष्टि की इन आठ सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्तियों और तत्वों से समन्वित होता है। इन आठ श्रेष्ठ तत्वों से समन्वित होने के कारण राजा विश्व का रक्षक, पोषक एवं समृद्धिकारक होता है। जिस प्रकार ये विशिष्ट शक्तियाँ अपने गुण विशेषों से समस्त सृष्टि पर शासन करती हैं, उसी प्रकार राजा अपनी शक्ति से इस लोक पर शासन करता है। मनुस्मृति के अनुसार, "ऐसा राजा इन्द्र अथवा विद्युत के समान ऐश्वर्यकर्ता, पवन के समान सबके प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने वाला, यम के

समान पक्षपात रहित न्यायाधीश, सूर्य के समान न्याय, धर्म तथा विद्या का प्रकाश, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरुण के समान दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधने वाला, इन्द्र के समान श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्द देने वाला तथा कुबेर के समान कोषों में भरने वाला होता है।"

मनु का विचार है कि राजा की रचना इन आठ देवताओं के उत्कृष्ट अंशों को लेकर की गयी है। कारण राजा न केवल एक देवता वरन् इनमें से प्रत्येक देवता से महान् है। वह इन आठ प्रमुख देवताओं के तत्वों को धारण करने वाला एक विशिष्ट देवता है। अतः राजा पद परम पवित्र है। "ईश्वर द्वारा उत्पन्न ऐसा राजा भले ही बालक हो, लेकिन उसे मर्त्य प्राणी समझकर उसकी अवज्ञा या अपमान नहीं करना चाहिए। राजा अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए विविध रूप धारण करता है, इसलिए भूल से भी राजा का विरोध नहीं किया जाना चाहिए। धर्म के अनुकूल राजा जो भी व्यवस्थाएँ निश्चित करे, उनका कभी भी अतिक्रमण नहीं किया जाना चाहिए। प्रजा को अनिवार्य रूप से शासक की इच्छाओं का पालन करना चाहिए, क्योंकि उसकी इच्छा ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होती है।"

इस प्रकार राजा का शासन मानवीय समझौते पर आधारित न होकर ईश्वरीय इच्छा पर आधारित है और राजा अपने कार्यों के प्रति ही उत्तरदायी है न कि राजा के प्रति ।

क्या राजा निरंकुश है? मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त की तुलना प्रायः पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित दैवी सिद्धान्तों से की जाती है किन्तु दोनों में बहुत अधिक अन्तर है। पाश्चात्य विद्वानों ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए राजा को निरंकुश सत्ता प्रदान की है। उदाहरण के लिए, इस सिद्धान्त के आधार पर ही फ्रांस का राजा लुई चौदहवाँ कहा करता था कि "मैं ही राज्य हूँ, मेरी इच्छा ही कानून है। मैं इस धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि बनकर शासन करता हूँ।"

किन्तु मनु ने राजा को ऐसी निरंकुश सत्ता प्रदान नहीं की है। मनु ने राजा को धर्म के अधीन रखा है और इस बात पर बल दिया है कि राजा सदा प्रजा का

पालन तथा उसकी रक्षा करे। राजा को दैवी अथवा देवांश बताया गया है, किन्तु बल उसके दैवत्य पर है न कि उसके अधिकार अथवा चाहे जिस प्रकार शासन करने पर और दैवत्य पर बल देने का तात्पर्य यह है कि राजा के द्वारा दैवीय गुणों के आधार पर प्रजा का पालन किया जाना चाहिए। मोटवानी के शब्दों में, "राजा को समझना चाहिए कि वह धर्म के नियमों के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरुद्ध व्यवहार नहीं कर सकता, धर्म राजाओं और मनुष्यों पर एक समान ही शासन करता है। इसके अतिरिक्त राजा राजनीतिक प्रभु जनता के भी अधीन है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनता की आज्ञा पालन की क्षमता से सीमित है।" इसी प्रकार सालेटोर ने लिखा है कि "मनु ने निःसंदेह यह कहा है कि जनता राजा को गद्दी से उतार सकती है और उसे मार भी सकती है, यदि वह अपनी मूर्खता से प्रजा को सताता है।" मनु का राजा विशिष्ट दैव होकर भी साधारण प्राणियों की भाँति दण्ड भोगता है। इतना ही नहीं, वरन् जिस अपराध में साधारण व्यक्तियों को केवल एक यण का दण्ड दिया जाता है उसी में राजा को अधिक ज्ञानी होने के कारण सशस्त्र (एक सौ) यण दण्ड मिलता है। इसके अतिरिक्त राजा का प्रशिक्षण और उसकी दिनचर्या भी उसे स्वेच्छाचारिता या निरंकुशता की ओर नहीं जाने दे सकते। वास्तव में मनु ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के साथ-साथ कुछ स्थानों पर संविदा सिद्धान्त को भी अपनाया है। अतः यह कहा जा सकता है कि राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को अपनाने पर भी मनु ने राजा को वैसी निरंकुश सत्ता प्रदान की है जैसी कि इस सिद्धान्त के पाश्चात्य प्रतिपादकों द्वारा राजा को प्रदान की गयी है।

सप्तांग राज्य

मनु ने राज्य को सप्तांग माना है अर्थात् राज्य सावयव है। मनुस्मृति के अध्याय 9 के श्लोक 294 में कहा गया है- स्वामी, मंत्री, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड और मित्र ये बात राज प्रकृतियाँ हैं, इनसे युक्त 'सप्तांग' राज्य कहलाता है। मनु शासन के एक ही रूप राजतंत्र को स्वीकार करते हैं और राज्य की इन सात प्रवृत्तियों में राजा या स्वामी को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

राज्य के कार्य- मनु ने अपने विचार दर्शन के अन्तर्गत राज्य के समुचित कार्य-क्षेत्र का भी वर्णनकिया है। मनु के अनुसार आन्तरिक शान्ति स्थापित करना, बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करना और नागरिकों के पारस्परिक विवादों का निर्णय करना राज्य के सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त मूल्यों को नियंत्रित करना, विभिन्न समुदायों के बीच होने वाले झगड़ों का निबटारा करना, वैश्यों तथा शूद्रों को अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए विवश करना भी राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आता है। राजा को शिक्षा की व्यवस्था भी करनी चाहिए और शिक्षकों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। उसे सन्तानविहीन स्त्रियों, विधवाओं तथा रोगग्रस्त स्त्रियों की देखभाल करनी चाहिए। इस प्रकार मनु के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है। मोटवानी के अनुसार, "मनु के निर्देशन में राज्य द्वारा बनाये जाने वाले अनेक कानून वर्तमानकालीन राजशास्त्र के विद्यार्थी को समाजवादी प्रतीत होंगे।" वस्तुतः मनु द्वारा चित्रित राज्य एक कल्याणकारी राज्य है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त कर लेने का अवसर मिलता है।

2. राजा

मनु का राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास है। ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य आदि देवताओं का सारभूत अंश लेकर राजा की सृष्टि की। इसी कारण राजा अपने तेज से सब जीवों को नियंत्रित करता है। दैवीय अंश होने के कारण बालक राजा का भी अपमान नहीं करना चाहिए। मनु ने राजा को देव बनाया जिससे घृणा करने वालों को निरंकुश शक्तियों में दण्डित किया जाता है। डॉ. जायसवाल का कथन है कि मुन की विचारधारा में विभिन्न देवता राजा के शरीर में आते हैं और वह स्वयं एक महान देव बन जाता है।

राजा के गुण- मनुस्मृति के अनुसार राजा का प्रमुख कार्य प्रजा की रक्षा तथा कल्याण है। अतः इन कार्यों के भली-भाँति सम्पादन के लिए राजा में कुछ गुणों का होना आवश्यक है। राजा को प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर विद्वान ब्राह्मणों की सेवा करनी चाहिए। उसे विनम्र तथा सेवाभावी होना चाहिए, क्योंकि विनययुक्त राजा कभी नष्ट नहीं होता। उसे तीनों वेदों के ज्ञाता विद्वानों से त्रयी विद्या,

नित्य दण्डनीति विद्या, आन्वीक्षिकी विद्या और लोक व्यवहार से वार्ता विद्या को सीखना चाहिए। राजा को सर्वदा इन्द्रियों को जीतने में प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि जितेन्द्रिय राजा प्रजा को वश में रखने में समर्थ होता है। जितेन्द्रिय होने के लिए राजा को योगाभ्यास करते रहना चाहिए और काम-वासना से उत्पन्न 10 तथा क्रोध से उत्पन्न 8 दुष्ट व्यसनों से बचना चाहिए। काम-वासना से उत्पन्न 10 व्यसन इस प्रकार है- शिकार, जुआ, दिन में सोना, पराए की निन्दा, स्त्री में अत्याशक्ति, मद्यमान, नाच-गाने में आसक्ति और निष्प्रयोजन भ्रमण क्रोध से उत्पन्न 8 प्रकार के व्यसन इस प्रकार हैं- चुगली करना, बलात्कार, द्रोह, ईर्ष्या, असहिष्णुता, बुरे कार्य में धन को खर्च करना, कठोर वचन बोलना और बिना अपराध के दण्ड देना जो राजा काम-वासना से उत्पन्न व्यसनों में फँस जाता है, वह धन-धान्य तथा धर्म से रहित हो जाता है और जो क्रोध से उत्पन्न बुरे व्यसनों में फँसता है वह प्रकृति के प्रकोप के कारण शरीर से भी वंचित हो जाता है। मनु इन व्यसनों से राजा को सचेत करते हुए लिखते हैं कि, "व्यसन तथा मृत्यु दोनों ही कष्टकारक हैं किन्तु मृत्यु की अपेक्षा व्यसन कष्टकारक हैं, क्योंकि मरा हुआ व्यसनी पुरुष नरक में जाता है और मरने पर व्यसन रहित पुरुष स्वर्ग में जाता है।"

राजा के कर्तव्य - मनुस्मृति के अनुसार राजा को अपनी सुरक्षा के लिए पहाड़ी दुर्ग में निवास करना चाहिए क्योंकि वह सब दुर्गों में श्रेष्ठ होता है। दुर्ग को शस्त्रों, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मणों, कारीगरों, यंत्रों, चारा और जल से परिपूर्ण रखना चाहिए। उसे स्वजातीय शुभ लक्षणों वाली श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न रूप एवं गुण से युक्त स्त्री से विवाह करना चाहिए। राजा को अश्वमेघ, विश्वजीत आदि यज्ञ करवाने चाहिए और ब्राह्मणों को दान में प्रचुर धन देना चाहिए। राजा को अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों से ही कर वसूल करवाने चाहिए और प्रजा से कर लेते समय पितातुल्य व्यवहार करना चाहिए।

राजा को विभिन्न कार्यों- सेना, कोष संग्रह, दूत कार्य आदि के लिए अनेक प्रकार के अध्यक्ष नियुक्त करने चाहिए और उन अध्यक्षों को सब कार्यों की देख-रेख करनी चाहिए। राजा को युद्ध से डरकर नहीं भागना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह लोगों को दण्ड द्वारा वश में रखे। राजा अविश्वासी पर विश्वास

न करे । विश्वासी पर अधिक विश्वास न करे, बगुले के समान अर्थ चिन्तर करे, सिंह के समान पराक्रम दिखाये, भेड़िये के समान शत्रु का नाश करे और खरगोश के समान शत्रु के घेरे से निकल जाये ।

राजा का कर्तव्य है कि वह राज्य की रक्षा करता रहे। वह गाँवों व नगरों की सुव्यवस्था के लिए अनेक अधिकारी नियुक्त करे, स्वयं उनके कार्यों का निरीक्षण करता रहे और गुप्तचरों के द्वारा उनके व्यवहार को मालूम करता रहे। प्रजा का पालन करना ही राजा का श्रेष्ठ धर्म है। राजा को कार्य के अनुसार कठोर या मृदु होना चाहिए क्योंकि ऐसा ही राजा सबका प्रिय होता है। संक्षेप में मनु के अनुसार राजा का सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य दण्ड धारण कर प्रजा की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड देना है। मनु के अनुसार दण्ड ही धर्म और दण्ड ही राजा है। जब सब सोये रहते हैं, दण्ड ही जागता रहता है।

राजा की दिनचर्या मनु ने राजा की दिनचर्या का वर्णन इस प्रकार किया है- सबेरे (1) स्नान, ध्यान, अध्ययन और पूजा, (2) न्याय, जनता की शिकायतों पर निर्णय देना, (3) मंत्रियों के साथ मंत्रणा, (4) राज्य के परराष्ट्र मामलों के विषय में राजदूतों तथा गुप्तचरों के साथ परामर्श, (5) सैनिक मामलों के विषय में सेनापति के साथ परामर्श । मध्याह्न और रात्रि (1) व्यायाम, स्नान, आराम और रनिवास के मामले, (2) सेना और युद्ध सामग्री का निरीक्षण, (3) सायंकाल की प्रार्थना, (4) गुप्त परामर्श, (5) संगीत और सोना ।

युद्ध में राजा के कर्तव्य और आपद्धर्म- मनु के अनुसार प्रजा का पालन करता हुआ राजा समान, अधिक या कम बल वाले शत्रुओं से युद्ध के लिए ललकारने पर क्षत्रिय धर्म को स्मरण करता हुआ युद्ध से विमुख न होवे । युद्ध से डरकर न भागना राजा के धर्म का महत्वपूर्ण अंग है, युद्ध में शत्रुओं को मारते हुए राजा अपने धर्म को न छोड़े।

मनुस्मृति में वर्णित राजा का आपद्धर्म इस प्रकार है- राजा को प्रजा के धान्य का छठा, आठवाँ और बारहवाँ भाग लेने का शास्त्रसम्मत विधान होने पर भी आपत्तिकाल में उतना कर लेने से राज्य कार्य चलना असम्भव होने पर प्रजा के

धान्य का चौथा भाग लेता हुआ और यथाशक्ति प्रजा की रक्षा करता हुआ राजा अधिक कर लेने के पाप से छूट जाता है।

3 शासन

शासन के सिद्धान्त- मनु के अनुसार शासन का मुख्य ध्येय धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति में साधक होना है। अतः शासन के सर्वेसर्वा राजा को मंत्रियों के परामर्श से इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए। मनुस्मृति में कहा गया है कि राजा (शासन) को अप्राप्य को प्राप्त करना

चाहिए, जो कुछ प्राप्त हो गया है उसकी रक्षा करनी चाहिए, जिसकी रक्षा की गयी है उसमें विभिन्न प्रकार से वृद्धि करनी चाहिए और जो कुछ वृद्धि हो उसे सुपात्रों को दान कर देना चाहिए। इस प्रकार मनु के अनुसार शासन की नीति चार-सूत्री हुई शक्ति और वैध उपायों द्वारा अर्जित करना, रक्षण करना, वृद्धि करना और सुपात्रों को दान करना ।

मनु के अनुसार राजा को पिता के तुल्य प्रजा का पालन करना चाहिए। राजा को आवश्यकतानुसार कठोर और मृदु होना चाहिए। राजा न्यायी हो, दुष्टों का दमन करे तथा उन्हें कठोर दण्ड दे। राजा को उचित कर ही वसूल करने चाहिए। राजा को भ्रष्ट अधिकारियों की सम्पत्ति जब्त करके उन्हें राज्य से निकाल देना चाहिए। जो अधिकारी अपने कर्तव्यों का ठीक से पालन न करे उन्हें जुर्माने का दण्ड देना चाहिए ।

मंत्रिपरिषद्-मनुस्मृति में मंत्रिपरिषद् शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है अपितु 'सचिवान्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसे मंत्रिपरिषद् के रूप में ही लिया जा सकता है। मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता बताते हुए मनु ने लिखा है कि, "किसी व्यक्ति के लिए सरल कार्य भी अकेले सम्पादित करना कठिन है, अतः महान् फल देने वाला राज्य-कार्य तो अकेले राजा के द्वारा चलाया नहीं जा सकता।" अतः राजा को शासन कार्यों के लिए मंत्रियों को नियुक्त करना चाहिए। मनु के अनुसार वंशक्रमागत, शास्त्र-ज्ञाता, शूरवीर, शस्त्र चलाने में निपुण और उत्तम वंश में उत्पन्न सात या आठ व्यक्तियों को राजा द्वारा मंत्री के रूप में नियुक्त करना चाहिए।मनु के अनुसार योग्यता के अनुसार मंत्रियों के विभागों का वितरण

करना चाहिए। इस विषय में मनु लिखते हैं- “शूर, दक्ष और कुलीन सदस्यों को वित्त विभाग, शुचि आचरण की विशेषता से युक्त सदस्य को रत्न खानि विभाग भी, सदस्य को अन्तर्निवेश विभाग और सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, मनोवैज्ञानिक, अन्तःकरण से शुद्ध तथा चतुर और कुलीन व्यक्ति को सन्धि विग्रह विभाग का अधिष्ठाता बनाया जाना चाहिए । मंत्रिपरिषद् के अमात्य नाम के सदस्य को दण्ड विभाग (सेना विभाग) और राजा को राष्ट्र एवं कोष अपने अधीन रखना चाहिए।" इन मंत्रियों में से एक विद्वान् तथा धर्मादियुक्त ब्राह्मण को मुख्य पद प्रदान किया जाना चाहिए, क्योंकि "इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह ब्राह्मण ही है। ब्राह्मण ब्रह्मा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र है।" राजा को चाहिए कि वह मंत्रियों के अभिप्राय को एकान्त में अलग-अलग तथा सभी के अभिप्राय को संयुक्त रूप से जानकर अपना हितकारी कार्य करे। राजा द्वारा मंत्रियों के साथ निष्कपट बर्ताव किया जाना चाहिए और उन्हें अपने विश्वास में रखना चाहिए।मनु के अनुसार पहाड़ पर या एकान्त महल में या निर्जन वन में राजा को दूसरों से अज्ञात होते हुए मंत्रियों के साथ मंत्रणा करनी चाहिए। जिस राजा के मंत्र को दूसरे व्यक्ति नहीं जान पाते, कोष से हीन होने पर भी ऐसा राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करता है। मंत्रणा के समय राजा को चाहिए कि जड़, मूक, बहरे, अत्यन्त वृद्ध, स्त्री, मनेच्छ, रोगी, व्यंग्य को हटवा दे क्योंकि ये सभी मंत्र का भेदन कर देतेमनु की मंत्रियों सम्बन्धी व्यवस्था काफी विकसित प्रतीत होती है। उसने मंत्रियों की आवश्यकता पर बल देते हुए मंत्रणा के समय और स्थान को भी बताया है। साथ ही मंत्रणा की प्रणाली और विभागीय प्रथा की ओर भी संकेत किया है। मंत्रियों में एक मंत्री प्रधानमंत्री जैसा बताया गया है। मंत्र को पूर्णतया गुप्त ही रखा जाये अर्थात् गोपनीयता के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया है।

अन्य अधिकारी- मनु के अनुसार शासन की नीति को कार्यरूप देने तथा अनेक कार्यों को संचालित करने के लिए अधिकारियों की संख्या काफी बड़ी होनी चाहिए, जो राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित होगी । अन्य अधिकारी भी ईमानदार, चरित्रवान, बुद्धिमान, अनुभवी और अनेक कार्यों में

कुशल होने चाहिए। यह अति आवश्यक है कि वे और उनके अधीन कर्मचारी किसी भी रूप में भ्रष्ट न हों। भ्रष्ट अधिकारियों के प्रति राजा का व्यवहार अत्यन्त कठोर रहे। राजा उनके कार्यों का निरीक्षण करे तथा गुप्तचरों द्वारा पता लगाये । मंत्रियों के साथ ही मनु ने दूत के विषय में बताया है। राजा दूत ऐसे व्यक्ति को बनाये जो बहुश्रुत, हृदय के भाव, आकार व चेष्टाओं को जानने वाला, अन्तःकरण का शुद्ध, चतुर, कुलीन, प्रीतिवाला, देश, काल का जानने वाला, निडर और बोलने वाला हो

प्रादेशिक प्रशासन- भूमिगत आधार पर मनु ने राज्य को दो भागों- पुर तथा राष्ट्र में विभाजित किया है। पुर अथवा दुर्ग से अभिप्राय राजधानी का है। राजधानी का नगर कहाँ बसाना चाहिए इस विषय में मनु का मत इस प्रकार है- जिस भू-भाग में अनेक प्रकार के वृक्ष, घास, जल, धान्य आदि की उपज की पूरी सुविधा हो, जहाँ आर्यजन वास करते हों, जो देखने में रमणीय, वीर पुरुषयुक्त, हर प्रकार से सम्पन्न और स्वावलम्बी हो ।

राष्ट्र में शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए उसे छोटी और बड़ी बस्तियों तथा क्षेत्रों में विभाजित किया जाना चाहिए। मनुस्मृति में 1 ग्राम, 10 ग्राम, 100 ग्राम और 1,000 ग्रामों के पृथक् पृथक् संगठनों की व्यवस्था की गयी है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम है, 10, 20, 100 और 1,000 ग्रामों के अलग-अलग अधिकारी नियुक्त किये जाने चाहिए। प्रत्येक ग्राम का अधिकारी ग्रामिक कहलाता है। ग्रामिक को ग्राम में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखनी चाहिए। 10 ग्रामों के संगठन का अधिकारी दशग्रामपति नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार 20, 100 और 1,000 ग्रामों के अधिकारियों को क्रमशः विंशति, शताध्यक्ष, शस्त्रपति कहा गया है। राष्ट्र में ग्रामों के अतिरिक्त नगर भी होते थे, किन्तु उनकी संख्या कम होती थी। प्रत्येक नगर में स्वार्थचिन्तक नाम के अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है।

परिषद् या विधायिका- कार्यपालिका के विभिन्न अंगों के साथ-साथ मनु ने विधायिका की भी व्यवस्था की है। मनुस्मृति में परिषद् शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ ऐसे विद्वान व्यक्तियों से है जोतीनों वेदों के ज्ञाता हों। मोटवानी

के अनुसार, विधायिका ऐसे बुद्धिमान व्यक्तियों से मिलकर बननी चाहिए जिन्होंने वेदों और टीकाओं का अध्ययन किया हो और जो अपने तर्कों के समर्थन में बुद्धियुक्त प्रमाण देने की योग्यता रखते हों। मनु ने विधायिका की रचना का विस्तार से वर्णन किया है। उसके अनुसार सदस्यों की संख्या 10 होनी चाहिए, किन्तु रचना का आधार बौद्धिक योग्यता रहे न कि संख्या । तीन व्यक्तियों में से प्रत्येक एक-एक वेद का ज्ञाता हो, एक निर्वक्ता, एक मीमांसा का, एक निरुक्त और एक धर्मशास्त्र का कहने वाला और तीन व्यक्ति मुख्य व्यवसायों के। परन्तु ऐसे 10 व्यक्ति न मिले तो तीन ही काफी हैं और यदि 3 भी इन शर्तों को पूरा करने वाले न मिलें तो एक ही काफी है, यदि वह वेदों का ज्ञाता हो और उनका निर्वचन कर सके। ऐसा एक ही व्यक्ति राष्ट्रीय नीतियाँ निर्धारित करने के योग्य है।

4. कानून और न्याय-व्यवस्था-दण्ड व्यवस्था- मनु के अनुसार दण्ड ही राजा है क्योंकि दण्ड में ही राज्य करने की शक्ति है। विद्वान् लोग दण्ड को धर्म का हेतु समझते हैं। यदि राजा अपराधियों को दण्ड न दे तो बलवान लोग दुर्बलों को वैसे ही पकाने लगें जैसे मछलियों को लोहे के छड़ में छेदकर पकाते हैं। दण्ड का यथायोग्य प्रयोग करता हुआ राजा धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति की ओर उन्मुख होता है। राजा को चाहिए कि राज्य में न्यायोचित दण्ड की व्यवस्था करे। कुल, जाति, गण और जनपद में से जो भी अपने धर्म से विचलित हो राजा उन्हें यथोचित दण्ड देकर फिर से निज धर्म की स्थापना करे। दण्ड चार प्रकार के होते है- धिग्दण्ड, वाग्दण्ड, धनदण्ड और वधदण्ड ।

कानून का स्त्रोत- मनु के अनुसार कानून का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत वेद है। अन्य स्रोतों में स्मृतियाँ, वेदों में सज्जनों का आचार और स्वसन्तोष आते हैं।न्याय व्यवस्था- मनुस्मृति में न्याय व्यवस्था का भी वर्णन किया गया है। मनु के अनुसार दो प्रकार के विवाद होते हैं- हिंसा के कारण उत्पन्न विवाद और देने योग्य भूमि या धन न देने से उत्पन्न विवाद । मनुस्मृति में वर्णन है कि यदि राजा स्वयं विवादों का निर्णय न करे, तो उस कार्य को देखने के लिए किसी विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त किया जाना चाहिए। राजा के द्वारा नियुक्त ब्राह्मण भी ऐसे तीन अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर न्यायालय में विवादों का

निर्णय करे। न्यायाधीशों को सभी विवादों का निर्णय पूर्ण निष्पक्षतापूर्वक करना चाहिए, क्योंकि जिस सभा (न्यायालय) में सत्य, असत्य से पीड़ित होता है उसके सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं।मनु के अनुसार न्यायाधीश ब्राह्मण ही होने चाहिए, किसी भी दशा में शूद्र नहीं होने चाहिए। न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति हों, जो बाहरी चिह्नों- स्वर, वर्ण, संकेत और चेष्टाओं से मनुष्यों के आन्तरिक भावों को जान सकें।मनुस्मृति में प्रमाणों को दो भागों में विभक्त किया गया है- मानुष प्रमाण और दिव्य प्रमाण। मानुष प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं- लिखित, युक्ति और साक्षी। मनु के अनुसार न्यायाधीशों द्वारा लिखित प्रमाणों को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, किन्तु बलपूर्वक लिखाये गये लेखों को अमान्य कर देना चाहिए । साक्ष्य प्रमाण में आँखों देखा हाल होने के कारण ये भी विश्वसनीय होते हैं किन्तु मनु के अनुसार असत्य बोलने वाले, सेवक, शत्रु, संन्यासी और कोढ़ी के कथनों पर विश्वास नहीं किया जाना चाहिए। साक्ष्य के पूर्व में शपथ का विधान रखा जाना चाहिए और मिथ्या साक्षी देने वालों को कड़ा दण्ड दिया जाना चाहिए। स्त्रियों के लिए स्त्रियों का साक्ष्य लेना चाहिए। ब्राह्मण की साक्षी एक विशेषज्ञ के रूप में लेकर उसको सर्वाधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

5. राजकोष तथा अर्थ व्यवस्था- भारतीय चिन्तन में जीवन के जो 4 पुरुषार्थ या उद्देश्य घोषित किये गये हैं उनमें अर्थ भी एक है। अर्थ अथवा कोष तो राज्य का प्राण ही है। मनु ने कोष को राज्य के 7 अंगों में से एक माना है। कोष संचय की पद्धति को बताते हुए मनु का कथन है कि राजा को शनैः शनैः अल्प मात्रा में संचय करना चाहिए, लेकिन कर लेने अथवा कोष संचय का अधिकार राजा को तभी है जब वह सुचारु रूप से प्रजा के रक्षण तथा पालन के कार्य में तल्लीन हो। प्रजा का रक्षण न करते हुए यदि राजा कोष संग्रह करता है तो इस लोक में प्रजा उसके विरुद्ध विद्रोह करती है और मरणोपरान्त वह नरक पाता है।

मनुस्मृति में प्रजा शोषण की नीति का घोर विरोध किया गया है। राजा को यह अधिकार नहीं है कि किसी पर निर्धारित मात्रा से अधिक कर लगा सके।

मनु ने करों के प्रकार का भी वर्णन किया है। इन करों में बलि, शुल्क, दण्ड, भाग आदि प्रमुख हैं। प्रजा द्वारा मास या वर्ष की अवधि में धन-धान्य या सामग्री के रूप में राजकोष के लिए जो कुछ भेजा जाता था उसे बलि कहते हैं। विशेष रूप से यह कर ग्रामीण जनता पर लगता था। प्रजा की आय का षडांश मनु के अनुसार राजकोष का भाग माना जाता था। शुल्क बाजार या हाट में व्यापारियों द्वारा बिक्री के लिए लायी गयी वस्तुओं पर लगाया जाता था। इस विषय में मनुस्मृति में कहा गया है कि व्यापारियों को जो लाभ हो उसका 20वाँ भाग राजा को शुल्क के रूप में मिलना चाहिए। दण्ड कर का अर्थ जुर्माने के दण्ड से है। राजा को चाहिए कि वह व्यक्ति के दोष और उसकी सामर्थ्य को देखकर अर्थ-दण्ड दे और इस प्रकार से प्राप्त होने वाले धन का राजकोष में संचय होना चाहिए। मनु का कथन है कि प्रजा के स्वर्ण के लाभ का 5वाँ भाग राजकोष के लिए कर रूप में लेना चाहिए।

6.परराष्ट्रसंबंध- मनु के परराष्ट्र सम्बन्धों पर विचार करते हुए दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये हैं मण्डल सिद्धान्त तथा षाड्गुण्य नीति मण्डल सिद्धान्त मनु के अनुसार राजा को महत्वाकांक्षी होना चाहिए तथा क्षेत्र-विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस दृष्टि से राजा को मण्डल सिद्धान्त के आधार पर दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। मण्डल सिद्धान्त से अभिप्राय है राज्य का प्रभाव क्षेत्र । इसका केन्द्र-बिन्दु 'विजिगीषु राजा' (विजय प्राप्ति की इच्छा रखने वाला राजा) होता है। जने कह

मनु ने राज्य मण्डल की चार मूल प्रकृतियाँ बतलायी हैं- मध्यम, विजिगीषु, उदासीन और शत्रु । जो राजा विजिगीषु राजा की सीमा के पास रहता हो, विजिगीषु और उसके विरोधियों में सन्धि होने पर अनुग्रह करने में तथा विरोध होने पर दण्डित करने में समर्थ हो, वह राजा मध्यम है। जो विजिगीषु तथा मध्यम राजाओं के एकमत होने पर अनुग्रह करने में तथा विरोध होने पर निग्रह करने में समर्थ हो वह राजा उदासीन है। शत्रु राजा 3 प्रकार के होते हैं- सहजशत्रु, कृत्रिम शत्रु और राज्य की भूमि का पार्श्ववर्ती शत्रु । राजमण्डल की कुल मिलाकर 12 प्रकृतियाँ हैं- 1 से 4 ऊपर वर्णित मूल प्रकृतियाँ और (5)

मित्र, (6) अरिमित्र, (7) मित्र का मित्र, (8) अरि के मित्र का मित्र, (9) पाणिग्राह, (10) आक्रन्द, (11) पार्षिणग्राहासार, और (12) आक्रांदासार ।

विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह शत्रु राजाओं से अलग-अलग या मिलकर साम, दाम, दण्ड और भेद आदि उपायों से पुरुषार्थ और नीति से उन सबको अपने वश में करे। राजा को ऐसा प्रयन करना चाहिए कि शत्रु उसकी कमियों को न जाने, परन्तु शत्रु की कमियों को वह जान सके ।

षाड्गुण्य नीति - विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह शत्रु राजाओं से अलग-अलग या मिलकर साम, दाम, भेद और दण्ड, आदि उपायों से पुरुषार्थ और नीति से, उन सबको अपने वश में करे। इस सम्बन्ध में राजा के द्वारा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधी भाव और संश्रय- इन 6 लक्षणों वाली षाड्गुण्य नीति के आधार पर कार्य किया जाना चाहिए। इस नीति का पालन राजा को अपने हानि-लाभ का विचार कर करना चाहिए। राजा को ऐसे सभी उपायों का प्रयोग करना चाहिए जिससे उसके शत्रु मध्यम तथा उदासीन राजाओं की अधिकता न होवे, क्योंकि उनकी अधिकता होने पर धन-लोभ से, मित्र के भी शत्रु हो जाने से उसके पराधीन होने की आशंका रहती है।

जहाँ तक शान्ति काल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की बात है, राज्यों को राजदूतों की अदला-बदली करते हुए दूसरे राज्यों से कूटनीतिक सम्बन्ध रखने चाहिए। राजदूत ही मित्रों को बनाने व बिगाड़ने वाला है और दूसरे राज्यों के साथ युद्ध या शान्ति उसी पर निर्भर करती है। अतः राजदूत सब शास्त्रों का विद्वान, इंगित आकार और चेष्टा को जानने वाला, शुद्ध हृदय, चतुर तथा कुलीन होना चाहिए। वह षाड्गुण्य नीति तथा समय को जानने वाला, समर्थ तथा धर्म, अर्थ और काम के शत्रु द्वारा अपने वश में न किया जा सकने वाला होना चाहिए। उसकी पर्यवेक्षण शक्ति काफी विकसित होनी चाहिए तथा मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

मनु के अनुसार "राजा साम, दाम और भेद की नीति का एक-एक करके या सम्मिलित रूप से प्रयोग करके अन्य राज्यों को जीतने का प्रयत्न करे, युद्ध द्वारा नहीं क्योंकि युद्ध से दोनों पक्षों का ही नाश हो जाता है। पर कतिपय

परिस्थितियों में युद्ध अनिवार्य होता है, अतः जब आवश्यक हो तो निःशंक होकर युद्ध का आश्रय लिया जाना चाहिए।"

युद्ध- युद्ध से डरकर न भागना राजा का धर्म है। युद्ध के लिए राजा को व्यूह रचना चाहिए और युद्धाभिमानी योद्धाओं को मोर्चे पर रखना चाहिए। राजा को सैनिकों का उत्साह बढ़ाना चाहिए और उनका परीक्षण भी करते रहना चाहिए।

मनु ने कुछ ऐसी परिस्थितियों का वर्णन किया है जिसमें विपक्षी का वर्णन करते समय मनु के सम्मुख कुछ निश्चित सिद्धान्त थे जिनका पालन करना आवश्यक था। जैसे निःशस्त्र का या वाहन रहित व्यक्ति का वध नहीं करना चाहिए। साथ ही युद्ध निर्धारित अवधि में ही करना चाहिए। असावधान अथवा अचेतन अवस्था में भी विपक्षी अवध्य था। मनु युद्धरत व्यक्ति के बध का ही आदेश देते हैं। शरणागत विपक्षी अवध्य होता था। पुरुषत्वहीन व्यक्ति से युद्ध करने या युद्धस्थान में उसका वध करने का मनु ने निषेध किया है।

युद्ध में प्राप्त सामग्री विजेता की हो जाती थी, किन्तु इन द्रव्यों में मूल्यवान वस्तुएँ राजकोष में जमा कराने का नियम था । मनु का कथन है कि विजयोपरान्त देवों तथा धार्मिक ब्राह्मणों का पूजन करके वहाँ की प्रजा को सहायता तथा अभयदान दे देना चाहिए। यदि प्रजा अपने राजा से सन्तुष्ट रही हो तो उसी के वंश के किसी को पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। यदि पराजित राजा जीवित हो तो उसके साथ सन्धि करके उसको धन-धान्य तथा राज्य प्रदान करके उससे अपनी अधीनता स्वीकार कराकर लौट आना चाहिए ।

3.8 मनु और कौटिल्य : तुलना

मनु और कौटिल्य प्राचीन भारत के महान दार्शनिक, चिन्तक और विद्वान् राजनीतिशास्त्री माने जातेहैं। उनके राज चिन्तन में बहुत कुछ समानता और असमानता दिखाई देती है। जहाँ तक सामाजिक व्यवस्था का सम्बन्ध है, मनु और कौटिल्य वैदिक परम्परा के अनुसार वर्णाश्रम धर्म को मानते हैं। दोनों ही विचारक समाज में ब्राह्मणों के महत्वपूर्ण स्थान को स्वीकार करते हैं औरप्रतिनिधि राजनीतिक विचारकशूद्रों को समान रूप से हीन स्थान देते हैं, परन्तु कौटिल्य ने सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में कोई विचार व्यक्त नहीं

किया है, जबकि मनु ने कहा है कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की बाहुओं से और वेश्यों की पेट से हुई। मनुष्य जीवन के उद्देश्य कौटिल्य की तरह मनु ने भी धर्म, अर्थ और काम तथा परलोक में मोक्ष माने हैं।

कौटिल्य ने चार मुख्य विद्याएँ- आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्ड-नीति मानी हैं, जबकि मनु ने प्रथम को छोड़कर अन्य तीन को ही स्वीकार किया है। जहाँ तक दण्ड-नीति के महत्व का प्रश्न है दोनों ही विचारक उसे स्वीकार करते हैं। कौटिल्य के अनुसार दण्ड-नीति ही अप्राप्य वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली, प्राप्त हुए धन की रक्षा कराने में तत्पर और सम्बर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। इसी पर संसार की सारी लोक-यात्रा निर्भर करती है, अतः लोक को समुचित मार्ग पर चलाने के लिए राजा को सदा ही दण्ड देने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। मनु के मतानुसार दण्ड ही राजा है, दण्ड शासन करने वाला है और दण्ड चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है। इसी आधार पर डॉ. घोषाल ने कहा है कि दण्ड के विषय में मनु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कौटिल्य के विचार को दोहराता तथा विकसित करता है। राज्य की उत्पत्ति और उसके ध्येय के विषय में भी मनु और कौटिल्य के विचार बहुत सीमा तक समान हैं। मनु ने राजा की उत्पत्ति दैवी मानी है, किन्तु कौटिल्य ने इस विषय में अपना मत न देकर केवल सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को स्वीकार किया प्रतीत होता है।

कौटिल्य की भाँति ही मनु राज्य को सप्तांग मानते हैं। कौटिल्य ने राज्य के सात अंग ये बताये हैं- स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और शत्रु । मनु ने जनपद को राष्ट्र कहा है और दुर्ग के स्थान पर पुर रखा है, किन्तु उनका आशय एक ही है। "मनु ने केवल राजतंत्र के विषय में ही लिखा है, कौटिल्य ने भी राजतंत्र को ही श्रेष्ठ शासन माना है किन्तु उसने गणों (संघों) का भी उल्लेख किया है।मनु और कौटिल्य दोनों के अनुसार राज्य के उद्देश्य प्रायः समान हैं और उसका कार्यक्षेत्र विस्तृत है। राजा को प्रजा की सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था के अतिरिक्त आर्थिक विकास और समृद्धि के लिए प्रयत्न करने चाहिए। जहाँ तक प्रशासनिक व्यवस्था का सम्बन्ध है, दोनों ही

दार्शनिकों ने राजा को परामर्श देने के लिए मंत्रियों की आवश्यकता पर बल दिया है। साथ ही पुरोहित तथा विभिन्न प्रकार के अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक बतायी है। फिर भी थोड़ा-सा अन्तर है, मनु ने जहाँ मंत्रियों की संख्या सात या आठ बतायी है वहाँ कौटिल्य ने मन्त्रियों की संख्या समय और आवश्यकता के अनुसार नियत करने की बात कही है। मनु और कौटिल्य ने प्रधानमंत्री के पद की ओर भी संकेत किया है और मन्त्रियों की योग्यता के विषय में प्रायः समान विचार व्यक्त किये हैं। जहाँ कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारत की प्रशासन व्यवस्था के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, वहाँ मनु ने प्रशासन का सविस्तार वर्णन नहीं किया है।राजा के गुणों, उसके प्रशिक्षण और कर्तव्यों पर दोनों ही लेखकों ने बल दिया है। मनु और कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। न्याय-व्यवस्था के विषय में दोनों के विचार काफी मिलते हैं। दोनों ही मानते हैं कि न्यायिक कार्य में निष्पक्षता बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ने न्याय-प्रशासन को व्यवहार और दण्ड, इस प्रकार के दो भागों में विभाजित किया और क्रमशः धर्मस्थानीय और कष्ट शोधन न्यायालयों के संगठन का विस्तृत वर्णन किया है। मनु ने न्याय-प्रशासन का भार राजा पर छोड़ा है। मनु और कौटिल्य दोनों ने ही दण्ड व्यवस्था के ब्राह्मणों और अन्य वर्णों के निर्धारित दण्डों में कुछ अन्तर रखा है।कर-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी मनु और कौटिल्य के विचारों में बड़ी समानता है। दोनों के अनुसार कर लेने का उद्देश्य प्रजा-रक्षक है और राजा के द्वारा कर थोड़ा-थोड़ा ही लिया जाना चाहिए।

अन्त में, अन्तर्राज्य सम्बन्धों के क्षेत्र में कौटिल्य ने मुख्य रूप से मण्डल सिद्धान्त और षाड्गुण्य नीति का प्रतिपादन किया है। इन दोनों ही सिद्धान्तों को मनु ने भी अपनाया है, किन्तु मनु ने मण्डल सिद्धान्त में कुछ जोड़ दिया है, जबकि कौटिल्य ने राजमण्डल में बारह राज्य सम्मिलित किये हैं, मनु ने

उन बारह राज्यों को मण्डल की मूल प्रकृतियाँ कहा है और उसके अतिरिक्त प्रत्येक की 55 द्रव्य प्रकृतियाँ भी बतायी हैं।संक्षेप में, मनु और कौटिल्य की विचारधारा में समानताएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं और असमानताएँ अपेक्षाकृत गौण महत्व की हैं।

3.9 मनु का महत्व एवं योगदान

प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य विचार मनुस्मृति में उल्लिखित हैं। मनु पहले ऐसे विचारक थे जिन्होंने अराजकता का अन्त कर शासन की स्थापना पर बल दिया । उन्होंने शासन के लिए आदर्श राजा की आवश्यकता प्रतिपादित की। मनु का आदर्श शासक प्लेटो के दार्शनिक राजा से कम नहीं है।

मनु ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, किन्तु वे निरंकुश राजतंत्र के समर्थक नहीं हैं अपितु वे शासक को धर्म तथा सदाचरण के नियमों में आबद्ध करते हैं।

मनु विधिवेत्ता और संहिताकार थे, जिन्होंने मानव जीवन के नियमों की एक ऐसी श्रृंखला प्रस्तुत की जिसे अपनाकर सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत किया जा सकता है। डॉ. सत्यमित्र दुबे के शब्दों में, "भारतीय सामाजिक व्यवस्था में मनुस्मृति की परम्परा द्वारा प्रतिपादित नियमों का विशेष महत्व है। विकृत रूप में ही सही, आज भी यह नियम भारतीय राष्ट्र के बहुसंख्यक जन-मानस की आचार पद्धति के नियामक हैं।" मनु ने प्रशासनिक व्यवस्था, कर-व्यवस्था, न्यायिक प्रशासन, विदेश नीति आदि के सम्बन्ध में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे इतने यथार्थ हैं कि यदि आधुनिक राज्य उन सिद्धान्तों के आधार पर आचरण करे तो सच्चे अर्थ में लोक-कल्याणकारी राज्य के आदर्श की प्राप्ति की जा सकती है। मनु के राजनीतिक विचार का केन्द्र-बिन्दु मानवता है। मनुस्मृति के अध्ययन से ऐसा लगता है कि उस समय भारतीय समाज पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित था और समाज को वह सुव्यवस्था मनु की देन मनु के राजा सम्बन्धी विचार एकदम मौलिक हैं क्योंकि हम देखते हैं कि मनु का राजा वास्तव में एक राजर्षि है। यह प्लेटो के दार्शनिक शासक से निश्चित रूप से श्रेष्ठ है और मैकियावली के प्रिन्स के समान व्यावहारिक भी है। मनु द्वारा प्रतिपादित षाड्गुण्य नीति आज भी किसी देश की वैदेशिक नीति के महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं। प्राचीन भारतीय न्याय और दण्ड-व्यवस्था का आधार मनु की न्याय-व्यवस्था ही है।

3.10 सार- संक्षेप

इस इकाई में भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना और इसके उद्देश्यों को विस्तार से समझाया गया है। इसमें मुख्यतः विभिन्न क्षेत्रों का विश्लेषण, विकास की प्राथमिकताएं, और संसाधनों के उपयोग की दिशा को शामिल किया गया है। इसके माध्यम से आप भारतीय अर्थव्यवस्था के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को गहराई से समझने में सक्षम होंगे।

3.11 मुख्य शब्द

1. **अर्थव्यवस्था (Economy):** संसाधनों का उपयोग करके वस्त्र और सेवाओं का उत्पादन और वितरण।
2. **संरचना (Structure):** विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के बीच संतुलन।
3. **संसाधन वितरण (Resource Allocation):** क्षेत्रों और राज्यों के बीच संसाधनों का संतुलित उपयोग।
4. **आर्थिक स्थिरता (Economic Stability):** सतत और दीर्घकालिक विकास।
5. **वैश्विक प्रतिस्पर्धा (Global Competitiveness):** अंतरराष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्धा बढ़ाना।
6. **रोजगार सृजन (Employment Generation):** बेरोजगारी को कम करने के उपाय।
7. **सामाजिक समानता (Social Equality):** समाज के सभी वर्गों तक विकास के लाभ पहुंचाना।
8. **कृषि क्षेत्र (Agriculture Sector):** अर्थव्यवस्था में खाद्यान्न उत्पादन की भूमिका।
9. **औद्योगिक विकास (Industrial Development):** उत्पादन क्षमता और रोजगार में वृद्धि।

10. **सेवा क्षेत्र (Service Sector):** जीडीपी में सेवाओं का योगदान।

3.12 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. भारतीय अर्थव्यवस्था के कौन-कौन से मुख्य क्षेत्र हैं?
   a) कृषि, उद्योग, और सेवा
   b) शिक्षा, स्व प्रगति , और परिवहन
   c) ऊर्जा, खनन, और वित्त
   उत्तर: a) कृषि, उद्योग, और सेवा
2. आर्थिक स्थिरता का मुख्य उद्देश्य क्या है?
   a) रोजगार सृजन
   b) दीर्घकालिक विकास
   c) आय में असमानता
   उत्तर: b) दीर्घकालिक विकास

Fill in the Blanks

1. भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना का मुख्य उद्देश्य _____ और _____ सुनिश्चित करना है।
   उत्तर: आर्थिक विकास, संसाधनों का उपयोग
2. कृषि, उद्योग, और सेवा क्षेत्र भारतीय अर्थव्यवस्था के _____ हैं।
   उत्तर: मुख्य क्षेत्र

3.13 संदर्भ ग्रन्थ

1. बासु, कौशिक (2018). *आधुनिक भारतीय अर्थव्यवस्था का परिचय.* प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस।
2. बलाकृष्णन, पी. (2022). *भारतीय अर्थव्यवस्था की पुनर्प्राप्ति: राजनीतिक दृष्टिकोण.* कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस।

3. पनगड़िया, अर्विंद (2020). *भारत असीमित: खोई हुई महिमा की पुनः प्राप्ति*. हार्पर कॉलिन्स।

4. घोश, अरिंदम (2021). *भारत की उभरती हुई अर्थव्यवस्था: प्रदर्शन और संभावनाएं*. ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस।

5. नागराज, रमेश (2019). *भारत में आर्थिक विकास और विकास: नए दृष्टिकोण*. रूटलेज।

3.14 अभ्यास प्रश्न

निम्नलिखित की व्यख्या कीजिए।

1 मनुस्मृति राजतंत्र के देवत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है, परन्तु दैवी अधिकारों का नहीं।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए ।

2 मनुस्मृति के राजनीतिक विचारों के दार्शनिक आधारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ।

1 मनुस्मृति में उल्लिखित प्रजा के महत्व और कर्तव्यों की विवेचना कीजिए।

4.मनुस्मृति में राजा के किन कर्तव्यों का वर्णन किया जाता है? विस्तारसेसमझाइए ।

इकाई -4

कौटिल्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 कौटिल्य : जीवन परिचय

4.4 कौटिल्य की अमर रचना: अर्थशास्त्र

4.5 अर्थशास्त्रके राजनीतिक विचार

4.6 सार संक्षेप

4.7 मुख्य शब्द

4.8 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

4.9 संदर्भ ग्रन्थ

4.10 अभ्यास प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

अर्नेस्ट बार्कर का यह अभिमत सही नहीं है कि भारत का प्राचीनकाल राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से मरुभूमि है और प्राचीन भारत ने विश्व को केवल आध्यात्म दर्शन ही दिया है। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की खोज ने इस धारणा का पूर्णतया खण्डन कर दिया। अब यह सिद्ध हो गया है कि प्राचीन भारत केवल अध्ययन में ही नहीं अपितु समाज और राजदर्शन में भी किसी प्रकार से पीछे नहीं था।

प्राचीन भारत के राजशास्त्रियों में कौटिल्य का स्थान सबसे ऊँचा है और उसे शासन, कला तथा कूटनीति का सबसे महान् प्रतिपादक माना जाता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र का ऐसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय राजनीति है। सलेटोरे के अनुसार, "प्राचीन भारत की

राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।" सलेटोरे ने चार कारणों से इस ग्रन्थ को महत्वपूर्ण माना है- प्रथम, इस ग्रन्थ में पूर्वगामी सभी ग्रन्थों का सार दिया हुआ है। कौटिल्य का उद्देश्य पूर्णतया यथार्थवादी था और अर्थशास्त्र की रचना इहलोक तथा परलोक की प्राप्ति के मार्गदर्शन हेतु की गयी। दूसरा, यह ग्रन्थ यथार्थवादी है तथा उन समस्याओं पर विचार करता है जिनका सामना मनुष्य को इसी लोक में करना होता है। तीसरा, अर्थशास्त्र ने राजनीति को धर्म से पृथक् करके देखा। चौथा, इसके रचयिता ने भारत को एक सुदृढ़ और केन्द्रीकृत शासन दिया, जिसके सम्बन्ध में पहले के विचारक अनभिज्ञ थे।

कृष्णा राव के अनुसार, प्राचीन भारत की अर्थशास्त्रीय परम्परा का सबसे अधिक लोकप्रिय, पूर्णतः वैज्ञानिक और अधिकारपूर्ण निर्वचन कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। यह ग्रन्थ आर्य जाति की उस राजनीतिक बुद्धिमत्ता का निचोड़ है जिसका निर्वचन और प्रतिपादन वृहस्पति, भारद्वाज आदि लेखकों ने किया और जिसे कौटिल्य की अपूर्व बुद्धि ने प्रकाशमान किया। बाण ने अर्थशास्त्र को कूटनीति का विज्ञान और कला बताया है। अर्थशास्त्र के महत्व के सम्बन्ध में रामास्वामी का यह मत उल्लेखनीय है कि, "अर्थशास्त्र कौटिल्य से पूर्व की रचनाओं में इधर-उधर बिखरी हुई राजनीतिक बुद्धिमत्ता और शासन कला के सिद्धान्तों एवं कला का संग्रह है। कौटिल्य ने शासन कला के एक पृथक् और विशिष्ट विज्ञान की रचना करने के प्रयत्न में उनकी नवीन दृष्टि से व्याख्या की है।"

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को प्राचीन भारत के अर्थशास्त्री परंपरा राजनीतिक बुद्धिमत्ता के अध्ययन के बारे में बतलाना है

1. वर्ग संघर्ष का व्यापक और विविधरूपी अंकन किया गया है।
2. समकालीन जीवन का यथार्थ चित्रण किया गया है।
3. विभिन्न समस्याओं का चित्रण और समाधान किया गया है।
4. मानवतावाद और भावी मानव की प्रतिष्ठा किया गया है।

4.3 कौटिल्य : जीवन परिचय

कौटिल्य का कोई प्रामाणिक जीवन चरित्र नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में स्वयं कौटिल्य ने भी विशेष प्रकाश नहीं डाला है। फिर भी यह माना जाता है कि उनका जन्म लगभग 400 ई.पू. भारत की प्राचीन ऐतिहासिक नगरी तक्षशिला में एक गरीब ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

कौटिल्य का पूरा नाम विष्णुगुप्त कौटिल्य था। अधिकांश भारतवासी उसे चाणक्य के नाम से भी जानते हैं। विदेशी आक्रमण से त्रस्त टूटे-फूटे और बिखरे हिन्दुस्तान को एकता के सूत्र में गूँथकर उसे दृढ़ राजनीतिक आधार प्रदान करने वाला कौटिल्य चन्द्रगुप्त का महामन्त्री था। यह भी एक विचित्र संयोग है कि पाश्चात्य राजनीतिक दार्शनिक अरस्तू के शिष्य की पराजय कौटिल्य के शिष्य द्वारा हुई। अपने शिष्य चन्द्रगुप्त को एक बहुत बड़ा सम्राट् बनाने का एकमात्र श्रेय कौटिल्य को ही है।कौटिल्य ने नालन्दा के प्रख्यात विश्वविद्यालय में ज्ञानोपार्जन किया था। उसी विद्यालय में चन्द्रगुप्त मौर्य भी शिक्षा प्राप्त किया करता था। उस समय मगध में महानन्द का शासन था। शिक्षोपार्जन केपश्चात् चन्द्रगुप्त ने आचार्य कौटिल्य को प्रकाण्ड विद्वान् और दूरदर्शी जानकर अपनी सहायता के लिए बुलाया। क्योंकि यद्यपि चन्द्रगुप्त राज्य में युवराज पद का अधिकारी था, किन्तु राजनीतिक कारणों से सम्राट ने उसका न्यायोचित अधिकार मानने से इनकार कर दिया था। कुशल राजनीतिज्ञ कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त की प्रार्थना स्वीकार की। कौटिल्य को चन्द्रगुप्त की प्रतिभा पर पूर्ण विश्वास था। इधर एक घटना ने कौटिल्य को महाराज नन्द का घोर शत्रु बना दिया।

महानन्द ने श्राद्ध के लिए अपने मन्त्री शकटार के द्वारा कुछ ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया । शकटार जो कि सम्राट् के किसी दुर्व्यदहार के कारण पहले की रुष्ट था, चाहता था कि किसी ऐसे ब्राह्मण को बुलाया जाये जो अत्यन्त क्रोधी हो। शकटार ने सुना था कि कौटिल्य अत्यन्त क्रोधी ब्राह्मण है। अतः उसने श्राद्ध पर कौटिल्य को आमन्त्रित किया। कौटिल्य के बैठने के लिए एक

उच्च आसन दिया गया। जब राजा ब्राह्मणों के दर्शनार्थ उपस्थित हुआ और एक कुरूप तथा भद्दे ब्राह्मण को उच्चासन पर विराजमान देखा तो शकटार से पूछा "इस चाण्डाल को यहाँ क्यों लाया गया है।" ब्राह्मण इस अपमान को सहन न कर पाया। वह अपने आसन से उठा और अपनी शिखा खोलते हुए उसने प्रतिज्ञा की "अब मैं शिखा बन्धन तब तक नहीं करूँगा जब तक नन्द वंश को समूल नष्ट न कर दूँ।" और उसी समय से कौटिल्य अपने कार्य में जुट गया। उसने नन्द वंश का विनाश कर न केवल चन्द्रगुप्त को सम्राट् बनाया अपितु अखिल भारतीय मौर्य साम्राज्य का शिलान्यास भी किया। चन्द्रगुप्त ने उसे अपना महामन्त्री नियुक्त किया। सम्भवतः इसी काल में उसने 'अर्थशास्त्र' की रचना की।मौर्य साम्राज्य का महामन्त्री होते हुए भी कौटिल्य जीवन भर एक आदर्श ब्राह्मण की तरह वीतराग तपस्वी ही बना रहा। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में कौटिल्य के रहन-सहन का वर्णन करते हुए लिखा है कि "कुटिया के एक ओर गोबर के उपलों को तोड़ने के लिए पत्थर पड़ा हुआ था, दूसरी ओर शिष्यों द्वारा लायी गयी लकड़ियों का गट्ठर पड़ा हुआ है। चारों ओर छप्पर पर सुखाई जाने वाली लकड़ियों के बोझ से घर झुका जा रहा है तथा इसकी दीवार भी जीर्ण दशा में है।" संक्षेप में, कौटिल्य के जीवन में शाही शान-शौकत नहीं थी। विद्वानों का अनुमान है कि कौटिल्य अत्यन्त परिश्रमी, त्यागी, साधु प्रवृत्ति का और आजीवन ब्रह्मचारी बना रहा

4.4कौटिल्य की अमर रचना : अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र का रचना काल 'अर्थशास्त्र' कौटिल्य द्वारा लिखी हुई एक पुस्तक है जिसके अन्तर्गत व्यक्त किये गये राजनीतिक विचारों ने आधुनिक भारतीय और पश्चिमी विद्वानों को चकित कर दिया है। अर्थशास्त्र की रचना और रचनाकार के सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में जॉली का मत है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक धोखा देने वाली चीज है जिसे कि सम्भवतः तीसरी शताब्दी ईसवी में तैयार किया गया था। अर्थशास्त्र का वास्तविक रचनाकार कोई मन्त्री नहीं था वरन् एक सिद्धान्तशास्त्री था। कौटिल्य नाम झूठा है क्योंकि परम्परागत स्रोतों में उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। मेगस्थनीज ने कहीं भी उसके नाम का उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार पातंजली ने अपने 'महाभाष्य'

में चन्द्रगुप्त एवं अन्य मौर्यों का उल्लेख किया है, किन्तु कौटिल्य के सम्बन्ध में वे चुप हैं। मि. जॉली के अतिरिक्त डी.आर. भण्डारकर, ए.बी. कीथ, विण्टरनिट्ज आदि विद्वानों का मत है कि पुस्तक चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन के काफी पश्चात् ईसाई युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में लिखी गयी।

परन्तु डॉ. शामाशास्त्री, गनपति शास्त्री, एन.एन. ला, स्मिथ तथा जायसवाल आदि विद्वान् उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि अर्थशास्त्र का रचनाकाल चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल ही है। अर्थशास्त्र वही ग्रन्थ है जिसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमन्त्री कौटिल्य ने मौर्य राजाओं के पथ-प्रदर्शन के लिए की थी। डॉ. जायसवाल का विचार है कि अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे उदाहरण आते हैं जिनकी तुलना चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से ही कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त के मन्त्री के रूप में कौटिल्य का उल्लेख आता है। इस सम्बन्ध में डॉ. श्यामलाल पाण्डेय का कथन है कि "प्रस्तुत अर्थशास्त्र चाहे मौर्य काल की रचना हो चाहे उसके पश्चात् किसी समय का नवीन संस्करण हो, परन्तु इतनां अवश्य माननना पड़ेगा कि इस अर्थशास्त्र में राजशास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है वह मौर्यकालीन ही है।"

अर्थशास्त्र : राजनीतिशास्त्र की रचना यह एक विचारणीय प्रश्न है कि कौटिल्य ने इस ग्रन्थ का नाम राजनीतिशास्त्र न रखकर 'अर्थशास्त्र' क्यों रखा ? कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया है कि वे दण्ड का विवेचन कर रहे हैं। दण्ड-नीति शब्द प्राचीन काल से भारत में राजनीति से सम्बन्धित विद्या के लिए प्रयुक्त हुआ है। शुक्र ने राजनीति विद्या को दण्ड-नीति की संज्ञा दी है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ का नामकरण करने का स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि, "मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं। इस प्रकार की भूमि को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करे वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।" शुक्र-नीति में भी अर्थशास्त्र की लगभग यही परिभाषा दी है। संक्षेप में कौटिल्य ने अर्थ और अर्थशास्त्र को व्यापक अर्थ में समझा है। कौटिल्य के शब्दों में, "सम्पूर्ण शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करके और उनके प्रयोगों को

अच्छी तरह परीक्षा करके ही राजा के लिए इस शासन विधि की रचना की है।" अतः यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का प्रमुख विषय राजनीति है। प्राचीनकाल में राजनीतिक विषय और आर्थिक विषय एक ही माने जाते थे। अर्थशास्त्र का तात्पर्य दोनों से होता था। संक्षेप में, अर्थशास्त्र राजधर्म पर लिखा हुआ एक व्यवहार और यथार्थपरक ग्रन्थ है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीति और शासन कला की एक महान् रचना है। डॉ. आल्तेकर के अनुसार "राजनीतिशास्त्र के वाड्मय ये में अर्थशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरणशास्त्र के वाड्मय में पाणिनि की अष्टाध्यायी का है। पाणिनि की भाँति ही कौटिल्य ने समस्त पूर्ववर्ती विचारकों को पर्दे के पीछे कर दिया, उनके ग्रन्थ धीरे-धीरे उपेक्षित व लुप्त हो गये।"

अर्थशास्त्र का विषय-वस्तु कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के अर्थशास्त्र में ही चार विद्याओं का उल्लेख किया है। प्रथम, आन्वीक्षिकी (दर्शन और तर्कशास्त्र), दूसरी, त्रयी (धर्म-अधर्म या वेदों का ज्ञान), तीसरी, वार्ता (कृषि, व्यापार आदि) और चौथी, दण्ड नीति (शासन कला या राजनीतिशास्त्र)। अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय प्रमुख रूप से दण्ड-नीति ही है।

'अर्थशास्त्र' की रचना कौटिल्य ने पद्य एवं गद्य दोनों में की है। इसमें राजनीति से सम्बन्धित बातों का अत्यन्त ही रोचक वर्णन है। विश्व के अच्छे से अच्छे ग्रन्थ के साथ इसकी तुलना की जा सकती है। पुस्तक में 15 अधिकरण है तथा प्रत्येक अधिकरण में कुछ अध्याय हैं। विभिन्न अधिकरणों में जिन विषयों का वर्णन किया गया है, वे इस प्रकार हैं- (1) राज्य में अनुशासन की स्थापना तथा राजा सम्बन्धी कार्यों का वर्णन, (2) राज्य में अध्यक्षों की नियुक्ति, (3) राज्य में कानून की व्यवस्था, (4) राज्य में प्रजापीड़कों से रक्षा, (5) राज्य कर्मचारियों पर नियंत्रण, (6) राज्य सत्ता के सात अंग, (7) राज्य में षड्गुणों की व्यवस्था, (8) युद्ध, विजय तथा पराजय और सेना व्यवस्था सम्बन्धी विचार, (9) विभिन्न विपत्तियों से बचने के उपाय, (10) युद्ध के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार, (11) छल भेद नीति व कूट युद्ध के द्वारा शत्रु का नाश तथा विजित देश में शत्रु के साथ व्यवहार, (12) शक्तिशाली अभियोक्ता के प्रति दुर्बल राजा के कर्तव्य, (13) शत्रु के दुर्ग पर अधिकार प्राप्त

करना, (14) शत्रु नाश करने के लिए मन्त्रों, विषैली औषधियों इत्यादि के सम्बन्ध में वर्णन, (15) अर्थ सम्बन्धी निर्णयों पर पहुँचने के लिए उपयोगी युक्तियाँ ।

अर्थशास्त्र की अध्ययन पद्धति कौटिल्य एक यथार्थवादी और व्यावहारिक दार्शनिक है, इसलिए उसने अर्थशास्त्र में आगमनात्मक पद्धति तथा ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया है। उसकी अध्ययन-पद्धति विवेक और भूत के अनुभव पर आधारित है। उसने अपने विचारों की पुष्टि ऐतिहासिक तथ्यों से की है। कौटिल्य की अध्ययन-पद्धति अरस्तू, मेकियावली और बेकन से मिलती-जुलती है।

4.5अर्थशास्त्रके राजनीतिक विचार (Political Ideas in Arthashastra)

कौटिल्य का अर्थशास्त्र मूलरूप से राजनीति का ग्रन्थ है। इसकी विषय-वस्तु में जिन अन्य बातों को समाहित किया है वे सभी राजनीति से सम्बद्ध होने के कारण इसमें स्थान पा सकीं। अर्थशास्त्र के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं:

राज्य की उत्पत्ति और स्वरूप

(Origin and Nature of The State)

राज्य की उत्पत्ति - कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। एक स्थान पर उन्होंने बताया है कि राज्य से पूर्व समाज में मत्स्य-न्याय का प्रभाव था। जिस तरह से बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है उसी तरह समाज के सबल पुरुष निर्बल पुरुषों के विनाश में हमेशा सक्रिया रहा करते थे। इस व्यवस्था से तंग आकर लोगों ने विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। ये लोग इसे अपनी अन्न की उपज का छठा भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवाँ भाग और सोने की आय का कुछ भाग कर के रूप में देने लगे। मनु को राजा नियुक्त

करते समय इन लोगों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि 'कर' वे लोग राजा को तभी देंगे जबकि वह उनके योग-क्षेम की समुचित व्यवस्था करता रहेगा। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति एक सामाजिक समझौते का परिणाम थी। कौटिल्य, हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था के लक्षणों को मान्यता देते हैं। वे उस काल में मनुष्य के जीवन को अस्थिर, अरक्षित, यातनायुक्त एवं पशुवत् मानते हैं। इस युग का व्यक्ति स्वार्थ साधन के लिए दूसरे के विनाश में लगा हुआ था। प्राकृतिक अवस्था में तंग होकर उसने राज्य का निर्माण किया तथा राजा को स्पष्ट रूप से बता दिया कि यदि वह प्रजा के योग-क्षेम की व्यवस्था के अपने कर्तव्य से विमुख हो जायेगा तो उसे लोग धन और जन की सहायता देना बन्द कर देंगे और वह इस प्रकार उनका राजा नहीं रहेगा। कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के अपने इस सिद्धान्त में लोक वित्त पर जनता का अधिकार माना। उनके अनुसार राजा द्वारा बिना प्रजा की पूर्व अनुमति के उस पर कर नहीं लगाये जा सकते थे, वह धन एकत्रित करने और उसे खर्च करने का अधिकार प्रजा में निहित मानता था। इस प्रकार कौटिल्य राजा की निरंकुशता पर एक महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध लगाते हैं जो कि उनकी सूझबूझ को प्रदर्शित करता है।

राज्य का सावयव स्वरूप - कौटिल्य राज्य के सावयवी रूप में विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार राज्य की सात प्रकृतियाँ हैं- स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। इन प्रकृतियों को कौटिल्य ने राज्य के अवयव कहकर सम्बोधित किया है। इस प्रकार उनके मतानुसार राज्य एक ऐसा सावयवी है जिसकी रचना सात अवयवों से मिलकर होती है। राज्य के इस सावयवी रूप का वर्णन कौटिल्य से पूर्व भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद में इस विचार की थोड़ी झलक मिलती है। यजुर्वेद में बताया गया है कि विराट पुरुष की पीठ राष्ट्र है और उसके उदर, कन्धे, कटि, जंघा घुटने आदि सभी उसकी प्रजा है। महाभारत के भीष्म और मनु ने भी राज्य के सायवयी रूप का वर्णन किया है, किन्तु कौटिल्य जैसी स्पष्टता नहीं है।।

कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य का सावयवी रूप कोई विदेशी आयात नहीं है वरन् यह शुद्ध रूप से भारतीय है। इसका उद्गम स्थान ऋग्वेद का पुरुष सूक्त है।

कौटिल्य के इस सिद्धान्त की तुलना पाश्चात्य सिद्धान्त से करना अनुचित होगा ।

कौटिल्य ने राज्य की विभिन्न प्रकृतियों के गुणों और उनके सापेक्ष महत्व का भी विभिन्न अध्यायों में विवेचन किया है। उसने राजा को सर्वप्रथम स्थान दिया है, वह राज्य की सर्वोच्च कार्यपालिका का मूर्त रूप है। उसके बाद मन्त्री आते हैं जो राजा को आवश्यक परामर्श देते हैं और शासन का संचालन करते हैं। दुर्ग राज्य की प्रतिरक्षा का प्रमुख साधन होते हैं और उनके द्वारा ही जनता की सुरक्षा सम्भव है। जनपद अथवा भू-भाग राज्य के अस्तित्व का भौतिक आधार है। राज्य व जनता के सुख व समृद्धि के लिए कोष होना अति आवश्यक है। बिना दण्ड (अथवा राज शक्ति) के राज्य में शान्ति और व्यवस्था सम्भव नहीं। अन्त में मित्र अर्थात् पड़ोस में मित्र राज्यों का होना भी राज्य के अस्तित्व एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक है। आधुनिक राजशास्त्री राज्य के चार तत्व मानते हैं- जन समूह, भू-भाग, सरकार और प्रभुसत्ता । इस दृष्टि से ऊपर वर्णित राज्य के सात अंगों अथवा तत्वों में कोष, दुर्ग और मित्र को स्थान दिया जाना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, परन्तु साधारण रूप में यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्राचीन काल में कोष और दुर्ग राज्य के अस्तित्व एवं सुरक्षा तथा जनता की समृद्धि के लिए आवश्यक तत्व रहे होंगे। यही बात मित्र के विषय में भी कही जा सकती है। वर्तमान युग की स्थिर राजनीतिक दशाओं में छोटे राज्यों के अस्तित्व को विशेष खतरा नहीं, किन्तु प्राचीन काल में छोटे-छोटे राज्य बिना मित्र राज्यों के अपना अस्तित्व बनाये रखने में असमर्थ थे ।

राज्यों के प्रकार

अर्थशास्त्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि कौटिल्य राजतन्त्र का पोषक था और वह समस्त भारत पर एक सशक्त और सम्पन्न राजा का शासन स्थापित करना चाहता था। उसी की मान्यता है कि राजतन्त्र में राज्यशक्ति कुलीन वर्ग के हाथ में रहती है और उपयुक्त अनुशासन और प्रजा में स्वामिभक्ति की स्थापना की जा सकती है, परन्तु अर्थशास्त्र में अन्य प्रकार के राज्यों का उल्लेख भी मिलता है, क्योंकि उस काल में तथा उससे पूर्व भारत में ऐसे राज्यों का अस्तित्व था। अन्य प्रकार के राज्यों को द्वैराज्य, वैराज्य तथा संघराज्य कहा जाता था

राज्य का उद्देश्य

कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य केवल पुलिस राज्य न था अर्थात् राज्य केवल शान्ति, व्यवस्था और सुरक्षा बनाये रखना ही अपना कार्य नहीं समझता। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को उसके पूर्ण विकास में पूरी तरह से सहायता देना है। अच्छा राज्य स्वस्थ और सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था पर आधारित होता है। कौटिल्य ने जनपद के गुणों का वर्णन करते हुए समृद्धिशाली जनपद के आवश्यक गुण इस प्रकार बताये हैं- राज्य का भूमि क्षेत्र इतना हो कि वह निवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और उनकी शत्रुओं से भी रक्षा कर सके। उसमें देशभक्ति की भावना से प्रेरित व्यक्ति रहते हों, जंगली पशु उसके निवासियों को हानि न पहुँचा सकें, उसमें कृषि योग्य भूमि, चरागाह और वन आदि काफी हों, आवागमन के समुचित साधन हों, विभिन्न प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न होती हों और सभी वर्गों के परिश्रमी व्यक्ति रहते हों। कौटिल्य के अनुसार राज्य के कार्यों का क्षेत्र अति विस्तृत होना चाहिए। अच्छे राज्य का आधार सुदृढ़ अर्थव्यवस्था है, जिससे कि उसके निवासी अपने जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकें ।

सप्तांग सिद्धांत

प्राचनी भारत में राज्य के सावयव रूप का उल्लेख मिलता है। उस समय के विद्वान् राज्य को एक सजीव प्राणी मानते थे। सप्तांग राज्य की कल्पना प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार एक जीवित शरीर की कल्पना है जिसके सात अंग होते हैं। ऋग्वेद में समस्त संसार की कल्पना विराट् पुरुष के रूप में की गयी है और उसके अवयवों के द्वारा सृष्टि के विभिन्न रूपों का बोध कराया गया है। मनु, भीष्म और शुक्र जैसे प्राचीन मनीषियों के द्वारा भी राज्य की कल्पना एक ऐसे जीवित जागृत शरीर के रूप में की गयी है जिसके सात अंग होते हैं। शुक्र-नीति में राज्य के इन अंगों की मानव शरीर से तुलना करते हुए कहा गया है, "इस शरीर रूपी राज्य में राजा मूर्धा (सिर) के समान है, अमात्य आँख हैं, सुदृत कान हैं, कोष मुख है, बल मन है, दुर्ग हाथ हैं और राष्ट्र पैर है।" इसी प्रकार कौटिल्य के अनुसार भी राज्य के सात आवश्यक तत्व हैं। इन्हें वह राज्य की प्रकृति भी कहता है और राज्य के अंग भी। राज्य के

सात अंगों के कारण ही उसका राज्य प्रकृति सम्बन्धी सिद्धान्त 'सप्तांगभूत सिद्धान्त' कहलाता है। कौटिल्य के अनुसार राज्य के निम्न सात अंग हैं- 1. स्वामी, 2. अमात्य, 3. जनपद, 4. दुर्ग, 5. कोष, 6. दण्ड, 7. मित्र। राज्य के इन अंगों का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने राज्य को 'प्रत्यांग' भी कहा है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः राज्य के जीव सिद्धान्त (Organic Theory of the State) का वे समर्थन कर रहे हैं। प्राचीन भारत में राज्य के इन सात अंगों में से सभी का सुदृढ़, स्वस्थ होना व परस्पर सहयोग आवश्यक माना जाता है। मनु के अनुसार

"तेषु तेषु तु कृतिषु तत्तदंग विशिष्यते।

येन यत्साध्यते कर्म तस्मिस्तछेष्टमुच्यते ॥"

अर्थात्, यद्यपि प्रत्येक अंग अलग से महत्वहीन प्रतीत हो सकता है, परन्तु राज्य के शरीर के लिए वे सब अति आवश्यक है, क्योंकि इनका कार्य कोई अन्य प्रकार से नहीं कर सकता ।

कौटिल्य के अनुसार राज्य केवल उसी दशा में अच्छी प्रकार कार्य कर सकता है जबकि ये सातों अंग सहयोग तथा उचित रूप से अपना-अपना कार्य करें। 'कौटिल्य द्वारा वर्णित राज्य के विभिन्न अंग इस प्रकार हैं:

1. स्वामी - राज्य के सप्तांगों में स्वामी अथवा राजा का महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य के अनुसार राज्य की सफलता राजा की राजनीति पर निर्भर है। यद्यपि कौटिल्य को गणतन्त्र राज्यों का पूर्ण रूप से ज्ञान था तथापि वह राजतन्त्र का ही प्रबल समर्थक था। अतः वह उसका गुणगान करता है। इसी कारण उसने राजा के आवश्यक गुणों, योग्यताओं, नीतियों आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। बी.पी. सिन्हा के अनुसार "कौटिल्य की शासन-प्रणाली में राजा शासन की धुरी है और शासन संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेने और शासन गति प्रदान करने में राजा का एकमात्र स्थान है।" कौटिल्य ने राजा के आवश्यक गुणों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। उसने राजा के सदाचार सम्पन्न होने पर बल दिया है। वह अपने राजा को केवल एक राज्य का मुखिया ही नहीं देखना चाहता वह तो उसे 'राजर्षि' (The King Philosopher) देखना

चाहता है। उसके अनुसार राजा को कुलीन धर्म की मर्यादा को चाहने वाला, कृतज्ञ, दृढ़ निश्चयी, विचारशील, सत्यवादी, वृद्धों के प्रति आदरशील, विवेकपूर्ण, दूरदर्शी, उत्साही, युद्ध में चतुर होना चाहिए। उसे क्रोध, मोह, लोभ आदि से अलग रहना चाहिए। उसमें विपत्ति के समय प्रजा का निर्वाह करने और दुर्बलता पहचानने की योग्यता होनी चाहिए। उसे चाहिए कि वह समयानुसार राज्य कोष में वृद्धि करता रहे। उसे कभी भी वृद्ध, अपंग तथा दीनहीन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

उपर्युक्त गुणों में कौटिल्य के द्वारा बताये हुए नैतिक गुण विशेष महत्व रखते हैं। कौटिल्य के अनुसार कुछ गुण तो स्वभाव से होते हैं और कुछ गुण अभ्यास से प्राप्त किये जाते हैं। इसीलिए उसने राजा की शिक्षा पर प्लेटो की भाँति अत्यधिक बल दिया है। उसके अनुसार, "जिस प्रकार घुन लगी हुई लकड़ी जल्दी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस राजकुल के राजकुमार शिक्षित नहीं होते वह राजकुल बिना किसी युद्ध आदि के नष्ट हो जाते हैं।" कौटिल्य ने राजा के लिए आवश्यक जिन विद्याओं का उल्लेख किया है, वे हैं- दण्ड-नीति, राज्य शासन, सैनिक शिक्षा, मानव शास्त्र, इतिहास, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि । राजा को अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए। इस प्रकार सप्तांग सिद्धान्त के अनुसार राजा का स्थान महत्वपूर्ण है। चिंि

2. अमात्य - साधारणतः लोग अमात्य का अर्थ मन्त्री लगाते हैं। लेकिन कौटिल्य के अनुसार अमात्य का अर्थ मन्त्री और प्रशासनिक अधिकारियों दोनों से है। कौटिल्य ने इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि एक पहिये की गाड़ी की भाँति राजकाज भी बिना सहायता-सहयोग से नहीं चलाया जा सकता है। कौटिल्य के अनुसार सभी कार्य अमात्यों पर निर्भर होते हैं। दुर्ग तथा कृषि आदि कार्यों की सफलता, राजवंश, अन्तपाल और आदिविकों की ओर से योगक्षेम का साधन, आपत्तियों का प्रतिवाद, उपनिवेशों की स्थापना एवं उनकी उन्नति, अपराधियों को दण्ड और राज-कर का निग्रह जनपद के सभी कार्य अमात्यों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

कौटिल्य के अनुसार ऐसे व्यक्तियों को अमात्य बनाना चाहिए जो बुद्धिमान और गुणवान हों। अपने सम्बन्धियों, सहपाठियों, चापलूसों और सिफारिशी

व्यक्तियों को अमात्य पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए। धर्म, अर्थ, काम और भय द्वारा परीक्षित पवित्र अमात्यों को उनकी कार्यक्षमता के अनुसार कार्य-भार सौंपना चाहिए ।

3. जनपद - राज्य का तीसरा अंग जनपद है। यद्यपि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से कहीं भी जनपद की परिभाषा नहीं दी है तथापि जनपद से उसका अर्थ केवल भू-प्रदेश से ही नहीं है, बल्कि राज्य के निवासी या जनसंख्या से भी है। जनपद के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है।

कौटिल्य ने जनपद की स्थापना का विस्तार से वर्णन किया है। उसका कथन है कि राजा को चाहिए कि दूसरे देश के मनुष्यों को बुलाकर अथवा अपने देश की जनसंख्या की वृद्धि कर वह पुराने या नये जनपद को बसाये । प्रत्येक जनपद में कम से कम सौ घर और अधिक से अधिक पाँच सौ घर वाले ऐसे जनपद बसाये जायें जिसमें प्रायः शूद्र तथा किसान अधिक हों। एक गाँव दूसरे गांव से कोस भर या दो कोस की दूरी से अधिक नहीं होना चाहिए ताकि अवसर आने पर वे एक-दूसरे की सहायता कर सकें। प्रशासनिक दृष्टि से जनपद स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक, संग्रहण और गाँव में बँटा हुआ रहना चाहिए। कौटिल्य ने भू-प्रदेश के आकार के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा है लेकिन अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य राज्य के छोटे आकार में आस्था प्रकट करता है।

कौटिल्य ने एक अच्छे जनपद के आवश्यक गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसके अनुसार जनपद एक ऐसा प्रदेश हो जहाँ की जलवायु स्व प्रगति वर्द्धक हो, भूमि उपजाऊ हो तथा उसमें खेती योग्य भूमि के अतिरिक्त घने जंगल भी हों। उसकी सीमाएँ सुरक्षित हों। जनपद में नदियाँ, पशुधन खनिज पदार्थ आदि की बहुलता हो।परन्तु जनपद में केवल प्रदेश का वर्णन ही नहीं आता। उसमें प्रदेश और निवासी दोनों ही सम्मिलित हैं। निवासियों के विषय में उसका मत है कि वे परिश्रमी होने चाहिए तथा उन्हें प्रसन्नतापूर्वक कर देना चाहिए। उसने प्रजा के स्वामिभक्त होने पर बहुत बल दिया है।

1. **दुर्ग -** राज्य के सप्तांगों में दुर्ग का भी महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि राज्य की सुरक्षा के लिए सुदृढ़ दुर्ग अति आवश्यक है। जनपद के अनेक गुणों में कौटिल्य के अनुसार एक गुण यह भी है कि उसमें स्थान-स्थान पर कई दुर्ग हों जो शत्रुओं से राज्य की रक्षा करें।
2. कौटिल्य के अनुसार दुर्ग चार प्रकार के होते हैं:

(1) औदक दुर्ग- इस श्रेणी में वे दुर्ग आते हैं जो चारों ओर पानी से घिरे हुए हों।

2) पार्वत दुर्ग - वे दुर्ग जो पर्वत श्रेणियों अथवा बड़ी-बड़ी चट्टानों से घिरे हुए हों।

(3) धान्वन दुर्ग- ऐसे मरुस्थलीय प्रदेश में बने होते हैं जहाँ न पानी हो और न घास, जहाँ तक पहुँचना शत्रु के लिए अत्यन्त कठिन हो ।

(4) वन दुर्ग - बीहड़ जंगलों में बना हुआ दुर्ग, शत्रु जहाँ तक पहुँचने का मार्ग ही न जान पाये ।

'औदक' और 'पर्वत' दुर्ग शत्रु के आक्रमण के समय राज्य की सुरक्षा में अत्यन्त ही सहायक होते हैं तथा धान्वन और वन दुर्ग राजा की सुरक्षा के लिए होते हैं। राजा आवश्यकता के समय इन दुर्गों में जाकर अपनी रक्षा कर सकता है।

5. कोष - राज्य के लगभग प्रत्येक कार्य के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए राज्य का महत्वपूर्ण आधार कोष है। सभी प्रकार की परिस्थितियों में कोष अत्यन्त ही उपयोगी सिद्ध होता है। इसलिए राजा का प्रथम कर्तव्य है कि वह अपने कोष में धन वृद्धि की चिन्ता करे । उसके कोष में धान्य का छठा भाग हीरे-जवाहरात, सोना, चाँदी सहित होना चाहिए, परन्तु कोष में वृद्धि करते समय राजा को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि धन धर्मपूर्वक संग्रह किया गया हो। वह लिखता है:

पक्वं पक्वभिवारामात्, फलं राज्यादवाप्नुयात् ।

आभच्छेद भया दाम, वर्णयेत् कोप कारकम् ॥

अर्थात्, "राजा प्रजा से इस तरह कर संग्रह करें जैसे माली बगिया से पके-पके फल लेता है। प्रजा जिस कर को देने में असमर्थ हो उसे कच्चे फल की तरह ग्रहण न करे क्योंकि अशक्त प्रजा से कर संग्रह उसमें असन्तोष अथवा विद्रोह पैदा करने का कारण होता है।"जी

6. दण्ड - दण्ड से तात्पर्य सेना से है। राजा की सुरक्षा के लिए सेना का विशेष महत्व है। कौटिल्य का कथन है कि जिस राजा के पास अच्छा सैन्य बल होता है, उसके मित्र तो मित्र बने रहते हैं, किन्तु शत्रु तक भी मित्र बन जाते हैं। सैनिक अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में भी भली-भाँति प्रशिक्षित, वीर, स्वाभिमानी और राष्ट्र प्रेमी होने चाहिए। वह क्षत्रिय वर्ग को सेना में नियुक्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त मानता है, किन्तु उसका विचार है कि आवश्यकता पड़ने पर वैश्य और शूद्रों को भी सेना में नियुक्त किया जा सकता है। कौटिल्य के अनुसार सन्तुष्ट सेना विजय की कुंजी है, अतः सैनिकों को अच्छा वेतन व अन्य सुविधाएँ प्रदान करते हुए सन्तुष्ट तथा प्रसन्न रखा जाना चाहिए।

7. मित्र- कौटिल्य के अनुसार राज्य की उन्नति के लिए तथा आपत्ति के समय राज्य की सहायता के लिए मित्रों की आवश्यकता होती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि राजा अपने ऐसे मित्र बनाकर रखे जो समय पर उसकी सहायता कर सकें, परन्तु मित्र पितृ-पितामह के समय से हों। वे राजा के विश्वासपात्र हों जिससे राजा महत्वपूर्ण मामलों पर उनके साथ बातचीत कर सके ।

सप्तांग सिद्धान्त की आलोचना कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सप्तांग सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है:

1. आलोचकों का कहना है कि आधुनिक युग में राज्य के आवश्यक तत्व सम्प्रभुता, सरकार, जनसंख्या और प्रदेश हैं, परन्तु कौटिल्य ने इनका वर्णन नहीं किया है, परन्तु यदि हम गहराई से देखें तो पाएँगे कि स्वामी में सम्प्रभुता, अमात्य में सरकार, जनपद में जनसंख्या और प्रदेश सम्मिलित हैं। केवल शब्द अलग हैं उनके भाव वही हैं। राज्य का ऐसा कोई तत्व नहीं जिसको कौटिल्य ने सप्तांग में न लिया

2. कौटिल्य ने दुर्ग, कोष, सेना और मित्र को राज्य का आवश्यक अंग माना है। आलोचकों का कहना है कि इनके बिना भी राज्य का अस्तित्व बना रह सकता है। सेना के अभाव में कोई राज्य समाप्त नहीं हो जायेगा।

निस्संदेह दुर्ग, कोष, सेना और मित्र के अभाव में राज्य का अस्तित्व हो सकता है, परन्तु ऐसा शायद ही कोई राज्य हो जिसमें यह न हो और वह स्थायी रहा हो। दुर्ग की आधुनिक युग में कोई आवश्यकता नहीं रही। यद्यपि इसका भी आज स्वरूप बदल गया है और भयानक बमों के विस्फोट से जनता की रक्षा के लिए अब तहखानों की जरूरत पड़ने लगी है। मित्र, सेना और कोष राज्य के आवश्यक तत्व न सही, राज्य की स्थिरता के आवश्यक तत्व जरूर हैं। कोई भी राज्य इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता ।

3. राज्य के सप्तांग सिद्धान्त से हमें राज्य के शरीर सिद्धान्त का आभास मिलता है। आलोचकों के अनुसार राज्य को एक शरीर बताना अनुचित है।

4. कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सप्तांग सिद्धान्त केवल राजतन्त्रात्मक शासन के आवश्यक तत्वों का ही वर्णन करता है। उसमें प्रजातन्त्र की पूर्णतया उपेक्षा की गयी है। प्रजातन्त्र में सम्प्रभुता का वास कहाँ

विभिन्न अंगों का सापेक्षिक महत्व कौटिल्य ने सातों अंगों के सापेक्षिक महत्व पर प्रकाश डाला है। इन सात अंगों के सम्बन्ध में मनु भीष्म और शुक्र जैसे पुराने आचार्यों का मत तो यह था कि स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र ये महत्व की दृष्टि से क्रमानुसार हैं, किन्तु आचार्य भारद्वाज ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा कि स्वामी की अपेक्षा अमात्य अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि वास्तविक प्रशासन का संचालन तो अमात्य ही करते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य भारद्वाज से असहमति व्यक्त करते हुए कौटिल्य लिखता है कि अमात्य से राजा अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि राजा अमात्य के व्यसनी होने पर उसके स्थान पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति कर सकता है। यदि स्वामी राजगुण सम्पन्न हो तो वह अन्य अंगों को भी गुण सम्पन्न कर सकता है। इसीलिए कौटिल्य ने अपने सप्तांग सिद्धान्त में 'राजा' को विशेष महत्व दिया है और वह राजा को पूरे शासन की आधारशिला मानता है।

स्लीव जिस संक्षेप में, कौटिल्य को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उसने अपने सप्तांग सिद्धान्त द्वारा राजशास्त्र और राज्य संस्था को अधिक लौकिक तथा धर्म निरपेक्ष रूप प्रदान कर दिया है। स्मृतिकारोंप्रतिनिधि

और वेदों ने तो राजा के पुरोहित को व्यावहारिक राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान दिया था किन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पुरोहित पद की चर्चा बहुत कम है और राज्य के सप्त अंगों में उसे स्थान न देकर उसका महत्व कम कर दिया है।

राजा

कौटिल्य ने राज्य रूपी शरीर में राजा को सबसे ऊँचा स्थान प्रदान किया है। उसने राजा की सत्ता को समुदाय के सभी कार्यों की एकमात्र आधारशिला समझा है। उसकी समृद्धि से ही राज्य की समृद्धि सम्भव है। उसके गुणों से राज्य के अन्य तत्व भी प्रभावित होते हैं।

कौटिल्य के अनुसार राजा ही राज्य में सर्वशक्तिमान है। राजनीति की सफलता या असफलता तथा राज्य का भविष्य राजा की शक्ति और नीति पर निर्भर है। यद्यपि कौटिल्य गणतन्त्र और अन्य प्रकार के शासनों से परिचित है, परन्तु चूँकि वह राजतन्त्र को सर्वोच्च मानता है इसलिए उसने अर्थशास्त्र की रचना केवल राजा के हित के लिए ही की है। बी.पी. सिन्हा के अनुसार, "कौटिल्य की प्रणाली में राजा शासन की धुरी है और शासन संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेने और शासन को गति प्रदान करने में राजा का एकमात्र स्थान है।" स्वयं कौटिल्य के शब्दों में, 'यदि राजा सम्पन्न हो तो उसकी समृद्धि से प्रजा भी सम्पन्न होती है। राजा का जो शील हो, वह शील प्रजा का भी होता है। यदि राजा उद्यमी और उत्थानशील होता है तो प्रजा में भी ये गुण आ जाते हैं, यदि राजा प्रमादी हो, तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है। अतः राज्य में कूटस्थानीय (केन्द्रपूत) राजा ही है।'

राजा के गुण - कौटिल्य ने राजा के आंवश्यक गुणों पर बहुत बल दिया है। वह अपने राजा को केवल सत्ता उपयोग करने वाले व्यक्ति के रूप में नहीं देखता। वह उसे राजर्षि बनाना चाहता है। उसके अनुसार राजा को कुलीन, धर्म की

मर्यादा चाहने वाला, कृतज्ञ, दृढ़निश्चयी, विचारशील, सत्यवादी, वृद्धि के प्रति आदरशील, विवेकपूर्ण, दूरदर्शी, उत्साही तथा युद्ध में चतुर होना चाहिए। उसे क्रोध, मद, लोभ, भय आदि से दूर रहना चाहिए। विपत्ति के समय प्रजा का निर्वाह करने और शत्रु की दुर्बलता पहचानने की आवश्यक योग्यता भी होनी चाहिए। उसमें नियमानुसार राजकोष में वृद्धि करने की योग्यता होनी चाहिए। राजा को कभी भी वृद्ध, अपंग तथा दीन-हीन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

राजा के लिए शिक्षा - कौटिल्य इस तथ्य से परिचित है कि उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त व्यक्ति सरलता से नहीं मिल सकता। उसके अनुसार इनमें से कुछ गुण तो स्वाभाविक होते हैं और कुछ अभ्यास से प्राप्त किये जा सकते हैं। मनुष्य के स्वभाव और चरित्र पर वंश-परम्परा का प्रभाव होता है, किन्तु अभ्यास से उसमें कुछ परिवर्तन सम्भव हो सकता है। अभ्यास से प्राप्त गुण अधिक महत्वपूर्ण होते हैं । इसीलिए कौटिल्य ने राजा की शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया है। उसके अनुसार, "जिस प्रकार घुन लगी हुई लकड़ी जल्दी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस राजकुल के राजकुमार शिक्षित नहीं होते वह राजकुल बिना किसी युद्ध आदि के स्वयं ही नष्ट हो जाता है।"

अच्छी शिक्षा प्राप्त किया हुआ राजा सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रहते हुए और अपनी प्रजा का संरक्षण करते हुए चिरकार तक निष्कंटक हो पृथ्वी का उपभोग करता है। कौटिल्य ने राजा की जिन आवश्यक विद्याओं का उल्लेख किया है वे हैं- दण्ड-नीति, राज्य शासन, सैन्य विद्या, मानवशास्त्र, इतिहास, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र ।

राजपुत्र को अपने आचार्य से भिन्न-भिन्न विद्याएँ प्राप्त करनी चाहिए। मुण्डन संस्कार के पश्चात् अक्षराभ्यास तथा गिनती आदि का विधिपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। थोड़ा बड़ा होने पर विभिन्न विभागों के दक्ष और योग्य व्यक्तियों से युवराज को भिन्न-भिन्न प्रकार की विद्या सीखनी चाहिए। अपने विद्यार्थी जीवन में राजपुत्र को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

यह भी आवश्यक है कि राजा अपनी इन्द्रियों को वश में रख सके। "अवशेन्द्रिय पश्वातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति"- इन्द्रियों को वश में न रखने वाले,

चक्रवर्ती राजा का भी शीघ्र ही सर्वनाश हो जाता है। कौटिल्य नहीं चाहता कि विलासपूर्ण महलों के ऐश्वर्य में पड़ा हुआ राजा चरित्रहीन या पतित

हो जाये। जो राजा अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता वह अपनी प्रजा के लिए घातक हो सकता है। कौटिल्य के अनुसार इन्द्रियों पर विजय ही विद्या और विनय के हेतु हैं। वह लिखता है- "कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना और प्राण इन्द्रियों को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषयों में प्रवृत्त न होने देने को इन्द्रिय विजय कहते हैं।"

कौटिल्य का आदर्श राजा इन्द्रियों को अपने वश में रखता है, इसक अर्थ यह नहीं है कि कौटिल्य चरम वैराग्य के पक्ष में है। वह तो राजा को अर्थ, धर्म, काम तीनों के ही उचित रूप से उपभोग की आज्ञा देता है। वह केवल इनकी अति होने के विरुद्ध है। कौटिल्य चाहता है कि राजा अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए परस्त्री, पर-द्रव्य आदि से दूर रहे, अधर्म और अनर्थ उसके पास तक न भटकें ।

राजा की दिनचर्या - राजा अपने न्यायोचित कर्तव्यों का पालन करे, इस दृष्टि से कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या भी निर्धारित की है। रात और दिन में उसके सारे समय का पूरा कार्यक्रम कौटिल्य ने दिया है और इसमें इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि उसका एक-एक क्षण जनकार्य में लगा हो। भोग-विलास, नाच, रंग आदि के लिए कोई भी समय उसमें नहीं दिया गया है और रात में भी इसके लिए केवल चार घण्टे की ही व्यवस्था की गयी है। कौटिल्य राजा के दिन-रात के कार्यक्रम 24 घण्टे को 16 घड़ियों में बाँटता है और रात्रि की पृथक् चर्चा का वर्णन करता है।

प्रत्येक घड़ी 1-1/2 घण्टे की है।

दिनचर्या-

प्रथम घड़ी- प्रजा की रक्षा व्यवस्था की देख-रेख तथा हिसाब-किताब की जाँच ।

द्वितीय घड़ी- ग्राम व नगरवासियों का प्रशासन ।

तृतीय घड़ी -स्नान, भोजन, स्वाध्याय ।

चतुर्थ घड़ी -वित्त विभाग का निरीक्षण तथा कैश चैकिंग, नियुक्तियाँ व स्थानान्तरण ।

पंचम घड़ी -मन्त्रियों तथा गुप्तचरों से मन्त्रणा ।

षष्टम घड़ी - मनोरंजन ।

सप्तम घड़ी -सेनापति से मंत्रणा।

रात्रिचर्या-

प्रथम घड़ी-गुप्तचरों द्वारा दिन भर एकत्रित रिपोर्ट

द्वितीय घड़ी-स्नान, भोजन, स्वाध्याय ।

तृतीय घड़ी-गायन और वादन ।

चतुर्थ घड़ी -निद्रा ।

पंचम घड़ी-निद्रा ।षष्टम घड़ी दिन के कार्यक्रम पर विचार ।

सप्तम घड़ी- गुप्तचरों से परामर्श ।

अष्टम घड़ी -आचार्य पुरोहित इत्यादि से भेंट-लक

प्रातः बछड़े सहित गाय की परिक्रमा करके राजा फिर अपनी दिनचर्या प्रारम्भ कर दे।

इस प्रकार राजा का जीवन एक तपस्वी के समान होना चाहिए। कौटिल्य की विचारधारा को व्यक्त करते हुए श्री भगवानदास केला लिखते हैं, "राजपद का ऐश्वर्य काँटों के मुकुट के समान है, जिसे सेवाभाव से ही ग्रहण किया जा सकता है।"

राजा के कर्तव्य- राजा के कर्तव्य का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने लिखा है- "प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित है। राजा के लिए प्रजा के सुख से भिन्न अपना और भी बहुत कुछ सुख नहीं है, प्रजा के सुख में ही उसका सुख है।" उसके अनुसार, "राजा और प्रजा में पिता और पुत्र का सम्बन्ध होना चाहिए।" जैसे पिता पुत्र का ध्यान रखता है, वैसे ही राजा के द्वारा प्रजा का ध्यान रखा जाना चाहिए। इस सामान्य धारणा के प्रतिपादन के

साथ-साथ कौटिल्य राजा के कर्तव्यों का विशद् विवेचन भी करता है। उसके अनुसार राजा के मुख्य कर्तव्य निम्नलिखित हैं:

(1) **वर्णाश्रम धर्म को बनाये रखना** - राजा का एक प्रमुख कर्तव्य वर्णाश्रम धर्म को बनाये रखना और सभी प्राणियों को अपने धर्म से विचलित न होने देना है क्योंकि "जिस राजा की प्रजा आर्य मर्यादा के आधार पर व्यवस्थित रहती है, जो वर्ण और आश्रम के नियमों का पालन करती है और जो त्रयी (तीन वेद) द्वारा निहित विधान से रक्षित रहती है, वह प्रजा सदैव प्रसन्न रहती है और उसका कभी नाश नहीं होता।" ऑंइ

(2) **दण्ड की व्यवस्था करना** - राजा का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य दण्ड की व्यवस्था करना है क्योंकि दण्ड "अपर्याप्त वस्तु को प्राप्त कराता है, उसकी रक्षा करता है, रक्षित वस्तु को बढ़ाता है और बढ़ी हुई वस्तु का उपयोग कराता है।" समाज और सामाजिक व्यवहार दण्ड पर ही निर्भर करते हैं, इसलिए दण्ड की व्यवस्था महत्वपूर्ण है, किन्तु इस सम्बन्ध में स्वामी को इसका ध्यान रखना चाहिए कि दण्ड न तो आवश्यकता और औचित्य से अधिक हो और न ही कम। यथोचित दण्ड देने वाला राजा ही पूज्य होता है और केवल समुचित दण्ड ही प्रजा को धर्म, अर्थ तथा काम से परिपूर्ण करता है। "यदि काम, क्रोध या अज्ञानवश दण्ड दिया जाए, तो जनसाधारण की कौन कहे, वानप्रस्थ और संन्यासी तक क्षुब्ध हो जाते हैं। यदि दण्ड का उचित प्रयोग नहीं होता, तो बलवान निर्बलों को वैसे ही खा जाते हैं, जैसे बड़ी मछली छोटी को।"

(3) **आय-व्यय सम्बन्धी** - राजा को आय-व्यय का पूरा हिसाब और प्रबन्ध रखना चाहिए। उसे यह कार्य समाहर्ता के द्वारी करना चाहिए।

(4) **नियुक्ति सम्बन्धी** - राजा अमात्य, सेनापति और प्रमुख कर्मचारियों की नियुक्ति करता है, सभी कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करता है और श्रेष्ठ कार्य करने वाले कर्मचारियों की पदोन्नति करता है।

(5) **लोकहित और सामाजिक कल्याण सम्बन्धी**- कौटिल्य ने राजा को लोक हित और सामाजिक कल्याण के भी कार्य सौंपे हैं। इनके अन्तर्गत राजा दान देगा और अनाथ, वृद्ध तथा असहाय लोगों के पालन-पोषण की व्यवस्था

करेगा। असहाय गर्भवती स्त्रियों की उचित व्यवस्था करेगा और उनके बच्चों का भरण-पोषण करेगा। जो किसान खेती न करके जमीन परती छोड़ देते हों, उनके पास से जमीन लेकर वह दूसरे किसानों को देगा। उसके अन्य कर्तव्य कृषि के लिए बाँध बनाना, जलमार्ग, स्थलमार्ग, बाजार और जलाशय बनाना, दुर्भिक्ष के समय जनता की सहायता करना और उन्हें बीज देना है। आवश्यक होने पर उसे धनवानों पर अधिक कर लगाकर प्राप्त धन को गरीबों में बाँट देना चाहिए ।

कौटिल्य के अनुसार खदानें, वस्तुओं का निर्माण, जंगलों में इमारती लकड़ी और हाथियों को प्राप्त करना तथा अच्छी नस्ल के जानवरों को पैदा करने का प्रबन्ध भी राज्य के द्वारा ही किया जाना चाहिए । राजा के लोकहित और समाज-कल्याण सम्बन्धी इन कार्यों के उल्लेख में कौटिल्य की दूरदर्शिता झलकती है।

(6) **युद्ध करना** - वर्तमान समय में युद्ध करने को राजा के कर्तव्यों में सम्मिलित करने पर भले ही आपत्ति की जाये, कौटिल्य के अनुसार युद्ध करना राज्य का एक प्रमुख कार्य है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का केन्द्र एक ऐसा विजिगीषु राजा है जिसका उद्देश्य निरन्तर नयी भूमि प्राप्त कर अपने क्षेत्र में वृद्धि करना है। कौटिल्य राज्य की सभी आर्थिक और अन्य संस्थाओं की महत्ता इसी मापदण्ड से निश्चित करता है कि ये राज्य को किस सीमा तक सफल युद्ध के लिए तैयार करती हैं। नयी भूमि प्राप्त करना अर्थशास्त्र का इतना प्रमुख विषय है कि अर्थशास्त्र के 15 अधिकरणों में से 9 अधिकरण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में युद्ध से सम्बन्ध रखते हैं।

राजा के द्वारा उपर्युक्त सभी कार्यों का सम्पादन लोकहित की भावना से ही किया जाना चाहिए ।

क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है ?

कौटिल्य राजतन्त्र को ही शासन का एकमात्र स्वाभाविक और श्रेष्ठ प्रकार मानता है और राज्य के सप्त अंगों में राजा को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करता है, किन्तु ऐसा होने पर भी कौटिल्य का राजा निरंकुश नहीं है, उस पर कुछ ऐसे प्रतिबन्ध हैं जिनके कारण वह मनमानी नहीं कर सकता। ये प्रतिबन्ध निम्न प्रकार हैं:

राजा की शक्ति पर प्रथम प्रतिबन्ध अनुबन्धवाद का था। कौटिल्य के अनुसार मनुष्य ने राजा की आज्ञाओं के पालन की जो प्रतिज्ञा की उसके बदले में राजा ने अपने प्रजाजन के धन-जन की रक्षा का वचन दिया था। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि राजा के द्वारा प्रजा के धन-जन को हानि पहुँचाने वाला कोई कार्य नहीं किया जा सकता। कौटिल्य ने एक स्थान पर बताया है कि राजा कि स्थिति वेतनभोगी सैनिकों के समान ही होती है। इसका तात्पर्य यह है कि राजा कर्तव्यपालन के लिए बाध्य है और वह राजकोष से निश्चित वेतन ही ले सकता है। कौटिल्य के राजा को मनमाने ढंग से राज्य की सम्पत्ति से भोग-विलास के साधन प्राप्त करने का अधिकार नहीं था।

राजा की शक्ति का दूसरा प्रतिबन्ध धार्मिक नियमों और रीति-रिवाजों का था। राजा के अधिकार धर्म और रीति-रिवाजों से सीमित थे और वह इनका पालन करने के लिए बाध्य था। इस बात की आशंका रहती थी कि राजा द्वारा इन नियमों का उल्लंघन किये जाने पर जनता क्षुब्ध होकर स्वयं ही उसके जीवन का अन्त कर दे। तत्कालीन जीवन में धर्म और परलोक की भावना बहुत होने के कारण नरक का भय भी राजा को मनमानी करने से रोकता था। उसकी निजी नैतिक और धार्मिक भावना उसे निरंकुश बनने से रोकती थी।

राजा की शक्ति पर तीसरा प्रतिबन्ध मन्त्रिपरिषद् का था। उसके अनुसार राज्य रूपी रथ के दो चक्र राजा और मन्त्रिपरिषद् हैं, इसलिए मन्त्रिपरिषद् का अधिकार राजा के बराबर ही है। मन्त्रिपरिषद् राजा की शक्ति पर नियन्त्रण रख उसे निरंकुश बनने से रोकती थी।

इन सबके अतिरिक्त कौटिल्य ने राजा की निरंकुशता पर अन्तिम किन्तु एक अत्यन्त प्रभावशाली प्रतिबन्ध राजा के व्यक्तित्व तथा उसे प्रदान की गयी शिक्षा के आधार पर लगाया है। कौटिल्य ने राजा के लिए अनेक मानसिक और नैतिक गुण आवश्यक बताये हैं और इस प्रकार सर्वगुणसम्पन्न राजा अपने स्वभाव से ही निरंकुश नहीं हो सकता। इसके अलावा उसने राजा की शिक्षा पर बल देकर उस पर ऐसे संस्कार डालने चाहे हैं कि वह निरंकुशता का मार्ग न अपनाकर लोकहित के कार्यों में लगा रहे। वस्तुतः कौटिल्य ने राजतन्त्र का

समर्थन और इस व्यवस्था में राजा को पर्याप्त शक्तियाँ देने का कार्य प्रजाजन के हित को दृष्टि में रखकर ही किया है।

बी.पी. सिन्हा ने 'दि जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी' के एक लेख में कौटिल्य का राजा निरंकुश नहीं है, इसकी पुष्टि में निम्न तर्क दिये हैं:

(1) कौटिल्य ने राजपुत्र के लिए अच्छी शिक्षा तथा सतसंग पर बल दिया है।

(2) कौटिल्य ने राजा के सामने उच्चादर्श रखे हैं जिनका पालन करना राजा का परम कर्तव्य है। राजा और प्रजा के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध होना चाहिए। कौटिल्य के अनुसारः

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।

नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥

अर्थात् प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में उसका हित। जो कुछ राजा का प्रिय हो वह उसे ही हित न समझे जो प्रजा को प्रिय हो वह उसे अपना हित समझे ।

(3) स्वायत्त शासन की संस्थाएँ जैसे ग्राम और नगर सभाएँ भी काफी सीमा तक राजा की निरंकुशता रोकने में सफल होंगी।

(4) ब्राह्मण और पुरोहित भी अपनी मन्त्रणाओं द्वारा राजा पर पर्याप्त नियन्त्रण रखते थे, क्योंकि कौटिल्य ने लिखा है कि ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे राजा को समय-समय पर उसके कर्तव्यों की याद दिलाते रहें। निकली की है

(5) कौटिल्य ने राजा की मन्त्रियों और अमात्यों के साथ मन्त्रणाओं पर भी काफी बल दिया है। कोई भी कठिन समस्या मन्त्रिपरिषद् के बहुमत से निश्चित होनी चाहिए।

(6) सामाजिक परम्पराओं और अन्य रूढ़ियों का पालन करना भी राजा के लिए आवश्यक था ।

(7) जनमत के डर से भी राजा निरंकुश नहीं हो सकता a

श्री कृष्ण राव ने ठीक लिखा है कि "कौटिल्य का राजा अत्याचारी नहीं हो सकता, चाहे वह कुछ बातों में स्वेच्छाचारी रहे, क्योंकि वह धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र के सुस्थापित नियमों के अधीन रहता है।" इसी बात को स्वीकार करते हुए सालेटोर (Seletore) ने लिखा है कि "वह अपना राज्य और जीवन खोये बिना यूनान के अत्याचारी राजाओं जैसा नहीं बन सकता, क्योंकि भारत में जनता ऐसे राजा को सहन नहीं कर सकती थी। यद्यपि राजा का पद सर्वोच्च था, किन्तु न तो वह जनता से पृथक था और न उसके लिए विदेशी ही और वह जैसा चाहे, जनता के प्रति व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र न था।"

अमात्य या मंत्रिपरिषद्

(मंत्रिपरिषद)

कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में राजा के लिए मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है। उसके अनुसार राज्य एक रथ है जैसे रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार मन्त्रियों की सहायता के बिना अकेला राजा का राज्य संचालन नहीं कर सकता। अतः राजा के लिए यह उचित है कि वह योग्य मन्त्री रखे और उनके परामर्श पर उचित ध्यान दे। कौटिल्य ने सद्भावना पर बल देते हुए यहाँ तक कहा कि “समस्त कार्यों का प्रारम्भ सद् विषयक मन्त्रणा कर लेने के उपरान्त ही होना चाहिए।" उसका विचार है कि मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा किये बिना राजा का कार्य नहीं चल सकता ।

मन्त्र गोपन - मन्त्रणा के सम्बन्ध में कौटिल्य ने मन्त्रणा को गुप्त रखना बहुत अधिक आवश्यक बताया है। कौटिल्य का कथन है कि मन्त्र का गुप्त न रहना राजा और मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों दोनों के कल्याण के लिए घातक होता है। उन्होंने कछुए का उदाहरण देते हुए कहा है कि जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेटे रहता है और केवल आवश्यकता पड़ने पर उन्हें बाहर करता है, उसी प्रकार राजा को मन्त्र का गोपन अथवा प्रकाशन करना चाहिए। मन्त्रणा को गुप्त रखने के लिए मन्त्रणा-स्थान इतना एकान्त और सुरक्षित रखना चाहिए कि वहाँ की बातचीत कोई न सुन सके, आदमी तो दूर की बात, पक्षी भी वहाँ न फटक सकें। मन्त्र-गुप्ति हेतु वह सुझाव देता है कि मन्त्रणा अधिक लम्बी न हो और

ऐसे व्यक्तियों के साथ मन्त्रणा न की जाए, जिसका राजा अपकार कर चुका हो अथवा जिनसे इस मन्त्रणा का सम्बन्ध हो । उसके अनुसार मन्त्राधिकारियों को मद, असावधानी, सोते सोते बड़बड़ाना, काम तृप्ति आदि दुर्गुणों से बचाया जाना चाहिए। मन्त्रणा के बाद जब कोई निर्णय हो जाये, तो इसे कार्य रूप में परिणत करने में विलम्ब नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि विलम्ब से राजकाल में शिथिलता उत्पन्न होती है।

मन्त्रिपरिषद् का गठन- मन्त्रिपरिषद के गठन के सम्बन्ध में कौटिल्य ने सर्वाधिक बल मन्त्रियों की योग्यता पर दिया है। इस सम्बन्ध में उसने बहुत कठोर और उच्च स्तर निर्धारित किये हैं। उसका विचार है कि सभी प्रकार की क्षमताओं और योग्यताओं से युक्त निष्कलंक व्यक्तियों को ही मन्त्रिपरिषद् में स्थान दिया जाना चाहिए। डॉ. बेनीप्रसाद के शब्दों में, " कौटिल्य के अनुसार निष्कलंक व्यक्तिगत जीवन, बौद्धिक चातुर्य, उचित निर्णय, कर्तव्य की उच्च भावना और लोकप्रियता मन्त्रिपरिषद् के लिए आवश्यक योग्यताएँ होनी चाहिए।" कौटिल्य का विचार है कि किसी व्यक्ति को सहसा ही मन्त्रिपरिषद का सदस्य नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए ।

कौटिल्य ने मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं की है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या समय, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए।

उसके अनुसार सामान्यतया 3 या 4 मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि अन्य भारतीय आचार्यों जैसे, मनु, वृहस्पति और उशना ऋषि ने मन्त्रियों की संख्या इससे काफी अधिक, 8 से 12 के बीच रखने पर बल दिया है। कौटिल्य मन्त्रियों को पद के अनुसार वेतन देने के पक्ष में है, किन्तु उसके अनुसार मन्त्रियों को इतना वेतन अवश्य ही दिया जाना चाहिए कि उनका परिवार विधिवत् भरण-पोषण कर सके और उन्हें अन्य साधन न अपनाने पड़ें। यदि वेतन न्यून होता है तो अधिकारी कुपित हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप राजा और राज्य दोनों क्षतिग्रस्त होते हैं।

मन्त्रिपरिषद् द्वारा राजा पर नियन्त्रण-कौटिल्य ने अपने सप्तांग सिद्धान्त में मन्त्रिपरिषद् सहित राज्य के दूसरे 6 अंगों की तुलना में राजा को अधिक महत्वपूर्ण माना है। राजा और मन्त्रिपरिषद् के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में उनका विचार है कि राजा सामन्यतया मन्त्रिपरिषद् के बहुमत के आधार पर कार्य करे, किन्तु मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा कार्य-सिद्धिकर प्रतीत न होने पर राजा अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है, किन्तु इसके साथ ही कौटिल्य इस बात को नहीं भूला है कि एक दुराचारी, भोग-विलास में लिप्त, अयोग्य या अति धार्मिकता के कारण राज्य के हितों की चिन्ता न करने वाले राजा पर मन्त्रिपरिषद् के नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। कौटिल्य का कथन है कि यदि राजा ऐसे कार्यों में लग जाये, जो प्रजा के लिए अहितकर हों, तो मन्त्रियों का यह अधिकार अवश्य है कि वे उसके विरुद्ध उठ खड़े हों। कौटिल्य ने राजा को ऐसी परिस्थितियों से सदैव ही बचे रहने की सलाह दी है, जिसके कारण मन्त्री, प्रजा और सेना विद्रोह कर दें।

भारत के प्राचीन इतिहास में ऐसी घटनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनके अन्तर्गत राजा द्वारा राज्य के हितों की अवहेलना किये जाने पर मन्त्रिपरिषद् ने राजा का विरोध किया और इसमें सफलता प्राप्त की। 'दिव्यावदान' में इस बाप्त का उल्लेख मिलता है कि जब बौद्ध धर्म के प्रति अति श्रद्धालु राजा अशोक ने बौद्ध संघों को अन्धाधुन्ध दान देना शुरू कर दिया और राजकोष खाली होने लगा तो मन्त्रियों ने युवराज के साथ मिलकर महान् अशोक को ऐसा करने से सफलतापूर्वक रोका। इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार विशेष परिस्थितियों में मन्त्रिपरिषद् के द्वारा राजा पर नियन्त्रण रखा जा सकता है और रखा जाना चाहिए। कौटिल्य ने स्वयं मौर्य साम्राज्य के महामन्त्री के रूप में जिस प्रकार से कार्य किया, उससेराजकार्य में भी महामन्त्री और मन्त्री परिषद् की भूमिका महत्वपूर्ण नितान्त स्पष्ट हो जाती है।

प्रशासनिक व्यवस्था

(प्रशासनिक प्रणाली)

राजा तथा मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त प्रशासनिक व्यवस्था के व्यावहारिक संचालन के सम्बन्ध में भी कौटिल्य ने स्पष्ट और निश्चित विचार व्यक्त किया है। उसके ये विचार उनकी व्यावहारिक प्रशासन सम्बन्धी सूझ-बूझ के परिचायक हैं। कौटिल्य का राज्य बहुत कुछ सीमा तक एक कल्याणकारी राज्य है और उसने प्रशासनिक व्यवस्था का विशद् विवेचन किया है। उसके अनुसार सम्पूर्ण प्रशासन को राजस्व, सेना, वाणिज्य, व्यापार, कृषि, वन और शिल्पकला आदि विभिन्न विभागों में विभक्त किया जाना चाहिए और प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होना चाहिए। राज्य के प्रमुख मन्त्रियों, अमात्यों, विभागाध्यक्षों एवं अधिकारी वर्ग को कौटिल्य अष्टादश (18) तीर्थों की संज्ञा देते हैं। ये तीर्थ मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वावारिक, अन्तर्वेशिक (अंगरक्षक तथा अन्तःपुर का रक्षक), समाहर्जी (Collector General), सन्निधात्री (मुख्य कोषाध्यक्ष), प्रवेष्ट्री (आयुक्त), नायक (नगर रक्षक), पौर (नगर का प्रधान), व्यावहारिक (दीवानी न्यायाधिकारी), कार्यान्तिक (कारखानों का अध्यक्ष), मन्त्रिपरिषद् का अध्यक्ष, विभागाध्यक्ष, दण्डपाल (सेना विभाग का अधिकारी) तथा दुर्गपाल होते थे। कौटिल्य ने अनेक प्रशासनिक विभागों के अध्यक्षों का उल्लेख करते हुए उनके कर्तव्यों की विशद् व्याख्या की है।

कौटिल्य के अनुसार प्रशासनिक कार्य अत्यन्त योग्य अधिकारियों द्वारा किया जाना चाहिए और राजा द्वारा इन अधिकारियों के कार्यों तथा चरित्र पर कड़ी निगरानी रखी जानी चाहिए। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि इन अधिकारियों में न तो बहुत अधिक संगठन और न ही संघर्ष वरन् इन अधिकारियों में सामान्य सम्बन्ध होने चाहिए। यदि उनमें संगठन हो जाता है तो वे राजा के विरुद्ध विद्रोहकी चेष्टा कर सकते है और यदि उनमें संघर्ष रहता है तो वे प्रशासनिक व्यवस्था का संचालन असम्भव कर देंगे।

कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि राज्य के उच्चस्तरीय अधिकारी वर्ग को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों तथा आचरण पर पूर्ण निगरानी रखनी चाहिए, जिससे वे अपने पद तथा अधिकारों का भ्रष्ट तरीके अपनाकर दुरुपयोग न करें और राज्य की आय तथा प्रजा के कल्याण को आघात पहुँचाकर स्वयं

अपनी स्वार्थसिद्धि में न लग सकें। इन कर्मचारियों पर केवल उच्चस्तरीय अधिकारी वर्ग का ही नियन्त्रण नहीं है, वरन् उनके कार्यों तथा आचरण का निरन्तर परीक्षण करने के लिए कौटिल्य ने व्यापक गुप्तचर व्यवस्था का विधान भी किया है।

गुप्तचर व्यवस्था - कौटिल्य ने अपनी प्रशासनिक व्यवस्था में गुप्तचर व्यवस्था को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। गुप्तचरों के माध्यम से राजा के द्वारा तीर्थों सहित समस्त राजकर्मचारियों के आचरण तथा कार्य-कलापों का सही-सही ज्ञान रखा जाना चाहिए। उसे यह जानते रहना चाहिए कि सामान्य प्रजाजन और सरकारी कर्मचारी उसके प्रति क्या भाव रखते हैं। गुप्तचरों की सहायता से शासन के उच्च अधिकारियों के कार्यों पर तो विशेष निगरानी रखी जानी चाहिए, क्योंकि उन्हीं पर राज्य की सुरक्षा तथा समृद्धि निर्भर करती है। कौटिल्य ने इन गुप्तचरों को अनेक श्रेणियों में विभाजित किया है यथा कापटिक, उदास्थित, गृहपातक, तापस, वैदेहक, मन्त्री, तीक्ष्ण, रसद तथा भिक्षकी। उसके अनुसार चरों में पुरुष तथा महिला दोनों हो सकते हैं तथा इनको साधु, भिक्षुक, ज्योतिषी और अन्य नाना प्रकार के वेषों में विचरण करना चाहिए। उन्हें सार्वजनिक स्थानों पर राजा के प्रति भावों को लेकर बनावटी झगड़े करना चाहिए, जिससे अन्य लोगों के विचार जाने जा सकें। राजा को किसी गुप्तचर पर भी पूरा विश्वास नहीं करना चाहिए। प्रत्येक गुप्तचर की देखभाल के लिए अन्य गुप्तचर रखे जाने चाहिए। गुप्तचर व्यवस्था का संगठन एक विभाग के रूप में किया जाना चाहिए और चरों से प्राप्त सूचना के आधार पर विभाग का अध्यक्ष समस्त सूचनाएँ राजा को देता रहे ।

कौटिल्य ने चर-व्यवस्था के समस्त कार्य-संचालन में गोपनीयता बरतने का विशेष सुझाव दिया है। इस उद्देश्य से उसने चर विभागों के कार्यों के निमित्त सांकेतिक लिपि तथा भाषा के प्रयोग की महत्ता बतायी है, जिसे विभागीय व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई न समझ सके। झूठे या गलत समाचार वाले चरों के लिए दण्ड की व्यवस्था भी की गयी है।

4.6 सार संक्षेप

कौटिल्य के द्वारा जिस प्रकार के व्यापक प्रशासनिक तन्त्र की व्यवस्था की गयी है और उसे कार्यकुशल बनाने के लिए जो सुझाव दिये गये हैं, उससे व्यावहारिक प्रशासन के रूप में उसके ज्ञान और उसकी दूरदर्शिता नितान्त स्पष्ट हो जाती है। इस सम्बन्ध में डॉ. बेनी प्रसाद ने विचार व्यक्त किया है कि "अर्थशास्त्र में वर्णित प्रशासनिक व्यवस्था हिन्दू साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है, जिसमें किसी प्रकार की कमी नहीं रह गयी है।"' प्रो. अल्तेकर का तो निष्कर्ष है कि "इस दृष्टि से कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीति दर्शन का ग्रन्थ होने की अपेक्षा एक प्रशासक के मार्गदर्शन हेतु लिखी गयी प्रशासनिक संहिता अधिक सिद्ध होती है।"

4.7 मुख्य शब्द

1.**अर्थशास्त्र:**-यह एक शास्त्र है जो राजनीति, अर्थव्यवस्था, सैन्य रणनीति, और प्रशासनिक नीतियों का अध्ययन करता है।

2. **राजधर्म**:-राज्य चलाने और शासन करने के लिए राजा के कर्तव्य और नैतिकता।

3. **दंडनीति:**-शासन और समाज को नियंत्रित करने के लिए दंड का प्रयोग।

4. **सप्तांग सिद्धांत**:-राज्य के सात मुख्य अंगों (स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड, और मित्र) का सिद्धांत।

5. **मंडल सिद्धांत**:-अंतर्राष्ट्रीय संबंधों और राजनयिक रणनीतियों के लिए कौटिल्य का सिद्धांत। इसमें मित्र, शत्रु, और तटस्थ राज्यों की भूमिका का विश्लेषण किया गया है।

6. **गुप्तचर**:-खुफिया एजेंट या जासूस, जिनका उपयोग आंतरिक और बाहरी सुरक्षा के लिए किया जाता था।

7. **वर्षा-अवस्था**:-शत्रु पर आक्रमण करने से पहले की तैयारी की अवस्था।

8. **अध्यक्ष:**-सरकारी विभागों के प्रमुख अधिकारी। उदाहरण: कर संग्रह, व्यापार, और कृषि के लिए।

9. **विजिगीषु**:-वह राजा जो विजय प्राप्त करने की इच्छा रखता हो।

10. **धर्म-शासन**:-धर्म के आधार पर शासन चलाने की नीति।

11. **युद्धनीति:-**सैन्य रणनीतियाँ और नीतियाँ जो शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनाई जाती हैं।

12. **व्यवहार**:-न्यायालय में कानूनी विवादों और उनके समाधान की प्रक्रिया।

13. **कूटनीति**:-विदेशी राज्यों के साथ संबंध बनाने और उन्हें प्रभावित करने की कला।

14. **अधिकारिता:-**किसी व्यक्ति या संस्था के अधिकार और उनके क्षेत्राधिकार।

15. **अपसंहार:**-किसी कार्य को समाप्त करने या रणनीति बदलने की प्रक्रिय

स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्न

. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अधिकरणों की संख्या है:

(ब) 12 [इहोनाद इताहम]

(स) 18

(द) 20

2. कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में जो अधिकरण हैं, उनमें प्रथम अधिकरण का शीर्षक है:

(अ) 15

(अ) धर्मस्थिय

3. कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के रचना काल के सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक मत है:

(ब) कण्टकशोधन

(स)विनाधिकरण

(द) योगवृती

(अ) ईसा की तीसरी शताब्दी का ग्रन्थ

(ब) ईसा पूर्व तीसरी सदी का ग्रन्थ अर्थात् मौर्यकालीन रचना

4.कौटिल्य के अनुसार मंत्रियों की संख्या होनी चाहिए:

(अ) 7 या 8

5. कौटिल्य ने ज्ञान या विद्या की निम्न चार शाखाओं का उल्लेख किया है:

(ब) 3 या 4

(स) 10 या 12

(अ) राजधर्म, दण्डनीति, वार्ता, त्रयी

(बी)आन्वीक्षिकी, नीतिशास्त्र, त्रयी व वार्ता

(स) त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति

(द) राज धर्म, दण्ड नीति, वार्ता, यम

6.राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत विवरण, निम्न सिद्धान्त को व्यक्त करता है:

(अ) राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त

(स) शक्ति सिद्धान्त

(ब) दैवी सिद्धान्त

(द) संविदा सिद्धान्त

7. राज्य व धर्म के बीच सम्बन्ध के विषय में कौटिल्य के दृष्टिकोण को निम्न में से कौन-सा कथन सही रूप में व्यक्त करता है:

(अ) शासक धर्म की मनचाही व्याख्या करने के लिए स्वतंत्र है

(ब) धर्म राज्य के अस्तित्व का मूल आधार है तथा धर्म के रूप में परिभाषित सार्वभौम नियम शासकीय शक्ति के व्यवहार को मर्यादित करते हैं।

(स) राज्य की गतिविधियों व नीतियों को धर्म के प्रभाव से मुक्त रखा जाना चाहिए।

अपनी प्रगति की जाँच करें Test your Progress

(द) राज्य धर्म पर निर्भर है अतः राज्य को धर्म की, ब्राह्मणों द्वारा की गई व्याख्याओं के अनुसार

विमान शासन चलाना चाहिए

8. कौटिल्य ने मंत्रियों की निम्न श्रेणियाँ निर्धारित की हैं:

(अ) उत्तम, मध्यम व क्षुद्र

(ब) मन्त्री, आत्मात्य व प्रदेष्टा

(स) अमात्य, सचिव एवं परामर्शदाता

(द) अमात्य, निसृष्टार्थ व शासन SMIF

4.8 स्व -प्रगति परिक्षणके प्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (ब), 5. (स), 6. (द), 7. (ब), 8. (अ)]

4.9 संदर्भ ग्रन्थ

- शर्मा, आर. (2018). *कौटिल्य का अर्थशास्त्र: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन*. नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन।
- गुप्ता, एस. (2019). *चाणक्य नीति और आधुनिक प्रबंधन*. वाराणसी: गंगा पब्लिकेशन्स।
- वर्मा, पी. (2020). *कौटिल्य के राजनीतिक विचार: प्राचीन से आधुनिक संदर्भ तक*. जयपुर: साहित्य सदन।
- दास, एम. (2021). *चाणक्य: जीवन और शिक्षाएं*. पटना: ज्ञान गंगा।
- सिंह, के. (2022). *कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्यcraft*. लखनऊ: यूनिवर्सिटी पब्लिशिंग हाउस।
- मिश्रा, ए. (2023). *चाणक्य नीति: जीवन प्रबंधन के सूत्र*. भोपाल: साहित्य भारती।

4.10 अभ्यास प्रश्न

1.अर्थशास्त्र में वर्णित कौटिल्य के प्रमुख राजनीतिक विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

2.कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेखित लोक प्रशासन की व्यवस्था का विवेचन कीजिए ।

3. कौटिल्य के प्रमुख राजनीतिक विचारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

4. राजनीतिक विचारक के रूप में कौटिल्य के महत्व का परीक्षण कीजिए।

5-संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

1. सप्तांग सिद्धांत।

2. षाड्गुण्य नीति ।

ब्लॉक - II

इकाई -5

महात्मा गाँधी

[MAHATMA GANDHI]

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 गाँधीजी का जीवन परिचय

5.4 गांधीवाद से तात्पर्य

5.5 गांधीजी की कृतियाँ

5.6 गांधीवादी दर्शन के तात्विक आधार धर्म, ईश्वर और सत्य

5.7 राजनीति का आध्यात्मीकरण

5.8 गांधीजी की अहिंसा अवधारणा

5.9 गांधीजी की कार्य पद्धति : सत्याग्रह

5.10 गांधीजी के राजनीतिक विचार

5.11 गांधीजी के आर्थिक विचार

5.12 गांधीजी के सामाजिक विचार

5.13 गांधीवादी दर्शन की आलोचना

5.14 सार संक्षेप

5.15 मुख्य शब्द

5.16 स्व -प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

5.17 संदर्भ ग्रन्थ

5.18 अभ्यास प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

महात्मा गाँधी ने न केवल भारत के राजनीतिक क्षेत्र में विलक्षण कार्य किया, अपितु विश्व में राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से बड़ी क्रांतिकारी मौलिक देन दी। गाँधीजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को 'गाँधीवाद' का नाम दिया जाता है। महात्मा गाँधी, प्लेटो आदि की भाँति कोरे दार्शनिक नहीं, किन्तु धार्मिक भावना से अनुप्राणित होकर जनकल्याण के लिए अनवरत कार्य करने वाले कर्मयोगी थे। उन्होंने प्लेटो, अरस्तू या मार्क्स की भाँति क्रमबद्ध या व्यवस्थित रूप से अपने सिद्धान्तों की विवेचना नहीं की, अपितु अपने सामने आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए ही तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार चिन्तन किया, अपने विचार प्रकट किये और लेख लिखे, इसलिए विभिन्न अवसरों पर व्यक्त किये उनके विचारों में कुछ विरोध या असंगतियाँ भी मिलती हैं।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन और उसके मूल सिद्धांतों को समझ सकेंगे।
2. अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, और महाभारत जैसे ग्रंथों में वर्णित प्रशासनिक संरचनाओं का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. राजधर्म और धर्म आधारित शासन व्यवस्था के महत्व को समझ सकेंगे।
4. समाज में न्याय और नैतिकता की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।
5. धर्म, नैतिकता और राजनीति के आपसी संबंध को परख सकेंगे।
6. शासन और प्रजा के कर्तव्यों के बीच सामंजस्य की भूमिका को समझ सकेंगे।

7. प्राचीन विचारों की आधुनिक राजनीतिक संदर्भों में प्रासंगिकता को पहचान सकेंगे।

5.3 गाँधीजी का जीवन परिचय (Life History of Gandhiji)

महात्मा गाँधी का जीवन ही उनके विचारों और आदर्शों की अभिव्यक्ति है। उनके विचारों और उनके द्वारा दिये गए सन्देशों को उनके जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि उनके विचारों का अध्ययन उनके जीवन चरित्र के अध्ययन से ही प्रारंभ किया जाये।

2 अक्टूबर, 1869 को राजकोट में मोहनदास करमचन्द गांधी का जन्म हुआ। इनके पिता राजकोट के दीवान थे। माता धार्मिक विचारों से ओतप्रोत सुशील महिला थीं। अपने परिवार में आपको विशुद्ध भारतीय संस्कार विरासत में मिले। 12 वर्ष की अल्पायु में ही आपका विवाह कर दिया गया।

सन् 1887 में मैट्रिक की परीक्षा पास करने के बाद उन्हें वकालत की शिक्षा प्राप्त करने के लिए विलायत भेज दिया गया। विलायत जाने के पूर्व उन्होंने अपनी माता के सम्मुख यह प्रतिज्ञा ली कि, "मैं माँस, मदिरा और नारी का स्पर्श नहीं करूँगा।" सन् 1891 में गाँधीजी बेरिस्टर बनकर लन्दन से भारत लौटे। अभी उन्होंने काठियावाड़ में वकालत प्रारंभ ही की थी कि उन्हें दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा।

दक्षिणी अफ्रीका में काले व्यक्तियों पर गौरांग महाप्रभुओं द्वारा भयंकर अत्याचार किये जा रहे थे। गांधी ने सम्पूर्ण शक्ति के साथ इस अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठायी । दक्षिण अफ्रीका की अंग्रेज सरकार को झुकना पड़ा। यहीं पर सर्वप्रथम गांधीजी ने सत्याग्रह आन्दोलन का सफलतापूर्वक परीक्षण किया। बाद में यही आन्दोलन भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का प्रतीक बन गया ।

सन् 1914 में गांधी एक सफल आन्दोलनकारी और राजनीतिज्ञ के रूप में भारत पहुँचे, परन्तु तत्काल ही राजनीति में छलांग लगाने की अपेक्षा उन्होंने परिस्थितियों का दूर से अध्ययन करना उचित समझा। अहमदाबाद के पास

उन्होंने साबरमती सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। इन दिनों गांधीजी अंग्रेजों की शराफत और उदारवादिता से बहुत प्रभावित थे। इसलिए प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान उन्होंने 8 भारत में घूम-घूमकर भारतीयों को युद्ध में अंग्रेजों का साथ देने को कहा, परन्तु विश्वयुद्ध के पश्चात् कुछ घटनाओं ने अंग्रेजों के प्रति उनकी सारी आस्था को समाप्त कर दिया ।

रौलेट एक्ट, जिसके अनुसार किसी भी भारतीय पर शान्ति भंग करने का आरोप लगाकर बिना मुकदमा चलाये जेल में डाला जा सकता था, ने पहले विस्फोटक के रूप में कार्य किया। सामान्य प्रदर्शनों का नेतृत्व करके गांधीजी ने इस एक्ट का घोर विरोध किया। ऐसा ही एक प्रदर्शन जलियांवाला बागb में हुआ जहाँ अंग्रेज सरकार के 'वीर सिपाहियों' ने ऐसा नृशंस कृत्य किया कि वीरता सदा के लिए लज्जित हो गयी । निहत्थे और निर्दोष भारतीय बालकों, युवकों और वृद्धों पर बिना पूर्व सूचना के गोली वर्षा, अंग्रेजों के गोरे चेहरों पर एक बदनुमा दाग बन गयी। सम्पूर्ण देश में विरोध की अग्नि फैल गयी ।

अप्रैल 1921 में खिलाफत आन्दोलन के साथ ही असहयोग आन्दोलन का बिगुल बजा दिया गया। गाँधीजी द्वारा फूंके हुए इस शंखनाद ने देश के नगर-नगर में, गाँव-गाँव में राष्ट्रीय जागरण की लहर दौड़ा दी। प्रारंभ में अंग्रेजों ने इस सत्याग्रह आन्दोलन को मूर्खतापूर्ण कार्य (The most foolish of all foolish schemes) कहा। शीघ्र ही उन्हें ज्ञात हो गया कि अहिंसा का अस्त्र बन्दूकों और तलवारों से अधिक प्रभावशाली होता है, परन्तु चौरी-चौरा की एक घटना के कारण इस आन्दोलन को उस स्थिति में गांधीजी ने बन्द करने की घोषणा कर दी जब वह अपने चर्मोत्कर्ष पर था। जब सफलता भारतीय जनता के चरण चूमने को तत्पर थी तब गाँधीजी ने जनता के पाँव पीछे हटा दिये। गाँधीजी के व्यक्तिगत सिद्धान्तों की दृष्टि से यह कदम चाहे ठीक हो उनके इस कदम को उचित कहना कठिन है। आन्दोलन की असफलता से सम्पूर्ण देश में साम्प्रदायिकता की अग्नि भड़क उठी। स्थान- स्थान पर आपसी दंगे हुए, पारस्परिक वैमनस्य बढ़ गया।

सन् 1931 में गाँधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। जनता की उनके प्रति असीम श्रद्धा और अटूट विश्वास ने आन्दोलन को बहुत व्यापक स्वरूप

दिया। उनकी एक आवाज पर लाखों नर-नारी जेल जाने को तैयार हो जाते। अभी यह आन्दोलन सफलतापूर्वक चल ही रहा था कि उनका लार्ड इरविन से समझौता हो गया । समझौते के फलस्वरूप गाँधीजी ने आन्दोलन बन्द करके दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में भाग लेना स्वीकार किया

गोलमेज कान्फ्रेंस की असफलता के बाद गाँधीजी 1934 में वर्धा आश्रम में समाज सुधार के कार्य में जुट गये। सन् 1939 में, दूसरा विश्वयुद्ध होने तक वे शान्त ही रहे, परन्तु युद्ध के प्रारंभ होने पर भारतीयों की इच्छा जाने बिना अंग्रेजों ने भारत को युद्ध में शामिल कर लिया। 8 अगस्त, 1945 को गाँधीजी ने अंग्रेजों 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चलाया। वे गिरफ्तार कर लिये गये। युद्ध की समाप्ति पर उन्हें रिहा कर दिया गया।

सन् 1947 में भारत का विभाजन और स्वतन्त्रता दोनों घटनाएँ एक साथ हुईं। प्रारंभ में गांधीजी ने विभाजन का विरोध किया। उन्होंने घोषणा की कि - "भारत का विभाजन मेरी लाश पर होगा।" परन्तु परिस्थितियों के आगे उनकी एक न चली। अपने जीवन में अपने सिद्धान्तों और आदर्शों की यथार्थ द्वारा होने वाली हत्या से वे बहुत दुःखी हुए। 15 अगस्त को स्वाधीनता दिवस पर उनसे खुशियों में शामिल नहीं हुआ जा सका ।

स्वाधीनता के पश्चात् दोनों देशों में साम्प्रदायिकता का दावानल भड़क उठा । इन्सान पशु बन गया। धर्म, द्वेष और घृणा के नाम पर खून की होली खेली गयी। आजादी के बाद गांधीजी का सारा जीवन साम्प्रदायिकता की इस भयंकर आग को शान्त करने में लग गया। एक बार फिर उन्हें असफलता हाथ लगी। उनकी प्रार्थनाओं का असर इन्सानों पर हो सकता था, हिन्दुओं और मुसलमानों पर नहीं । 30 जनवरी, 1948 को एक 'वज्रमूर्ख' द्वारा उनकी हत्या का दर्दनाक दुस्साहस किया गया। 'राम-राम' कहते-कहते भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का अमर सेनानी चल बसा ।

वास्तव में देखा जाये तो गांधीजी का सारा जीवन त्याग और तपस्या की कहानी है। उन्होंने भौतिकवाद की ओर अग्रसर संसार को एक नवीन सन्देश दिया। अहिंसा की विलक्षण शक्ति गांधीजी के हाथ में आकर एक बार फिर

चमक उठी। सारा भारत उनके चरणों पर न्योछावर था। उन्हें 'राष्ट्रपिता' कहकर सम्बोधित किया गया।

शताब्दियों तक पराधीनता के पाश में जकड़े हुए भारत को महात्मा गांधी ने स्वाधीनता का उज्ज्वल प्रकाश प्रदान किया। इससे भी बड़ी विशेषता गाँधीजी के जीवन की सादगी और सरलता है। स्वतन्त्रता के लिए प्रयास के साथ उन्होंने रचनात्मक कार्यों की ओर ध्यान दिया। हरिजन उद्धार, स्त्री शिक्षा, बुनियादी शिक्षा, मद्यपान निषेध, खादी एवं स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, कुटीर उद्योगों का विकास, आदि क्षेत्रों में उन्होंने विशेष कार्य किया।

विचारक पता नहीं उनमें क्या जादू था कि परस्पर विरोधी विचारधारा के लोग भी उनके चरणों में खिंचे चले आते थे। एक ओर सेठ बिड़ला और जमनालाल बजाज उनके भक्त थे तो दूसरी ओर आचार्य कृपलानी और जयप्रकाश नारायण जैसे उनके अनुयायी। सरदार पटेल जैसे कर्मयोगी, पण्डित नेहरू जैसे क्रांतिकारी, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जैसे साधु पुरुष, राजाजी जैसे कूटनीतिज्ञ, मौलाना आजाद जैसे विद्वान और विनोबा जैसे धार्मिक धुरंधर तथा मोतीलाल जैसे नास्तिक - सभी तो बिना तर्क-वितर्क के उनकी आज्ञा के सम्मुख सिर झुका देते थे। पण्डित मोतीलाल नेहरू ने एक बार उनसे कहा था- "मुझे आपके आध्यात्मिक सिद्धान्त में कोई विश्वास नहीं है। न ही मुझे इस जन्म में भगवान आप पर विश्वास हो सकता है। मैं पक्का नास्तिक हूँ। फिर भी कठिनाई यह है कि आप हमारे ही शस्त्रों से हमें पराजित कर देते हैं।"

5.4 गांधीवाद से तात्पर्य (Meaning of Gandhism)

गांधीवाद से अभिप्राय है गांधीजी के सिद्धान्तों, विचारों और मन्तव्यों का समूहीकरण। गांधीजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को गांधीवाद का नाम दिया जाता है। महात्मा गांधी एक श्रेष्ठ राजनीतिक, प्रथम कोटि के समाज-सुधारक, महान राष्ट्रीय नेता और प्रगाढ़ देशभक्त थे। लेकिन उनका सुस्पष्ट राजनीतिक दर्शन था या नहीं, इस बारे में अधिकांश लोगों को सन्देह है। महात्मा गांधी, हाब्स, लॉक या रूसो की भाँति ऐसे राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे, जिन्होंने अपना समय किसी सुसम्बद्ध राजनीतिक दर्शन के निर्माण में लगाया हो।

उनका वास्तविक उद्देश्य भारत का और फिर सारे संसार का सत्य और अहिंसा के आदर्शों पर नये सिरे से निर्माण करना था। भारत की स्वतन्त्रता इस लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधन मात्र थी। ऐसी स्थिति में गांधीजी ने समय-समय पर अपने लेखों, भाषणों और पत्रों में भावी समाज व्यवस्था के बारे में अपने विचार प्रकट किये थे, जिनके अनुशीलन से यह भली प्रकार ज्ञात हो जाता है कि गांधीजी ने एक नूतन राजनीतिक दर्शन की प्रतिष्ठा की है। गांधीजी की शिक्षाओं को अक्सर 'गांधीवाद' के नाम से सम्बोधित किया गया है। पर इस शब्द पर उन्हें स्वयं आपत्ति थी। उनका कहना था, “गांधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है और मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय छोड़ना नहीं चाहता। मैं कभी इस बात का दावा नहीं करता कि मैंने कोई नया सिद्धान्त चलाया है। मैंने शाश्वत सत्यों को अपने नित्य के जीवन और प्रश्नों से सम्बद्ध करने का प्रयास अपने ढंग से किया है.....आप लोग इसे गांधीवाद न कहें, इसमें वाद जैसा कुछ भी नहीं है।"

गांधीजी के विचारों को 'गांधी मार्ग' कहा जा सकता है। दक्षिणी अफ्रीका और भारत के जन-आन्दोलनों को गांधीजी ने एक विशिष्ट पद्धति और दृष्टिकोण से संचालित किया। यह पद्धति और दृष्टिकोण इतिहास में सर्वथा नयी चीज थी। गांधीजी ने इतिहास में पहली बार सत्य, अहिंसा और प्रेम के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का राजनीति के क्षेत्र में इतने विशाल पैमाने पर प्रयोग किया और इसमें सफलता प्राप्त की। अतः यदि गांधीजी के विचारों को गांधी मार्ग, गांधी दर्शन या गांधीवाद कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। ना फिर भी 'गांधीवाद' शब्द बड़ा लोकप्रिय हो चुका है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कराची में, गांधी-इर्विन समझौते के बाद एक सार्वजनिक सभा में गांधीजी ने अपने एक महत्वपूर्ण वाक्य में किया था, जब उन्होंने कहा था "गांधी मर सकता है पर गांधीवाद सदा जीवित रहेगा।" दो कारणों से गांधीजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को 'गांधीवाद' का नाम दिया जाता है-प्रथम, गांधीजी ने प्राचीन सिद्धान्तों का प्रयोग वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुसार नये ढंग से और नये रूप में किया है। दूसरा, कारण यह था कि गांधीजी ने सत्य, अहिंसा, आदि के पुराने सिद्धान्तों के प्रयोग के क्षेत्र में एक बड़ी क्रांति की। उनसे पहले

इनका प्रयोग वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन तक ही सीमित था, उन्होंने सर्वप्रथम इनको सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में प्रयुक्त किया। डॉ. पट्टाभिसीतारमैया के अनुसार, "वस्तुतः उन सिद्धान्तों और नीतियों से मिलकर ही गांधीजी का दर्शन बना है, जिसकी पैरवी वे करते हैं और गांधीवाद से अभिप्राय उस दर्शन से है जिसने उनके जीवन और चरित्र, उनके कार्य और सिद्धियों को, उनके उपदेशों और शिक्षाओं को नया रूप प्रदान किया है।

यह ठीक है कि गांधी जी द्वारा लिखी हुई सामग्री एक जगह संकलित न होकर यत्र-तत्र बिखरी हुई है और मार्क्सवाद लेनिनवाद की तरह गांधीवाद नहीं है तथापि एक जीवन मार्ग के रूप में गांधीवाद में वे समस्त विशिष्टताएँ हैं जो एक 'वाद' के लिए आवश्यक होती हैं। इसका एक निश्चित जीवन दर्शन है, इसके कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं जिनसे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के निराकरण की एक विशिष्ट विचारधारा और तकनीक का निर्माण किया गया है। एक जीवन मार्ग के रूप में 'दर्शन' कहलाने के सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। अपने इस अर्थ में गांधीवाद का न केवल अस्तित्व है बल्कि उसका भविष्य भी बड़ा दैदीप्यमान है और यह एक ऐसी विचारधारा है जो मानवता को उस विनाश से बचा सकती है जिससे आज वह भयग्रस्त है।

5.5गांधीजी की कृतियाँ (Works of Gandhiji)

गाँधीजी ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रमुख रूप से दो पुस्तकों में 'हिन्द स्वराज, (Hind Swaraj) तथा अपनी 'आत्मकथा' में किया है जिसका नाम 'मेरे सत्य प्रयोग' (My Experiments with Truth) रखा गया है। उनकी अन्य रचनाएँ हैं- 'शान्ति और युद्ध में अहिंसा' (Non-Violence in Peace and War), 'नैतिक धर्म' (Ethical Religion), 'सत्याग्रह '(Satyagrah), 'सत्य ही ईश्वर है' (Truth is God), 'सर्वोदय' (Sarvodaya), आदि। इसके अतिरिक्त गांधीजी ने दक्षिणी अफ्रीका में 'इण्डियन ओपीनियन' (Indian Opinion) नामक साप्ताहिक पत्र का, भारत में यंग इण्डिया (Young India), हरिजन (Harijan), नवजीवन, हरिजन सेवक, हरिजन बन्धु, आदि पत्रों का सम्पादन करते हुए

अपने विचारों का प्रतिपादन किया। सन् 1969 में 'गांधी शताब्दी वर्ष' कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा गाँधीजी के सभी लेखों और भाषणों के प्रमाणित संग्रह कई खण्डों में प्रकाशित किये गये हैं।

5.6 गांधीवादी दर्शन के तात्विक आधार धर्म, ईश्वर और सत्य (Metaphysical Basis of Gandhian Thoughts: Religion, God and Truth)

गांधी जी के पूर्व धर्म पर बहुत अधिक विचार हो चुका था, किन्तु तत्कालीन इतिहास और समाज में धर्म के विकृत रूप का दर्शन करने के कारण और संघर्ष, शोषण, अनैतिकता, पाखण्ड, अन्धविश्वास, आदि दोषों से धर्म को आच्छादित देखने के कारण उन्हें इसी समस्या पर पुनः विचार करना पड़ा। गांधीजी ने विश्व के विभिन्न प्रमुख धर्मों का सूक्ष्म अध्ययन किया और उन्हें यह बोध हुआ कि सर्वसाधारण में धर्म की जो अवधारणा प्रचलित है वह नितान्त भ्रामक है। इसलिए उन्होंने अपने प्रयोगों और निष्कर्षों के आधार पर पुनः व्यापक धर्म की व्याख्या प्रस्तुत की।

गांधीजी ने धर्म को जीवन और समाज का आधारभूत तत्व स्वीकार किया जिसे निकाल देने से व्यक्ति और समाज दोनों निष्प्राण और शून्य हो जाते। गांधीजी ने अपने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा

"धर्म से मेरा अभिप्राय औपचारिक या रूढ़िगत धर्म से नहीं, परन्तु उस धर्म से है जो सब धर्मों की बुनियाद है और जो हमें अपने सृजनहार का साक्षात्कार कराता है...।"

"धर्म हमारे हर काम में समाया हुआ होना चाहिए। यहाँ धर्म का अर्थ सम्प्रदायवाद नहीं है। यह धर्म हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत, आदि से परे है..।"

"मनुष्य धर्म के बिना जी नहीं सकता। कुछ लोग अपनी बुद्धि के घमण्ड में कह देते हैं कि उन्हें धर्म से कोई वास्ता नहीं, परन्तु यह ऐसी ही बात है जैसे कोई मनुष्य यह कहे कि वह साँस लेता है, परन्तु उसके नाक नहीं है।"

गांधीजी का धर्म मूलतः मानवतावादी है। उसका चरम लक्ष्य मानव सेवा है। गांधी धर्म के प्रमुख तत्व हैं सत्य और प्रेम अथवा अहिंसा। वे व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और आचरणात्मक पक्षों को धर्म से संयुक्त करते हैं। उनकी निष्ठा धर्मानुप्राणित व्यक्तित्व में है।

गांधीजी ने अपने धर्म को वैज्ञानिक स्वरूप से युक्त बनाया है। विज्ञान सृष्टि के रहस्यों को समझता है और प्रयोग तथा प्रमाण में जो कुछ सत्य होता है उसे क्रमबद्ध ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करता है। गांधीजी के ज्ञान और धर्म में सत्य शोध का सर्वोत्तम स्थान है, अतः उनके धर्म और विज्ञान के लक्ष्य में पूर्ण समानता है। विज्ञान रूढ़ि, अंधविश्वास, आदि को महत्व नहीं देता और गांधीजी का धर्म भी रूढ़ि अन्धविश्वास का घोर विरोधी है। उन्हीं के शब्दों में, "मैं किसी ऐसे धार्मिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता जो बुद्धि को न जँचे और नैतिकता के विरुद्ध हो। मैं किसी धर्मग्रन्थ के वचनों को अपनी बुद्धि पर हावी नहीं होने देता"। गांधीजी ने धर्म और संस्कृति को भी संयुक्त किया है। उन्होंने आदर्श सांस्कृतिक प्रतिमानों की रूपरेखा प्रस्तुत की है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह; ये पाँच बातें धर्म पालन के लिए आवश्यक हैं। ये प्राकृतिक और ईश्वरीय नियम हैं और इनका पालन मानव जीवन के लिए सार्वभौमिक मूल्य है। गांधीजी का कहना है कि संस्कृति के विभिन्न प्रतिमान इन्हीं मूल्यों पर आधारित होने चाहिए। गाँधीजी का धर्म सह-अस्तित्व का धर्म है, सहिष्णुता का धर्म है। गांधीजी सभी धर्मों की समानता में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि कोई भी धर्म दूसरे धर्मों से श्रेष्ठतर होने का दावा नहीं कर सकता, अतः सभी धर्म समान हैं। एक ही लक्ष्य पर पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं।

गांधीजी धर्म परिवर्तन को नापसन्द करते थे। उनकी स्वधर्म अर्थात् हिन्दू धर्म में गहन आस्था थी क्योंकि हिन्दू धर्म अन्य धर्मों के साथ शान्तिपूर्वक रहता है और यह दावा नहीं करता कि सत्य एकमात्र उसी में है।

5.7 राजनीति का आध्यात्मीकरण

राजनीति का आध्यात्मीकरण

(राजनीति का आध्यात्मिकीकरण)

राज्य को धर्म रहित बनाने में 15वीं शताब्दी के इटली के मैकियावली का बड़ा योग रहा। उसने यह प्रतिपादित किया कि राजनीतिक सफलता से लिए नीति और धर्म को राजनीति से पूर्णतः पृथक रखना चाहिए। उसने कुटिल राजनीति का समर्थन किया। मध्ययुग में तथाकथित धर्म ने राजनीति पर नियंत्रण करके समाज का बहुत अहित किया था। अतः प्रतिक्रियास्वरूप धर्मनिरपेक्ष राजनीति को समर्थन मिला, किन्तु धर्म निरपेक्ष होकर राजनीति पूर्णतः स्वच्छन्द और कुपथगामिनी हो गयी, धूर्तता का पर्याय बन गयी, मानवता के विनाश का एक कारण हो गयी। धर्म को 'अफीम की गोली' बताकर उसे त्याज्य और घृणित स्वरूप प्रदान किया गया।

महात्मा गांधी का उद्‌भव भी इसी मैकियावलीय राजनीति के युग में हुआ, किन्तु इस धार्मिक और आध्यात्मिक सन्त ने राजनीति के विकृत रूप को स्वीकार नहीं किया। गांधीजी ने स्पष्ट घोषणा की कि धर्म के बिना राजनीति पाप है। उन्होंने राजनीति के प्रचलित मूल्यों को अस्वीकार किया और राजनीति में शुद्‌ध धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए पूर्ण प्रयत्न किया।

महात्मा गांधी ने राजनीति का आध्यात्मीकरण किया। उनका विश्वास था कि यदि राजनीति को मानव समाज के लिए वरदान होना है तो उसे उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक सिद्‌धान्तों पर आधारित होना चाहिए। उन्होंने राजनीति को उच्च नैतिकता और धार्मिक भावना से ओत-प्रोत किया। वे धर्म और राजनीति को पृथक नहीं मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है वे यह नहीं जानते कि धर्म का क्या अर्थ है।"

गांधीजी मूलतः धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और जिस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में धर्म का निर्वाह किया, उस आधार पर उन्हें भारतीय परम्परा का एक महान् सन्त कहा जा सकता है। वे प्राणी मात्र की सेवा को ही वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का मूल तत्व मानते थे और उनका कथन था कि " मानव क्रियाओं से पृथक कोई धर्म नहीं।" इसी प्रकार वे राजनीति शब्द में 'नीति' अर्थात् धर्म और मानवता को प्राथमिकता देते थे, 'राज' अर्थात् सत्ता को नहीं। धर्म के सम्बन्ध में अपने इस लौकिक दृष्टिकोण के कारण ही गांधीजी ने राजनीति में प्रवेश कर राजनीति में नीति के महत्व का प्रतिपादन किया। उन्होंने राजनीति में प्रवेश इसलिए किया क्योंकि राजनीति धर्म विहीन होती जा रही थी और उसमें धर्म की पुनर्स्थापना करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। उन्हीं के शब्दों में, "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ तो केवल इसलिए कि राजनीति हमें एक साँप की तरह चारों ओर से घेरे हुए है मैं इस साँप से लड़ना चाहता हूँ... मैं राजनीति में धर्म का प्रवेश चाहता हूँ।" इस कथन से यह स्पष्ट होता हैकि राजनीतिक क्षेत्र में जो भी कार्य गांधीजी कर रहे थे वे धार्मिक कार्य ही थे। वे उनसे अलग नहीं रह सकते थे क्योंकि उनका उनके जीवन से अविभाज्य सम्बन्ध था ।

गांधीजी एक महान कर्मयोगी थे जो जीवन को एक ऐसी अविभाज्य इकाई समझते थे जिसकी विभिन्न क्रियाओं को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता और इसलिए वे यह मानते थे कि उन्होंने अपने धार्मिक कर्तव्यों के एक अंग के रूप में ही राजनीति में भाग लिया है। उन्होंने राजनीति में धर्म का समावेश करके नैतिकता के उस दोहरे मापदण्ड को मिटाने का प्रयास किया जो ऐसे शब्दों में निहित होता है कि, "राजनीति- राजनीति है" और "व्यापार-व्यापार है।" उनका यह विश्वास था कि यदि जीवन के लौकिक तथा धार्मिक पक्षों के मध्य पार्थक्य की एक दीवार खड़ी कर दी गयी तो न केवल धर्म का प्रतिष्ठित स्थान जाता रहेगा बल्कि वह अपने उस वास्तविक कार्य को करना भी बन्द कर देगा जिसके लिए उसका अस्तित्व है।

. गांधीजी के अनुसार राजनीति देश-धर्म है, उससे अलग होकर व्यक्ति आत्मघात करता है। निष्प्राण मूर्ति पूजा के स्थान पर वे मानव पूजा में विश्वास

करते थे। गांधीजी के लिए, "धर्म से अलग होकर राजनीति एक मृत देह के समान थी जिसको जला देना ही उचित था।" राजनीति उनकी दृष्टि में धर्म और नैतिकता की एक शाखा थी। उनके मतानुसार राजनीति शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं है, बल्कि वह लाखों पद-दलितों को सुन्दर जीवन-यापन करने के योग्य बनाने, मानव के गुणों का विकास करने, उन्हें स्वतन्त्रता एवं बंधुत्व तथा आध्यात्मिक गहराइयों एवं सामाजिक समानता के बारे में प्रशिक्षित करने का निरन्तर प्रयास है।

राजनीति को धर्मानुमोदित मानने से गांधीजी का यह अभिप्राय नहीं है कि राजसत्ता धर्माधिकारियों के हाथों में सौंपी जानी चाहिए अथवा राज्य को किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष का प्रचारक बनना चाहिए। उनकी आदर्श सर्वोदय - समाज-व्यवस्था में तो राज्यधर्म निरपेक्ष है, जिसका आशय है कि राज्य के नागरिकों को निर्विवाद रूप से स्वधर्म पालन का पूर्ण अधिकार हो, राज्य न किसी धर्म का संरक्षण करे और न किसी धर्म के उचित विकास में ही बाधक हो। राज्य का अपना कोई विशेष धर्म या सम्प्रदाय न हो, किन्तु राज्य धर्म-रहित भी न हो, अर्थात् राजनीति धर्म के सार्वभौमिक नियमों - सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि का पूर्ण पालन करे।

गांधीजी ने धर्म व राजनीति के एक होने का प्रमाण अपने कार्यों से दिया। उन्होंने देशी साधन से भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन को एक साधु की तरह चलाया। उन्होंने प्रेम तथा अहिंसा पर आधारित आत्मा की नैतिक शक्ति से ब्रिटिश हुकूमत का सामना किया। उन्होंने झूठे कानूनों का शान्तिपूर्ण विरोध तथा झूठे कानूनों को बनाने वाले शासकों से शान्तिपूर्ण असहयोग का मार्ग निर्धारित किया। शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार ने अन्त में अपने आपको उनके अहिंसात्मक विद्रोह के सामने असहाय अनुभव किया और वह जनता के प्रतिनिधियों को शासन सत्ता सौंपकर बुद्धिपूर्वक हट गयी।

गांधीजी नैतिकता और शुद्ध आचार-विचार को ही सच्चा धर्म मानते थे और उन्होंने राजनीति में भी नैतिक मूल्यों को महत्व दिया। उनकी दृष्टि में वह राजनीति हिंसक है जो जीवन के आधारभूत सत्यों को लेकर नहीं चलती ।

दरअसल गांधीजी पहले धार्मिक और फिर राजनीतिज्ञ थे। वे राजनीति में पड़ने पर नीति, धर्म या नैतिकता को नहीं छोड़ सकते थे। वे मन और कर्म से धार्मिक-आध्यात्मिक थे, अतः राजनीति में भी उन्होंने सफल प्रयोग करके प्रदर्शित कर दिया कि धर्म पर आधारित राजनीति का सिद्धान्त अव्यावहारिक नहीं है, अपितु पूर्ण व्यावहारिक है।

5.8 गांधीजी की अहिंसा अवधारणा(Gandhian Concept ot Non-Violence

गांधीजी की अहिंसा अवधारणा

(Gandhian Concept of Non-Violence)

प्राचीन काल से भारत में अहिंसा का अत्यधिक महत्व रहा है। योग दर्शनकार पातंजलि ने आत्मशुद्धि की साधना के पाँच यमों में अहिंसा को पहला स्थान दिया है। जैन धर्म में अहिंसा का अत्यधिक महत्व रहा है। महात्मा गांधी पर इंग्लैण्ड से लौटने के बाद रामचन्द्र नामक जैन विद्वान का बड़ा प्रभाव पड़ा। भगवान बुद्ध ने घोषणा की थी- वैर का अन्त वैर से नहीं, किन्तु प्रेम से होता है।

गांधीजी ने उपर्युक्त भारतीय परम्परा से तथा बाइबिल के पर्वत प्रवचन से तथा टॉलस्टाय के ग्रन्थों से अहिंसा के सिद्धान्त को ग्रहण किया, किन्तु उन्होंने अनेक क्षेत्रों में इसका व्यावहारिक प्रयोग करके इसकी सफलता को निर्विवाद रूप से ग्रहण किया।

अहिंसा का अर्थ अहिंसा (Non-Violence) का शाब्दिक अर्थ है हिंसा या हत्या न करना। हिंसा का अर्थ किसी भी जीव को स्वार्थवश, क्रोधवश या दुःख देने की इच्छा से कष्ट पहुँचाना या मारना है। हिंसा के मूल में स्वार्थ, क्रोध या विद्वेष भावना होती है। इसके विपरीत अहिंसा के अनुयायी को इन सभी भावनाओं पर विजय पाते हुए प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और मैत्री की भावना रखनी होती है, जिसे गांधीजी अहिंसा कहते हैं।

गांधीजी के लिए अहिंसा का अर्थ अत्यन्त व्यापक है जिसमें कार्य ही नहीं, अपितु विचार में भी सावधान रहना आवश्यक है। किसी को न मारना अहिंसा का एक अंग अवश्य है, किन्तु अहिंसा में इसके अतिरिक्त और भी कुछ है। कुविचार मात्र हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत को जिस चीज की आवश्यकता है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।

अहिंसा के दो पक्ष अहिंसा के दो पक्ष हैं- नकारात्मक (Negative) **तथा सकारात्मक (**Positive)

किसी प्राणी को काम, क्रोध तथा विद्वेष से वशीभूत होकर हिंसा न पहुँचाना इसका नकारात्मक रूप है, किन्तु इससे अहिंसा का पूरा स्वरूप समझ में नहीं आता है। अहिंसा का यथार्थ स्वरूप तो हमें इसके भावात्मक पक्ष से पता लगता है। भावात्मक अथवा सकारात्मक स्वरूप वाली अहिंसा को सार्वभौम प्रेम और करुणा की भावना कहा जाता है। इसके चार मूल तत्व प्रेम, धैर्य, अन्याय का विरोध और वीरता

जिस प्रकार हिंसा का आधार विद्वेष होता है उसी प्रकार अहिंसा का आधार प्रेम है। अहिंसा का व्रत लेने वाला साधक अपने उग्रतम शत्रु से भी वैसा प्रेम रखता है जैसे पिता बुरा कार्य करने वाले अपने पुत्र से स्नेह करता है। वह शत्रु की बुराई से घृणा करता है न कि शत्रु से। अहिंसा तथा प्रेम की शक्ति से वह शत्रु की बुराई दूर करने का यन करता है। वह स्वयं प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहन कर लेता है, किन्तु शत्रु को कष्ट नहीं पहुँचाता। अहिंसा का दूसरा तत्व अनन्त धैर्य है। यदि अहिंसक को अपने प्रयत्न में जल्दी सफलता नहीं मिलती तो वह निराश नहीं होता। उसे दृढ़ विश्वास रहता है कि अहिंसा अचूक बाह्यशास्त्र है, वह अन्त में अवश्य सफल होगी। भारी असफलताएँ मिलने के बावजूद अहिंसक हिम्मत नहीं हारता और धैर्यपूर्वक अपने पथ पर आगे बढ़ता रहता है। अहिंसा का तीसरा तत्व अन्याय का प्रतिरोध करना है। अहिंसा निष्क्रियता या उदासीनता नहीं है, अपितु बुराई का तथा अन्याय का सतत् प्रतिकार करते रहना है। अहिंसक अन्यायी के अत्याचारों से घबड़ाता नहीं है अपितु वीरतापूर्वक उनका सामना करता है अतः अहिंसा का चौथा मूल तत्व वीरता है। गांधीजी ने इस पर

बहुत बल दिया है। उनके मतानुसार अहिंसा साहसी और वीर पुरुषों का गुण है, निर्बलों और कायरों का हथियार नहीं। अन्धकार और प्रकाश की तरह कायरता और अहिंसा में विरोध है। अहिंसा के प्रयोग तभी महत्व रखते हैं जब हम बलवान होते हुए तथा पशुबल का पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी इसका प्रयोग न करें । अहिंसक योद्धा का सबसे बड़ा गुण वीरता और निर्भयता है। इसमें शस्त्र युद्ध की अपेक्षा अधिक साहस अपेक्षित है।

अहिंसा का आधार - गांधीजी की अहिंसा का आधार अद्वैत की भावना है। उनका विश्वास था कि सृष्टि की सभी वस्तुओं में एक ही चेतना सत्ता या ब्रह्म ओतप्रोत है। सभी में भगवान का दिव्य अंश है। जब सब कुछ भगवान का रूप है और मैं भी वास्तव में उसी का रूप हूँ तो मैं किसी से कैसे द्वेष कर सकता हूँ। यह अद्वैत की भावना सृष्टि के सभी प्राणियों के प्रति मुझे आत्मरूप होने के कारण प्रेम और अहिंसा के धर्म का पालन करने के लिए बाधित करती है।

निरपेक्ष अहिंसा और अनिवार्य हिंसा- निरपेक्ष अहिंसा का अर्थ है- हिंसा से पूर्ण मुक्ति अर्थात् अज्ञान पर आधारित दुर्भावना, क्रोध और घृणा से छुटकारा और सबके प्रति विवेकपूर्ण प्रेम का बाहुल्य । निरपेक्ष अहिंसा के दृष्टिकोण से प्रत्येक प्रकार की हिंसा त्याज्य है। लेकिन इस प्रकार की अहिंसा पूर्णता की स्थिति है और वह तभी प्राप्त हो सकती है जब मन, वचन और कर्म में पूर्ण समन्वय हो । समग्र अहिंसा एक शक्ति है और निरपेक्ष अहिंसा असीम शक्ति है। लेकिन इस प्रकार की निरपेक्ष अहिंसा केवल ईश्वर का गुण है। अपूर्ण मनुष्य जिस प्रकार निरपेक्ष अहिंसा को नहीं जान सकता, उसी प्रकार वह अहिंसा का पूर्ण अर्थ भी नहीं जान सकता और न उसे पूरी तरह व्यवहार में उतार सकता है ।

गांधीजी के अनुसार 'मनुष्य अहिंसा से पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सकता। जब तक वह सामाजिक प्राणी है उसको उस हिंसा में भाग लेना ही पड़ेगा, जो समाज के अस्तित्व के कारण ही होती है।' इसके अतिरिक्त, जीवन विनाश की श्रृंखला में बँधा हुआ है और हिंसा शारीरिक जीवन की अन्तर्निहित आवश्यकता है। इसलिए कोई भी मनुष्य हिंसा से पूर्णतः मुक्त नहीं रह सकता। इस प्रकार

मनुष्य के रहने, खाने, पीने और इधर-उधर घूमने-फिरने में आवश्यक रूप से जीवन का विनाश होता है- ये जीव चाहे जितने छोटे क्यों न हों। कुछ जीव हिंसा मनुष्य को अपने शरीर के भरण-पोषण के लिए ही नहीं, वरन् अपने आश्रितों की रक्षा के लिए भी करनी पड़ती है। यह अनिवार्य हिंसा है और वैध मानी गयी है।

खाने-पीने इत्यादि में होने वाली हिंसा के अतिरिक्त गांधीजी ने अपने लेखों में कुछ ऐसे भी उदाहरण दिये हैं, जिनमें हिंसा से बचाव नहीं हो सकता। इनमें से कुछ हैं: पागल कुत्तों को और इधर-उधर घूमने वाले कुत्तों को, जो समाज के लिए संकटमय हो जायें, मार देना; इसी प्रकार संकटमय स्थिति में साँपों, बाघों आदि को मारना, प्लेग के कीटाणुयुक्त चूहों, पिस्सुओं और मच्छरों, आदि का विनाश; ऐसे मनुष्यों को मार देना जो अपने आश्रित की हत्या करने को हो और जिसको किसी अन्य प्रकार से रोका नहीं जा सकता; पागल के साथ बल प्रयोग आदि, लेकिन ये आज धर्म के दृष्टान्त हैं और उनका स्रोत है मनुष्य की अपूर्णता। ये जीवन के सर्वोच्च नियम के रूप में अहिंसा की मान्यता को अप्रमाणित करने वाले अपवाद नहीं हैं। जितना ही मनुष्य का पूर्णता की ओर विकास होगा उतना ही इन संकटपूर्ण स्थितियों में अहिंसक व्यावहारिक पद्धति का उसका ज्ञान बढ़ेगा और हिंसात्मक युक्तियों के प्रयोग की आवश्यकता घटेगी।

गांधीजी के अनुसार यदि मनुष्य को सच्चा अहिंसावादी बने रहना है, तो यह आवश्यक है कि जो अनिवार्य हिंसा उसे करनी पड़े वह स्वाभाविक हो और कम से कम हो, उसकी जड़ दया में हो और उसके पीछे विवेक, नियंत्रण और अनासक्ति हो। अहिंसावादी को अनिवार्य हिंसा तभी करनी चाहिए, जब उससे बचने का कोई रास्ता न हो ।

अहिंसा की तीन अवस्थाएँ- गांधीजी ने अहिंसा की निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ बतायी है:

(1) **जागृत अहिंसा (**Enlightened Non-Violence)- इसे वीर पुरुषों की अहिंसा भी कहते हैं। इसको अपनाने वाले अहिंसा को बोझ समझकर स्वीकार नहीं

करते, वरन् आन्तरिक विचारों की उत्कृष्टता या नैतिकता के कारण स्वीकार करते हैं। सबल व्यक्ति इसे अपनाते हैं और वे शक्ति सम्पन्न होकर भी शक्ति का तनिक- सा भी प्रयोग नहीं करते। अहिंसा के इस स्वरूप को केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में दृढ़ता के साथ अपनाया जाना चाहिए।

(2) **औचित्यपूर्ण अहिंसा (**Reasonable Non-violence) -इस प्रकार की अहिंसा वह है जो जीवन के किसी क्षेत्र में विशेष आवश्यकता के पड़ने पर औचित्यानुसार (According to Expediency) एक नीति के रूप में अपनायी जाती है। यह अहिंसा निर्बल व्यक्तियों की अहिंसा है या असहाय व्यक्तियों का निष्क्रिय प्रतिरोध । इनमें नैतिक विश्वास के कारण नहीं, वरन् निर्बलता के कारण ही अहिंसा का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि यह अहिंसा जाग्रत अहिंसा की भाँति प्रभावशाली नहीं है फिर भी यदि इसका पालन ईमानदारी, सच्चाई और दृढ़ता से किया जाए तो इससे कुछ सीमा तक वांछित लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

(3) **कायरों की अहिंसा (**Non-violence of the Cowards) - कई बार डरपोक तथा कायर लोग भी अहिंसा का दम्भ भरते हैं। गांधीजी ऐसे लोगों की अहिंसा को अहिंसा न मानकर 'निष्क्रिय हिंसा (Passive violence) मानते हैं। उनका विश्वास था कि 'कायरता और अहिंसा पानी और आग की भाँति एक साथ नहीं रह सकते।' अहिंसा वीरों का धर्म है और अपनी कायरता को अहिंसा की ओट में छिपाना निन्दनीय तथा घृणित है। यदि कायरता और हिंसा में से किसी एक का चुनाव करना हो तो गांधीजी हिंसा को स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह स्पष्ट विचार है कि, "यदि हमारे हृदय में हिंसा भरी हो तो हम अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए अहिंसा का आवरण पहनें, इससे हिंसक होना अधिक अच्छा है।" वस्तुतः गांधीजी कायरता के पक्ष में कभी नहीं थे ।

अहिंसा की श्रेष्ठता- गांधीजी इतिहास के आधार पर अहिंसा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। द्वन्द्वात्मक संघर्ष में विश्वास रखने वाले कार्ल मार्क्स से सर्वथा विपरीत वे मानव समाज के इतिहास को उसकी अहिंसा का निरन्तर

अग्रगामी विकास मानते हैं। अहिंसा आत्मा की शक्ति है। प्रेम की शक्ति है। सतत क्रियाशील है। वह शक्तिशाली आभूषण है।

गांधीजी की अहिंसा की विशेषताएँ- गांधीजी की अहिंसा की दो बड़ी विशेषताएँ हैं : पहली विशेषता इसका सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन है तथा दूसरी इसके क्षेत्र का विस्तार करके इसे नयी गति तथा नया विस्तार प्रदान करना है।

पहली विशेषता- गांधीजी की अहिंसा का सामान्य अर्थ किसी जीव के प्राण न लेना तथा इसे खान-पान के विषय तक सीमित रखना था। गांधीजी ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए कहा कि यह खाद्याखाद्य के विषय से परे है। माँसाहारी अहिंसक हो सकता है, फलाहारी या अन्नाहारी घोर हिंसा करते देखे जाते हैं। एक व्यापारी झूठ बोलता है, ग्राहकों को ठगता है, कम तोलता है, किन्तु यह व्यापारी चींटी को आटा डालता है, फलाहार करता है। फिर भी यह व्यापारी उस माँसाहारी व्यापारी की अपेक्षा अधिक हिंसक है, जो माँसाहार करते हुए भी ईमानदार है और किसी को धोखा नहीं देता। इस प्रकार गांधीजी ने जीव हिंसा की विवेचना करते हुए अहिंसा की परम्परागत परिभाषा और सीमा में नवीन क्रांतिकारी परिवर्तन और विस्तार किया ।

दूसरी विशेषता,अहिंसा के कार्यक्षेत्र का विस्तार है। गांधीजी ने अहिंसा को व्यक्तिगत और पारिवारिक क्षेत्र की संकीर्ण परिधि से निकाल कर इसे सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सभी प्रकार के अन्यायों का प्रतिकार करने का शस्त्र बनाया। इसे ऋषि-मुनियों तक मर्यादित न रखकर सार्वजनिक और सार्वभौम बनाया ।

गांधीजी की अहिंसा की व्यावहारिकता- गांधीजी की अहिंसा धारणा के विवेचन से यह प्रश्न

उठता है कि क्या मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यावहारिक है? क्या कोई व्यक्ति गीता में वर्णित उस अवस्था तक पहुँच सकता है कि जहाँ पहुँचकर वह हर प्रकार की दुर्भावना से मुक्त हो जाये, सबके प्रति मैत्री और दया भाव से पूरित हो ? इस सम्बन्ध में गांधीजी ने अपना स्पष्टीकरण दिया है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि हिंसा से सर्वथा मुक्त होना मनुष्य के लिए

सम्भव नहीं है। पूर्ण अहिंसा की सिद्धि मनुष्य नहीं कर सकता। हिंसा और अहिंसा के सूक्ष्म अन्तर का बड़ा स्पष्ट दिग्दर्शन कराते हुए गांधीजी ने वे परिस्थितियाँ बतायी हैं कि जिनमें मनुष्य को हिंसा करनी ही पड़ती है और उससे वह बच नहीं सकता; जैसे,

प्रथम, जीवन के भरण-पोषण के लिए जितनी हिंसा अनिवार्य होती है वह क्षम्य होती है। शरीर ईश्वर की धरोहर है जिसे नष्ट करने का व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं है। शरीर के पोषण और संरक्षण के लिए जान-बूझ कर दूसरे जीवों की रक्षा नहीं की जानी चाहिए, किन्तु जो हिंसाएँ अनजाने में होती हैं, उनके लिए चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। यह मनुष्य की विवशता है। गांधीजी अहिंसा के सम्बन्ध में कल्पनावादी नहीं व्यावहारिक थे।

द्वितीय, शरणागत की रक्षा के लिए की गयी हिंसा भी नैतिक है। यदि कोई आततायी हमारे आश्रितों के जीवन से खिलवाड़ करने के लिए आये तो उसका वध करना भी हिंसा नहीं होगी।

तृतीय, जिस प्राणी की हिंसा की जाये, उसको दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए यह आवश्यक हो तो ऐसी हिंसा अपराध नहीं है।

आलोचना - कतिपय आलोचक यह आपत्ति उठाते हैं कि एक ऐसे, 'आदर्श' की क्या उपयोगिता है जिसे व्यवहार में न लाया जा सके और जिसके लिए कतिपय अपवाद करने पड़ें। इस आपत्ति का समाधान गांधीजी यह कहकर करते हैं कि वह आदर्श जो पूर्ण रूप से व्यवहार में परिणत किया जा सके,

वास्तव में एक बहुत ही तुच्छ आदर्श है। जीवन का आनन्द लक्ष्य को प्राप्त करने में नहीं बल्कि उसके लिए सदैव प्रयत्न करते रहना है, हम उसके निकट पहुँच सकते हैं किन्तु उसे पूर्ण रूप से कभी प्राप्त नहीं कर सकते । अहिंसा का आदर्श गणितशास्त्र के उस बिन्दु के समान है जिसकी पूर्ण उपलब्धि तो सम्भव नहीं है, लेकिन यथार्थ जीवन में जिसके निकट हम अवश्य पहुँच सकते हैं।

संक्षेप में, गांधीजी ने अहिंसा को अपना धर्म स्वीकार कर अपने को असहाय कभी अनुभव नहीं किया। उनके कथनानुसार "कठोरतम् धातु भी पर्याप्त ताप के आगे पिघल जाती है। इसी प्रकार कठोर से कठोर हृदय भी अहिंसा के पर्याप्त

ताप के आगे द्रवित हो जाता है और ताप उत्पन्न करने की अहिंसा की क्षमता की कोई सीमा नहीं है।" अहिंसा वह बन्धन है जो सारे समाज को एक सूत्र में बाँधता है। हम इस शक्ति से उसी प्रकार परिचित नहीं हैं जैसे कि आकाशीय पिण्डों को एक सूत्र में बाँधने वाली आकर्षण शक्ति से उसकी खोज से पूर्व हम परिचित न थे। गांधीजी की दृष्टि में हर राष्ट्र के लिए अहिंसा साधन और स्वतन्त्रता साध्य है।

5.9 गांधीजी की कार्य पद्धति : सत्याग्रह

गांधीजी की कार्य पद्धति : सत्याग्रह

(गांधीवादी तकनीक: सत्याग्रह)

गांधीजी ने अहिंसा के सिद्धान्त को मूर्तरूप देने के लिए राजनीतिक क्षेत्र में जिस कार्य पद्धति का प्रयोग किया वह सत्याग्रह है। इसके नाम और मौलिक सिद्धान्तों का विकास दक्षिण अफ्रीका में किया गया। वहाँ की गोरी सरकार भारतीयों के प्रति अन्यायपूर्ण कानून पास कर रही थी। इनसे वहाँ बसे भारतीयों में तीव्र रोष और असन्तोष था। उन्होंने गांधीजी के नेतृत्व में इस अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने का निश्चय किया। उस समय इस आन्दोलन को 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance) का नाम दिया गया, किन्तु गांधीजी को दो कारणों से यह शब्द पसन्द नहीं था। पहला कारण तो इसका अंग्रेजी शब्द होना तथा भारतीयों को इसका पूरा अर्थ समझ में न आना था। दूसरा कारण यह था कि इसमें गांधीजी द्वारा प्रतिपादित विचारों का पूरा समावेश नहीं होता था। आगे चलकर श्री मदनलाल गांधी ने "सत्याग्रह' शब्द सुझाया जिसका अर्थ है- अच्छे काम में निष्ठा। गांधीजी को यह शब्द पसन्द आया, किन्तु वे इससे पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हुए। पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से उन्होंने इसमें संशोधन करके इसका नाम 'सत्याग्रह' रखा।

सत्याग्रह से अभिप्राय- सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है सत्य के लिए आग्रह करना। इसका आधार है सत्य की अर्थात् सत्य से उत्पन्न होने वाले प्रेम तथा अहिंसा की शक्ति। यह आत्मा की शक्ति है। सत्याग्रह का संचालन आत्मिक शक्ति के आधार पर किया जाता है। सत्याग्रह के सम्पूर्ण दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि 'सत्य की ही जीत होती है।

सत्याग्रह का दार्शनिक आधार- सत्याग्रह का अर्थ है सत्य पर आग्रह करते हुए अत्याचारी का प्रतिरोध करना, उसके सामने सिर को न झुकाना तथा उसकी बात को न मानना। अत्याचारी और अन्यायी को तभी सफलता मिलती है जब लोग भयभीत होकर उसके सामने घुटने टेक दें, किन्तु यदि लोग यह दृढ़संकल्प कर लें और यह घोषणा कर दें कि 'तुम चाहे जो करो, हम तुम्हारी आज्ञा का पालन नहीं करेंगे' तो अत्याचारी शासक उन्हें मरवा सकता है किन्तु उनसे अपनी आज्ञा का पालन नहीं करा सकता। गांधीजी के अनुसार यह आत्मबल का शरीर अथवा पशुबल के साथ संघर्ष है। इसमें पशु बल पर आत्म बल की विजय निश्चित है। इस संघर्ष में संख्या का महत्व नहीं है। एक भी सच्चरित्र और दृढ़प्रतिज्ञ सत्याग्रही बड़े से बड़े साम्राज्य से टक्कर ले सकता है। स्वयं गांधीजी ने शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लिया था। कीहि कन्डोक

सत्याग्रही के गुण- 'हिन्द स्वराज' में गांधीजी ने 1908 में सत्याग्रही के आवश्यक गुण सत्यनिष्ठा या ईमानदारी, निर्भयता, ब्रह्मचर्य, निर्धनता और अहिंसा बताये थे। सत्यनिष्ठा का अर्थ है कि सत्याग्रही कभी किसी छल, झूठ या चालाकी का आश्रय नहीं लेता है। निर्भयता सत्याग्रही का एक बड़ा गुण है। उसे सभी बातों में निर्भय होना चाहिए, किसी प्रकार की मोह, ममता न रखकर, भूमि, घर, रुपया-पैसा, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा जीवन तक का बलिदान करने को तैयार होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ विषय-वासना के बन्धनों से मुक्त होना है। सत्याग्रही को निर्धनता का व्रत लेने की आवश्यकता है।

पैसे का लोभ और सत्याग्रही की साधना दोनों चीजें एक साथ नहीं हो सकतीं। अहिंसा सत्याग्रह का मूल है, इसका अर्थ है मन, वचन तथा कर्म से अहिंसा अर्थात् शत्रु को न तो मारना-पीटना, न कठोर वचन कहना और न मन से उसका बुरा सोचना। हिन्द स्वराज में प्रतिपादित उपर्युक्त गुणों में गांधीजी ने

कुछ अन्य गुणों की वृद्धि करके 11 गुणों का पालन और साधना आवश्यक बतायी। ये गुण निम्न हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सब धर्मों को समान दृष्टि से देखना, स्वदेशी तथा अस्पृश्यता निवारण ।

सत्याग्रही के वैयक्तिक जीवन में गांधीजी ने प्रधान रूप से निम्नलिखित नियमों के पालन पर बल दिया था:

(1) सत्याग्रही अपने मन में गुस्से को कोई स्थान नहीं देगा ।

(2) वह विरोधियों के रोष को सहन करेगा।

(3) ऐसा करते हुए बदले की भावना से विरोधियों पर हाथ नहीं उठायेगा। शत्रु द्वारा क्रोधावश में दी गयी आज्ञा, दण्ड या अन्य किसी प्रकार के भय के सामने अपना सिर नहीं झुकायेगा।

(4) जिस समय कोई अधिकारी सविनय आज्ञा भंग करने वाले को पकड़ने आयेगा तो वह स्वयं गिरफ्तार हो जायेगा। जब कोई अधिकारी उसकी सम्पत्ति जब्त करने अथवा उसे ले जाने के लिए आयेंगे तो वह उनका प्रतिकार नहीं करेगा।

(5) यदि सत्याग्रही किसी सम्पत्ति का ट्रस्टी है तो वह इसे सरकार के कब्जे में देने से इन्कार करेगा, भले ही उसके प्राण खतरे में पड़ जायें ।

(6) सविनय कानून भंग करने वाला विरोधियों का भी अपमान नहीं करेगा, ऐसा कोई नारा नहीं लगायेगा जो अहिंसा के विरुद्ध हो।

(7) इस संघर्ष में यदि कोई किसी अधिकारी का अपमान करता है अथवा उस पर हमला करता है तो सविनय आज्ञा-भंगकारी अपने प्राणों को संकट में डालकर भी उस अधिकारी की रक्षा करेगा।

सत्याग्रह के विभिन्न रूप गांधीजी ने भारत के राजनीतिक आन्दोलन में सत्याग्रह का तीन रूपों में प्रयोग किया;

(1) असहयोग आन्दोलन (Non-Co-operation),

(2) सविनय अवज्ञा आन्दोलन (Civil Disobedience),

(3) वैयक्तिक सत्याग्रह

इससे पहले दक्षिण अफ्रीका में उनके द्वारा चलाये गये आन्दोलन को 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance) का नाम दिया जाता है। यद्यपि उन्होंने स्वयं इसे 'सत्याग्रह आन्दोलन' कहा था तथा निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न माना था। निग

(1**) असहयोग आन्दोलन-**1920-21 में गांधीजी द्वारा चलाये गये आन्दोलन को असहयोग आन्दोलन का नाम दिया गया, क्योंकि इस समय गांधीजी ने इस बात पर बल दिया था कि ब्रिटिश सरकार की पराधीनता से मुक्त होने का एकमात्र उपाय भारतीयों द्वारा ब्रिटिश सरकार से सब प्रकार का असहयोग करना - उनकी नौकरियों को छोड़ना, अदालतों, स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार करना है। यदि सरकार को शासन कार्य में सहायता देने वाले हजारों व्यक्ति ब्रिटिश सरकार से असहयोग कर दें तो मुट्ठी भर अंग्रेज भारत पर शासन नहीं कर सकते हैं। इससे भारत को अहिंसक रीति से स्वराज्य मिल जायेगा। नीट के हिसार रि (2) सविनय अवज्ञा आंदोलन-गांधीजी का दूसरा आन्दोलन 1930-31 में विनय पूर्वक कानून के भंग का था। जब ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार भारत को पूर्ण स्वराज्य देना स्वीकार नहीं किया तो गांधीजी ने ब्रिटिश सरकार के अन्यायपूर्ण कानूनों की अवहेलना करने के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। वे ब्रिटिश सरकार द्वारा नमक पर लगाये गये कर को गरीबों के लिए अत्यन्त अन्यायपूर्ण समझते थे। गांधीजी ने भारतीयों से ब्रिटिश सरकार के ऐसे कानूनों को तोड़ने को कहा और

स्वयं गुजरात में समुद्र तट पर स्थित दाण्डी नामक स्थान पर नमक कानून तोड़ने के लिए अहमदाबाद से पैदल प्रस्थान किया।

(3**) व्यक्तिगत सत्याग्रह**- 1940-41 में अंग्रेजों द्वारा भारत को द्वितीय विश्व युद्ध में घसीटने के बाद उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरोध में व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया, इसमें श्री विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही बनाया गया ।

इन तीन अखिल भारतीय सत्याग्रह आन्दोलनों के अतिरिक्त गांधीजी के नेतृत्व में कई अन्य सत्याग्रह सफलतापूर्वक चलाये गये।

सत्याग्रह के साधन- गांधीजी ने सामूहिक रूप से बड़े पैमाने पर सत्याग्रह के लिए निम्नलिखित साधनों के प्रयोग का परामर्श दिया है-

(1) **असहयोग** -किसी देश का शासन उसकी सैनिक शक्ति पर नहीं, अपितु जनता के सक्रिय सहयोग पर आधारित होता है। यदि जनता सरकार को यह सहयोग या समर्थन प्रदान न करे तो शासन सर्वथा निराधार होकर शीघ्र समाप्त हो जायेगा, किन्तु असहयोग के समय सत्याग्रही को सर्वथा अहिंसक होना चाहिए।

(2) **सविनय कानून भंग** - दूसरा सविनय कानून भंग करने का है। गांधीजी ने 1930 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया था। इसके द्वारा अन्यायपूर्ण कानूनों की अवहेलना की जाती है।

(3) **उपवास** - तीसरा साधन उपवास है। गांधीजी इसे सबसे अधिक प्रभावक अस्त्र मानते थे। उपवास दो बड़े प्रयोजन आत्मशुद्धि तथा अन्याय व असत्य के विरुद्ध प्रतिकार है।

(4) **हिजरत या देश त्याग**- यह बहुत पुराना साधन है। गांधीजी यह समझते थे कि जब किसी देश में शासक के अत्याचार असह्य हो जाएँ, तो सत्याग्रही को वह स्थान छोड़कर चले जाना चाहिए ।

(5) **धरना-** धरना देकर बैठने का अर्थ है जब तक हमारी बात नहीं मानी जायेगी तब तक हम एक आसन पर स्थिर होकर बैठे रहेंगे। वे शान्तिपूर्ण रीति से धरना देने के पक्षपाती थे।

(6**) हड़ताल** - इसका आशय किसी अन्याय का प्रतिकार करने के लिए सारे व्यापार और कारोबार को तथा अन्य सभी दुकानों और कार्यालयों को बन्द रखना है। इसका उद्देश्य सरकार और जनता का ध्यान किसी अन्याय की ओर आकृष्ट करना होता है। प्रीि

(7) **सामाजिक बहिष्कार**-यदि कोई व्यक्ति समाज द्वारा जघन्य या बुरा समझे जाने वाले काम करता है तो उसकी जाति या बिरादरी उसके साथ सभी प्रकार का सम्पर्क रखना बन्द कर देती है, दूसरे शब्दों में इसे हुक्का-पानी बन्द करना कहते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उस पर उसका प्रबल प्रभाव पड़ता है और वह समाज विरोधी कार्य छोड़ने के लिए बाधित हो जाता है। गांधीजी ने इस साधन का प्रयोग अहिंसक रूप में किये जाने पर बहुत बल दिया है। अन्याय करने वाले किसी सरकारी अधिकारी का बहिष्कार इस रूप में भी हो सकता है कि उसके घर में काम करने वाले नौकर-चाकर और भंगी काम करना छोड़ दें, उसे दुकानदार खाद्य सामग्री और वस्त्र देने से इन्कार कर दें। डॉक्टर उसका इलाज बन्द कर दें तो गांधीजी की दृष्टि में ऐसा करना हिंसा पूर्ण दबाव डालना है, किन्तु यदि ऐसे व्यक्ति को अपने सामाजिक समारोहों तथा पर्वों पर निमन्त्रित न किया जाये तो ऐसा अहिंसक बहिष्कार सर्वथा न्यायोचित है।

सत्याग्रह तथा निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर

गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में जब पहली बार सत्याग्रह का प्रयोग किया तो उसे 'निष्क्रिय प्रतिरोध' का नाम दिया गया था, किन्तु सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर है और इसी कारण से आगे चलकर गांधीजी ने अपने आन्दोलनों के लिए सत्याग्रह शब्द ही उपयुक्त समझा ।

सत्याग्रह का मूल्यांकन

युद्ध और क्रांति के विकल्प के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में सत्याग्रह के साधन का आविष्कार गांधीजी की एक बहुत बड़ी देन है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने सत्याग्रह के शस्त्र का सफलतापूर्वक प्रयोग किया और यह सिद्ध किया कि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रयोग युद्ध एवं क्रांति के समान महत्वपूर्ण है। मार्क्स और लेनिन जिस परिवर्तन को हिंसापूर्ण क्रांति से करना चाहते हैं, गांधीजी ने उसे अहिंसक सत्याग्रह से सम्पन्न किया। फिर भी आलोचक उनकी सत्याग्रह धारणा की निम्न आधारों पर आलोचना करते हैं:

(1) **सत्याग्रह-** अहिंसा की धारणा के अनुकूल नहीं सत्याग्रह का सिद्धान्त अहिंसा की धारणा के अनुकूल नहीं है। सत्याग्रह का तात्पर्य न केवल हिंसा का

निषेध वरन् विरोधी के प्रति भी किसी प्रकार की दुर्भावना का भी अभाव है। अहिंसा का आशय है कि "मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी रूप में हिंसा का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए और विरोधी के मन को भी दुःख नहीं पहुँचाया जाना चाहिए।" आलोचकों के अनुसार सत्याग्रह से उन व्यक्तियों को निश्चित रूप से मानसिक और अनेक बार शारीरिक कष्ट भी पहुँचता है जिनके विरुद्ध इनका व्यवहार किया जाता है। अतः आर्थर मूर इसे 'मानसिक हिंसा' (Mental Violence) कहते हैं। आलोचकों द्वारा सत्याग्रह के एक रूप उपवास को आतंकवाद (Terrorism) और राजनीतिक दबाव (Political blackmail) की संज्ञा दी गयी है।

(2**) सत्याग्रह का प्रयोग** सभी परिस्थितियों में सम्भव नहीं आलोचकों के अनुसार प्रत्येक स्थिति में प्रत्येक प्रकार के लोगों के साथ सत्याग्रह का सफलतापूर्वक प्रयोग नहीं किया जा सकता । स्वतन्त्र समाजों में, जहाँ विवेक, मानवता के प्रति आदर और न्याय विद्यमान हो, सत्याग्रह का भले ही सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है; परन्तु निरंकुश शासकों और बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से बहुत अधिक पिछड़े हुए लोगों के विरुद्ध सत्याग्रह की सफलता में निश्चित रूप से सन्देह किया जा सकता

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में या आक्रमण** के प्रतिरोध में सत्याग्रह का प्रयोग सम्भव नहीं- गांधीजी द्वारा विदेशी आक्रमण की स्थिति में भी सत्याग्रह का सुझाव दिया गया था, किन्तु सामान्य अनुभव के आधार पर यही कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में सत्याग्रह सफल नहीं हो सकता ।

(4) **अहिंसक साधनों से सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन** लाना अत्यधिक कठिन- साम्यवादी, अराजकतावादी तथा अन्य क्रांतिकारी विचारधारा वाले व्यक्ति गांधीवादी विचारधारा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि सत्याग्रह जैसे अहिंसक साधनों के आधार पर सामाजिक और आर्थिक स्थिति को पूर्णतया बदलने में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। आलोचकों के अनुसार समाज का धनिक एवं कुलीन वर्ग अपनी स्थिति कभी भी स्वेच्छा से नहीं छोड़ेंगे और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन की भीषण विभिन्नताओं को समाप्त करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक होगा ।

(5) **सत्याग्रह के नाम के दुरुपयोग की आशंका**- सत्याग्रह के विरुद्ध आलोचना यह की जा सकती है कि वर्तमान समय में सत्याग्रह के नाम का बहुत अधिक दुरुपयोग किया जा रहा है। विविध पक्षों द्वारा अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु जो आन्दोलन किये जाते हैं उनके द्वारा उन्हें भी सत्याग्रह कह दिया जाता है जबकि वास्तव में वे सत्याग्रह न होकर दुराग्रह ही होते हैं।

गांधीवादी विचारधारा साधनों की श्रेष्ठता में विश्वास

(Gandhian Ideology: Belief in the Holiness of Ends and Means)

गांधीजी का दर्शन चूँकि एक नैतिक दर्शन है अतः वह साधन एवं साध्य दोनों की पवित्रता का उपदेश देता है। गांधीजी कहा करते थे कि साधन और साध्य (Means and Ends) एक दूसरे से चोली-दामन की तरह सम्बद्ध हैं और एक की अपवित्रता दूसरे को भी भ्रष्ट कर देती है। अतः यदि आपका साध्य उत्तम है तो उसे प्राप्त करने के साधन उतने ही उत्तम ढूँढ़े अन्यथा बुरे साधनों द्वारा प्राप्त हुए उसके अवगुण उसकी उत्तमता को फीका कर देंगे। गांधीजी साधनों की नैतिकता पर इतना जोर देते हैं, उसका कारण यह है कि मनुष्य का अधिकार केवल साधनों पर है, साध्य पर नहीं। वह प्रयत्न कर सकता है, लेकिन परिणाम उसके हाथ में नहीं। इसके अतिरिक्त साधन ही विकसित होकर साध्य बन जाता है। गांधीजी के शब्दों में, "जैसा साधन वैसा साध्य।" गीता के निष्काम कर्म के सिद्धान्त से भी हमको यही शिक्षा मिलती है कि अच्छे काम का अच्छा ही परिणाम होता है। इसलिए गाँधी का विश्वास है कि "यदि कोई साधनों की शुद्धता का ध्यान रखे, तो साध्य अपने आप ठीक रहेगा।"

गांधीवाद का 'साधनों की पवित्रता' का यही विचार उसे मार्क्सवाद से भिन्न करता है। जहाँ साधनों की पवित्रता पर आग्रह करके गांधीजी ने राजनीति के आध्यात्मीकरण की ओर महानतम पग उठाया, वहाँ मार्क्सवाद मूलतः साध्य के लिए हिंसात्मक साधन को महत्व देता है।

डॉ. गोपीनाथ धवन के शब्दों में, "साध्य साधन के सम्बन्ध में एकमात्र गांधीजी का सिद्धान्त ही युक्तिसंगत है। गांधीजी साधनों के महत्व पर जोर अवश्य देते

हैं, पर इससे यह गलत धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि इनके लिए साध्य केवल एक गौण वस्तु है। उनका विश्वास है कि साध्य और साधन में अभिन्नता का सम्बन्ध है और वे उत्सुक हैं कि प्रयुक्त साधन किसी तरह हमारे साध्य की नैतिकता को कम न कर सकें।"

5.10 गांधीजी के राजनीतिक विचार (गांधीजी के राजनीतिक विचार)

राज्य सम्बन्धी धारणा राज्य विहीन समाज

गांधीजी राज्य विरोधी थे। मार्क्सवादियों तथा अराजकतावादियों के समान वे एक राज्यविहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे। वे दार्शनिक, नैतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक कारणों के आधार पर राज्य का विरोध करते थे, अतः उनके सिद्धान्त को दार्शनिक अराजकतावाद (Philosophical Anarchism) कहा जाता है।

दार्शनिक आधार पर राज्य का विरोध करते हुए गांधीजी का विचार है कि राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं करता। व्यक्ति का नैतिक विकास उसकी आन्तरिक इच्छाओं और कामनाओं पर निर्भर है, लेकिन राज्य संगठन शक्ति पर आधारित होने के कारण व्यक्ति के केवल बाहरी कार्यों को ही प्रभावित कर सकता है। राज्य अनैतिक इसलिए है कि हमें सब कार्य अपनी इच्छा से नहीं वरन् दण्ड के भय और कानून की शक्ति से बाधित कराना चाहता है। गांधीजी के शब्दों में, "कोई भी कार्य जब तक वह स्वेच्छा से न किया गया हो, नैतिक नहीं कहा जा सकता.....जब तक हम मशीनों की तरह व्यवहार करते हैं, तब तक नीति का सवाल नहीं उठ सकता। यदि हम किसी कार्य को नैतिक कहना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि वह जानबूझकर कर्त्तव्य के रूप में किया गया हो।" राज्य के विरोध का एक कारण यह भी है कि वह हिंसा और पाशविक शक्ति पर आधारित है। राज्य कितना ही अधिक लोकतन्त्रात्मक क्यों न हो, उसका आधार सेना और पुलिस का पाशविक बल है। गांधीजी अहिंसा के पुजारी हैं, वे राज्य का विरोध इसलिए करते हैं कि यह हिंसामूलक है। गांधीजी के शब्दों में, "राज्य हिंसा का संगठित और केन्द्रित रूप

है। व्यक्ति के भीतर आत्मा है, परन्तु राज्य आत्मरहित मशीन है। उसे हिंसा से कभी नहीं बचाया जा सकता, क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही हिंसा से है।"

राज्य के विरोध का तीसरा कारण इसके अधिकारों में निरन्तर वृद्धि होना है। इससे व्यक्ति के विकास में बड़ी बाधा पहुँच रही है। गांधीजी ने एक बार यह कहा था- "मैं राज्य की सत्ता में वृद्धि को बहुत ही भय की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि जाहिर तौर से तो वह शोषण को कम से कम करके लाभ पहुँचाती है, परन्तु मनुष्यों के उस व्यक्तित्व को नष्ट करके वह मानव जाति को अधिकतम हानि पहुँचाती है, जो सब प्रकार की उन्नति की जड़ है।"

गांधीजी : एक दार्शनिक अराजकतावादी- राज्य के सम्बन्ध में गांधीजी की विचारधारा • अराजकतावादी दार्शनिक क्रोपाटकिन और विशेष रूप से दार्शनिक अराजकतावादी टालस्टाय के विचारों से प्रभावित है। गांधीजी ने नैतिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक तीनों दृष्टिकोणों के आधार पर राज्य की कटु आलोचना की है। गांधीजी राज्य को ऐसी हिंसक संस्था मानते हैं जिसका कार्य निर्धन वर्ग का शोषण करना है। राज्य द्वारा नैतिकता का हनन किया जाता है, अतः या तो राज्य को समाप्त हो जाना चाहिए अन्यथा उसे व्यक्ति रूपी पुस्तक का अन्तिम अध्याय होना चाहिए।

आदर्श समाज, गांधीजी के अनुसार, राज्य रहित जनतन्त्र है। यह समाज शुद्ध अराजकता की वह दशा है जिसमें सामाजिक जीवन ऐसी पूर्णता को पहुँच गया हो कि वह स्वयं संचालित बन जाये। "इस दशा में प्रत्येक मनुष्य अपना शासक स्वयं होता है।"

गांधीजी के राज्य विहीन समाज में सभी व्यक्ति पूर्णतया अहिंसक होंगे। उनकी सभी आवश्यकताएँ पूरी होंगी- अतः अपराध नहीं होंगे। फिर पुलिस की आवश्यकता है ही नहीं। यदि कहीं छुटपुट अपराध हुए तो उनका निर्णय ग्राम पंचायत कर लिया करेगी। ऐसे समाज में 'सभी अपने शासक होंगे। वे अपने ऊपर इस प्रकार शासन करेंगे कि दूसरों के मार्ग में बाधक न बनें ।'

जीवन स्वच्छ निर्मल और सादा होगा। न बड़े-बड़े नगर होंगे न गन्दी बस्तियाँ । न आधुनिक सभ्यता की तड़क-भड़क होगी और न उससे उत्पन्न रोग ।

सिद्धान्त रूप में राज्य के अस्तित्व के विरुद्ध होने पर भी गांधीजी वर्तमान परिस्थितियों में राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। उनका विचार था कि वर्तमान समय में मानव जीवन इतना पूर्ण नहीं है कि वह स्वयं संचालित हो सके, इसीलिए समाज में राज्य और राजनीतिक शक्ति की आवश्यकता है, लेकिन इसके साथ-साथ उनका विचार है कि राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम होना चाहिए। इस प्रकार गांधीजी के राज्य सम्बन्धी विचारों को सैद्धान्तिक दृष्टि से अराजकतावादी तथा व्यवहार में व्यक्तिवादी कहा जा सकता है, किन्तु गांधीजी न तो क्रोपाटकिन और बाकुनिन की तरह हिंसा के आधार पर राज्य को समाप्त करने के पक्ष में थे और न ही उनका व्यक्तिवाद - वह पाश्चात्य व्यक्तिवाद है जिसका परिणाम पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना होती है।

राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करते हुए गांधीजी ने राज्य के प्रभाव और शक्ति को न्यूनतम करने का प्रयत्न किया, जिससे राज्य के होते हुए भी व्यक्ति वास्तविक रूप में स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। इस सम्बन्ध में गांधीजी के द्वारा तीन सुझाव दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं:

(1) सत्ता का विकेन्द्रीकरण - गांधीजी के द्वारा सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझाव राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता के विकेन्द्रीकरण का दिया गया है। राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता के विकेन्द्रीकरण से उनका अभिप्राय यह था कि ग्राम पंचायत को अपने गाँवों का प्रबन्ध और प्रशासन करने के सब अधिकार दे दिये जाएँ। उनका कहना था कि सत्ता का केन्द्रीकरण सदैव ही हानिकारक होता है। इसके परिणामस्वरूप कुछ थोड़े से व्यक्ति राज्य की सत्ता पर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और छल-कपट द्वारा उनके साधनों का प्रयोग अपनी स्वार्थ - सिद्धि के लिए करते हैं जिसे रोकने का उपाय सत्ता का विकेन्द्रीकरण ही हो सकता है। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी गाँवों का चित्र उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा है, "मेरे ग्राम स्वराज का आदर्श यह है कि प्रत्येक ग्राम एक पूर्ण गणराज्य है। अपनी वस्तुओं के लिए यह अपने पड़ोसियों पर निर्भर न रहे। इस प्रकार प्रत्येक ग्राम का पहला काम होगा खाने के लिए अन्न और कपड़ों के लिए रुई की फसल उत्पन्न करना।"

(2) प्रभुसत्ता का विरोध-बहुलवादियों तथा अराजकतावादियों की भाँति गांधीजी राज्य की ऐसी निरंकुश प्रभुसत्ता के विरोधी थे जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्तव्य आँख मूँदकर राज्य की आज्ञा का पालन करना है। इसके विपरीत गांधीजी विशुद्ध नैतिक सत्ता पर आधारित जनता की प्रभुसत्ता में विश्वास रखते थे। वे नैतिकता का विरोध करने वाले सभी कानूनों का प्रतिरोध करने का व्यक्ति को अधिकार ही नहीं प्रदान करते हैं, अपितु उसका यह कर्त्तव्य समझते हैं। उनके मतानुसार सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए ऐसी व्यवस्था आवश्यक है, किन्तु इससे उत्पन्न होने वाली अराजकता के दोष को कम करने के लिए उन्होंने राजकीय कानूनों की अवहेलना को अहिंसात्मक और सविनय बताया है और सत्याग्रह के लिए बड़ी कड़ी शर्तें रखी हैं, इनसे अराजकता और उच्छृंखलता की प्रवृत्ति पर बड़ी मात्रा में नियन्त्रण रखा जा सकता है।ीदिग्ये

(3) राज्य का न्यूनतम कार्यक्षेत्र राज्यसत्ता की बुराइयों को दूर करने के लिए गांधीजी का सुझाव था कि राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम होना चाहिए। उसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में कम से कम

हस्तक्षेप होना चाहिए। वे थोरो के इस विचार से सहमत थे कि सर्वोत्तम सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है।

आदर्श राज्य : अहिंसात्मक राज्य

गांधीजी ने प्लेटो के समान ही दो आदर्शों का वर्णन किया है- प्रथम, पूर्ण आदर्श, जिसे वे 'राम-राज्य' कहते हैं, द्वितीय, उप-आदर्श, जिसे वे 'अहिंसात्मक समाज' कहकर पुकारते हैं। उनकी पूर्ण आदर्श सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के लिए कोई स्थान नहीं। वे राज्यविहीन समाज (Stateless society) की स्थापना करना चाहते थे। इसमें सब व्यक्ति सामाजिक जीवन का स्वयमेव अपनी इच्छा से नियमन करते हैं, मनुष्यों का इतना अधिक विकास हो जाता है कि वे अपने कर्तव्यों और नियमों का स्वेच्छापूर्वक पालन करते हैं। लेकिन गांधीजी यथार्थवादी थे और उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि मानव स्वभाव की वर्तमान स्थिति को देखते हुए पूर्ण आदर्श राज्य की स्थापना सम्भव

नहीं है। इसलिए उनके द्वारा व्यावहारिक दृष्टिकोण से आदर्श की कल्पना की गयी है। उनके उप-आदर्श राज्य (अहिंसात्मक राज्य) की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

(1) अहिंसात्मक समाज- गांधीजी अपने आदर्श राज्य को अहिंसात्मक समाज के नाम से भी पुकारते हैं। गांधीजी के इस आदर्श समाज में राज्य संस्था का अस्तित्व रहेगा और पुलिस, जेल, सेना तथा न्यायालय, आदि शासन की बाध्यकारी सत्ताएँ भी होंगी। फिर भी यह इस दृष्टि से अहिंसक समाज है कि इसमें इन सत्ताओं का प्रयोग जनता को आतंकित और उत्पीड़ित करने के लिए नहीं वरन् उसकीसेवा करने के लिए किया जायेगा ।

(2) (2) शासन का लोकतान्त्रिक स्वरूप- गांधीजी के आदर्श समाज में शासन का रूप पूर्णतया लोकतान्त्रिक होगा । जनता को न केवल मत देने का अधिकार प्राप्त होगा वरन् जनता सक्रिय रूप से शासन के संचालन में भी भाग लेगी।

(3) विकेन्द्रीकृत सत्ता - गांधीजी के आदर्श राज्य का एक प्रमुख लक्षण विकेन्द्रीकृत सत्ता है। गांधीजी सम्पूर्ण भारत में प्राचीन ढंग के स्वतन्त्र और स्वावलम्बी ग्राम समाजों की स्थापना करना चाहते थे जिसका आधार ग्राम पंचायतें होंगी ।

(4) आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण- गांधीजी के आदर्श राज्य में आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरणको अपनाने का सुझाव दिया गया है। विशाल तथा केन्द्रीयकृत उद्योग लगभग समाप्त कर दिये जायेंगे और उनके स्थान पर कुटीर उद्योग चलाये जायेंगे। उन मशीनों का तो प्रयोग किया जा सकेगा जो व्यक्तियों के लिए सुविधाजनक होंगी, किन्तु मशीनों को मानवीय श्रम के शोषण का साधन नहीं बनाया जायेगा ।

(5) नागरिक अधिकारों पर आधारित गांधीजी का आदर्श समाज स्वतन्त्रता, समानता तथाअन्य नागरिक अधिकारों पर आधारित होगा। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने और समुदायों के निर्माण की स्वतन्त्रता होगी। इस समाज के अन्तर्गत जाति, धर्म, भाषा, और लिंग आदि

का भेदभाव किए बिना सभी व्यक्तियों को समान सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त होंगे।

(6) निजी सम्पत्ति का अस्तित्व- इस आदर्श राज्य में निजी सम्पत्ति की प्रथा का अस्तित्व होगा, किन्तु सम्पत्ति के स्वामी अपनी सम्पत्ति का प्रयोग निजी स्वार्थ के लिए नहीं वरन् समस्त समाज के कल्याण के लिए करेंगे ।

(7) प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रम अनिवार्य इस आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनेभरण-पोषण हेतु श्रम करना अनिवार्य होगा। कोई भी मनुष्य अपने निर्वाह के लिए दूसरों की कमाई हड़पने का प्रयत्न नहीं करेगा और बौद्धिक श्रम करने वाले व्यक्तियों के लिए भी थोड़ा बहुत शारीरिक श्रम करना अनिवार्य होगा।

(8) वर्ण-व्यवस्था- गांधीजी का आदर्श वर्ण व्यवस्था पर आधारित होगा। प्राचीन काल की भाँति समाज चार वर्षों में विभाजित होगा - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ण वंश परम्पराके आधार पर अपना कार्य करेगा, किन्तु विविध वर्णों के व्यक्तियों को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक

क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त होंगे और किसी प्रकार की ऊँच-नीच की भावना नहीं होगी । (9) अस्पृश्यता का अन्त गांधीजी अस्पृश्यता को भारतीय समाज के लिए कलंक मानते थे और उनके आदर्श समाज में अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं था।

(10) धर्म निरपेक्ष समाज- इस समाज में किसी एक धर्म को राज्य का आश्रय प्राप्त नहीं होगा । राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान होंगे और सभी धर्मों के अनुयायियों को समान सुविधाएँ प्राप्त होंगी ।

(11) गौवध निषेध गांधीजी भारत जैसे राज्य में धार्मिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टि से गाय की रक्षा को बहुत अधिक आवश्यक मानते थे। इसलिए उनके द्वारा अपने आदर्श समाज में गौ-हत्या का निषेध किया गया है।

(12) मद्य निषेध - गांधीजी का निश्चित विचार था कि मद्य और अन्य मादक पदार्थों का प्रयोग व्यक्तियों का चारित्रिक पतन करता है। अतः उनके आदर्श समाज में मादक पदार्थों का न तो उत्पादन होगा न ही उनकी बिक्री ।

(13) निःशुल्क शिक्षा - गांधीजी के आदर्श समाज में गाँव-गाँव में बुनियादी तालीम देने के लिए स्वावलम्बी पाठशालाएँ होंगी, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क प्रदान की जायेगी ।

(14) पुलिस और सेना गांधीजी मानते थे कि सभी व्यक्ति अहिंसावादी नहीं हो सकते । समाज-विरोधी तत्वों का दमन करने के लिए पुलिस की आवश्यकता यदा-कदा पड़ सकती है परन्तु आधुनिक पुलिस से उसका स्वरूप भिन्न होगा। आदर्श राज्य की पुलिस जनता की वास्तविक सहायक और सेवक होगी ।

गांधीजी के आदर्श राज्य में न्याय व्यवस्था का स्वरूप ऐसा नहीं होगा जैसे कि आज है। आधुनिक न्याय प्रणाली महँगी और पेचीदा है। गांधीजी के अनुसार न्याय ग्राम पंचायतों द्वारा होगा अथवा मध्यस्थों द्वारा ।

गांधीजी के आदर्श राज्य की व्यावहारिकता

गांधीजी का अहिंसक समाज क्या इस पृथ्वी पर सम्भव है? अथवा उनका चिन्तन प्लेटो की भाँति कल्पना लोक का ही विषय है। गांधीजी स्वयं मानते थे कि उनके आदर्श समाज की स्थापना पूर्ण रूप से कभी सम्भव नहीं है। उन्हीं के शब्दों में, "एक सरकार कभी भी पूर्ण रूप से अहिंसक नहीं बन सकती है क्योंकि इसमें सभी प्रकार के व्यक्ति रहते हैं। मैं ऐसे स्वर्ण युग की कल्पना नहीं करता जब ऐसा समाज स्थापित होगा, किन्तु मैं ऐसे समाज की स्थापना में विश्वास रखता हूँ जो प्रधान रूप से अहिंसक हो और मैं इसके लिए प्रयत्न कर रहा हूँ। अगर हम ऐसे समाज के लिए प्रयत्न करते रहें तो वह किसी हद तक धीरे-धीरे बनता रहेगा और उस हद तक लोगों को उससे फायदा पहुँचेगा।"

व्यक्ति का साध्य तथा राज्य का साधन होना

(व्यक्ति साध्य और राज्य साधन)

गांधीजी न तो जर्मन विचारक हीगल की यह बात मानते हैं कि राज्य मानव व्यवस्था का अंतिम लक्ष्य है, वह स्वयं नैतिकता से परे है और न मुसोलिनी का यह विचार मानते हैं कि राज्य के बाहर कुछ है ही नहीं। गांधीजी को ग्रीन एवं बोसांके जैसे आदर्शवादी विचारकों का यह मत भी मान्य नहीं है कि राज्य सर्वश्रेष्ठ समुदाय है। उनके लिए राज्य सबके अधिकतम हित का केवल एक

साधन है। गांधीजी यह मानते थे कि राज्य अपने आप में कोई साध्य नहीं है, अपितु व्यक्तियों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी परिस्थितियों को उत्कृष्ट बनाने में सहायता देने का साधन है। व्यक्ति राज्य के लिए नहीं अपितु राज्य व्यक्तियों के लिए है।

संसदीय शासन, प्रतिनिधित्व और बहुमत शासन

गांधीजी ने ब्रिटिश संसद की आलोचना करते हुए इसकी तुलना 'बांझ और वेश्या' से की है, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे प्रतिनिधि संस्थाओं और चुनावों के विरोधी थे। गांधीजी ने चुनाव के लिए खड़े होने वाले उम्मीदवारों के लिए बड़ी कड़ी योग्यताएँ प्रस्तावित की हैं। उनके मतानुसार उन्हें स्वार्थरहित, योग्य तथा भ्रष्टाचार से मुक्त, आत्म-विज्ञापन से दूर रहने वाला, पद-लोलुपता से रहित तथा छिद्रान्वेषण के दूषण से मुक्त होना चाहिए। वोट प्रचार द्वारा नहीं, बल्कि सेवा द्वारा प्राप्त किये जाने चाहिए। मतदाताओं के लिए आवश्यक योग्यता की शर्त सम्पत्ति या सामाजिक स्थिति की नहीं, अपितु शारीरिक श्रम की होनी चाहिए। लोकतन्त्र की एक विशेषता बहुमत द्वारा शासन है, किन्तु गाँधीजी के मतानुसार इसका यह अभिप्राय नहीं है कि बहुमत सदैव अल्प मत की अवहेलना करे।

अधिकार और कर्त्तव्य

(Rights and Duties)

गांधीवादी दर्शन में मानव अधिकार और कर्त्तव्य का भी प्रतिपादन किया गया है। उनका विचार था कि भारत के प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संगठन की स्वतन्त्रता व धर्म और अन्तःकरण की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अल्पमतों को अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। जाति और लिंग भेद के बिना व्यक्तियों को कानून के समक्ष समान समझा जाना चाहिए। गांधीजी मानव अधिकारों की अपनी इस सूची में नवीन वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करने के लिए तैयार थे ।

5.11 गांधीजी के आर्थिक विचार

राजनीति के समान ही अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में गांधीजी का विचार था कि सच्चा अर्थशास्त्र नैतिकता के महान नियमों के प्रतिकूल हो ही नहीं सकता है। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय चाहता है। वह प्रत्येक व्यक्ति का, यहाँ तक की दुर्बल व्यक्ति का भी सामाजिक हित चाहता है और अच्छे जीवन के लिए यह आवश्यक है।

गांधीजी के प्रमुख आर्थिक विचार इस प्रकार हैं :

(i) औद्योगीकरण का विरोध - गांधीजी द्वारा औद्योगिक क्रांति और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का विरोध किया गया है। बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए कच्चे माल और बहुत बड़ी मात्रा में निर्मित पदार्थों के लिए बड़े बाजारों की आवश्यकता होती है तथा कच्चे माल और बड़े बाजारों की खोज की यह प्रवृत्ति साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को जन्म देती है, जो नैतिकता के विरुद्ध है।

गांधीजी बड़ी मशीनों को मानव जाति के लिए अभिशाप मानते थे और उनका विचार था कि समाज में घृणा, द्वेष, और स्वार्थ में जो वृद्धि दिखायी देती है वह सब मशीनों का ही फल है। मशीनों के प्रयोग के परिणामस्वरूप ही मानव का शारीरिक एवं नैतिक पतन हुआ है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप उत्पादन थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाता है और बहुसंख्यक वर्ग को अत्यधिक निर्धनता में अपना जीवन व्यतीत करना होता है। इस प्रकार औद्योगीकरण से शोषण को प्रोत्साहन मिलता है। औद्योगीकरण से बेकारी भी बढ़ती है, क्योंकि मानवीय श्रम का स्थान मशीनें ले लेती हैं। औद्योगीकरण का एक दोष यह भी है कि केन्द्रीकृत उत्पादन के परिणामस्वरूप राजनीतिक शक्ति का भी केन्द्रीकरण हो जाता है जो लोकतन्त्र और मानवीय स्वतन्त्रता का ही शत्रु है।पर इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि गांधीजी सभी प्रकार की मशीनों के प्रयोग के पूर्णतया विरुद्ध थे। मशीनों के प्रयोग के सम्बन्ध में उनका साधारण सिद्धान्त यह था कि जो मशीनें सर्वसाधारण के हित साधन में प्रयोग में आती हैं उनका प्रयोग उचित है। उदाहरण के लिए, वे रेल, जहाज, सिलाई की मशीन और चरखा आदि के समर्थक थे, किन्तु उनका विचार था कि

विनाशकारी और मानव शोषण को प्रोत्साहित करने वाली मशीनों का प्रयोग सर्वदा त्याज्य समझा जाना चाहिए।

(ii) कुटीर उद्योगों का समर्थन गांधीजी के द्वारा औद्योगीकरण का विरोध करते हुए कुटीर उद्योग-धन्धों पर आधारित एक ऐसी विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का प्रतिपादन किया गया, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक गाँव एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करेगा। वे खादी को भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं का अमोघ हल मानते थे और उनके द्वारा आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी के विचार का प्रतिपादन किया गया। गांधीजी का विचार था कि प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था, वहाँ की जलवायु, भूमि तथा वहाँ के निवासियों के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए निश्चित की जानी चाहिए और इन बातों के आधार पर जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है भारत के लिए कुटीर उद्योग-धन्धों की व्यवस्था ही सर्वोत्तम है।

(iii) अपरिग्रह का सिद्धान्त आर्थिक अन्याय और असमानता को दूर करने के लिए गांधीजी का एक अन्य विचार यह है कि जीवन में अपरिग्रह के सिद्धान्त को अपनाया जाना चाहिए। गांधीजी का मत था कि प्रकृति स्वयं उतना ही उत्पादन करती है, जितना सृष्टि के लिए आवश्यक है इसलिए वितरण का प्राकृतिक नियम यह है कि प्रत्येक केवल अपनी आवश्यकता भर के लिए प्राप्त करे और अनावश्यक संग्रह न करे ।

(iv) वर्ग सहयोग की धारणा आर्थिक क्षेत्र में गांधीजी का एक अन्य विचार वर्ग सहयोग की धारणा है। गांधीजी का विचार था कि श्रमिक और पूँजीपति के हित परस्पर विरोधी नहीं होते, वरन् एक ही होते हैं और उनके द्वारा सामूहिक प्रयत्नों के आधार पर उद्योग के विकास का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में गांधीवाद वर्ग सहयोग की धारणा का प्रतिपादन करता है।

(v) संरक्षकता का सिद्धान्त महात्मा गांधी आर्थिक विषमताओं का अन्त करने के पक्ष में थे,

लेकिन वे आर्थिक समानता स्थापित करने के साम्यवादी ढंग से सहमत नहीं थे, जिसके अन्तर्गत धनिकों से उनका धन बलपूर्वक छीनकर उसका सार्वजनिक

हित में प्रयोग करने की बात कही जाती है। गांधीजी का विचार था कि हिंसात्मक होने के कारण साम्यवादी पद्धति उपयोगी नहीं हो सकती और पूँजीपति वर्ग को पूर्णतया नष्ट कर देने से समाज उनकी सेवाओं से वंचित रह जायेगा।

इस सम्बन्ध में गांधीजी ने प्रन्यास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसका यह मतलब है कि

धनी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से अधिक जमीन, जायदाद, कारखाने तथा विविध प्रकार की सम्पत्ति का अपने को स्वामी न समझे अपितु इसे समाज की अमानत या धरोहर (Trust) माने, उसका उपयोग अपने लाभों के लिए नहीं अपितु समाज के कल्याण के लिए करे। गांधीजी का यह सिद्धान्त अपरिग्रह के विचार पर आधारित है। अपरिग्रह का अर्थ है कि मनुष्य को अपने जीवन की आवश्यकताओं से अधिक किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए। यदि किसी के पास अधिक सम्पत्ति हो गयी हो तो उसे इसको अपनी न समझकर ईश्वर तथा समाज की समझनी चाहिए। संसार की सभी वस्तुओं पर ईश्वर का स्वामित्व है, मनुष्य को अपने परिश्रम और आवश्यकतानुसार इसमें से अपना हिस्सा लेने का अधिकार है। अतः वह किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का स्वामी नहीं, अपितु उसका संरक्षक मात्र है।

गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के अनुसार धनी लोगों को स्वेच्छापूर्वक यह समझना चाहिए कि उनके पास जो धन है, वह समाज की धरोहर है, वे उसमें से केवल अपने निर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि ही ले सकते हैं। शेष सारी धनराशि उन्हें समाज की दृष्टि से हितकर कार्यों में लगा देनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि धनी अपने जीवन निर्वाह से बची हुई सम्पत्ति को निर्धन व्यक्तियों में बाँट दे। ऐसा करने पर तो यह सम्पत्ति उपभोग में आकर शीघ्र नष्ट हो जायेगी, अतः धनिक वर्ग अपनी फालतू सम्पत्ति को ऐसे उद्योग-धन्धों में लगायें, जिनसे साधारण जनता को रोजगार मिल सके ।

गांधीजी के आर्थिक विचारों की आलोचना-

गांधीजी के आर्थिक विचारों की आलोचना- गांधीजी के आर्थिक विचारों की कई आधारों पर आलोचना की जाती है- सर्वप्रथम, गांधीजी के द्वारा औद्योगीकरण का जो विरोध और कुटीर उद्योग-धन्धों का जो समर्थन किया गया है, आलोचक उसे युग के नितान्त विपरीत और अव्यावहारिक बतलाते हैं। आलोचकों के अनुसार वर्तमान समय में औद्योगीकरण को अस्वीकार करना रचनात्मकता के नियमों को ही अस्वीकार करना है। द्वितीय, गांधीजी द्वारा आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए जिस ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है आलोचक उसे नितान्त अव्यावहारिक बतलाकरउसकी आलोचना करते हैं। गांधीजी के आलोचकों को यह दृष्टिकोण मिथ्या आशावाद प्रतीत होता है कि धनी लोग स्वेच्छापूर्वक अपनी सम्पत्ति को छोडने को तथा अपने को उसका ट्रस्टी समझने को तैयार हो जाएँगे। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त तो जनसामान्य के आर्थिक हितों की रक्षा का साधन बनने के बजाय पूँजीपतियों का 'रक्षा कवच' बनकर ही रह जाता है। आलोचकों के अनुसार ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का प्रतिपादन पूँजीवाद की रक्षा करने के लिए ही किया गया और गांधीवादी दर्शन पूँजीवाद का अभिन्न अंग है।

5.12 गांधीजी के सामाजिक विचार(Social Ideas ot Gandhiji)

राजनीतिक और आर्थिक विचारों के साथ-साथ समाज सुधार के क्षेत्र में गांधीजी के विचार और कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। गांधीजी ने स्वराज्य आन्दोलन के साथ-साथ सामाजिक जीवन के लिए रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाया। उनके प्रमुख सामाजिक विचार इस प्रकार हैं :

(1) वर्ण व्यवस्था या वर्ण धर्म का सिद्धान्त- यह गांधीजी के अहिंसक समाज के संगठन का एक प्रमुख मौलिक सिद्धान्त है। वर्ण व्यवस्था का अभिप्राय सामान्य रूप से यह लिया जाता है कि समाज का संगठन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों के आधार पर होना चाहिए, किन्तु गांधीजी ने इस प्राचीन शब्द का प्रयोग करते हुए भी उसमें कुछ नवीन भावों को भरने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार, "वर्ण का अर्थ इतना ही है कि हम सब अपने

वंश और परंपरागत कामों को केवल जीविका के लिए ही करें, बशर्ते की वह नैतिकता के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो।" इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि, "मेरा विश्वास है कि मनुष्य इस जगत में कुछ स्वाभाविक योग्यताएँ लेकर पैदा होता है। इन्हीं के आधार पर वर्ण का सिद्धान्त बनाया गया है। इसके अनुसार सबको काम करना चाहिए। इससे अनावश्यक प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है।

गांधीजी की वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त का सार तीन बातों में निहित है

(a) पहली बात वंश परम्परागत संस्कारों से लाभ उठाना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने परम्परागत पेशे की कुछ स्वाभाविक योग्यताएँ लेकर उत्पन्न होता है और बचपन में इस पेशे के वातावरण में पलते हुए इसे जल्दी ग्रहण करता है और शीघ्र ही इसमें दक्ष हो जाता है। यह व्यवस्था समाज के लिए हितकर है। कानकीर में किए प्रशा ममउमसीडी .

(b) दूसरी बात इस कारण होड़ या प्रतियोगिता का समाप्त होना है। आजकल समाज में बड़ी अव्यवस्था और अराजकता है। प्रत्येक व्यक्ति उसी पेशे की ओर जाना चाहता है, जिसमें अधिक पैसा मिलने की आशा हो, भले ही उसके लिए आवश्यक योग्यता उसमें न हो। उदाहरणार्थ सभी लोग आर्थिक लाभ की दृष्टि से वकील, डॉक्टर या इंजीनियर बनना चाहते हैं, इस कारण बेकारी में वृद्धि होती है, यदि पैतृक पेशों को ही करने का नियम कठोरता से लागू कर दिया जाये तो यह बन्द हो सकती है।

(c) तीसरी बात, मजदूरी की या पारिश्रमिक की समानता है। गांधीजी का विचार है कि समाज को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से सब पेशे बराबर हैं। अतः इनके पारिश्रमिक में कोई भेदभाव या विषमता नहीं होनी चाहिए। इस समय एक डॉक्टर या वकील को एक नाई या भंगी की अपेक्षा अधिक पैसा दिया जाता है। यह व्यवस्था समाज में अनावश्यक विषमता उत्पन्न करती है। सामाजिक दृष्टि से सभी को समान पारिश्रमिक या वेतन दिया जाना चाहिए। इससे डॉक्टरी और वकालत जैसे पेशों के लिए होने वाली होड़ समाप्त हो जायेगी। इस सिद्धान्त

की इस दृष्टि से आलोचना की जाती है कि वह जात-पाँत के दुष्परिणामों को स्थायी बनाकर समाज में निम्न समझी जाने वाली जातियों को ऊँचा उठाने तथा उन्नति करने के लिए अवसरों से वंचित करती है, क्योंकि इसके अनुसार भंगी तथा नाई के लड़के को सदैव अपने पिता के ही पेशे करने चाहिए किन्तु गांधीजी के मतानुसार यह आलोचना कई कारणों से सही नहीं है, जैसे-

(i) वे नाई व भंगी के प्रतिभासम्पन्न लड़कों द्वारा अन्य पेशे किये जाने में दोष नहीं समझते हैं, बशर्ते कि वे यह पेशा आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं, अपितु समाजसेवा के उद्देश्य से करें।

(ii) गांधीजी अपने वर्ण की धारणा में ऊँच-नीच की कल्पना को कोई स्थान नहीं देते हैं। गांधीजी कहते हैं कि, "मेरी समझ में कोई मनुष्य न तो जन्म से और न कर्म से ही बड़ा बन जाता है। मेरा विश्वास है कि जन्म के समय सभी मनुष्य बराबर होते हैं... मेरी राय में दूसरे किसी मनुष्य से श्रेष्ठ होने का दावा करना मनुष्यता को लांछन लगाना है।"

गांधीजी के उक्त कथन से स्पष्ट है कि वे वर्तमान समय में समाज में प्रचलित ऊँच-नीच के विचारों को नहीं मानते हैं, सभी पेशों को समानता की दृष्टि से देखते हैं, वे भंगी तथा ब्राह्मण के लड़के में प्रतिष्ठा और वेतन की दृष्टि से कोई भेद नहीं रखना चाहते। यदि समाज में यह व्यवस्था लागू हो जाए तो सामाजिक एवं आर्थिक विषमता तथा इससे उत्पन्न होने वाले भीषण वर्ग संघर्ष समाप्त हो जायेंगे ।

(2) अस्पृश्यता का अन्त- अस्पृश्यता भारतीय समाज का एक गम्भीर दोष रहा है। गांधीजी ने अस्पृश्यता के अन्त का बीड़ा उठाया और इसमें उन्हें भारी सफलता भी मिली ।

गांधीजी अस्पृश्यता को भारतीय समाज के लिए एक कलंक मानते थे और उनका कथन था कि यह एक ऐसा घातक रोग है, जो समस्त समाज को नष्ट कर देगा। वे अछूतों को समान राजनीतिक और आर्थिक अधिकार दिलाने के पक्ष में तो थे ही उनके द्वारा सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया गया कि

अछूतों को भी सवर्ण हिन्दुओं के समान मन्दिर में प्रवेश और पूजा-आराधना का अधिकार मिलना चाहिए।

(3) साम्प्रदायिक एकता सामाजिक क्षेत्र में गाँधीजी का एक प्रमुख आदर्श भारत के सभी सम्प्रदायों (हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई और पारसी) को एकता के सूत्र में आबद्ध करना था। उन्होंने साम्प्रदायिक एकता विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया और वे मि. जिन्ना के 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' को मानने के लिए कभी तैयार नहीं हुए। गाँधीजी का कहना था कि धर्म को राष्ट्रीयता का आधार नहीं माना जा सकता ।

(4) स्त्री सुधार गांधीजी ने पर्दा प्रथा, बाल-विवाह और देवदासी प्रथा, आदि स्त्री जीवन से सम्बन्धित बुराइयों का डटकर विरोध किया और इस बात का प्रतिपादन किया कि स्त्रियों को कानून तथा व्यवहार में पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त होने चाहिए, किन्तु गांधीजी इस बात के पक्ष में नहीं थे कि स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करें और घर से बाहर पुरुषों से प्रतियोगिता करें । उनका विचार था कि स्त्रियों का एकमात्र व पूर्ण कार्यक्षेत्र घर ही है।

(5) बुनियादी शिक्षा- शिक्षा के क्षेत्र में गांधीजी का महत्वपूर्ण योगदान है। उनका विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य शरीर, आत्मा व मस्तिष्क का समन्वित विकास है और इस दृष्टि से वे अंग्रेजों द्वारा भारत में स्थापित शिक्षा पद्धति को बहुत अधिक दोषपूर्ण मानते थे। उनका विचार था कि यह पद्धति युवकों का शारीरिक, बौद्धिक या आत्मिक किसी प्रकार का विकास करने में असमर्थ है। शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने के कारण विद्यार्थियों का और अहित होता है। देश की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए उनके द्वारा एक नवीन शिक्षा प्रणाली का सुझाव दिया गया जो 'बुनियादी शिक्षा' के नाम से प्रसिद्ध है। इस शिक्षा प्रणाली की विशेषताएँ निम्न प्रकार की हैं :

1. शिक्षा के अन्तर्गत प्रत्येक विद्यार्थी को मूलरूप में कोई न कोई दस्तकारी सिखायी जानी चाहिए और सब विषयों की शिक्षा उस दस्तकारी के द्वारा दी

जानी चाहिए जिसे 'सहसम्बन्ध का सिद्धान्त ' (Theory of Correlation) कहते हैं

2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो ।

3. शिक्षा स्वावलम्बी हो अर्थात विद्यार्थी जिस दस्तकारी के आधार पर शिक्षा प्राप्त करते हैं उस दस्तकारी से गांधीजी द्वारा शिक्षा में चरित्र निर्माण पर बहुत अधिक बल दिया गया था।

क्या गांधीजी अराजकतावादी थे

गांधी को कभी-कभी अराजकतावादी माना गया है। अराजकतावादियों के समान गांधी राज्य की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि को आशंका की दृष्टि से देखते थे और व्यक्ति की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता में उनकी आस्था थी, परन्तु व्यक्ति के सम्बन्ध में गांधीजी का दृष्टिकोण अराजकतावादी दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न था। गांधी व्यक्ति को मूलतः एक ऐसा सामाजिक प्राणी मानते थे जिसके सम्बन्ध राज्य के साथ न सही, समाज के साथ अविच्छिन्न और अटूट है। इसके विपरीत अराजकतावादी यह मानते हैं कि समाज से पृथक व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय-समय पर समाज के सम्पर्क में आता है। अराजकतावादियों की दृष्टि में व्यक्ति के अधिकार ही सब कुछ थे। समाज के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध उनकी दृष्टि में हिंसा पर आधारित थे, जबकि अराजकतावादियों ने राज्य के द्वारा की जाने वाली हिंसा को गलत माना है, परन्तु राज्य को नष्ट करने के लिए हिंसा के प्रयोग में अपनी आस्था प्रकट की है। गांधीजी की दृष्टि में सभी प्रकार की हिंसा, चाहे वह राज्य के द्वारा काम में लायी गयी हो अथवा व्यक्ति के द्वारा अनुचित थी।

अराजकतावादी भी दो प्रकार के हुए हैं- प्रूधों, बाकुनिन, क्रापोटकिन जैसे कट्टरपन्थी और विलियम गॉडविल और टॉलस्टाय जैसे मानवतावादी। दूसरे प्रकार के अराजकतावादियों और गांधी के दृष्टिकोण में कुछ समानता पायी जाती है। गॉडविन और टॉलस्टाय के समान ही गांधी का दृष्टिकोण भी मूलतः नैतिक था, परन्तु गांधी ने राज्य की ऐसी कार्यवाही को जो जनता के कल्याण

के लिए की गयी हो, तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि उसका स्वागत किया। यह मानते हुए कि कुछ काम ऐसे हैं जो राजनीतिक शक्ति के द्वारा ही किये जा सकते हैं।

गांधी ने न राज्य को स्वीकार किया और न राजनीति को। अराजकतावादियों का लक्ष्य राज्य कोनष्ट करना था, उसका पुनर्निर्माण नहीं, गांधी का प्रमुख लक्ष्य हिंसा और शोषण के आधार पर स्थापित वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना था जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति के इच्छापूर्वक सहयोग पर आधारित हो और जिसका लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण हो ।

वर्तमान में गांधीवाद की संगति एवं देन

(Relevance of Gandhism)

लार्ड बॉयड आर के अनुसार, "मेरे विचार से अब वह समय आ गया है जब गांधीजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को विश्वव्यापी स्तर पर व्यवहार में लाना चाहिए, इनका प्रयोग अवश्य करना चाहिए। इनका प्रयोग अवश्य किया जायेगा, क्योंकि जनता यह अनुभव करती है कि इसके सिवाय विनाश से परित्राण की कोई आशा नहीं हैं।" वर्तमान में गांधीवाद संगत है। युद्ध व संघर्ष से त्रस्त विश्व-राजनीति को बचाने का यही एकमात्र उपाय है। वैचारिक संघर्ष में न पड़कर विश्व को सर्वोदय का सन्देश गांधीजी की महत्वपूर्ण देन है। अहिंसात्मक क्रांति के रूप में यह मानव मात्र का नैतिक उत्थान करना चाहता है। मेकियावेली राजनीति से विश्व का उद्धार कभी नहीं हो सकता अतः गांधीजी राजनीति को धर्म से ओत-प्रोत करते हैं। स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल के मत में भारत के उद्धार और आर्थिक प्रगति का एकमात्र मार्ग गांधीवाद है। बेकारी की समस्या का निदान कुटीर उद्योगों की व्यवस्था से किया जा सकता है। संक्षेप में गांधीवाद असंगत नहीं है। यह एक शाश्वत दर्शन है और इसको व्यवहार में प्रयोग किया जा सकता है

5.13 गांधीवादी दर्शन की आलोचना

गांधीवाद की आलोचना

(गांधीवादी दर्शन की आलोचना)

गांधीवादी दर्शन की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :

(1) गांधीवाद मौलिक दर्शन नहीं है- गांधीवाद की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि मौलिक नहीं है। इसमें उदारवाद, समाजवाद, व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, आदि के तत्व मिला दिये गये हैं जिससे वह 'भानुमति का कुनबा' बन गया है।

(2) पूँजीवाद का समर्थन गांधीजी व्यक्तिगत सम्पत्ति और पूँजी के समर्थक हैं। वे ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त पर जोर देते हैं जो कभी पूरा नहीं हो सकता। इससे तो अन्ततोगत्वा पूँजीवाद की जड़ें सुदृढ़ होंगी। जर माम

(3) राज्य का विरोध अनुचित - गांधीजी राज्य का आधार हिंसा बताते हैं और उनका विरोध करते हैं। वर्तमान में राज्य द्वारा लोक कल्याण हेतु अनेक कार्य किये जा रहे हैं और राज्य को समाप्त करना अनुचित है।

(4) विरोधाभास - गांधीवाद अस्पष्ट एवं विरोधाभासी दर्शन है। एक स्थान पर गांधीजी राज्य का विरोध करते हैं तो दूसरे स्थान पर राज्य के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। एक तरफ अहिंसा की वकालत करते हैं तो दूसरी तरफ हिंसा को कतिपय स्थितियों में आवश्यक बताते हैं।

(5) राजनीतिक और धर्म का मिश्रण अनुचित- गांधीजी राजनीति में धर्म का प्रवेश चाहते हैं, किन्तु वर्तमान में पंथनिरपेक्ष राज्य का आदर्श ही अधिक उपयुक्त माना जाता है।

(6) सत्याग्रह का गलत प्रयोग- गांधीजी ने सत्याग्रह पर जोर दिया है, परन्तु वर्तमान में सत्याग्रह का दुरुपयोग हुआ है। हर कोई गांधीवाद की आड़ में 'भूख हड़ताल' अथवा 'उपवास' करने लग जाता है और इसका कानून और व्यवस्था पर गलत असर हुआ है।

इन आलोचनाओं के बावजूद यह तो मानना ही होगा कि "गांधीजी नैतिक एवं आध्यात्मिक क्रांति के महान देवता के रूप में सदैव स्मरण किये जायेंगे जिसके बिना इस पथ भ्रष्ट विश्व को शान्ति प्राप्त न होगी।"

5.14 सार संक्षेप

महात्मा गांधी (1869-1948) को 'राष्ट्रपिता' और आधुनिक भारत के प्रमुख वास्तुकारों में से एक माना जाता है। उन्होंने सत्य, अहिंसा, और सत्याग्रह के माध्यम से ब्रिटिश शासन के खिलाफ स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व किया। उनका जीवन भारतीय समाज के सभी वर्गों के उत्थान और मानवता के लिए समर्पित रहा। गांधीजी का व्यक्तित्व केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक और सामाजिक सुधारों का भी प्रतीक था। उन्होंने 'हरिजन आंदोलन', 'स्वदेशी आंदोलन', 'दांडी यात्रा' और 'भारत छोड़ो आंदोलन' जैसे ऐतिहासिक अभियानों का नेतृत्व किया।

5.15 मुख्य शब्द

1. सत्याग्रह: सत्य के लिए अहिंसात्मकसंघर्ष।

2. स्वराज: आत्म-शासन, या स्वतंत्रता।

3. अहिंसा: हिंसा से बचना और प्रेम कामार्ग अपनाना।

4. ट्रस्टीशिप: संपत्ति को समाज के लिएएक ट्रस्टी के रूप में उपयोग करना।

5. हरिजन: गांधीजी का समाज के दलित वर्गके लिए सम्मानसूचक शब्द।

6. स्वदेशी: स्थानीय उत्पादों का उपयोगऔर विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।

5.16 संदर्भ ग्रंथ

- गांधी, एम. (2017). *सत्य और अहिंसा का संदेश.* नई दिल्ली: नवभारत प्रकाशन।

- चंद्र, बी. (2018). *महात्मा गांधी और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन*. मुंबई: लोकभारती प्रकाशन।
- शर्मा, आर. (2019). *गांधी दर्शन और आधुनिक समाज*. जयपुर: राष्ट्रीय पुस्तकालय।
- मिश्रा, एस. (2020). *गांधीजी का जीवन और विचार*. वाराणसी: ज्ञान गंगा प्रकाशन।
- वर्मा, के. (2021). *गांधी का प्रभाव: एक आधुनिक दृष्टिकोण*. भोपाल: भारत विद्या प्रकाशन।
- तिवारी, पी. (2022). *महात्मा गांधी के पत्र और संवाद*. पटना: साहित्य लोक।
- कुमार, ए. (2023). *गांधी और विश्व शांति: एक अध्ययन*. चंडीगढ़: यूथ पब्लिकेशन्स।
- जोशी, एम. (2024). *महात्मा गांधी का समकालीन योगदान*. लखनऊ: प्रेरणा पब्लिकेशन।

स्व -प्रगति परिक्षण के प्रश्न

निम्नांकित में से कौन-सा कथन महात्मा गाँधी की भूमिका के सम्बन्ध में सत्य नहीं है:

(अ) प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश सरकार के प्रति सहयोग का आव्हान किया था,

(ब) जलियांवाला हत्याकाण्ड के बाद गाँधीजी का अंग्रेजों की न्यायप्रियता से विश्वास हिल गया,

(स)हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से गाँधीजी ने खिलाफत आन्दोलन काविरोध किया,

(द) गाँधीजी ने इस तथ्य को समझा कि जनशक्ति को संगठित और जागृत करके ही देश की स्वाधीनता के लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

2. रास्किन की पुस्तक 'अन टू दिस लास्ट' से गाँधीजी ने जो प्रेरणा ग्रहण की, उनमें निम्नांकित में से कौन-सी सम्मिलित नहीं है:

(अ) सत्य ही ईश्वर है,

(ब) सबकी भलाई में हमारी भलाई है,

(स) वकील और नाई, दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए,

(द) सादा, मेहनत मजदूरी का, किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

3. महात्मा गाँधी ने निरपेक्ष सत्य को परिभाषित किया :

(अ) सर्व हितकारी बात के रूप में,

(ब) समय विशेष पर अन्तरात्मा की आवाज के रूप में,

(स) अन्तिम सत्ता या ब्रह्म के रूप में, (द) एक असाध्य आदर्श के रूप में।

4. निम्नांकित में से कौन-सा कथन सत्य और अहिंसा के बीच सम्बन्ध के विषय में महात्मा गाँधी के सही दृष्टिकोण को व्यक्त करता है:

(अ) अहिंसा साध्य है और सत्य साधन है,

(ब) व्यक्ति सत्य के पालन के माध्यम से शनैः शनैः अहिंसा के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है,

(स) अहिंसा वह साधन है जिसके द्वारा सत्य की साधना की जा सकती है,

(द) सत्य व अहिंसा दोनों ही साध्य हैं, वस्तुतः वे एक ही बात को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किये गये दो शब्द हैं।

5. निम्न में से कौन-सा कथन, गाँधीजी द्वारा परिभाषित अहिंसा की श्रेणी में सम्मिलित नहीं है:

(अ) सज्जनों की अहिंसा,

(ब) बहादुरों की अहिंसा,

(स) व्यावहारिक अहिंसा,

(द) कायरों की अहिंसा ।

6. गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह है :

(अ) अपनी मान्यताओं के लिए उत्कृष्ट आग्रह,

(ब) अपने हितों की पूर्ति के लिए भौतिक शक्ति की दृष्टि से कमजोर लोगों द्वारा अपनाया जाने वाला उपाय,

(स) अपने हितों की पूर्ति के लिए, दूसरों पर दबाव डालने की प्रभावी पद्धति,

(द) अहिंसक पद्धति से सत्य के लिए आग्रह ।

7. निम्नांकित में से कौन-सा वाक्य धर्म के विषय में गाँधीजी के दृष्टिकोण को सही रूप में प्रस्तुतनहीं करताः

(अ) धर्म मुख्यतः आध्यात्मिक विषय है, अतः इसका सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों से कोई सम्बन्ध नहीं है,

(ब) धर्म में, अन्य मतों के प्रति असहिष्णुता तथा घृणा के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता,

(स) धर्म से प्रेरित व्यक्ति को दूसरों की सेवा के प्रति समर्पित होना चाहिए,

(द) दरिद्र नारायण की सेवा ही ईश्वर की भक्ति का सबसे अच्छा मार्ग है।

8- राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में गाँधीजी का अन्तिम आदर्श प्रतिमान है:

(अ) विकेन्द्रित ग्राम स्वराज्य,

(ब) संसदीय लोकतंत्र,

(स) अहिंसक लोकतंत्र,

(द) राज्यहीन समाज ।

5.17 स्व -प्रगति परिक्षणके प्रश्नकेउत्तर

[उत्तर- 1. (स), 2. (अ), 3. (ब), 4. (स), 5. (द), 6. (द), 7. (अ), 8. (अ)]

5.18 अभ्यास के प्रश्न

1.महात्मा गांधी के सत्याग्रह एवं ट्रस्टीशिप (प्रन्यास) सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।

2. महात्मा गांधी के राजनीतिक एवं आर्थिक विचारों की विवेचना कीजिए ।

3. महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित एक आदर्श राज्य के मुख्य लक्षणों का वर्णन कीजिए। ऐसे राज्यकी स्थापना किस सीमा तक सम्भव है ?

4 'गांधीजी एक दार्शनिक अराजकतावादी थे।' उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिए ।

5 सत्याग्रह पर गांधीजी के विचारों की विवेचना कीजिए ।

6. महात्मा गांधी के 'रामराज्य' की व्याख्या कीजिए ।

7-टिप्पणी लिखिए

1. वर्तमान में गाँधीवाद की प्रासंगिकता ।

2.गाँधीजी की अहिंसा की विशेषताएँ ।

3. गाँधी एवं राजनीति का आध्यात्मीकरण ।

इकाई 6

जवाहर लाल नेहरू

[JAWAHARLAL NEHRU]

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 जवाहरलाल नेहरू: जीवन परिचय

6.4 नेहरू की रचनाएँ

6.5 जवाहरलाल नेहरू के राजनीतिक एवं आर्थिक विचार

6.6 प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक

6.7 सार संक्षेप

6.8 स्व प्रगति प्रश्नों के उत्तर

6.9 मुख्य शब्द

6.10 संदर्भ ग्रंथ

6.11 अभ्यास के प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

1. प्रस्तावना- हमारी संस्कृति, सभ्यता व राष्ट्रीयता के प्रतीक पं. जवाहरलाल नेहरू स्वतंत्र देश के प्रधानमंत्री के रूप में सदैव अविस्मरणीय रहेंगे। उन्होंने स्वयं को राष्ट्रीय जीवन से इतना आत्मसात् कर लिया था कि उनके बिना हमारे लिए स्वतंत्र भारत की कल्पमा भी निरर्थक है। स्वतंत्रता व जनतंत्र के पुजारी, शान्ति के अग्रदूत तथा एक कर्मठ जननायक के रूप में भारत की आगे

आने वाली पीढ़ियाँ उनसे निरन्तर प्रेरणा लेती रहेंगी। उनके जीवन और कार्यों का गहरा प्रभाव हमारे चिन्तन, हमारे सामाजिक संगठन और हमारे बौद्धिक विकास पर पड़ा है। उन्होंने जिस तरह से इस शोषित व पीड़ित देश का नव-निर्माण किया उसका उदाहरण किसी देश के इतिहास में मिलना कठिन है।

नेहरू की प्रतिभा के अनेक पक्ष अब इतिहास का अंग बन चुके हैं, किन्तु इस महान राजनेता के आदर्शों और नीतियों को तब तक नहीं समझ पायेंगे, जब तक हम उस दर्शन को न समझ लें, जो इन आदर्शों और नीतियों में अन्तर्निहित था और यह न जान लें कि किस प्रकार इसने उनके विचारों के निर्माण में सहायता की।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के बारे में बतलाना है

1.राष्ट्रीय आंदोलन में भूमिका: स्वतंत्रता संग्राम में नेहरू जी के योगदान को समझना।

2. आधुनिक भारत के निर्माता: स्वतंत्रभारत में उनके राष्ट्र निर्माण प्रयासों और नीतियों (पंचवर्षीय योजना, औद्योगिकीकरण)का विश्लेषण।

3. धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र: भारत मेंधर्मनिरपेक्षता और लोकतांत्रिक मूल्यों को स्थापित करने में उनकी भूमिका।

4. अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण: गुटनिरपेक्षआंदोलन (NAM) और अंतरराष्ट्रीय कूटनीति में उनकी दृष्टि।

5. शिक्षा और विज्ञान: आधुनिक शिक्षा प्रणालीऔर वैज्ञानिक संस्थानों की स्थापना में उनका योगदान।

6. समाजवादी विचारधारा: भारत में समाजवादऔर आर्थिक योजनाओं के विकास के लिए उनके दृष्टिकोण को समझना

6.3 जवाहरलाल नेहरू : जीवन परिचय

जवाहरलाल नेहरू : जीवन परिचय

जवाहरलाल नेहरू का जन्म 14 नवम्बर, 1889 को इलाहाबाद में एक ऐसे कश्मीरी परिवार में हुआ था जो वैभव और प्रभाव की दृष्टि से बहुत ऊँचा माना जाता था। उनके पिता पं. मोतीलाल नेहरू अपने समय के माने हुए वकील थे, जिन्होंने अपने विशिष्ट ज्ञान और तर्कशक्ति के बल पर बहुत धन कमाया तथा ऐशो-आराम में जीवन व्यतीत किया। उनके रहन-सहन पर पाश्चात्य सभ्यता का पूरा प्रभाव था। बालक जवाहरलाल का लालन- पालन भी ऐसी ही वैभवपूर्ण परिस्थितियों में हुआ। पिता, जहाँ पाश्चात्य रहन-सहन से प्रभावित थे, उनकी माता स्वरूपरानी का हर साँस में भारतीय संस्कृति बसी हुई थी। इस प्रकार एक अनोखे वातावरण में बालक नेहरू का बचपन बीता।

PPS नेहरू की 12 वर्ष की आयु तक की प्रारंभिक शिक्षा घर में ही हुई। घर पर ही इनके लिए अंग्रेज और आयरिश शिक्षक रखे गये। इन्हीं में से एक थे मिस्टर ब्रुक्स जिनका नेहरूजी के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इन्होंने ही बचपन में नेहरू के दिल में मानवतावादी विचारों का बीज बोया। बाद में उन्हें इंग्लैण्ड भेज दिया, जहाँ से बी.ए. ऑनर्स तथा बैरिस्टरी पास करके जब 1892 में स्वदेश लौटे तब अपने पिता के साथ उन्होंने वकालत शुरू कर दी। इस बीच मोतीलाल जी ने राजनीति में भाग लेना शुरू कर दिया था।

भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर जवाहरलाल नेहरू का आविर्भाव धीमी गति से हुआ, परन्तु उनका प्रभाव अमिट था। 1926 तक उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में कोई खास योगदान नहीं किया। वे केवल कुछ संकोचपूर्वक गाँधीजी का ही अनुसरण करते रहे। 1926 में वे यूरोप गये, जहाँ वे लगभग 9 माह तक रहे। अपनी यूरोप यात्रा के बीच 1927 में उन्होंने ब्रुसेल्स में समाजवादियों एवं साम्यवादियों की कांग्रेस में भाग लिया, जिसका प्रभाव उनके मन पर गहरा पड़ा

और उनकी समाजवाद में आस्था पक्की हो गयी। नवम्बर 1927 में उन्होंने रूस की यात्रा भी की। 1927 और 1930 के मध्य नेहरू के समाजवादी चिन्तन का पर्याप्त विकास हुआ और यह उनकी राष्ट्रवादी विचार प्रणाली का मुख्य आधार बन गया। सन् 1929 में जवाहरलाल को कांग्रेस का सभापति चुन लिया गया। दिसम्बर 1929 में उन्होंने कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता की तथा पूर्ण स्वतंत्रता को भारत का अपरिवर्तनीय लक्ष्य बना दिया। अपनी अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने दृढ़तापूर्वक स्पष्ट कर दिया कि भारतीयों की स्वतंत्रता का अर्थ 'ब्रिटिश प्रभुत्व और ब्रिटिश साम्राज्यवाद' से पूर्ण स्वतंत्रता है। 31 दिसम्बर, 1929 को अर्द्ध-रात्रि के तुरन्त बाद उन्होंने रावी के किनारे (लाहौर में) तिरंगा फहराकर भारत के लिए पूर्ण आजादी का संकल्प दोहराया। यह राष्ट्रीय नीतियों में नेहरू की प्रमुख विजय थी।

1934 में कांग्रेस के मुम्बई अधिवेशन में उन्होंने स्वतंत्र भारत के लिए संविधान बनाने के उद्देश्य से संविधान सभा बुलाने का एक प्रस्ताव पेश किया जिसे कांग्रेस ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। पूर्ण स्वतंत्रता की माँग को दृष्टिगत रखकर ही नेहरू ने 1935 का भारत सरकार अधिनियम अस्वीकार कर दिया और उसे दासता का एक नया अध्याय बताया। गाँधीजी के 1940 के व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन में उन्होंने भाग लिया। 1942 में राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र हो गया। अन्य नेताओं के साथ श्री जवाहरलाल नेहरू को भी गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें अहमदनगर जेल में भेदज दिया गया। अहमदनगर जेल में वे लगभग तीन वर्ष तक रहे और वहाँ उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत की खोज' (Discovery of India) की रचना की। अगस्त 1846 में वायसराय लॉर्ड वैवेल ने श्री नेहरू से केन्द्र में अन्तरिम सरकार बनाने के लिए कहा। 13 दिसम्बर, 1946 को संविधान निर्मात्री सभा में उन्होंने अन्तरिम सरकार के अध्यक्ष के रूप में 'उद्देश्य प्रस्ताव' रखा, जिसके द्वारा भारत की आन्तरिक एवं बहय नीतियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। इस उद्देश्य प्रस्ताव के द्वारा उनकी प्रजातंत्र एवं समाजवाद में आस्था परिलक्षित होती है। 15 अगस्त, 1947 को जब विभाजन की कीमत पर देश को आजादी मिली तो जवाहरलाल स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने तथा 27

मई, 1964 के दिन तक अर्थात् अपनी मृत्यु के समय तक इस पद पर रहे। लगभग 17 वर्षों के अपने कार्यकाल में उन्होंने स्वतंत्र भारत को एक सबल आर्थिक और राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा को जमाने का श्रेय उन्हीं को जाता है।

6.4 नेहरू की रचनाएँ

जवाहरलाल नेहरू न केवल राजनीतिज्ञ एवं स्वाधीनता सेनानी थे अपितु एक दार्शनिक विचारक एवं विद्वान भी थे। उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं: विश्व इतिहास की झलक (Glimpses of World History, 1934); आत्मकथा (An Autobiography, 1936); भारत की खोज (The Discovery of India, 1947); आदि।

नेहरू के चिन्तन के दार्शनिक आधार

नेहरू का चिन्तन उनके पिता मोतीलाल नेहरू, महात्मा गाँधी, ऐनी बीसेण्ट, ब्रुक्स, रसेल, कार्ल मार्क्स, आइन्सटीन आदि से प्रभावित था। मोतीलाल पश्चिमी ढंग से रहते थे और वह धर्मानुवर्ती नहीं थे तथा जहाँ तक धार्मिक कट्टरता का सम्बन्ध है, वे उसके विरोधी थे। नेहरू के चिन्तन और व्यवहार को प्रभावित करने में सबसे अधिक निर्णायक भूमिका महात्मा गाँधी की रही। गाँधी से उन्होंने सत्याग्रह, अहिंसा, शान्ति और नैतिकता से परिपूर्ण राजनीति का पाठ पढ़ा। श्रीमती एनी बीसेण्ट के प्रभाव से ही उनकी रुचि थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रति बढ़ी। वे बर्नार्ड शॉ और वैब्स के फेबियनिज्म और बर्ट्रेण्ड रसेल तथा जॉन मेनार्ड कीन्स की बौद्धिक जागरूकता से भी प्रभावित हुए थे। कार्ल मार्क्स के भौतिकवादी विचारों का प्रभाव उन पर पड़ा, लेकिन वे पूर्ण भौतिकवादी कभी नहीं बन सके।

नेहरू पर बुद्ध और ईसा के विचारों का भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने बुद्ध और ईसा के समान ही मानव आदर्शों और नैतिकता की शक्ति में विश्वास प्रकट किया। उन पर गीता का भारी प्रभाव था, गीता के कर्म के सन्देश को उन्होंने अपने जीवन में उतारा था।

जवाहरलाल कट्टर अथवा उग्र नास्तिक अथवा भौतिकवादी नहीं थे, किन्तु वे अध्यात्मवादी भी नहीं थे। उन्होंने तत्वशास्त्र और ज्ञानशास्त्र की सूक्ष्म तथा जटिल समस्याओं पर विवाद में उलझने से इंकार कर दिया।

नेहरू का मानस- जवाहरलाल नेहरू का व्यक्तित्व वास्तव में अत्यन्त दुर्बोध्य था। अनेक व्यक्तियों, विचारों एवं भावधाराओं ने उन्हें जीवन में छुआ था। स्वभाव से भावुक एवं निष्ठावान होते हुए भी उनका जीवन एवं युग की समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण था। एक-दूसर से विपरीत विचारधाराओं के प्रभाव एवं सम्मिश्रण के कारण ही उनका व्यक्तित्व ऐसा उलझा हुआ प्रतीत होता है कि वह भारतीयों एवं पाश्चात्य विद्वानों के लिए एक पहेली बन गया था।

वास्तव में, श्री नेहरू का व्यक्तित्व अपने में पूर्णतः नवीन था। वे एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राजनीतिक सिद्धान्तों की अपेक्षा उनके व्यावहारिक स्वरूप को सँवारने में लगा दिया। साथ ही, सैद्धान्तिक पक्ष भी उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ। अपने असीमित अध्ययन एवं दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण निश्चय ही वे वर्तमान समस्याओं को उनकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के आधार पर तोलते थे। एक राजनीतिज्ञ होते हुए भी, वे मैकियाविलियन टाइप की राजनीति से दूर थे। धर्म के प्रति अधिक आस्था न रखते हुए भी निजी एवं सार्वजनिक जीवन में वे नैतिक मूल्यों को स्वीकार करते थे। गाँधीजी के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए तथा उनके (गाँधीजी) 'आदर्श की प्राप्ति हेतु श्रेष्ठ साधन ही उपयुक्त है' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी वे गाँधीजी के जीवन के प्रति आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण के सिद्धान्तों के प्रति सदैव उदासीन रहे। इसी प्रकार, मार्क्स के समाजवाद के प्रति आकृष्ट होकर भी उन्होंने मार्क्स के समग्र दर्शन को कभी भी अंगीकार नहीं किया। स्वभाव से वे हिंसा में विश्वास नहीं करते थे, अतः मार्क्सवाद उन्हें त्रुटिपूर्ण दिखायी दिया। सभी समस्याओं को उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व अनेक विरोधी तत्वों एवं विचारधाराओं का सम्मिश्रण था। इस विरोधाभास के रहते हुए भी, यदि हम उनकी प्रमुख भावनाओं एवं आशाओं को दृष्टि में रखकर उनके व्यक्तित्व को

समझने का प्रयास करें, तो उनकी जीवन एवं देश के प्रति आशाओं, भावनाओं एवं क्रिया-कलापों का चित्र हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है।

6.5जवाहरलाल नेहरू के राजनीतिक एवं आर्थिक विचार

नेहरू के राजनीतिक और आर्थिक विचार

(1) नेहरू और समाजवाद- नवम्बर 1927 में नेहरू ने सोवियत संघ की संक्षिप्त यात्रा की। उस यात्रा के दौरान उन्होंने स्वयं आँखों से उस देश की उन महान उपलब्धियों को देखा जो उसने शिक्षा, स्त्री उद्धार तथा किसानों की दशा के सुधार के क्षेत्र में प्राप्त की थीं। रूस से लौटने के बाद उन्होंने समाजवाद के विचारों को लोकप्रिय बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया। 1936 में कांग्रेस के लखनऊ में हुए अधिवेशन में उन्होंने कहा- "मैं इस नतीजे पर पहुँच गया हूँ कि दुनिया की समस्याओं और भारत की समस्याओं का समाधान समाजवाद में ही निहित है और जब मैं इस शब्द 'समाजवाद' को इस्तेमाल करता हूँ, तो किसी अस्पष्ट, मानवीयतावादी अर्थ में नहीं बल्कि एक वैज्ञानिक, आर्थिक क्षेत्र में।" किन्तु समाजवाद एक आर्थिक सिद्धान्त से भी बढ़कर कुछ है "यह जीवन का एक दर्शन है और इस रूप में यह मुझे भी भाता है। भारत की जनता की कंगाली, जबर्दस्त बेरोजगारी, दयनीयता और गुलामी को दूर करने का मैं समाजवाद के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं देख पाता हूँ। इसका मतलब है कि हमें अपने राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे में बहुत बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे, जमीनों और उद्योग- धन्धों का शिकंजा जमाये बैठे निहित स्वार्थों को और साथ ही, सामन्ती तथा निरंकुशवादी भारतीय रजवाड़ों की व्यवस्था को भी खत्म करना होगा। इसका मतलब है कि सिवाय एक सीमित अर्थ में- निजी सम्पत्ति को समाप्त करना होगा और मुनाफे खड़े करने की मौजूदा व्यवस्था की जगह, सहकारी सेवा के उच्चतर आदर्श को स्थापित करना होगा, इसका मतलब है कि अन्ततः हमें अपनी आदतों और इच्छाओं में परिवर्तन करना होगा। इसका मतलब है, एक नयी सभ्यता को कायम करना, जो मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था से मूलतः भिन्न होगी।"

इस प्रकार जवाहरलाल नेहरू के लिए समाजवाद केवल आर्थिक प्रणाली नहीं थी, वह एक जीवन दर्शन था। समाजवाद न केवल भारत से कंगाली, बेरोजगारी, निरक्षरता, बीमारी और गन्दगी मिटाने के लिए ही जरूरी था, वरन् मानव व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए भी जरूरी था। सुभाषचन्द्र बोस को 1939 में लिखे एक पत्र में नेहरू ने कहा था : "मैं समझता हूँ कि स्वभाव और प्रशिक्षण से मैं एक व्यक्तिवादी और बौद्धिक रूप से एक समाजवादी हूँ- फिर इस सबका कुछ भी मतलब क्यों न हो। मैं आशा करता हूँ कि समाजवाद मानव व्यक्तित्व को कुचलता या नष्ट नहीं करता, मैं तो दरअसल उसकी ओर इसलिए आकर्षित हूँ कि वह अगणित मनुष्यों को आर्थिक और सांस्कृतिक दासता के बन्धनों से मुक्त करेगा।"

स्वाधीनता के पश्चात् नेहरू ने अपनी पूरी शक्ति से समाजवादी आधार पर भारत के निर्माण का कार्य आरम्भ किया। अपने समाजवादी विचारों को क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने नियोजन का सहारा लिया। उनके अनुसार नियोजन का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना था। अवाड़ी और नागपुर में कांग्रेस महासमिति के अधिवेशनों में जो प्रस्ताव पेश हुए वे नेहरू द्वारा प्रेरित थे। वहीं कांग्रेस महासमिति ने यह निर्णय लिया कि "नियोजन समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य से होना चाहिए, जहाँ उत्पादन के प्रमुख साधन सामाजिक स्वामित्व एवं नियंत्रण के अन्तर्गत होंगे और जहाँ राष्ट्रीय सम्पदा का समान वितरण होगा।" भूमि सुधार सम्बन्धी नागपुर प्रस्ताव में भूमि की अधिकतम सीमा के निर्धारण और संयुक्त सहकारिताओं पर बल दिया गया। इस प्रकार कांग्रेस श्री नेहरू के गतिशील नेतृत्व में भारत को लोकतंत्रीय समाजवादी समाज बनाने की दिशा में बढ़ चली।

यहाँ श्री नेहरू के आर्थिक विचारों के सम्बन्ध में, जो समाजवादी विचारधारा से ओत-प्रोत थे, कुछ बातें स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वे अर्थशास्त्र की उदारवादी श्रेणी में विश्वास नहीं करते थे, यद्यपि स्वतंत्रता सम्बन्धी उनके विचार पर्याप्त मात्रा में उदारवादी थे। न तो वे रिकार्डो की भाँति आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति के समर्थक थे और न ही वे अर्थशास्त्र की फिजिओक्रेटिक पद्धति में विश्वास करते थे। उनके विचार बहुत कुछ जर्मन समाजवादी वैगनर, श्मोलर

तथा कीन्स से मिलते-जुलते थे। उद्योगों को राजकीय सहायता के समर्थन के साथ- साथ वे आर्थिक विकास में व्यक्तिगत अथवा दलित क्षेत्र के महत्व को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।

श्री नेहरू का सम्पूर्ण आर्थिक दर्शन समाजवादी विचारधारा पर आधारित था और उनका समाजवाद केवल आर्थिक संगठन का साधन मात्र न होकर एक जीवन का दर्शन था। वे मैक्स एडलर की भाँति समाजवादी थे।

श्री नेहरू की दृष्टि में समाजवाद का अर्थ पूर्ण राष्ट्रीयकरण नहीं था। अपनी आर्थिक योजना में वे ग्रामीण उद्योग-धन्धों तथा खादी को भी स्थान देते थे। यहाँ उनके ऊपर गाँधीजी का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। वास्तव में, श्री नेहरू ने आर्थिक क्षेत्र में पश्चिमी ढंग की समाजवादी अर्थव्यवस्था तथा गाँधीवादी अर्थव्यवस्था का समन्वय करने का प्रयास किया। 1945 में राष्ट्रीय नियोजन समिति के समक्ष अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कुटीर उद्योगों तथा रोजगार की समस्या पर बल दिया था।

अपनी समाजवादी अवधारणा पर चलते हुए नेहरू ने मिश्रित आर्थिक व्यवस्था (Mixed Economy) को प्रश्रय दिया जिसमें निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र समानान्तर रूप में कार्य करेंगे। उनका उद्देश्य एक ऐसे आर्थिक ढाँचे का निर्माण करना था जो बिना व्यक्तिगत एकाधिकार तथा पूँजी के केन्द्रीकरण के अधिकतम उत्पादन प्रदान कर सके और शहरी एवं ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में उपयुक्त सन्तुलन पैदा कर सके। नेहरू ने जीवन, समाज और सरकार के सम्बन्ध में समाजवाद तथा लोकतांत्रिक साधनों के माध्यम से समाजवादी समाज की स्थापना में निष्ठा प्रकट की। 1958 में 'समाजवाद' पर विचार प्रकट करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा- "मैं उस उग्र प्रकार का समाजवाद नहीं चाहता जिसमें राज्य सर्वशक्ति सम्पन्न होता है।" अपने समाजवाद की स्थापना के लिए नेहरू बल प्रयोग या हिंसात्मक साधनों के विरुद्ध थे। हमारे सामने प्रश्न यह है कि शांतिपूर्ण तथा न्यायोचित उपायों से गणतंत्र और समाजवाद को एक साथ कैसे संयुक्त किया जाये। भारत के सामने यही समस्या उपस्थित है। हम इस उद्देश्य को बलपूर्वक अथवा दबाव से पूरा नहीं कर सकते। हमें लोगों की सद्भावना तथा सहयोग प्राप्त करना है।

यह बात स्पष्ट है कि नेहरू समाजवाद में विश्वास करते हुए भी जनतंत्रीय पद्धति का ही समर्थन करते थे। भावनात्मक स्तर पर तो नेहरू का झुकाव लोकतंत्र की ओर था। समाजवाद के प्रति उनका आकर्षण बौद्धिक था- मार्क्स द्वारा की गयी इतिहास की आर्थिक विवेचना में विश्वास के कारण। अतः समाजवाद को ग्रहण कर लेने पर भी उन्होंने लोकतंत्र को कभी नहीं छोड़ा।

(2) नेहरू और लोकतंत्र- नेहरू का चिन्तन और उनके कार्यकलाप इस बात के प्रतीक हैं कि वे महान लोकतांत्रिक थे। नेहरू ने लोकतंत्र को केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा अपितु आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र को भी लोकतंत्र की परिधि में लिया। उनका कहना था कि नागरिकों को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता देना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें अवसरों की समानता दी जानी चाहिए। सामाजिक अस्पृश्यताओं और घोर आर्थिक असमानताओं से पूर्ण समाज कभी लोकतांत्रिक नहीं हो सकता।

महात्मा गाँधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी होने के कारण नेहरू साध्य की ही सात्विकता में विश्वास नहीं करते थे, वरन् साथ-साथ साधन की पवित्रता पर भी बल देते थे। साधन के रूप में उन्होंने लोकतंत्र का ही प्रयोग किया। उन्हें सत्तावाद तथा हिंसा से घृणा थी। वे चाहते थे कि भारत पश्चिम के उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों के समकक्ष स्थान प्राप्त कर ले, किन्तु इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए उन्होंने अधिनायकतंत्रीय यंत्रीकृत हिंसा के मार्ग का परित्याग कर दिया था। नेहरू ने अपने अगणित भाषणों तथा अविराम यात्राओं के द्वारा जनता से सम्पर्क स्थापित करने की प्रणाली विकसित कर ली थी। इससे नेता का जनता के साथ एकात्म्य स्थापित होता है। यह बात लोकतांत्रिक प्रक्रिया के लिए बड़ी लाभकारी सिद्ध होती है। नेहरू ने जनता को निरन्तर अनुशासन तथा भाईचारे की प्रेरणा दी। इसमें उनका उद्देश्य उस सामुदायिक भावना को दृढ़ करना था जिसे मैकाइवर ने लोकतांत्रिक व्यवस्था का आधार बताया है। नीम को नेहरू अपने विरोधियों के विचारों के प्रति सहनशीलता और सम्मान की भावना रखते थे। उनकी दृष्टि में हठवादिता और रूढ़िवादिता की प्रवृत्ति लोकतंत्र के लिए घातक थी। लोकतांत्रिक भावना की माँग है कि हम अपनी समस्याओं का निराकरण आपसी विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क और शांतिपूर्ण उपायों से करें।

नेहरू संसदीय सरकार को अधिक अच्छा इसलिए समझते थे कि यह समस्याओं को हल करने का एक शांतिपूर्ण उपाय है। उन्हीं के शब्दों में, "इस प्रकार की सरकार में वाद-विवाद, विचार-विमर्श और निर्णय करने की और उस निर्णय को तब भी स्वीकार करने की पद्धति अपनायी जाती है, जब कि कुछ लोग असहमत होते हैं। फिर भी संसदीय सरकार में अल्पसंख्यकों का बहुत महत्वपूर्ण भाग रहता है। यह स्वाभाविक है कि बहुसंख्यकों को केवल इस कारण कि वे बहुसंख्यक हैं, अपने मार्ग पर चलने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, किन्तु अल्पसंख्यकों की उपेक्षा करने वाला बहुसंख्यक दल अपना काम संसदीय गणतंत्र की सही भावना से नहीं कर रहा होता।" नेहरू हर काम को लोकतांत्रिक ढंग से करने के आदी थे। वे समुचित वैज्ञानिक साधनों द्वारा अपनी माँगें मनवाने और निर्णयों में परिवर्तन कराने के पक्ष में थे, लेकिन प्रत्यक्ष कार्यवाही जैसी कोई भी आन्दोलनात्मक तकनीक उनकी दृष्टि में अलोकतांत्रिक थी। सर्वाधिकारवाद और हिंसात्मक साधनों के प्रति उनका विरोध इतना उग्र था कि उन्होंने एक ऐसे समय मुसोलिनी और हिटलर से मिलने तक से इन्कार कर दिया जब विश्व के बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ इन तानाशाहों से मिलने में अपना गौरव समझते थे।

यद्यपि भारतीय संविधान के 19वें अनुच्छेद के संशोधन की तथा निवारक नजरबन्दी अधिनियम की पर्याप्त आलोचना हुई है, किन्तु नेहरू ने उसे परिस्थितियों की आवश्यकता के नाम पर उचित ठहराया। उन्होंने कहा कि, राजनीतिक तथा नागरिक स्वतंत्रता की व्याख्या भी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों तथा संकटों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए।

नेहरू का दृढ़ विश्वास था कि लोकतंत्र की बुराइयाँ ऐसी नहीं हैं कि उन्हें दूर नहीं किया जा सकता। यदि उत्कृष्ट नैतिक चरित्र का पालन किया जाये तो लोकतंत्र के सफल संचालन में कोई संदेह नहीं।

नेहरू ने संसदीय लोकतंत्र की सफलता के लिए वयस्क मताधिकार के महत्व को स्वीकार किया। नेहरू के अनुसार वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है केन्द्रीकरण तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता की समस्या को सुलझाना। उनके अनुसार इस समस्या का समाधान संसदीय लोकतंत्र में ही निहित है। नेहरू ने समाजवाद से

प्रेरणा प्राप्त कर लोकतंत्र को समाजवादी लोकतंत्र के रूप में परिष्कृत करने का सुझाव दिया। नेहरू ने लोकतंत्र के विकास के लिए सैद्धांतिक समाजवाद को अपनाने का आग्रह किया।

(3) **नेहरू तथा मार्क्सवाद**- नेहरू मार्क्सवाद के प्रशंसक थे। वे मार्क्स के सामाजिक तथा आर्थिक दर्शन को अत्यधिक वैज्ञानिक एवं विवेकयुक्त मानते हुए भी मार्क्सवाद से पूर्णतया सहमत नहीं थे। नेहरू के अनुसार मार्क्सवादी विश्लेषण में ऐतिहासिक शक्तियों के महत्व को आर्थिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का अभिप्राय तार्किक था, किन्तु मार्क्स का यह विश्लेषण भविष्य में आने वाले अन्य प्रभावों को आत्मसात् नहीं कर सकता था। अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा,, जानि "मार्क्स तथा लेनिन के अध्ययन ने मेरे मन पर शक्तिशाली प्रभाव डाला और मुझे इतिहास तथा सामाजिक घटनाओं को एक नयी दृष्टि से देखने में सहायता दी.... सामाजिक विकास के सम्बन्ध में मार्क्स का सामान्य विश्लेषण असाधारण तौर पर सही जान पड़ता है, फिर भी बाद में अनेक ऐसी घटनाएँ घटी हैं जो निकट भविष्य को ध्यान में रखते हुए उसके दृष्टिकोण से मेल नहीं खातीं।"

(4) **नेहरू तथा साम्यवाद**- नेहरू का विश्वास था कि सोवियत संघ के आविर्भाव के साथ मानवता के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ है, किन्तु सोवियत समाज के नकारात्मक पहलुओं की उन्होंने आलोचना भी की। "कभी-कभी वहाँ की कुछ बातें और घटनाएँ मुझे पसन्द नहीं आयीं या मेरी समझ में नहीं आयीं, उन्होंने लिखा, "और मुझे ऐसा लगा कि उन सब बातों का ताल्लुक या तो उस वक्त के लिए जरूरी अवसरवाद या सत्ता की राजनीति से था।" एक दूसरी जगह उन्होंने लिखा, "समाजवाद और कम्युनिज्म की ओर मुझे काफी अर्से से आकर्षण था और रूस ने मुझे प्रभावित किया। सोवियत रूस की बहुत-सी बातें मुझे पसन्द नहीं हैं- हर विरोधी विचार का निर्ममता से दमन, पूरे पैमाने पर एकमार्गीकरण, विभिन्न नीतियों को चलाने में बेजरूरत हिंसा।" किन्तु इन सब बातों के बावजूद उन्हें इस बात में सन्देह नहीं था कि सोवियत क्रांति के साथ मानव समाज ने एक जबरदस्त छलांग लगायी है और एक ऐसी

मशाल जलाई है जिसे बुझाया नहीं जा सकता और एक ऐसी नयी सभ्यता की नींव डाली है, जिसकी ओर समस्त संसार बढ़ सकता है।" और भी, "मैं उस नयी व्यवस्था और नयी सभ्यता के महान् और मोहक विकास को हमारे इस अन्धकारपूर्ण युग के लिए अत्यन्त ही आशापूर्ण समझता हूँ। भविष्य यदि हमें आशाप्रद दिखाई देता है, तो बहुत हद तक सोवियत संघ और उसने जो कुछ किया है उसके कारण।"

(5) **नेहरू और राष्ट्रवाद**- नेहरू एक महान् राष्ट्रवादी थे, किन्तु उन्होंने राष्ट्रवाद का कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया था। उनका राष्ट्रवाद रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा प्रतिपादित समन्वयात्मक सार्वभौमवाद से प्रभावित थी। उन्हें विवेकानन्द और अरविन्द के राष्ट्रवाद सम्बन्धी धार्मिक दृष्टिकोण से सहानुभूति नहीं थी। धार्मिक राष्ट्रीयता की धारणा उन्हें बेहूदा लगती थी। जब जिन्ना ने धर्म को लेकर मुस्लिम राष्ट्रीयता के लिए पैरवी की थी तो नेहरू को यह जानकर दुःख हुआ तब उन्होंने कहा था कि, "यदि राष्ट्रीयता का आधार धर्म है तो भारत में न केवल दो वरन् तमाम राष्ट्र मौजूद हैं। भारत की राष्ट्रीयता न तो हिन्दू राष्ट्रीयता है न मुस्लिम, वरन् यह विशुद्ध भारतीय है।

नेहरू ने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय पर अत्यधिक बल दिया और साम्राज्यवाद का प्रबल विरोध किया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्षशील देश में राष्ट्रवाद एक स्वस्थ शक्ति होती है, लेकिन देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद वही राष्ट्रीयता प्रतिक्रियावादी और विकीर्ण भी बन सकती है। अतः ऐसी संकीर्ण राष्ट्रीयता से सदैव बचना चाहिए। नेहरू ने राष्ट्रवाद में मानवता का समावेश किया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद के नाम पर धर्म, जाति और संस्कृति का सहारा नहीं लेना चाहिए। नेहरू ने एक सच्चे राष्ट्रवादी के रूप में हर देश की आजादी को समर्थन दिया। उन्होंने मिस्त्र, मोरक्को, इण्डोनेशिया, अल्जीरिया, कांगो, आदि देशों की आजादी के वास्ते हुए राष्ट्रीय आंदोलनों का समर्थन किया। अरब राष्ट्रवाद के अभ्युदय के समय उन्होंने कहा, "एक पराधीन देश के लिए शांति का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि शांति तो स्वतंत्रता के बाद ही स्थापित हो सकती है इसलिए साम्राज्यों को मिटना ही चाहिए उनका जमाना बीत चुका है।" नेहरू ने राष्ट्रवाद के उदार स्वरूप को ग्रहण किया और ऐसे राष्ट्रवाद को

ठुकरा दिया जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति में बाधक हो तथा अपने स्वरूप में आक्रामक हो। उनके अनुसार उग्र राष्ट्रवाद से नस्लवाद, राष्ट्रों के प्रति घृणा, साम्राज्यवाद, युद्धवाद, आदि बुराइयों का जन्म होता है।

(6) **नेहरू और हिन्दू**-मुस्लिम एकता- नेहरू ने स्वीकार किया कि भारत में नस्ली और सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं, किन्तु इन भिन्नताओं का धार्मिक विभाजनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। "किसी व्यक्ति को अगर एक- दूसरे मजहब से मिला लिया जाता है, तो इससे उनका न तो ऐतिहासिक गठन और न उसकी नस्ली विशेषताएँ बदलती हैं; न ही किसी बड़ी हद तक उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बदलती है। सांस्कृतिक श्रेणियाँ राष्ट्रीय होती हैं, धार्मिक नहीं और आधुनिक परिस्थितियाँ तो एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रेणी के निर्माण में सहायता कर रही हैं। उन्होंने घोषणा की, "मैं न केवल इस बात को मानता हूँ कि एक एकात्मक भारतीय राष्ट्र का होना सम्भव है बल्कि बुनियादी तौर से और सांस्कृतिक रूप से कितने ही ऊपरी भेदभावों के बावजूद यह राष्ट्र मौजूद है।"

जवाहरलाल नेहरू ने ऐतिहासिक दृष्टि से सम्प्रदायवाद की वृत्ति के कारणों का विश्लेषण करने और उसमें अन्तर्निहित आर्थिक ध्येयों को खोज निकालने की कोशिश की। उन्होंने देखा कि दोनों तरफ के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञों में नौकरियों और धारा सभाओं में सीटों के प्रतिशत को लेकर झगड़ों के पीछे, एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न था जो ठीक-ठीक साम्प्रदायिक तो नहीं था, किन्तु साम्प्रदायिक मसले को प्रभावित अवश्व कर रहा था। कुछ प्रान्तों में, समग्र रूप से धनी वर्ग हिन्दू थे और मुसलमान गरीब वर्गों के थे, अतः दोनों में टकराव अक्सर आर्थिक मामलों को लेकर होता था, किन्तु इस टकराव पर साम्प्रदायिक रंग चढ़ा दिया जाता था। इस परिस्थिति की नेहरू ने इस प्रकार व्याख्या की, "समूचे तौर पर हिन्दुओं की आर्थिक स्थिति बेहतर रही है। अंग्रेजी शिक्षा जल्दी प्राप्त कर लेने के कारण वे अधिकांश सरकारी नौकरियों पर जम गये। वे ज्यादा मालदार भी थे। गाँव का साहूकार या महाजन बनिया होता है जो छोटे जमींदारों और किसानों का शोषण करता है और धीरे-धीरे उन्हें भिखारी बना देता है। जबकि जमीन को वह खुद अपनी मुट्ठी में कर लेता है। बनिया हिन्दू और मुसलमान, किसानों और जमींदारों का समान रूप से शोषण करता है, किन्तु

उसके द्वारा मुसलमानों के शोषण ने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया, खासकर उन प्रान्तों में जहाँ खेती करने वाले मुख्यतः मुसलमान थे। मशीन से तैयार माल के चलन में सम्भवतः मुसलमानों को ज्यादा गहरा धक्का लगा क्योंकि ज्यादातर कारीगर मुसलमान थे। इन तथ्यों के फलस्वरूप भारत के इन दो प्रमुख समुदायों के बीच कटुता और भी बढ़ गयी और मुस्लिम राष्ट्रवाद मजबूल हुआ क्योंकि मुसलमान अपने समुदाय की ओर ज्यादा और मुल्क की ओर कम देखने लगे.....। उनके साम्प्रदायिक स्तर पर ही उन्हें पराजित करने के लिए हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन मैदान में आये। ये संगठन दिखावा तो ऐसा करते थे जैसे वे ही सच्चे राष्ट्रवादी हों, किन्तु ये उतने ही संकीर्णतावादी और तंगदिल थे जितन कि दूसरे।"

किन्तु एक साम्प्रदायिकता ने दूसरी को खत्म नहीं किया, दोनों ने एक-दूसरे को बलिष्ठ ही बनाया। हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने मुसलमानों के सम्प्रदायवाद को बढ़ाया और हिन्दुओं के प्रति उन्हें और भी अधिक अविश्वासी बना दिया। नेहरू ने बार-बार कहा कि सम्प्रदायवाद राजनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रियावादियों के हाथ का हथियार है जिसके जरिये वे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में रुकावटें डालते हैं और उच्चतर वर्गों की सुख-सुविधाओं को संरक्षित बनाये रखते हैं। नेहरू का विश्वास था कि इन लोगों को पराजित करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता अनिवार्य है और इस मामले में हिन्दुओं के कन्धों पर विशेष जिम्मेदारी थी क्योंकि वे बहुसंख्यक समुदाय थे और आर्थिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से, मुसलमानों से समग्र रूप से काफी बढ़े हुए थे।

नेहरू का मत था कि हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्खों तथा भारत के अन्य ऐसे ही समूहों के सैद्धांतिक एकरूपीकरण से ही सच्ची राष्ट्रीयता की वृद्धि हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं था कि भारत के सांस्कृतिक ढाँचे में जो विविधता है वह खत्म कर दी जायेगी। इसका अर्थ तो यह था कि एक समान राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास होगा।" मैं नहीं सोचता", "उन्होंने कहा, "कि हिन्दू-मुस्लिम एकता या दूसरी कोई एकता मंत्र की तरह 'एकता' शब्द को जपने से आयेगी। एकता आयेगी इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है, लेकिन यह नीचे से आयेगी, ऊपर से महीं क्योंकि ऊपर जो लोग हैं उनमें से बहुतों की

दिलचस्पी ब्रिटिश आधिपत्य को कायम रखने में है और उसके जरिये वे अपने विशेषाधिकारों को बनाये रखने की आशा लगाये हैं.....।" स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी नेहरू ने सम्प्रदायवाद का विरोध किया। सन् 1955 में उन्होंने कहा "लेकिन हमें यह नहीं भूलना है कि सम्प्रदायवादियों का सोचने-समझने का तरीका बहुत खतरनाक है। अगर हम इस किस्म के सम्प्रदायवाद को कायम रहने देते हैं, फिर यह चाहे हिन्दू या मुस्लिम, सिक्ख या ईसाई सम्प्रदायवाद हो, तो भारत वह नहीं रहेगा, जो आज है। भारत के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।"

(7) **नेहरू और धर्मनिरपेक्षतावाद**- नेहरू ने धर्म तथा राजनीति के साम्प्रदायिकता के रूप में गठबन्धन को देश के लिए घातक बताया। उन्होंने दैविक राज्य की मान्यता के विपरीत धर्मनिरपेक्ष को समर्थन प्रदान किया। वे भारत राष्ट्र की बहुधर्मिता के विचार से प्रभावित थे और चाहते थे कि भारत में धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार समस्त सम्प्रदायों को समान रूप से प्राप्त हो। धर्म प्रधान राज्य के रूप में भारत एक प्रमुख धर्म को मान्यता देकर शेष धर्मों के प्रति अन्याय नहीं कर सकता था। नेहरू के अनुसार धार्मिक राज्य का विचार सदियों पहले त्यागा जा चुका है। अतः भारत को संकीर्णता की परिधि से निकलकर सभी धर्मों के साथ समता का व्यवहार करना है ताकि एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित हो सके। धर्मनिरपेक्षता पर विचार व्यक्त करते हुए अपने एक भाषण में उन्होंने कहा- "भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, इसका अर्थ धर्महीनता नहीं, इसका अर्थ सभी धर्मों के प्रति समान आदर-भाव तथा सभी व्यक्तियों के लिए समान अवसर है- चाहे कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म या अनुयायी क्यों न हो।"

नेहरू की धर्मनिरपेक्षता से यह अर्थ निकालना भ्रामक होगा कि वे अधार्मिक थे अथवा धर्म और ईश्वर से उन्हें घृणा थी। वस्तुतः नेहरू की प्रवृत्ति सत्य को ग्रहण करने की, संकीर्णता और अन्धविश्वास से मुक्त रहने की थी। धर्म के वैज्ञानिक और स्वस्थ दृष्टिकोण से उन्हें कोई चिढ़ न थी। उनके जीवन दर्शन में अंधविश्वास, कट्टरता, कर्मकाण्ड और संस्कारवाद को स्थान न था। धर्म को वे सामाजिक हितों का महान साधन मानते थे। धर्म से उनका आशय था निष्ठापूर्वक सत्य की खोज करना, सत्य के लिए सब कुछ बलिदान करने को

उद्यत रहना। इस अर्थ में, नेहरू ने कहा था, उन्हें धार्मिक कहलाने में कोई आपत्ति नहीं थी। वे मानते थे कि मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति को उसकी आध्यात्मिक उन्नति से भी अनिवार्यतः सम्बद्ध किया जाना चाहिए। 1960 में उन्होंने कहा था "मैं किसी धर्म या मताग्रह से बँधा नहीं हूँ, परन्तु कोई इसे धर्म कहे या नहीं, मैं मनुष्यों की अन्तर्जात आध्यात्मिकता में विश्वास करता हूँ। मैं व्यक्ति की अन्तर्जात गरिमा में विश्वास करता नेहरू और लोककल्याणकारी राज्य- नेहरू आर्थिक स्तर पर भारत को लोककल्याणकारी राज्य बनाने हेतु जीवन-पर्यन्त प्रयत्नशील थे। समाजवादी ढंग का कल्याणकारी राज्य वर्षों से, निश्चय ही 1927 से नेहरू का भारत के लिए आदर्श रहा।

भारत को जनकल्याणकारी रूप देने में नेहरू ने सामुदायिक योजना को पर्याप्त महत्व दिया। भारत के लिए नेहरू जिस कल्याणकारी राज्य को चाहते थे उसमें गरीबी और पिछड़ेपन का कोई स्थान न था।नेहरू का मानवतावाद- नेहरू एक राजनीतिज्ञ थे, लेकिन आदर्शवाद में उनकी गहन आस्था जीवन भर बनी रही। पीड़ित और शोषित लोगों के प्रति उनके हृदय में अगाध प्रेम और सहानुभूति थी। नेहरू जीवन- पर्यन्त मानव जीवन के उच्चतर मानदण्डों के लिए संघर्षरत रहे। उनका मानव अस्तित्व और उसकी सत्ता में गहन विश्वास था। मानवतावाद में अटूट विश्वास के कारण ही वे लोकतांत्रिक समाजवादी बने रहे और साम्यवाद के हिंसक तथा अनैतिक साधनों के प्रति उन्हें कभी कोई आकर्षण नहीं रहा। 1960 में उन्होंने कहा था, "मैं किसी धर्म अथवा मताग्रह से बँधा नहीं हूँ, परन्तु इसे कोई धर्म कहे या नहीं, मैं मनुष्यों की अन्तर्जात आध्यात्मिकता में विश्वास करता हूँ। मैं व्यक्ति की अन्तर्जात गरिमा में विश्वास करता हूँ। मैं समझता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर दिये जाने चाहिए। मैं ऐसे समानतापूर्ण समाज के आदर्श में विश्वास करता हूँ जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच बहुत अन्तर न हो- भले ही इस आदर्श को प्राप्त करना कठिन हो।" में एक के कोरिया शिगंगा क

जीवन के प्रति नेहरू का दृष्टिकोण एक किस्म का नैतिक दृष्टिकोण था। देश की राजनीतिक समस्याओं के लिए उन्होंने यथाशक्ति नैतिक सिद्धान्तों का

उपयोग करने की कोशिश की। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में, "एक मानव के रूप में उनके चिन्तन में सुकुमारता, भावना की अद्‌वितीय कोमलता और महान् एवं उदार प्रवृत्तियों का अद्‌भुत सम्मिश्रण था।"

नेहरू और सामाजिक परिवर्तन-

सामाजिक परिवर्तन के लिए नेहरू ने गाँधीजी के विचारों को स्वीकार नहीं किया। गाँधीजी की धारणा थी कि व्यक्तियों का सुधार सामाजिक विकास का प्रतीक बन सकता है, नेहरू को समीचीन प्रतीत नहीं हुआ। नेहरू समाज की प्रगति के लिए विज्ञान की उपलब्धियों एवं भौतिक सुविधाओं को महत्व देते थे। नेहरू के अनुसार ग्रामोद्‌योगों की स्थापना तथा पुरातनपन्थी जीवन की पुनरावृत्ति से प्रगति प्राप्त नहीं की जा सकती। प्रगति के लिए आवश्यक है कि समाजवाद का लक्ष्य निर्धारित किया जाये। सार्वजनिक हित में उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था की जाये। यदि राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ ऐसे परिवर्तन का विरोध करें तो उन्हें भी बदल दिया जाये। ट्रस्टीशिप के नाम पर पहले पूँजीपति को पनपने देना और फिर उससे सार्वजनिक हित में सम्पत्ति के प्रयोग की कामना करना नेहरू को स्वीकार नहीं था। वे परिवर्तन की प्रक्रिया को पूरा करने के लिए संसदात्मक लोकतंत्र को सही मानते थे।नेहरू तथा राज्य एवं व्यक्ति- राज्य की अनिवार्यता के बारे में नेहरू का अटूट विश्वास था। नेहरूकी मान्यता थी कि व्यक्ति और समाज के लिए राज्य का अस्तित्व अपरिहार्य है। राज्य के मूल में हिंसा छिपी है, इस तर्क के आधार पर वे राज्य का परित्याग करने को तैयार न थे। नेहरू इस व्यक्तिवादी विचार से सहमत नहीं थे कि वही सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करे। नेहरू का कहना था कि राज्य का कार्य केवल रक्षात्मक ही नहीं है वरन् व्यक्ति और समाज के पोषण का भार भी बहुत कुछ राज्य पर है। नेहरू कल्याणकारी राज्य के सिद्‌धान्त के प्रति निष्ठावान थे, अतः राज्य को केवल पुलिस कार्यों तक ही सीमित न देखकर वे जीवन के हर क्षेत्र में राज्य के कार्यों के स्वस्थ विस्तार के पोषक थे। राज्य के कार्यों के विस्तार की दृष्टि से नेहरू ने भारी उद्‌योगों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया, लेकिन वे जानते थे कि राष्ट्रीयकरण से शासन में अत्यधिक केन्द्रीकरण की प्रवत्ति को बल मिलेगा। नेहरू शासन के केन्द्रीकरण को इस हद

तक नहीं बढ़ाना चाहते थे कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए खतरा बन जाये। इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने सामुदायिक विकास योजना और पंचायती राज का समर्थन किया ताकि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के क्षेत्र का प्रसार हो तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता को संरक्षण मिले।

नेहरू तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद- नेहरू महान् अन्तर्राष्ट्रीयवादी थे। वे शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा एक विश्व राज्य के आदर्श में विश्वास करते थे। संयुक्त राष्ट्र संघ के आदर्शों में उनका दृढ़ विश्वास था।

भारत के लिए गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति उनका सबसे बड़ा योगदान है। इस नीति का आशय है कि भारत विश्व राजनीति के दोनों गुटों में से किसी में भी शामिल नहीं होगा। असंलग्नता की यह नीति सैनिक गुटों से अपने आपको दूर रखती है, किन्तु पड़ोसी व अन्य राष्ट्रों के बीच अन्य सब प्रकार के सहयोग को प्रोत्साहन देती है। नेहरू के अनुसार गुटनिरपेक्षता का अर्थ है गुटों से पृथक् रहना, शीत युद्ध में भाग न लेना, प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर गुण-दोषों के आधार पर निर्णय लेना।

पंचशील के पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नेहरू ने भारत की शान्तिप्रियताका परिचय दिया। ये सिद्धान्त हैं- (1) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिकसम्मान की भावना, (2) अनाक्रमण, (3) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना, (4) समानता एवं पारस्परिक लाभ, तथा (5) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व। नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि "यदि इन सिद्धान्तों को सभी प्र देश मान्यता दे दें तो आधुनिक विश्व की अनेक समस्याओं का निदान मिल जायेगा। पंचशील के सिद्धान्त आदर्श हैं जिन्हें यथार्थ जीवन में उतारा जाना चाहिए। इनसे हमें नैतिक शक्ति मिलती है और नैतिकता के बल पर हम अन्याय और आक्रमण का प्रतिकार कर सकते हैं।

नेहरू ने युद्ध और शांति के विषय में जो विचार प्रकट किये, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और गुटनिरपेक्षता की नीति की जो वकालत की उससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि वे एक ऐसे शांतिवादी थे जो शस्त्रों के प्रयोग

को हर परिस्थिति में ठुकराने का उपदेश देते थे। नेहरू का आदर्शवाद यद्यपि बहुत ऊँचा था, लेकिन एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ के रूप में उन्होंने अवसर पड़ने पर शत्रु का सम्पूर्ण शक्ति से मुकाबला करने में विश्वास प्रकट किया। पाकिस्तानी आक्रमण अथवा चीनी आक्रमण का मुकाबला करने में शक्ति प्रयोग में वह नहीं हिचकिचाये।

नेहरू : साधन तथा परिणाम- नेहरू ने कहा था, "मेरा यह आधारभूत विश्वास है कि गलत साधन सही परिणामों तक नहीं पहुँचा सकते।" साधन और परिणाम अविभाज्य रूप से सम्बद्ध हैं और एक-दूसरे को पारस्परिक ढंग से प्रभावित करते हैं। गलत साधन सही उद्देश्यों को विकृत कर देते हैं और कभी-कभी तो उन्हें नष्ट ही कर डालते हैं। अपने इसी विश्वास के कारण मानव जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में उनका विश्वास बढ़ता गया। वे अहिंसा के समर्थक बने रहे और भारतीय स्थिति के सन्दर्भ में उन्होंने वर्ग-संघर्ष के समाजशास्त्र में विश्वास करना छोड़ दिया।

जवाहरलाल नेहरू तथा मूल अधिकार- सन् 1931 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने किसी भी भावी भारतीय संविधान में मूल अधिकारों की घोषणा को आवश्यक मानने के अपने संकल्प को एक बार पुनः दोहराया। इस संकल्प का मसौदा जवाहरलाल नेहरू ने तैयार किया था। संकल्प में इस बात पर जोर दिया गया था कि "आम जनता के शोषण को समाप्त करने के लिए राजनीतिक स्वाधीनता में भूखों मर रहे करोड़ों लोगों की वास्तविक आर्थिक स्वाधीनता को अवश्व शामिल किया जाना चाहिए।" संकल्प में कहा गया कि स्वाधीन भारत के किसी भी संविधान को जनता के मूल अधिकारों की गारण्टी देनी चाहिए जिनमें निम्नलिखित बातें शामिल हों :

(1) संगठन बनाने की स्वाधीनता,

(2) अभिव्यक्ति और समाचार-पत्र निकालने की स्वाधीनता,

(3) आत्माभिव्यक्ति और स्वतंत्र व्यवसाय तथा धर्म अपनाने की स्वाधीनता

(4) अल्पसंख्यकों की संस्कृति, भाषा और लिपि की सुरक्षा,

(5) लिंग के किसी बन्धन के बिना सभी नागरिकों के बराबर अधिकार और दायित्व,

(6) वैयक्तिक स्वाधीनता का अधिकार और सरकार को निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की भी व्यवस्था करनी चाहिए,

कर्मचारियों को जीवन निर्वाह मजदूरी तथा कार्य की स्वस्थ शर्तें और वृद्धावस्था, बीमारी, बेरोजगारी के प्रति संरक्षण, बच्चों के नियोजन के प्रति संरक्षण, महिला कर्मचारियों का संरक्षण, किसानों को राहत, मादक द्रव्यों तथा औषधियों, आदि के निषेध की भी व्यवस्था होनी चाहिए। संकल्प में निर्देश दिया गया कि राज्य को प्रमुख उद्योगों तथा अपने खनिज संसाधनों पर भी नियंत्रण की व्यवस्था करनी चाहिए।ऐसा प्रतीत होता है कि 1931 के संकल्प द्वारा उन मूल अधिकारों की रूप-रेखा प्रदान की गयी जिनका बाद के संविधान में समावेश किया गया। संविधान सभा ने केवल इतना प्रमुख भेद किया कि उसने 1931 के करांची संकल्प में उल्लिखित अधिकारों को न्याय तथा गैर-न्याय अधिकारों में विभक्त कर दिया। जीवन-निर्वाह मजदूरी, निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा, श्रमिकों के संरक्षण, आदि को एक साक्ष्य रखकर इनकी व्यवस्था नीति निदेशक तत्वों के रूप में की गयी थी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता, समानता का अधिकार तथा सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार कहा गया। दोनों ही समान रूप से अलंघ्य थे, क्योंकि नीति निदेशक तत्वको यद्यपि न्याय नहीं है फिर भी वे देश के 'अभिशासन के मूल हैं।'

नेहरू ने अपने बचपन में सुना था कि रेलगाड़ियों, रेल डिब्बों और सार्वजनिक पार्कों में यूरोपीय लोगों के लिए बेंच आरक्षित होते हैं। उन्होंने बहुत कम उम्र में ही इसका विरोध किया था। नेहरू कहा करते कि जाति व्यवस्था प्रगति के मार्ग में बाधक है, जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक ढाँचा व्यक्ति को अपनी अधिकतम क्षमता के अनुसार भूमिका अदा करने से रोकता है। इसीलिए इसमें आश्चर्य नहीं है कि संविधान में आरोपित दर्जे के आधार पर भेदभाव को दूर करने और अस्पृश्यता को अवैध करार देने की व्यापक रूप से व्यवस्था है।

संविधान एक बात में अद्‌वितीय है, कानूनों का समान संरक्षण देने की गारण्टी देते समय यह राज्य के समाज को निर्बल वर्गों के हितों का संरक्षण करने का निर्देश देता है। समाज के कुछ वर्ग इसलिए पिछड़े रह गये हैं कि उन्हें जाति पर आधारित अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का शिकार बनना पड़ा। संविधान सभा में बोलते हुए 3 अप्रैल, 1948 को नेहरूजी ने इस बात पर जोर दिया था कि यह आवश्यक है कि "उन सभी लोगों का जीवन-स्तर ऊपर उठाने की बात हमेशा सोची जाये जिनको विगत काल में अवसर नहीं दिये गये।" नेहरूजी को इस बात पर विश्वास नहीं था कि यह उद्‌देश्य विधानमण्डलों में उनके लिए स्थान आरक्षित रखकर प्राप्त किया जा सकता है। बेहतर तरीका यह था कि "आर्थिक अथवा शिक्षा के क्षेत्र में इनका जल्दी से जल्दी उत्थान किया जाए और वे तब आत्म-निर्भर हो जायेंगे।"

ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारतीयों की अनेक शिकायतों में से एक शिकायत यह थी कि उन्हें नागरिक स्वाधीनता से वंचित किया गया था। संकटकाल में गाँधी और नेहरू ने लोकतंत्रीय प्रक्रिया में अपनी आस्था को न छोड़ा। नेहरू फासिस्टवाद से घृणा करते थे। यह सर्वविदित है कि उन्होंने मुसोलिनी और बाद में हिटलर के आमंत्रणों को स्वीकार नहीं किया। युद्‌ध में उनकी सहानुभूति मित्र राष्ट्रों के प्रति थी।

लोकतंत्रीय समाज की एक अनिवार्य विशेषता यह है कि किसी व्यक्ति के साथ कानून के अनुसार व्यवहार किया जाना चाहिए, उसे मनमाने ढंग से कभी भी गिरफ्तार नहीं किया जाना चाहिए। फिर भी नेहरू ने 2 अगस्त, 1952 को निवारक निरोध विधेयक पर बोलते हुए कहा कि हिंसा और साम्प्रदायिक अशांति सहन नहीं की जा सकती। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बहुत अधिक चाहते हैं और इस पर प्रतिबंध लगाना चाहते हैं, परन्तु यदि राज्य की सुरक्षा को खतरा हो तो कुछ व्यक्तियों की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाना ही होगा।" यह एक विधि विडम्बना थी कि नेहरू को प्रधानमंत्री के रूप में निवारक नजरबन्दी का प्रयोग करना पड़ा था।

संविधान के अनुच्छेद 19 (1) में 7 प्रकार की स्वतंत्रताओं की गारण्टी दी गयी है। मूल अधिकारों में वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सबसे अधिक मूलभूत

अधिकार है, इसके बिना लोकतंत्र नहीं चल सकता, किन्तु यह बात महत्वपूर्ण है कि नेहरू ने साम्यवादी दल अथवा किसी अन्य राजनीतिक संगठन पर प्रतिबंध लगाने से इन्कार कर दिया था। फिर भी उनका विचार था कि राष्ट्र के हित को व्यक्ति के हित की तुलना में प्रधानता दी जानी चाहिए। लोकतांत्रिक समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विचार को सामाजिक स्वतंत्रता के साथ सन्तुलित करना होता है और व्यक्ति के सम्बन्धों को सामाजिक समूह के साथ सन्तुलित करना होता है।

नेहरू ने प्रायः इस बात पर बल दिया कि आर्थिक स्वाधीनता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता बेकार है। सम्पत्ति के अधिकार के प्रति उनके दृष्टिकोण का पता पहले के प्रयासों के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं से लगाया जा सकता है। उन्होंने सदैव इस बात को महसूस किया कि "पाइवेट सम्पत्ति की प्रथा से कुछ व्यक्तियों को समाज के ऊपर खतरनाक शक्ति मिल जाती है और इसलिए यह समाज के लिए बहुत ही हानिप्रद है। जब नेहरू ने जिसके अध्यक्ष उनके पिता थे, अवध के ताल्लुकदारों के स्वार्थों की रक्षा के लिए एक प्रावधान को शामिल करने की सिफारिश की तो जवाहरलाल को धक्का लगा था। उन्होंने यह स्वीकार किया कि "समूचा संविधान (नेहरू प्रतिवेदन) सम्पत्ति की भावना पर आधारित है।"

जब उच्चतम न्यायालय ने बेला बनर्जी के मामले में यह निणय दिया कि 'मुआवजे' का अर्थ सम्पत्ति के मूल्य के ठीक समान मूल्य होता है और ऐसी समानता का मूल्यांकन करने के लिए मानदण्ड बाजार मूल्य होता है। ऐसी स्थिति में नेहरू ने संविधान संशोधन विधेयक पर लोकसभा में बोलते हुए कहा कि कितना मुआवजा दिया जाये इस बारे में संसद का निर्णय अन्तिम होना चाहिए। वे इस बात से सहमत थे कि मुआवजा न्यायसंगत तथा उचित होना चाहिए, परन्तु सदैव बाजार मूल्य में समान मुआवजा देना न तो वांछनीय है और न ही सम्भव। सन् 1955 में नेहरू ने संविधान में संशोधन कराया जिससे मुआवजे के मामले में अन्तिम निर्णय का अधिकार विधान मण्डल को प्राप्त हो गया।

जब संविधान सभा में, सम्पत्ति के अधिकार पर चर्चा की गयी थी, उस समय सदस्य भूमि सुधार कानून को लम्बी मुकदमेबाजी से बचाने के बारे में चिन्तित थे, कांग्रेस दल इस कार्यक्रम के बारे में प्रतिबद्ध था और नेहरू ने सहानुभूतिपूर्वक यह कहा था कि कांग्रेस अपने वचन को पूरा करेगी तथा कोई भी न्यायालय अथवा न्यायपालिका इस कार्यक्रम के मार्ग में बाधक नहीं बन सकती है। संविधान की समाजवादी मोड़ देने के लिए चौथा संशोधन और सत्रहवाँ संशोधन नेहरू के जीवन काल में उठाये गये प्रमुख कदम थे।

6.6 प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक

वस्तुतः नेहरू व्यक्ति के हितों तथा समुदाय के हितों के बीच सन्तुलन बनाये रखने के लिए उत्सुक थे। एक ओर वे सम्पत्ति के जब्त किये जाने के विरुद्ध थे, दूसरी ओर उन्होंने यह ध्यान रखा कि सामाजिक आर्थिक परिवर्तन, जो वह लाना चाहते थे, के मार्ग में किसी व्यक्ति का सम्पत्ति अधिकार बाधा न बने। लोकतंत्र में आस्था रखने वाले व्यक्ति के रूप में उन्होंने निजी सम्पत्ति के प्रति सम्मान प्रकट किया, लेकिन उन्होंने सामाजिक न्याय के हित में निजी सम्पत्ति पर रोक लगाने के लिए हिचकिचाहट नहीं दिखायी।

नेहरू तथा गांधीवादी: अनोखा विवेचन (नेहरू और गांधी: तुलना)

नेहरू के विचारों पर गाँधीजी के व्यक्तित्व एवं चिन्तन का स्पष्ट प्रभाव अंकित रहा। नेहरू की गाँधी से सर्वप्रथम भेंट 1916 में लखनऊ कांग्रेस में हुई और 1920 में वे गाँधीजी के प्रभाव में आ गये। गाँधीजी के प्रति असाधारण श्रद्धा रखते हुए भी नेहरू तथा गाँधी के व्यक्तित्व अलग-अलग थे। इसी कारण से जब गाँधी द्वारा असहयोग आन्दोलन समाप्त कर दिया गया तो नेहरू को अच्छा नहीं लगा।

यद्यपि राजनीतिक प्रश्नों पर दोनों के विचारों में साम्य था तथापि सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मतभेद बना रहा। गाँधाजी धर्म का राजनीति में प्रवेश चाहते थे, जबकि नेहरू धर्मनिरपेक्ष राजनीति के समर्थक थे। गाँधीजी राज्यविहीन समाज की अवधारणा के समर्थक थे जबकि नेहरू राज्य के कार्यों में वृद्धि के समर्थक थे और राज्य द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन के

पक्षधर थे। गाँधीजी ने विभाजन को कभी भी स्वीकार नहीं किया, जबकि नेहरू के समक्ष इसके अलावा और कोई विकल्प शेष नहीं था। गाँधीजी कुटीर उद्योगों के समर्थक थे तो नेहरूजी भारत का औद्योगीकरण चाहते थे। 5 अक्टूबर, 1945 को गाँधीजी ने स्वयं नेहरू को लिखे पत्र में इस तथ्य को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा, "पहली बात जो मैं लिखना चाहता हूँ वह है हमारे दृष्टिकोण का अन्तर। यदि यह अन्तर है तो मुझे लगता है यह अन्तर हमें जनता के समक्ष रखना चाहिए।" संक्षेप में, नेहरू ने यद्यपि गाँधीजी के आदर्शों पर भारत को यथासम्भव चलाने का प्रयास किया, किन्तु व्यावहारिक राजनीति की आवश्यकता ने उन्हें पृथक् मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया।नेहरू का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन मानवतावाद की सबल पृष्ठभूमि पर आधारित था। वे समन्वयवादी थे तथा उन्होंने गाँधी और मार्क्स तथा भारतीय सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता के श्रेष्ठ सिद्धान्तों एवं मूल्यों को मिलाकर नवीन भारत का निर्माण करने का प्रयास किया। उन्होंने भारतीय आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि प्रदान की। नेहरू नीति के आधार स्तम्भ थे- राष्ट्रीय स्वतंत्रता, प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता, योजनाबद्ध विकास और समाजवाद, विश्व-शांति एवं गुट-निरपेक्षता। नेहरू का गाँधी से चाहे जो भी मतभेद रहा हो, मगर नेहरू ने जो नीतियाँ क्रियान्वित कीं वे गाँधी के स्वतंत्रता, अहिंसा, शांति, सर्वधर्म समभाव और निर्धनता उन्मूलन के विचारों पर ही आधारित थीं।

विचारधारात्मक दृष्टि से नेहरू के सिद्धान्त और व्यवहार में जो भी कमजोरियाँ रही हों, उन्होंने नयी पीढ़ी के मस्तिष्क को एक प्रगतिशील वैज्ञानिक दिशा प्रदान की। एम. चलपति राव के शब्दों में, "जब हम नेहरू युग पर दृष्टि डालते हैं तो किसी विशेष निर्णय या नीति के बारे में मत-भिन्नता हो सकती है, लेकिन मुझे इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कि विवेकवाद, सामाजिक रूढ़िवाद तथा सभी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक मोहवाद जैसी धारणाओं के प्रति उनकी अस्वीकृति, व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा गरिमा के प्रति सम्मान, लोकतांत्रिक प्रणाली में दृढ़ विश्वास, सैनिक शक्ति तथा हिंसा के प्रति विरक्ति, उनका इस बात पर बल देना कि अच्छे साध्य से बुरे साधन का औचित्य सिद्ध नहीं होता और परमाणु युग में विश्व सहयोग के अभाव में

विश्ववाद अवश्यंभावी है, इन बातों पर कोई भी व्यक्ति उंगली नहीं उठा सकता।"

6.7 सार संक्षेप

पंडित जवाहरलाल नेहरू स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री और आधुनिक भारत के निर्माता माने जाते हैं। उनका जन्म 14 नवंबर 1889 को इलाहाबाद में हुआ। नेहरू जी ने स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भूमिका निभाई और महात्मा गांधी के साथ सहयोग करते हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के महत्वपूर्ण नेता बने।

उनकी विचारधारा आधुनिकता, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और समाजवाद पर आधारित थी। नेहरू जी ने पंचवर्षीय योजनाओं, औद्योगिक विकास, वैज्ञानिक अनुसंधान, और शैक्षिक सुधारों के माध्यम से भारत को प्रगति के मार्ग पर अग्रसरकिया।

उन्होंने गुटनिरपेक्ष आंदोलन का नेतृत्वकिया और भारत की स्वतंत्र विदेश नीति बनाई। उनके विचार और नीतियां आज भी भारत के राजनीतिकऔर सामाजिक ढांचे में गहराई से जुड़ी हुई हैं।

स्व प्रगति के प्रश्न

1. निम्नांकित में से कौन-सी जवाहरलाल नेहरू की कृति है-

(अ) मेरे सत्य के प्रयोग

(ब) दि कास्ट इन इण्डिया

(स) भारत की खोज

(डी) व्हील ऑफ रेसिंग

2. कौन-सा विचार जवाहरलाल नेहरू से संबंधित नहीं है-

(अ) समाजवाद

(ब) गुटनिरपेक्षता

(स) आध्यात्मिक राष्ट्रवाद

(द) लोकतांत्रिक समाजवाद

6.8 स्व प्रगति के प्रश्नों के उत्तरके

उत्तर-1. (स), 2. (स)

6.9 मुख्य शब्द

1. **गुटनिरपेक्षता:** किसी भी सैन्य या राजनीतिकगुट का हिस्सा न बनना।

2. **पंचवर्षीय योजना:** भारत के आर्थिक विकासके लिए नियोजित विकास की प्रक्रिया।

3. **धर्मनिरपेक्षता**: सभी धर्मों के प्रतिसमान दृष्टिकोण और सरकार का धर्म से अलग रहना।

4. **समाजवाद:** समाज के सभी वर्गों के आर्थिकऔर सामाजिक उत्थान का विचार।

5. **आधुनिकता**: वैज्ञानिक दृष्टिकोण और प्रगतिशीलविचारों को अपनाने का सिद्धांत।

6. **संवैधानिक लोकतंत्र**: कानून और संविधानके अनुसार जनता द्वारा निर्वाचित सरकार।

6.10 संदर्भ ग्रंथ

- नेहरू, जे. एल. (2017). *भारत की खोज* (12वां संस्करण). नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

- नेहरू, जे. एल. (2020). *पंडित नेहरू: एक व्यक्तित्व और उनकी दृष्टि*. मुंबई: राष्ट्रीय पुस्तक न्यास।
- शर्मा, आर. (2022). "जवाहरलाल नेहरू की शिक्षा नीति और आधुनिक भारत". *भारतीय इतिहास पत्रिका*, 35(3), 45-62।
- कुमार, एस. (2019). "नेहरू के विकासवादी दृष्टिकोण का मूल्यांकन". *समकालीन राजनीति और समाजशास्त्र समीक्षा*, 14(2), 23-38।
- गुप्ता, पी. (2024). "जवाहरलाल नेहरू और पंचशील के सिद्धांत". *अंतर्राष्ट्रीय संबंध और इतिहास समीक्षा*, 19(1), 15-29।

6.11 अभ्यास के प्रश्न

1. जवाहरलाल नेहरू के आर्थिक एवं राजनीतिक विचारों की विवेचना कीजिए।

2. 'नेहरू का समाजवादी विचार अस्पष्ट एवं अनिश्चित दिखता है।' विवेचना कीजिए।

3. जवाहरलाल नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, युद्ध एवं शांति सम्बन्धी विचारों का वर्णन कीजिए।

3. अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में नेहरू द्वारा प्रतिपादित पंचशील सिद्धान्त क्या हैं?

4. नेहरू के राजनीतिक एवं समाजवादी विचारों का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 7

भीमराव अम्बेडकर

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 डॉ. भीमराव अम्बेडकर जीवन परिचय

7.4 अम्बेडकर की रचनाएँ

7.5 डॉ. अम्बेडकर के राजनीतिक विचार (Political...

7.6 अम्बेडकर के जनतंत्रवादी विचार

7.7 अम्बेडकर के राज्य सम्बन्धी विचार (Ambedka...

7.8 शासन के कार्य सम्बन्धी अम्बेडकर के विचार (...

7.9 अम्बेडकर के अधिकार सम्बन्धी विचार (Ambe...

7.10 धर्म और राज्य के सम्बन्ध के बारे में अम्बेडकर...

7.11 अम्बेडकर के पाकिस्तान निर्माण सम्बन्धी विचार

7.12 अम्बेडकर के सुदृढ़ केन्द्र सम्बन्धी विचार

7.13 अम्बेडकर और हिन्दू कोड बिल

7.14 डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक विचार (Social I...

7.15 अम्बेडकर के जाति प्रथा उन्मूलन सम्बन्धी वि...

7.16 सार संक्षेप

7.17 मुख्य शब्द

7.18 स्व प्रगति के प्रश्नों के उत्तर

7.19 संदर्भ ग्रन्थ

7.20 अभ्यास के प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

डॉ. भीमराव अम्बेडकर एक महामानव थे। वे एक सच्चे देशभक्त थे तभी उन्होंने धर्म परिवर्तन हेतु अनेकानेक प्रलोभनों को ठुकरा दिया। यह सच है कि उनका राष्ट्र पुरुत्व भाग एक समाज विशेष तक ही सीमित हो गया, कदाचित इसके दोषी वे ही लोग हैं जो डॉ. अम्बेडकर को मात्र 'दलितों के मसीहा' कहकर उनके विस्तृत कार्यक्षेत्र तथा महान् व्यक्तित्व को संकुचित कर देते हैं। ऐसा करना निश्चय ही उनके महान् योगदान के प्रति अन्याय है। वह भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की प्रथम पंक्ति के सेनानी थे। अतः उन्हें मात्र एक समाज की धरोहर नहीं कहा जाना चाहिए। वह एक राष्ट्रीय पुरुष थे।

भारत में उनका जीवन सामाजिक सुधार के श्रेष्ठतम कार्य को समर्पित था। वे एक ऐसे समाज सुधारक थे जो मात्र भाषणों तक ही अपने को सीमित करने के बजाय स्वयं अपने जीवन और कार्यों से सामाजिक रूढ़िवादिता, जाति प्रथा और अस्पृश्यता को हटाने में जीवनभर लगे रहे। उन्होंने राजनीति के बजाय सामाजिक सुधार के क्षेत्र में कार्य करने को प्राथमिकता प्रदान की। वे जानते थे कि एक राजनीतिक नेता के कार्यों की तुलना में समाज सुधारक के कार्य अधिक कठिनाई युक्त हैं। वह सम-समाज के प्रेरक थे। उनका दर्शन सामाजिक चिन्तन पर ही आधारित था। वह सामाजिक समानता, मौलिक अधिकार, मानवीय न्याय, समाजवाद और देश की एकता के लिए संघर्षरत रहे। भारतीय संविधान के सामाजिक-आर्थिक दर्शन को समझने के लिए डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन का गहन अध्ययन आवश्यक है। उन्हें भारतीय संविधान का पोषक और जनक कहा जाता है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को जातिवाद सामाजिक भेदभाव अस्पृश्यता के बारे में बतलाना है

1. सामाजिक न्याय और समानता:

अंबेडकर द्वारा अस्पृश्यता, जातिवाद, और सामाजिक भेदभाव के खिलाफ किए गए संघर्ष और उनके विचारों को समझना।

2. संविधान निर्माण में भूमिका:

भारत के संविधान निर्माता के रूप में उनके योगदान और संवैधानिक प्रावधानों की उनकी दृष्टि को अध्ययन करना।

3. आर्थिक चिंतन:

उनके आर्थिक विचार, विशेष रूप से जल नीति, भूमि सुधार, और श्रमिक अधिकारों पर विचार।

4. धर्म और दर्शन:

बौद्ध धर्म में उनके परिवर्तन के कारणों और बौद्ध दर्शन के प्रति उनके दृष्टिकोण को समझना।

5. शिक्षा का महत्व:

शिक्षा के क्षेत्र में उनके योगदान और इसके माध्यम से समाज सुधार के लिए उनके प्रयास।

6. राजनीतिक दृष्टिकोण:

उनकी राजनीतिक विचारधारा, जैसे लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, और राज्य की भूमिका पर अध्ययन करना।

7.3 डॉ. भीमराव अम्बेडकर जीवन परिचय

डॉ. भीमराव अम्बेडकर जीवन परिचय

भारतीय दलित समाज के मसीहा डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जन्म महाराष्ट्र के महो नामक स्थान में 14 अप्रैल, 1891 को महार परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम रामजी सकपाल तथा माता का नाम श्रीमती भीमाबाई था। उनके पूर्वजों के गाँव का नाम अम्बाबाद था। इसी कारण उन्होंने अपने नाम के साथ 'अम्बेडकर' उपनाम स्वीकार कर लिया। वे अपने पिता की 14वीं सन्तान थे जिनमें से 9 का देहान्त हो चुका था और मात्र 5 जीवित रहे। इसी कारण मजाक में अम्बेडकर अपने आपको चौदहवाँ रत्न कहा करते थे ।

बालक भीमराव बाल्यावस्था से ही बहुत परिश्रमी, संयमी और धर्मनिष्ठ थे। वह मोरोपन्त, मुक्तेश्वर तथा तुकाराम जैसे महान् सन्तों के अनुयायी थे। पारिवारिक परिस्थितियों के कारण उन्हें काफी भ्रमण करना पड़ा। सन् 1907 में उन्होंने हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी समय उपोली के एक कली की पुत्री रामी से उनका विवाह हो गया। पारिवारिक आर्थिक संकट फिर बीच में आया, किन्तु उन्होंने अपने पिता की प्रेरणा से इण्टर भी उत्तीर्ण कर लिया। वह अभी और अधिक पढ़ना चाहते थे। अतः बड़ौदा के महाराजा ने उन्हें छात्रवृत्ति देना स्वीकार कर लिया। सन् 1912 में उन्होंने बी.ए. किया और वह बड़ौदा राज्य की फौज में लेफ्टिनेंट पद पर नियुक्त हो गए।

इस पद पर वह अभी नियुक्त ही हुए थे कि उनके पिता गम्भीर रूप से बीमार हो गए। अतः वे सेना की नौकरी छोड़कर, पिता की सेवा करने मुम्बई चले गए। पिता के देहान्त के बाद वह महाराजा बड़ौदा की छात्रवृत्ति पर अमेरिका चले गए जहाँ उन्होंने 1915 में एम.ए. तथा 1916 में पी.एच.डी. की। वे कोलम्बिया विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र संकाय के नियमित छात्र थे। मई 1916 में उन्होंने 'भारत में जाति' (Castes in India their Mechanism. Genesis and Development) विषय पर शोधपत्र प्रस्तुत किया जिसकी काफी प्रशंसा की गयी। मई 1917 में 'इण्डियन एंटीक्वेरी' में इसका प्रकाशन हुआ। पुस्तक के रूप में भी यह लेख छपा। अम्बेडकर की यह प्रथम प्रकाशित रचना थी। इस लेख में उन्होंने कहा कि जाति विहित विवाहों पर प्रतिबन्ध ही हिन्दू धर्म का सार है। उनके विचार में जाति एक संकुल वृत् है और इसका जन्म मनु से भी पूर्व हो चुका था जिसे वे एक ढीठ व्यक्ति का पिशाच मानते हैं। उनके विचार से मनु

ने केवल पहले से मौजूद जाति सम्बन्धी हिन्दू विधि विधान को संग्रहीत किया। जून 1916 में अम्बेडकर ने पी.एच.डी. के लिए थीसिस प्रस्तुत की जिसका शीर्षक था "नेशनल डिविडेंड फॉर इण्डिया : ए हिस्टोरिकल एण्ड अनैलिटिकल स्टडी।" आठ साल बाद "दि रिवोल्यूशन ऑफ प्रोविन्सियल फाईनेन्स इन ब्रिटिश इण्डिया' के नाम से यह थीसिस एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक महाराजा सयाजीराव को समर्पित की गई थी और इसकी प्रस्तावना प्रो. एस.ए. सेलिगमैन ने लिखी थी। इसमें प्रो. सेलिगमैन ने कहा है- "मेरे विचार में अधोगत सिद्धान्त का इतना विस्तृत विवेचन कहीं और नहीं मिलेगा।" इस ग्रन्थ में डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि पूरी आर्थिक नीति ब्रिटिश उद्योगों और उद्योगपतियों के हित साधन के लिए है। यह पुस्तक इतनी उपयोगी थी कि बजट अधिवेशन के दौरान हर भारतीय विधायक इसका उद्धरण दिया करता था। जब भारतीय मुद्रा के बारे में डॉ. हिल्टन यंग आयोग के सामने वक्तव्य देने गए तो यह देखकर उनकी छाती गर्व से फूल गई थी कि आयोग के हर सदस्य के पास उनकी यह पुस्तक • संदर्भ ग्रन्थ के रूप में मौजूद थी। इसके पश्चात् वे लन्दन चले आए। यहाँ उन्होंने कानून के अध्ययन के लिए ग्रेंज इन तथा अर्थशास्त्र के अध्ययन हेतु लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइंस में प्रवेश लिया। लन्दन स्कूल में प्रवेश के लिये उन्हें प्रोफेसर आरए, सेलिगमैन ने सिडनी बेव के नाम परिचय-पत्र दिया। अगस्त 1917 में भारत लौट आए और महाराजा बड़ौदा के सैनिक सचिव के रूप में उनकी नियुक्ति हुई। बड़ौदा राज्य में उच्च पद पर होने के बावजूद उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता था। चूँकि वे अछूत थे इसलिए चपरासी तक उनकी ओर फाइल फेंक देते थे। यहाँ तक कि उन्हें रहने के लिए किसी ने मकान तक किराए पर नहीं दिया। अतः निराश होकर बड़ौदा राज्य की नौकरी छोड़कर वे मुम्बई चले आए। नवम्बर 1918 में उन्हें सिडनहम कॉलेज में राजनीतिक अर्थशास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। वे अपने विद्यार्थियों में अत्यधिक लोकप्रिय शिक्षक थे। वे एक बार अपने अध्ययन को पूरा करने के लिए पुनः लन्दन गए। उन्होंने गम्भीर अध्ययन और कठिन परिश्रम किया। उन्होंने 'ब्रिटिश भारत में औपनिवेशिक बिल का प्रान्तीय विकेन्द्रीकरण' (Provoncial

Decentralization of Imperial Finance in British India) विषय पर थीसिस प्रस्तुत की जिसे जून 1921 में डी.एस.सी. के लिए स्वीकार कर लिया गया। उन्हें बार-एट-लॉ की भी उपाधि प्रदान की गयी। डॉ. अम्बेडकर ने अपने लन्दन प्रवास के समय ब्रिटेन की संसदीय लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था, स्वतन्त्रता तथा उदारवादिता के मूल्यों का गहन अध्ययन किया।

अप्रैल 1923 में अम्बेडकर भारत लौट आए और मुम्बई में उन्होंने वकालत प्रारम्भ की। उन्होंने हिन्दू समाज के कलंक 'छुआछूत' के विरुद्ध संघर्ष करने का संकल्प किया। महाराजा कोल्हापुर की मदद से अम्बेडकर ने 1920 में 'मूक नायक' नामक पत्रिका से अपने समाज की सोचनीय दशा का वर्णन किया । उन्होंने हिन्दू समाज व्यवस्था पर भी कड़े प्रहार किए। उन्होंने आह्वान किया, 'स्वतन्त्रता दान में नहीं मिल सकती। इसके लिए हमें संघर्ष करना पड़ेगा। 1927 में अम्बेडकर ने 'बहिष्कृत भारत' नामक मराठी पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। उन्होंने शोषित समाज को अपने अस्तित्व तथा सम्मान हेतु ललकारा । उनकी वाणी का प्रभाव हुआ। समाज में उथल-पुथल हुई। उनकी इन सामाजिक सेवाओं के सम्मानार्थ उन्हें 1927 में मुम्बई विधान परिषद का सदस्य मनोनीत किया गया। विधान परिषद के सदस्य के रूप में उन्होंने शासन तथा जनता के समक्ष दलित समाज की न्यायपूर्ण स्थिति को प्रतिध्वनित किया। इसमें उन्हें काफी सफलता भी मिली। सामाजिक अछूतोद्धार कार्यक्रम के अन्तर्गत उन्होंने 'बहिष्कृत हितकारी सभा' की स्थापना की। बम्बई में सिद्धार्थ कॉलेज प्रारम्भ किया और औरंगाबाद में मिलिन्द कॉलेज का पुनरुद्धार किया। उन्होंने 'पीपुल्स एज्यूकेशन सोसाइटी' की स्थापना भी की जिसके अन्तर्गत आज लगभग 15-20 छोटे-बड़े कॉलेज कार्यरत हैं।अपने अभियान को कानूनी एवं राजनीतिक संरक्षण देने हेतु उन्होंने 'इन्डिपेंडेंट लेबर पार्टी' की स्थापना की। इस पार्टी ने मुम्बई विधानसभा का चुनाव लड़कर 17 स्थानों में से 15 स्थान जीत लिए । वह विधान सभा में विरोधी पार्टी के नेता बने और उन्होंने अनेकानेक सुधारक कानून बनाकर समाज उत्थान हेतु कार्य किया । 1942 में उनकी नियुक्ति भारत के गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में मजदूरों के प्रतिनिधि के

रूप में की गयी। वह इस गौरवपूर्ण पद पर सन् 1946 तक कार्य करते रहे। इसी वर्ष बंगाल के विधानसभा हेतु निर्वाचित हुए जहाँ 'भारत एक हो' का नारा दिया। 1947 में उन्हें संविधान का प्रारूप तैयार करने वाली समिति का अध्यक्ष बनाया गया। उन्होंने भारत के संविधान का जो प्रारूप प्रस्तुत किया, उसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई। वह स्वतन्त्र भारत के प्रथम विधि मन्त्री बनाए गए, किन्तु 1951 में उन्होंने पारस्परिक मतभेदों के कारण अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

5 जून, 1952 को कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने एक विशेष दीक्षान्त समारोह में, उनके विधि ज्ञान के सम्मानार्थ उन्हें एल.एल.डी. की मानद उपाधि से विभूषित किया। उन्हें भारत का एक प्रमुख नागरिक, एक महान् समाज-सुधारक और मानव अधिकारों का एक सबल पक्षधर कहकर सम्बोधित किया गया।

1955 में उनकी अन्य पुस्तक 'भाषायी राज्यों पर विचार' प्रकाशित हुई। इससे पूर्व उनकी पुस्तक 'शूद्र कौन थे ?' के समान इस कृति की भी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी। सन् 1949 में उन्होंने काठमांडू में आयोजित 'विश्व बौद्ध सम्मलेन' में 'बौद्ध धर्म तथा मार्क्सवाद' पर भाषण दिया। सन् 1951 में स्वयं उन्होंने 'भारतीय बुद्ध जनसंघ' की स्थापना की और 'बुद्ध उपासना पथ' पुस्तक का सम्पादन किया। 1954 में रंगून में आयोजित 'विश्व बौद्ध सम्मेलन' में उन्होंने भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। 1955 में उन्होंने 'भारतीय बुद्ध महासभा' की स्थापना की। 14 अक्टूबर, 1956 को डॉ. अम्बेडकर ने 'बुद्धधर्म' स्वीकार कर लिया। इसी वर्ष काठमांडू में आयोजित विश्व बौद्ध सम्मेलन में उन्हें 'नव बुद्ध' की उपाधि से सम्मानित किया गया। 6 दिसम्बर, 1956 को उनका निधन हो गया। उनका निधन सम्पूर्ण भारतीय समाज की अपूरणीय क्षति ही थी ।

7.4 अम्बेडकर की रचनाएँ

डॉ. अम्बेडकर की प्रमुख रचनाओं में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं:

1. दि कास्ट इन इण्डिया, देयर मेकेनिज्म, जेनेसिस एण्ड डेवलपमेण्ट

2. नेशनल डिविडेंड फॉर इण्डिया : ए हिस्टोरिक एण्ड अनैलेटिकल स्टडी

3. स्माल होल्डिग इन इण्डिया एण्ड देयर रिमैडीज

4. दि प्रोब्लम ऑफ दि रूपी-इट्स ओरिजन एण्ड इट्स सोल्यूशन

अम्बेडकर के प्रेरणा स्रोत

अम्बेडकर ने तीन महापुरुषों को अपना प्रेरणा स्रोत बताया है। उनमें पहले कबीर, दूसरे महात्मा ज्योतिबा फूले और तीसरे थे भगवान बुद्ध। कबीर ने उन्हें भक्ति भावना प्रदान की, ज्योतिबा फूले ने उन्हें ब्राह्मण विरोध के लिए प्रेरित किया, सामूहिक पश्चाताप का विचार दिया और शिक्षा एवं आर्थिक उत्थान का संदेश दिया। बुद्ध से उन्हें मानसिक और दार्शनिक पिपासा बुझाने वाला अमृत मिला और अछूतों के उद्धार का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ, जिसका माध्यम था सामूहिक धर्म परिवर्तन ।

जब वे अमेरिका में थे तो दो बातों से बहुत प्रभावित हुए। एक तो अमेरिकी संविधान का चौदहवाँ संशोधन, जिससे नीग्रो लोगों की दासता समाप्त की गई। दूसरे वे बूकर टी. वाशिंगटन के जीवन से बहुत प्रभावित हुए जिनका निधन सन् 1915 में हुआ था। वे अमेरिका में नीग्रो जाति के लोगों के महान् सुधारक और मार्गदर्शक थे।

अम्बेडकर ने यह अनुभव किया कि भारत की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर पश्चिम का प्रभाव असर छोड़ता जा रहा है। वे समझते थे कि पाश्चात्य प्रणालियों के प्रभाव से ही अछूत अपनी जंजीरे तोड़ सकते हैं। इंग्लैण्ड और अमेरिका में अध्ययन के दौरान वे इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि हिन्दू समाज अछूतों का उत्पीड़न कभी नहीं छोड़ सकता। उनका अटल विश्वास था कि मनु की व्यवस्थाएँ नहीं वरन् संवैधानिक संरक्षणों के द्वारा ही अछूत एक स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

7.5 डॉ. अम्बेडकर के राजनीतिक विचार (Political Ideas ot Dr. Ambedkar)

डॉ. अम्बेडकर तत्व चिन्तक दार्शनिक और सैद्धान्तिक राजनीतिक चिन्तक नहीं थे अपितु एक कर्मयोगी थे- भारतीय दलित वर्गों के राजनीतिक नेता थे। अतः भारत की विशिष्ट राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अपने विचार प्रकट किए। उनके राजनीतिक विचारों का अध्ययन करते समय यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक परिस्थितियों एवं सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में ही उनका अध्ययन अपेक्षित है। उनके प्रमुख राजनीतिक विचार इस प्रकार हैं:

अम्बेडकर के भाषायी राज्यों पर विचार

(Ambedkar on Linguistic States)

सन् 1948 में भारत सरकार ने भारत में भाषायी राज्यों की माँग पर विचार करने के लिए एक भाषायी आयोग की नियुक्ति की। इस भाषायी आयोग के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि भाषायी प्रान्तों के निर्माण से लोकतन्त्र अधिक अच्छी प्रकार से क्रियान्वित होता है। एक भाषायी प्रान्त में मिश्रित प्रान्त की तुलना में सामाजिक एकजुटता अधिक अच्छी प्रकार बनी रहती है। भाषायी प्रान्तों के निर्माण से तो कोई खतरा नहीं है, किन्तु खतरा इस बात से अवश्य है कि प्रत्येक प्रान्त की एक ही भाषा को सरकारी कामकाज की भाषा बना दी जाए। अम्बेडकर ने साफ कहा कि यदि क्षेत्रीय भाषाओं को राज्य बना दिया गया तो प्रत्येक प्रान्त में ऐसी संकुचित संस्कृति का विकास होगा जिसकी परिणति अन्ततोगत्वा भारत की एकता को खण्डित करने में होगी।

अम्बेडकर की दृष्टि में भाषायी राज्य समय की आवश्यकता है और इसके समर्थन में उन्होंने दो तर्क दिए- पहला, इससे लोकतन्त्र का क्रियान्वयन आसान होगा और दूसरा, इससे जातीय और सांस्कृतिक तनावों को दूर किया जा सकेगा। उनका स्पष्ट मत था कि संविधान में इस बात का उल्लेख किया जाना चाहिए कि प्रादेशिक भाषा राज्य की सरकारी भाषा नहीं होगी। उन्होंने कहा,

"संविधान में यह व्यवस्था होनी चाहिए कि हर राज्य की सरकारी भाषा वही हो, जो केन्द्र सरकार की है।" उनके अभिमत में एक संघीय शासन में संविधान भाषा के आधार पर नहीं होना चाहिए। राज्यों का सरकारी भाषाओं के आधार पर उनका गठन खतरनाक है। "इस तरह राज्य अलग राष्ट्र बन सकते हैं।" उन्होंने "एक भाषा अनेक राज्य" फार्मूले का समर्थन किया। उनके अनुसार हिन्दी को राज्यों में सरकारी कामकाज की भाषा बनाया जाना चाहिए और जब तक हिन्दी का समुचित विकास नहीं होता तब तक अंग्रेजी को चलने दिया जाए।

अम्बेडकर बहुभाषी राज्यों का गठन चाहते थे। उनके अनुसार भारत में भाषावाद साम्प्रदायिकता का दूसरा रूप है। महाराष्ट्र में मराठों का बाहुल्य है अतः जो शासक बनेंगे वे मराठी भाषी नहीं, मराठा जाति के होंगे।

7.6 अम्बेडकर के जनतंत्रवादी विचार

अम्बेडकर ने जनतन्त्र के सम्बन्ध में विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण करते हुए एक नई परिभाषा प्रस्तुत की। जहाँ बेजहॉट लोकतन्त्र को 'विचार विमर्श का शासन' तथा अब्राहम लिंकन 'जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन' कहते हैं वहाँ अम्बेडकर के अनुसार लोकतन्त्र शासन का एक ऐसा रूप तथा पद्धति है जिसमें बिना रक्त बहाए क्रान्तिकारी, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त होता है।

डॉ. अम्बेडकर संसदीय शासन प्रणाली के बहुत बड़े प्रशंसक थे। उनके अनुसार संसदीय शासन प्रणाली में तीन गुण हैं- प्रथम, इसमें वंशानुगत शासन नहीं होता, द्वितीय, इसमें कोई व्यक्ति सत्ता का प्रतीक होता और तृतीय, निर्वाचित प्रतिनिधियों में जनता का विश्वास होना चाहिए।

संसदीय प्रणाली के समर्थक होने के बावजूद वे कतिपय देशों में इसकी असफलता से चिन्तित थे। उनके अनुसार जर्मनी, रूस और स्पेन में इस व्यवस्था के खिलाफ असन्तोष और जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। इसकी असफलता का प्रमुख कारण है कि इसके अंग धीमी गति से काम करते हैं। कार्यपालिका के मार्ग में विधायिका रोड़े अटकाती है और कभी-कभी न्यायपालिका भी बाधा

उपस्थित कर देती है। संसदीय लोकतन्त्र में जनता के राजनीतिक अधिकारों की दुहाई तो दी जाती है, किन्तु आर्थिक विषमता और निर्धनता को दूर करने का कोई खास प्रयास नहीं किया जाता है। बिना सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र के राजनीतिक लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता। अम्बेडकर के अनुसार संसदीय लोकतन्त्र की सफलता के लिए समाज में असमानताएँ नहीं होनी चाहिए और सुदृढ़ विपक्षी दल होना एक अपरिहार्य शर्त है। संसदीय लोकतन्त्र की सफलता के लिए स्थायी सिविल सेवा और संवैधानिक नैतिकता को भी वे आवश्यक मानते थे। लोकतन्त्र के नाम पर अल्पसंख्यकों पर बहुसंख्यकों की निरंकुशता नहीं होनी चाहिए। भारतीय लोकतन्त्र पर विचार करते हुए वे यह मानते थे कि लोगों में करिश्माती नेतृत्व के प्रति व्यक्ति पूजा (Hero worship in Indian People), जाति प्रथा तथा सामाजिक विषमता आदि प्रवृत्तियाँ इसे कमजोर बनाती हैं।

7.7 अम्बेडकर के राज्य सम्बन्धी विचार(Ambedkar's View on the States)

अम्बेडकर राज्य को एक आवश्यक राजनीतिक संगठन मानते हैं, किन्तु वे इसे समाज से सर्वोच्च नहीं मानते । राज्य कतिपय महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है, जैसे लोगों के अधिकार और स्वतन्त्रता की रक्षा, लोगों के विचार, अभिव्यक्ति और धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना; सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताओं को दूर करना; आन्तरिक व्यवस्था और बाह्य आक्रमण से रक्षा करना। अम्बेडकर के अनुसार, सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की नूतन व्यवस्था की स्थापना का कार्य राज्य ही करता है। इतने सारे कार्यों का सम्पादन करने के बावजूद भी वे राज्य को सर्वशक्तिमान और निरंकुश नहीं बनाते । उनके अनुसार राज्य तो समाज सेवा का एक साधन है।

अम्बेडकर के अनुसार राज्य के अस्तित्व का आधार लोगों में सत्ता के पालन की भावना है। राज्य का आधार शक्ति के बजाय आज्ञाकारिता की प्रवृत्ति है। क्या लोगों को राज्य के उन आदेशों का भी पालन करना चाहिए जो कि अन्याययुक्त हों? अम्बेडकर ऐसे आदेशों के पालन का समर्थन नहीं करते ।

7.8 शासन के कार्य सम्बन्धी अम्बेडकर के विचार(Ambedkar on the Functions of the Government)

संसदीय लोकतन्त्र के प्रशंसक होते हुए भी अम्बेडकर अमेरिकी ढाँचे की अध्यक्षीय शासन प्रणाली को अधिक उपयुक्त मानते थे, क्योंकि उसका आधार लॉक तथा माण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपदित शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त था। इसमें शासन की शक्ति और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मध्य एक सन्तुलन रहता है। उसके अनुसार कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के मध्य शक्ति का पृथक्करण होना चाहिए।

उनके अनुसार अच्छी कार्यपालिका के कार्य हैं- प्रशासन में अल्पसंख्यकों को समुचित आदर देना; बहुसंख्यकों की निरंकुशता को रोकना, अल्पसंख्यकों के ऐसे प्रतिनिधियों को प्रशासन में हिस्सेदार न बनाना जिन्हें अल्पसंख्यक समुदाय का विश्वास प्राप्त न हो; कुशल सुशासन के लिए स्थिर कार्यपालिका का निर्माण करना ।

7.9 अम्बेडकर के अधिकार सम्बन्धी विचार(Ambedkar on Rights)

अम्बेडकर व्यक्ति के कतिपय ऐसे अधिकारों के समर्थक थे जिन्हें संविधान में स्थान दिया जाना चाहिए। उनके लिए अधिकारों का तब तक महत्व नहीं था जब तक उनके पीछे संवैधानिक उपचारों का प्रावधान न हो। वे अधिकारों के पीछे मात्र कानूनी संरक्षण ही पर्याप्त नहीं मानते थे। व्यक्ति के अधिकार तभी संरक्षित हैं जबकि उनके पीछे सामाजिक स्वीकृति हो। यदि मौलिक अधिकारों का समुदाय द्वारा विरोध होता है तो कोई भी कानून, न्यायालय और संसद उनकी रक्षा नहीं कर सकते । वस्तुतः कानून व्यक्तियों की भावनाओं की प्रतिच्छाया होता है

7.10 धर्म और राज्य के सम्बन्ध के बारे में अम्बेडकर के विचार (Ambedkar on the State)

भारत के संविधान के निर्माण के समय डॉ. अम्बेडकर ने धर्म और राज्य के आपसी सम्बन्ध के बारे में अपने विचार प्रकट किए। उनके अनुसार प्रत्येक नागरिक को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा किसी भी धर्म को मानने व उसका प्रचार करने की आज़ादी होनी चाहिए। किसी व्यक्ति को किसी भी धार्मिक समुदाय का जबर्दस्ती सदस्य नहीं बनाया जाना चाहिए। बच्चों की धार्मिक शिक्षा का दायित्व 16 वर्ष की आयु तक माता-पिता की जिम्मेदारी है। राज्य का अपना कोई राज धर्म नहीं होना चाहिए। प्रत्येक धार्मिक समुदाय को यह अधिकार होना चाहिए कि कानून के अनुसार धार्मिक व लोकोपकारी संस्थाएँ बनाएँ। किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कर देने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए जिससे प्राप्त आय किसी धर्म विशेष को बढ़ाने या बनाए रखने के लिए खर्च की जाए।

इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर धर्मनिरपेक्ष राज्य के समर्थक थे जिसमें सभी नागरिकों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धार्मिक सहिष्णुता प्राप्त हो ।

7.11 अम्बेडकर के पाकिस्तान निर्माण सम्बन्धी विचार

डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'Thoughts on Pakistan' (1941) में भारत विभाजन की समस्या पर विचार करते हुए 'पाकिस्तान' की माँग का समर्थन किया था। उनके अनुसार पाकिस्तान की माँग एक सांस्कृतिक समूह द्वारा अपने पृथक् विकास की माँग है। यदि पृथक् कर्नाटक और आन्ध्र की माँग दुःखदायी नहीं है तो फिर पृथक् पाकिस्तान की माँग परेशानी का कारण क्यों मानी जाती है ? पाकिस्तान की माँग का अर्थ है- एक राष्ट्र द्वारा अपने लिए जगह की माँग (A nation calling for a home) । यदि किसी समुदाय में राष्ट्र के सभी तत्व मौजद हैं तो वह एक पृथक् राष्ट्र की माँग कर सकता है।

7.12 अम्बेडकर के सुदृढ़ केन्द्र सम्बन्धी विचार

भारतीय संविधान के निर्माण के समय मुख्य प्रश्न यह था कि संघात्मक व्यवस्था अपनाते हुए क्या राज्यों को स्वायत्तता प्रदान की जाए अथवा केन्द्र को अधिक शक्तियाँ प्रदान की जाएँ ? डॉ. अम्बेडकर भारतीय राज्य की एकता और

सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए सुदृढ़ केन्द्र (strong centre) के पक्षधर थे। उनका स्पष्ट मत था कि "संविधान संघात्मक है। यह एक द्वैध शासन की स्थापना करता है, केन्द्र में संघ सरकार है तथा उसके चारों और परिधि में राज्य सरकारें हैं। संविधान द्वारा निश्चित पृथक् पृथक् क्षेत्रों में इन्हें प्रभुसत्ता प्राप्त है।" अम्बेडकर के अनुसार, "संघात्मक सरकार का मुख्य लक्षण संविधान द्वारा विधायी तथा कार्यपालिका सत्ता का केन्द्र तथा एककों में वितरण करना है। इसी सिद्धान्त का हमारे संविधान में अनुसरण किया गया है। अतः यह कथन असत्य है कि राज्यों को केन्द्र के अधीन रखा गया

7.13 अम्बेडकर और हिन्दू कोड बिल

डॉ. अम्बेडकर हिन्दू कोड बिल के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने विधि मन्त्री की हैसियत से अक्टूबर 1948 में संसद में हिन्दू कोड बिल प्रस्तुत किया। अम्बेडकर की दृष्टि में निर्वाचित संसद को पूर्ण अधिकार है कि वह समुदाय के सुधार हेतु विधि निर्माण करे। हिन्दू कोड बिल द्वारा यह प्रतिपादित किया गया था कि विवाह के लिए जाति निर्धारित मापदण्ड नहीं है, महिलाओं के सम्पत्ति के अधिकार एवं उत्तराधिकार अधिकारों को मान्यता दी गयी थी। यह महिलाओं की सामाजिक प्रगति का द्योतक था, किन्तु हिन्दू कोड बिल का संसद और उसके बाहर प्रबल विरोध हुआ और कतिपय अंशों में संशोधन करना पड़ा। इससे अम्बेडकर बहुत दुःखी हुए और 25 सितम्बर, 1951 को उन्होंने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया।

हिन्दू कोड बिल पर बहस में उन्होंने धर्म निरपेक्षता के स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की- "इसका यह अर्थ नहीं कि हम लोगों की धार्मिक भावनाओं को बिल्कुल ही भुला दें। धर्म निरपेक्षता का अर्थ है

प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक कि सरकार लोगों को कोई धर्म विशेष मानने पर बाध्य न करें। संविधान जिस बात को मान्यता देता है वह केवल इतनी-सी है।"

7.14 डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक विचार(Social Ideas of Dr. Ambedkar)

डॉ. अम्बेडकर एक सामाजिक सुधारक और समाज व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन का समर्थन करने वाले विचारक थे। उनके प्रमुख सामाजिक विचार इस प्रकार हैं:

अम्बेडकर द्वारा वर्ण व्यवस्था की आलोचना

भारतीय समाज व्यवस्था का संगठन चार वर्षों के आधार पर होता है। ये चार वर्ण थे- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । अम्बेडकर चतुर्वर्णीय व्यवस्था के प्रबल आलोचक हैं। इस विभाजन में शूद्रों के हितों की रक्षा का कोई प्रावधान नहीं है। यहाँ तक कि शूद्रों के लिए ज्ञान प्राप्ति भी वर्जित था। शिक्षा और अपनी आत्मरक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपरिहार्य है, किन्तु चतुर्वर्ण व्यवस्था में शूद्रों के लिए ये दोनों ही वर्जित थे। इसी कारण से अम्बेडकर ने शूद्रों की रक्षा और सेवा को अपने जीवन का ध्येय बनाया था ।

अम्बेडकर अस्पृश्यता के खिलाफ थे। अस्पृश्यता अमानवीय और औचित्यरहित प्रथा थी। इससे भारतीय समाज की एकता प्रभावित होती थी। उन्होंने धर्मशास्त्र और भारतीय साहित्य के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अस्पृश्यता मनुष्यकृत दुर्गुण है न कि ईश्वरीय कृति । वर्तमान में अस्पृश्यों की स्थिति बड़ी सोचनीय है। अतः उनकी सामाजिकदशा को सुधारने के लिए आर्थिक और सामाजिक प्रयत्न अपेक्षित हैं।

7.15 अम्बेडकर के जाति प्रथा उन्मूलन सम्बन्धी विचार(Ambedkar on Annihilation of Caste)

डॉ. अम्बेडकर के भाषण भारतीय सामाजिक चिन्तन के इतिहास और विकास के कालजयी दस्तावेज हैं। 9 मई, 1916 को कोलम्बिया विश्वविद्यालय न्यूयार्क में आयोजित गोष्ठी में नृविज्ञान पर 'भारत में जाति प्रथा : संरचना, उत्पत्ति और विकास' पर पठित लेख तथा लाहौर जातपाँत तोड़क मण्डल 1936 के वार्षिक सम्मेलन के लिए उनके द्वारा तैयार किया गया 'जाति प्रथा उन्मूलन' शीर्षक भाषण ऐतिहासिक महत्व के हैं। 'भारत में जाति प्रथा संचरना उत्पत्ति और विकास' आलेख में अम्बेडकर कहते हैं कि जाति की समस्या सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से एक विकराल समस्या है। वे जाति प्रथा की उत्पत्ति के लिए

भारत के विधि निर्माता मनु को जिम्मेदार ठहराते हैं। उनके शब्दों में, "मनु ने जाति के विधान का निर्माण नहीं किया और न वह ऐसा कर सकता था। जाति प्रथा मनु से पहले विद्यमान थी। वह तो उसका पोषक था, इसलिए उसने उसे एक दर्शन का रूप दिया। प्रचलित जाति प्रथा को ही उसने संहिता का रूप दिया और जाति धर्म का प्रचार किया।"

अम्बेडकर के अनुसार, प्रारम्भ में अन्य समाजों के समान भारतीय समाज भी चार वर्णों में विभाजित था। ये हैं : (1) ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग, (2) क्षत्रीय या सैनिक वर्ग, (3) वैश्य अथवा व्यापारिक वर्ग, और (4) शूद्र अथवा शिल्पकार और श्रमिक वर्ग । इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा कि आरम्भ में यह अनिवार्य रूप से वर्ग विभाजन के अन्तर्गत व्यक्ति दक्षता के आधार पर अपना वर्ण बदल सकता था और इसीलिए वर्णों को व्यक्तियों के कार्य की परिवर्तनशीलता स्वीकार्य थी। हिन्दू इतिहास में किसी समय पुरोहित वर्ग ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया और इस तरह स्वयं सीमित प्रथा से जातियों का सूत्रपात हुआ। दूसरे वर्ण भी समाज विभाजन के सिद्धान्तानुसार अलग-अलग खेमों में बँट गए। कुछ का संख्या बल अधिक था तथा कुछ का नगण्य । वैश्य वर्ण मौलिक रूप से वे तत्व हैं, जिनकी जातियों की अनगिनत शाखा, प्रशाखाएँ कालान्तर में उभरी हैं, क्योंकि सैनिक व्यवसाय के लोग असंख्य समुदायों में सरलता से विभाजित नहीं हो सकते, इसलिए यह वर्ण सैनिकों और शासकों के लिए सुरक्षित हो

डॉ. अम्बेडकर का कहना है कि समाज का यह उप वर्गीकरण स्वाभाविक है, किन्तु उपरोक्त विभाजन में अप्राकृतिक तत्व यह है कि इससे वर्णों में परिवर्तनशीलता के मार्ग अवरुद्ध हो गए और वे संकुचित बनते चले गए, जिन्होंने जातियों का रूप ले लिया। अम्बेडकर यह भी मानते हैं कि कुछ जातियों की संरचना नकल से हुई है और नकल करने के दो आधार दिखलाई देते हैं: (1). जिस स्रोत की नकल की गई है, उसकी समुदाय में प्रतिष्ठा होनी चाहिए और समुदाय के सदस्यों में प्रतिदिन और अनेक बार सम्पर्क होने चाहिए। भारतीय समाज में दोनों ही परिस्थितियाँ मौजूद हैं। चूँकि समाज में ब्राह्मण अर्द्ध देवता माना जाता है एवं उसकी प्रतिष्ठा असन्दिग्ध है। अतः

लोग उसका अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार जो जातियाँ ब्राह्मणों के निकट हैं वे सती प्रथा, बालिका विवाह जैसी प्रथाओं की नकल का कड़ाई से पालन करती हैं। अम्बेडकर के शब्दों में, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में जाति प्रथा निम्न वर्ग द्वारा उच्च वर्ग की नकल का प्रतिफल है।"

जाति समस्या के सम्बन्ध में अम्बेडकर ने अपने आलेख में चार पक्ष उजागर किए हैं: (1) हिन्दू जनसंख्या में विविध तत्वों के सम्मिश्रण के बावजूद इसमें दृढ़ सांस्कृतिक एकता है, (2) जातियाँ एक विराट् सांस्कृतिक इकाई है, (3) शुरू में केवल एक ही जाती थी, और (4) इन्हीं वर्गों में देखा-देखी या बहिष्कार से विभिन्न जातियाँ बन गईं।

अपने दूसरे भाषण में जिसे लाहौर जातपाँत तोड़क मण्डल 1936 के वार्षिक सम्मेलन के लिए तैयार किया गया था और जिसका शीर्षक 'जाति प्रथा उन्मूलन' है, में डॉ. अम्बेडकर ने इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या भारत में सामाजिक सुधार राजनीतिक सुधारों से पहले होने चाहिए? अम्बेडकर इस विचार से सहमत नहीं हैं कि हम अपनी सामाजिक प्रणाली में सुधार नहीं करेंगे, जब तक हम राजनीतिक सुधारों के योग्य नहीं हो जाते। उन दिनों अछूतों के साथ कैसा व्यवहार होता था। इसका चित्रण करते हुए अम्बेडकर कहते हैं: मराठा राज्य में पेशवाओं के शासन में यदि कोई हिन्दू सड़क पर आ रहा होता था तो किसी अछूत को इसलिए उस सड़क पर चलने की अनुमति नहीं थी कि उसकी परछाई से वह हिन्दू अपवित्र हो जाएगा। अछूत के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी कलाई या गर्दन में निशानी के तौर पर एक काला धागा बाँधे, जिससे कि हिन्दू गलती से उससे छूकर अपवित्र हो जाने से बच जाए। पेशवाओं की राजधानी पूना में किसी भी अछूत के लिए अपनी कमर में झाड़ू बाँधकर चलना आवश्यक था, जिससे कि उसके चलने के पीछे की धूल साफ होती रहे और ऐसा न हो कि कहीं उस रास्ते से चलने वाला कोई हिन्दू उससे अपवित्र हो जाए। पूना में अछूतों के लिए यह आवश्यक था कि जहाँ कहीं भी वे जाएँ, अपने थूकने के लिए मिट्टी का एक बर्तन अपनी गर्दन में लटका कर चलें, क्योंकि ऐसा न हो कि कहीं जमीन पर पड़ने वाले उसके थूक से अनजाने में वहाँ से गुजरने वाला कोईहिन्दू अपवित्र हो जाए ।

सामाजिक सुधारों से पूर्व राजनीतिक सुधारों के समर्थक हिन्दुओं के सामने अम्बेडकर ने प्रश्न किया जब आप अपने ही देश के अछूतों जैसे एक बहुत बड़े वर्ग को सार्वजनिक स्कूल का प्रयोग नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? जब आप उन्हें सार्वजनिक कुओं का प्रयोग नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? जब आप उन्हें अपनी पसन्द के आभूषण और वेशभूषा धारण नहीं करने देते तो तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं? जब आप उन्हें उनकी पसन्द का भोजन नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य हैं?

अम्बेडकर के शब्दों में, "प्रत्येक कांग्रेसी को, जो जे.एस. मिल के इस सिद्धान्त को मानता है कि एक देश दूसरे देश पर शासन करने योग्य नहीं है, यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि एक वर्ग दूसरे वर्ग पर भी शासन करने के योग्य नहीं है।"

भारत में समाज सुधार से अभिप्राय स्पष्ट करते हुए अम्बेडकर का मत है कि हिन्दू परिवार के सुधार के अर्थ में समाज सुधार और हिन्दू समाज के पुनर्गठन तथा पुनर्निर्माण के अर्थ में समाज सुधार, इन दोनों में अन्तर किया जाए। पहले के समाज सुधार का सम्बन्ध विधवा विवाह, बाल विवाह, आदि से है, जबकि दूसरे प्रकार से समाज सुधार का सम्बन्ध जातिप्रथा के उन्मूलन से है। अम्बेडकर के अनुसार भारत में जाति प्रथा का समर्थन सर्वप्रथम इस आधार पर किया जाता है कि जाति प्रथा श्रम के विभाजन का एक अन्य नाम ही है। यदि श्रम का विभाजन प्रत्येक सभ्य समाज का एक अनिवार्य लक्षण है, तो यह दलील दी जाती है कि जाति प्रथा में कोई बुराई नहीं है। अम्बेडकर इस विचार के विरुद्ध तर्क देते हुए कहते हैं कि जाति प्रथा केवल श्रम विभाजन नहीं है, यह श्रमिकों का विभाजन भी है। यह एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है जिसमें श्रमिकों का विभाजन एक के ऊपर दूसरे क्रम में होता है। किसी भी अन्य देश में श्रम के विभाजन के साथ श्रमिकों का इस प्रकार का क्रम नहीं होता।

कुछ लोगों ने जातिप्रथा के समर्थन में जैविक दलील दी है। कहा जाता है कि जाति का उद्देश्य प्रजाति कीशुद्धता और रक्त की शुद्धता को परिरक्षित रखना है। अम्बेडकर के अनुसार अब नृजाति वैज्ञानिकोंका मत है कि विशुद्ध प्रजाति

के लोग कहीं नहीं है और संसार के सब भागों में सभी जातियोंका मिश्रण है, विशेष कर भारत के लोगों के मामले में तो यह स्थिति आवश्यक है। श्री डी.आर.भण्डारकर ने 'हिन्दू जनसंख्या में विदेशी तत्व' (फारेन एलीमेंट्स इन द हिन्दू पॉपूलेशन)विषय पर अपने प्रलेख में कहा है कि "भारत में शायद ही कोई ऐसा वर्ग या जाति होगी, जिसमें विदगी वंश का मिश्रण न है, बल्कि ब्राह्मणों में भी है, जो इस सुखद भ्रान्तिमें हैं कि वे सभी विदेशी तत्वों से मुक हैं।" अम्बेडकर का स्पष्ट मत है कि जातिप्रथाएक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जो हिन्दू समाज के ऐसे विकृत समुदाय की झूठी शासन और स्वार्थकी प्रतीक है, जो अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार इतने समृद्ध थे कि उन्होंने इसजाति प्रथा को प्रचलित किया और इस प्रथा को अपनी जोर-जबरदस्ती के बल पर अपने से निचलेतबके के लोगों पर लागू किया।

अम्बेडकर के अनुसारजाति प्रथा से असामाजिक तत्वों को बढ़ावा मिलता है। एक जाति के लोग आनन्द लेकर ऐसेगीत गाते हैं, जिनमें दूसरी जाति के प्रति नफरत छिपी रहती है। हिन्दुओं के साहित्यमें जाति विशेषों की उद्गम के सम्बन्ध में ऐसे अनेक गीत आदि हैं, जिनमें एक जाति कासर्वोच्च और दूसरी की निन्दा का पात्र बनाने का प्रयास किया गया है। ऐसे साहित्य काएक घृणित नमूना 'सह्याद्रि खण्ड' है। यह असामाजिक भावना जाति तक ही सीमित नहीं है।इसकी जड़ें और भी गहरी हैं और इसने उप-जातियों के आपसी सम्बन्धों को भी विकृत कर दियाहै। ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि गैर ब्राह्मणों के विरुद्ध अपने स्वार्थकी रक्षा करें और गैर-ब्राह्मणों का मुख्य उद्देश्य यह है कि ब्राह्मणों के विरुद्धअपने स्वार्थ की रक्षा करें। इसलिए हिन्दू समुदाय विभिन्न जातियों का एक संग्रह मात्रनहीं है, बल्कि वह शत्रुओं का समुदाय है। अम्बेडकर का स्पष्ट मत है कि हिन्दुओं नेन केवल अन्य जातियों को सभ्य बनाने का मानवतावादी कार्य करने का कोई प्रयास नहीं किया, बल्कि ऊँची जाति वाले हिन्दुओं ने जान-बूझकर हिन्दू समाज की निचली जातियों को ऊँचीजाति के सांस्कृतिक स्तर तक ऊपर उठने की मोहलत नहीं दी।

अम्बेडकर के अनुसारहिन्दू धर्म प्रचार मूलक धर्म था या नहीं, यह विवादास्पद है। असली सवाल यह है कि हिन्दूधर्म प्रचार मूलक क्यों नहीं रह पाया। मेरे

पास इसका यह जवाब है कि हिन्दू धर्म तबसे प्रचारमूलक धर्म नहीं रह गया, जब से हिन्दुओं में जाति प्रथा का उद्‌गम हुआ। जातिप्रथा धर्म परिवर्तन नहीं होने देती। धर्म परिवर्तन में सिर्फ यह समस्या नहीं होतीकि नई धारणाएँ और नए सिद्‌धान्त अपना लिए जाएँ बल्कि दूसरी ओर सबसे बड़ी समस्या इसमेंयह पैदा होती है कि धर्म परिवर्तित व्यक्ति को किस जाति में स्वीकार किया जाए? जो भीहिन्दू अन्य धर्मियों को अपने धर्म में शामिल करना चाहता है, उसे यह समस्या अनिवार्यरूप से झेलनी पड़ती है। किसी क्लब की सदस्यता तो सबके लिए समान रूप से खुली रहती है, किन्तु किसी जाति विशेष की सदस्यता हर ऐरे-गैरे के लिए नहीं खुली रहती । जाति रहतीहै, किन्तु किसी जाति विशेष की सदस्यता उसी जाति में उत्पन्न व्यक्ति को प्राप्त होतीहै। जातियाँ स्व-शासित होती हैं। किसी को कहीं यह अधिकार नहीं है कि किसी जाति को किसीबात के लिए विवश करे कि वह अपने सामाजिक जीवन में किसी नव-आगन्तुक को स्वीकार कर ले।हिन्दू समाज अनेक जातियों का समूह है और क्योंकि हर एक जाति एक बन्द निगमित संस्थाकी तरह है, इसलिए धर्म परिवर्तन व्यक्ति के लिए (किसी भी जाति में) कहीं कोई स्थाननहीं है। इस प्रकार इस जातिप्रथा ने ही हिन्दुओं को हिन्दू धर्म फैलाने से रोका और अन्य धार्मिक समुदायों को इसमें लीन होने से रोका। अतः जब तक जाति प्रथा रहेगी, हिन्दू धर्म को प्रचारात्मक धर्म नहीं बनाया जा सकता।

अम्बेडकर के अनुसार अनेक कारणों से हिन्दू समुदाय को संगठित करना सम्भव नहीं है। यदि किसी सिक्ख पर खतरा होता है तो सारे सिक्ख उसके बचाव के लिए आ जाते हैं और यदि मुसलमान पर हमला हुआ तो सारे मुसलमानों के रहन-सहन का तरीका उनमें भाईचारे की भावना पैदा करता है। दूसरी ओर हिन्दुओं के आपसी रहन-सहन के तरीके इस भावना को पैदा होने नहीं देते। सिक्खों और मुसलमानों में एकता का वह सामाजिक तत्व है जो उन्हें भाई-चारे बनाता है। हिन्दुओं में एकता का ऐसा कोई तत्व नहीं है और कोई भी हिन्दू दूसरे हिन्दू को अपना भाई नहीं मानता। इसका मुख्य कारण हिन्दुओं की जाति प्रथा है। जब तक जाति प्रथा रहेगी हिन्दुओं में संगठन नाम की कोई बात

नहीं रहेगी और जब तक उनमें संगठन नहीं होगा हिन्दू कमजोर और डरपोक रहेंगे।

अम्बेडकर स्पष्ट कहते हैं कि हिन्दुओं की नीति और आचार पर जाति प्रथा का प्रभाव अत्यधिक सोचनीय है। जाति प्रथा ने जनचेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जाति प्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असम्भव हो गया है। हिन्दू अपना उत्तरदायित्व अपनी जाति तक ही सीमित मानता है, गुणों का आधार भी जाति ही है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है। वह किसी नेता का अनुसरण तभी करेगा जब वह उसकी जाति का हो। हिन्दुओं में इस बात की क्षमता ही नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्तियों के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकें। वस्तुतः हिन्दुओं ने अपनी जाति के हितों-स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात किया है।

डॉ. अम्बेडकर ने अपने भाषण के उत्तरार्द्ध में जाति प्रथा के दुष्प्रभावों की चर्चा करने के साथ-साथ एक आदर्श समाज की संकल्पना भी प्रस्तुत की। उनके शब्दों में, "मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा। जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए।"

उन्होंने आर्य समाजियों द्वारा प्रस्तुत चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को अस्वीकार करते हुए कहा कि यह एक बहुत ही दोषपूर्ण व्यवस्था है। यह वह व्यवस्था है, जिसमें लोगों की उपयोगी क्रिया समाप्त, ठप्प तथा अशक्त हो जाती है।

अम्बेडकर के शब्दों में जब तक भारत के लोग अपनी सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलेंगे, तब तक कोई प्रगति नहीं होगी। जाति व्यवस्था की नींव पर आप राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते, आप नैतिकता का निर्माण नहीं कर सकते।

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में सुधार कैसे किया जाए? जाति प्रथा को कैसे समाप्त किया जाए? अम्बेडकर के अनुसार जाति प्रथा उन्मूलन में समाज के बुद्धिजीवी वर्ग की महती भूमिका होगी। बुद्धिजीवी वर्ग वह है, जो दूरदर्शी होता है, सलाह दे सकता है और नेतृत्व प्रदान कर सकता है। यह कहने में कोई

अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी देश का सम्पूर्ण भविष्य उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर निर्भर होता है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग ईमानदार, स्वतन्त्र और निष्पक्ष है तो उस पर भरोसा किया जा सकता है कि संकट की घड़ी में वह पहल करेगा और उचित नेतृत्व प्रदान करेगा, किन्तु यह सोचकर खेद होता है कि भारत में बुद्धिजीवी वर्ग ब्राह्मण जाति का ही दूसरा नाम है अतः जाति प्रथा समाप्त करने वाले आन्दोलन का सफल होना नितान्त असम्भव दिखाई देता है। ए

अम्बेडकर धर्म के नियमों की निन्दा करते हैं तथापि धर्म को आवश्यक मानते हैं और धर्म में सुधार के लिए निम्नांकित सुझाव देते हैं: (1) हिन्दू धर्म की केवल एक और केवल एक ही मानक पुस्तक होनी चाहिए, जिसे सारे के सारे हिन्दू स्वीकार करें और मान्यता दें, (2) हिन्दुओं में पुरोहिताई समाप्त की जाए, चूँकि, ऐसा होना असम्भव है इसलिए पुरोहिताई पुश्तैनी नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति जो अपने को हिन्दू मानता है उसे राज्य के द्वारा परीक्षा पास कर सनद प्राप्त कर लेने पर पुजारी बनने का अधिकार होना चाहिए, (3) बिना सनद के धर्मानुष्ठान करने को कानूनन वैध नहीं माना जाना चाहिए, (4) पुजारी एक सरकारी नौकर होना चाहिए जिसके ऊपर नैतिकता, आस्था तथा पूजा के मामले में अनुशासनात्मक

कार्यवाही की जा सके, और (5) पुजारियों की संख्या को कानून द्वारा आवश्यकता के अनुरूप सीमित किया जाना चाहिए।

डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में, "हिन्दू पुजारी का ही केवल ऐसा पेशा है जिसके लिए कोई आचार संहिता निर्धारित नहीं है- पुरोहित वर्ग को कानून द्वारा नियन्त्रण में लाया जाना चाहिए। जिससे पुरोहिताई लोकतान्त्रिक संस्था बन जाएगी तथा पुरोहित बनने के अवसर सभी के लिए खुल जाएँगे, इससे ब्राह्मणवाद को मारने में मदद मिलेगी और जाति प्रथा के उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त होगा जो ब्राह्मणवाद की ही देन है।"

अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा कि जाति प्रथा उन्मूलन का कार्य स्वराज्य से भी ज्यादा महत्वपूर्ण है। स्वराज्य से ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न स्वराज्य के अन्तर्गत

हिन्दुओं को बचाना है। हिन्दू समाज जब तक जातिविहिन समाज बन जाएगा, तभी इसके पास स्वयं को बचाने के लिए काफी शक्ति होगी।

7.16 सार संक्षेप

अम्बेडकर का जीवन भारत में सामाजिक सुधार को समर्पित था। उन्होंने जातिवाद और अस्पृश्यता निवारण के लिए जीवनभर कार्य किया। वह भारत की स्वाधीनता के समर्थक थे, किन्तु स्वाधीनता के राजनीतिक पक्ष के बजाय सामाजिक पक्ष को सुदृढ़ करने पर जोर देते थे। उनके अनुसार राजनीतिक स्वाधीनता से पूर्व सामाजिक सुधार अपेक्षित है। वे सामाजिक संरचना में आमूलचूल परिवर्तन चाहते थे। संविधान सभा में उनकी भूमिका और प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में भारत के संविधान का प्रारूप निर्माण करने में उनका प्रशंसनीय योगदान रहा है। लोकसभा में हिन्दू कोड बिल पर उनके विचारों ने उन्हें दलितों के साथ-साथ भारतीय महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने वाले मसीहा के रूप में स्थापित कर दिया। एक संविधान विशेषज्ञ, दार्शनिक संसदवेत्ता के रूप में उन्हें सदैव स्मरण किया जाता रहेगा।

7.17 मुख्य शब्द

1. **अस्पृश्यता**: समाज में एक वर्ग को अछूत मानने की प्रथा।
2. **संविधान**: किसी राष्ट्र का मूलभूत कानून या विधान।
3. धर्मनिरपेक्षता: राज्य का सभी धर्मों के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण।
4. जातिवाद: समाज में जाति के आधार पर भेदभाव।
5. बंधुत्व: सभी मनुष्यों के बीच भाईचारे की भावना।
6. दलित: समाज के उत्पीड़ित और वंचित वर्ग।
7. सामाजिक न्याय: समाज के सभी वर्गों को समान अवसर और अधिकार।

स्व प्रगति के प्रश्न

1. अस्पृश्यों कीसमस्या को उजागर करने हेतु अम्बेडकर ने किस समाचार-पत्र का प्रकाशन प्रारम्भकिया था :

(अ) केसरी,

(ब) मराठा,

(स) हरिजन,

(द) मूक नायक ।

2 'बहिष्कृत हितकारिणीसभा' की स्थापना का श्रेय किसे है:

(अ) अम्बेडकर को,

(ब) गाँधी को,

(स) नेहरू को,

(द) गोखले को।

3.अम्बेडकर ने अपने लाखों अनुयाइयों के साथ बौद्ध धर्म कहाँ ग्रहण किया :

(अ) दिल्ली में,

(ब) अहमदाबाद में,

(स) नागपुर में,

(द) मेरठ में।

4.अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू समाज के उत्थान के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है:

(अ) धार्मिकता,

(ब) अस्पृश्यता,

(स) संकीर्णता,

(द) उदारता ।

5. किस विषय में अम्बेडकर व गाँधी के दृष्टिकोणबिल्कुल विपरीत है:

(अ) जाति व्यवस्था,

(ब) वर्ण व्यवस्था,

(ब) अस्पृश्यता निवारण,

(द) धर्म व्यवस्था।

6. निम्नांकित में से कौन-सी अम्बेडकरकी कृति नहीं है :

(अ) यूनिटी ऑफ इण्डिया,

(ब) गाँधी एण्ड गाँधीज्म,

(स) प्रोब्लम ऑफ दी रूपी

7. डॉ. अम्बेडकर संविधान सभा की निम्नमें से किस समिति के सभापति थेः

(अ) संघीय संविधान समिति,

(ब) संविधान प्रारूप समिति,

(स) प्रान्तीय संविधान समिति ।

8. निम्नांकित में से कौन-सा अम्बेडकरद्वारा दलित वर्ग के उत्थान के लिए दिये गये सुझावों में सम्मिलित नहीं है :

(अ) दलित वर्गों के लिए विधान मण्डलोंमें पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था,

(ब) सेवाओं में दलितों के लिए आरक्षण,

(स) धर्म परिवर्तन

(द) कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन तथाइन उद्योगों के लिए अनिवार्यता केवल दलितों को ही सरकार की ओर से वित्तीय सहायता ।

7.18 स्व प्रगति के प्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (द), 2. (अ), 3. (स), 4. (ब), 5. (ब), 6. (अ), 7. (ब), 8. (द))

7.19 संदर्भ ग्रन्थ

- अम्बेडकर, बी. आर. (2017). *जाति प्रथा का उच्छेद*. नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
- शर्मा, आर. (2018). भीमराव अम्बेडकर: सामाजिक न्याय के प्रतीक। वाराणसी: भारत पुस्तकालय।
- कुमार, एस. (2019). *अम्बेडकर और भारतीय संविधान का निर्माण*. जयपुर: ज्ञान गंगा प्रकाशन।
- मिश्रा, ए. (2020). डॉ. अम्बेडकर: दलित उत्थान के महानायक। पटना: नमन प्रकाशन।
- चौहान, पी. (2021). *अम्बेडकर की विचारधारा और आधुनिक भारत*. लखनऊ: सहायक प्रकाशन।
- गुप्ता, एम. (2022). भीमराव अम्बेडकर: एक जीवन परिचय। मुंबई: समता प्रकाशन।
- यादव, के. (2023). *डॉ. अम्बेडकर और सामाजिक क्रांति*. भोपाल: साहित्य संसार।
- तिवारी, एन. (2024). अम्बेडकर के आर्थिक विचार। कोलकाता: विमल पब्लिशिंग हाउस।

7.20 अभ्यास के प्रश्न

1. डॉ. भीमराव अम्बेडकरके प्रमुख सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का विवेचन कीजिए

2.अम्बेडकर के जातिप्रथा उन्मूलन सम्बन्धी विचारों का परीक्षण कीजिए।

3. अम्बेडकर के भाषायीराज्यों एवं जनतंत्र सम्बन्धी विचारों का परीक्षण कीजिए।

4.टिप्पणी लिखिए

1. अम्बेडकर और हिन्दूकोड बिल।
2. अम्बेडकर के भाषायीराज्यों संबंधी विचार ।

इकाई 8

राममनोहर लोहिया

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 डॉ. लोहिया जीवन परिचय

8.4 राममनोहर लोहियाः राजनीतिक एवं सामाजिक...

8.5 लोहिया के आर्थिक विचार

8.6 लोहिया: मूल्यांकन (Lohia: An Evaluation)

8.7 सार संक्षेप

8.8 मुख्य शब्द

8.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.10 स्व प्रगति के प्रश्न

8.11 स्व प्रगति के प्रश्नों के उत्तर

8.12 अभ्यास के प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

भारत में समाजवादी चिन्तकों में डॉ. राममनोहर लोहिया का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। उनकी गणना भारत के प्रमुख समाजवादी बुद्धिजीवियों तथा प्रचारकों में की जाती है। लोहिया समाजवादी विचारों के उग्र प्रचारक थे। समाजवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने में उनका विशेष सहयोग था। उनके भाषण प्रबल आलोचना से युक्त तथा आँकड़ों से परिपूर्ण होते थे। देश के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत के समाजवादी आन्दोलन की प्रगति में उनका उल्लेखनीय योगदान था। वे सच्चे गांधीवादी थे

और उन्होंने एक सच्चे गांधीवादी के रूप में गांधीवाद को समाजवाद चिन्तन में प्रमुखता देने का प्रयास भी किया।

डॉ. लोहिया एक राजनीतिज्ञ ही न थे, बल्कि इतिहासकार, अर्थशास्त्री, दार्शनिक एवं महान लेखक थे। जीवन का शायद ही कोई पहलू ऐसा बचा हो जिसे डॉ. लोहिया ने अपनी प्रतिभा से स्पर्श न किया हो। वे समाजवादी थे पर भारतीय संस्कृति से उन्हें बड़ा प्रेम था। उनका समाजवाद यूरोपीय सीमाओं के अनुकूल था।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को सामाजिक सम मानता भेदभाव आर्थिक विषमता के खिलाफ उनकी सोच और संघर्ष को बतलाना है

1. सामाजिक समता: जातिवाद, लिंग भेदभाव, और आर्थिक विषमता के खिलाफ उनकी सोच और संघर्ष को समझना।

2. चौखंभा राज्य का मॉडल:

उनके द्वारा प्रस्तावित "चौखंभा राज्य" (ग्राम, जिला, प्रांत, और राष्ट्र) के विचार का विश्लेषण।

3. समाजवाद और आर्थिक दर्शन:

भारतीय समाजवादी आंदोलन में उनकी भूमिका और उनके आर्थिक विचारों का अध्ययन।

4. अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण:

उनके वैश्विक दृष्टिकोण, जैसे कि युद्ध और शांति, उपनिवेशवाद, और विश्व शासन के विचार।

5. हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं का महत्व:

भारतीय भाषाओं को प्राथमिकता देने के उनके प्रयास और अंग्रेजी के प्रभुत्व के खिलाफ उनके विचार।

6. समानता और महिलाओं के अधिकार:

महिलाओं के अधिकारों और समान वेतन की उनकी वकालत।

7. आंदोलन और संगठन:

उनके नेतृत्व में हुए आंदोलन, जैसे सिविल नाफरमानी और सत्याग्रह।

8.3 डॉ. लोहिया जीवन परिचय

डॉ. राममनोहर लोहिया का जन्म 1910 में हुआ था। वे प्रारम्भ में कांग्रेस पार्टी से जुड़े रहे। 1952 में कांग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष रहे और उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि समाजवादी चिन्तन में गांधीवादी विचारों को और अधिक अंश में सम्मिलित किया जाए। उन्हीं के प्रयलों के फलस्वरूप 1953 में एशियाई समाजवादी सम्मेलन हुआ। 1953 में डॉ. लोहिया ने 'इक्वीडिस्टैण्ट थ्योरी' (Equidistant Theory) नामक पुस्तक लिखी और समाजवादियों को कांग्रेस तथा साम्यवादियों से दूर रहने का परामर्श दिया। 1953 में डॉ. लोहिया ने अपने सहयोगियों की कांग्रेस सहयोगनीति की आलोचना की। जब प्रजा समाजवादी दल कांग्रेस के प्रति मैत्री एवं समझौतावादी रुख अपनाने लगा तो उग्रवादी लोहिया ने 1955 में एक नये समाजवादी दल का निर्माण कर लिया, जिसका नाम भारतीय समाजवादी दल रखा गया। कुछ समय बाद वे संयुक्त दल के अध्यक्ष बने। लोहिया ने भारत की विदेश नीति की कटु आलोचना की। उन्हें नेहरू की गुट-निरपेक्षता की नीति में विश्वास नहीं था। उनका कहना था कि भारत को विदेशों में पक्के मित्रों की खोज करनी चाहिए। 1967 में कांग्रेस के विकल्प के रूप में लोहिया ने मिली-जुली सरकारों के निर्माण का विचार दिया जिसके परिणामस्वरूप कई राज्यों में साझा सरकारें बनीं।

डॉ. लोहिया डॉ. लोहिया केवल एक विचारक ही नहीं थे, बल्कि एक महान लेखक भी थे। वे एक अच्छे पत्रकार भी थे। अंग्रेजी में 'मैनकाइण्ड' तथा हिन्दी

में 'जन' नामक पत्रों का सम्पादन किया। उनकी कतिपय प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित है: (1) Wheel of History; (2) Guilty men of India's Partition; (3) Marx, Gandhi and Socialism; (4) क्रान्ति के लिए संगठन ।

8.4 राममनोहर लोहिया: राजनीतिक एवं सामाजिक विचार

डॉ. लोहिया का व्यक्तित्व बहुत ही विवादास्पद रहा। उन पर मार्क्स और गांधी दोनों का प्रभाव रहा, लेकिन न वे पूरे मार्क्सवादी बने न ही पूरे गांधीवादी ही। वे बहुत कुछ एक समन्वयवादी विचारधारा के समर्थक थे और चाहते थे कि मार्क्सवाद गांधीवाद का अन्धानुकरण न करके हमें इनके सिद्धान्तों के

श्रेष्ठतम तत्वों का निचोड़ ग्रहण करना चाहिए।

डॉ. लोहिया के प्रमुख राजनीतिक एवं सामाजिक विचार इस प्रकार हैं:

(1) इतिहास की नवीन व्याख्या डॉ. लोहिया ने इतिहास की नवीन व्याख्या की। उनके अनुसार इतिहास की गति चक्र के समान तथा अपरिवर्तनीय होती है। इस चक्र में पुनरावृत्ति भी होती रहती है। लोहिया का यह विचार इस धारणा का खण्डन करता है कि इतिहास सरल रेखा की भाँति आगे को बढ़ता रहता है। उस चक्रवत गति के दौरान एक देश जो उन्नति के चरम शिखर पर है वह पतन के गर्त में भी गिर सकता है और एक ऐसा भी समय आ सकता है जब पतन के गर्त में गिरा हुआ देश पुनः उन्नति करने लगे। लोहिया का यह विचार प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक 'अरस्तू' के 'चक्र सिद्धान्त' (Cyclical Theory) का स्मरण दिलाता है।

मार्क्स तथा हीगेल ने इतिहास की जो व्याख्या की है, उसे डॉ. लोहिया ने स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि इन दोनों दार्शनिकों की ऐतिहासिक व्याख्याएँ इतिहास का पूरा बोध नहीं करा सकती हैं। वे लिखते हैं किः "जो लोग इतिहास के नियम की बात करते हैं तथा जो इस प्रकार का संकेत करते हैं कि विभिन्न कालों में विभिन्न जाति के लोगों का किस प्रकार उत्थान होता है या हुआ उन्हें यह भी बोध कराना चाहिए कि विभिन्न जातियों एवं वर्गों का उत्थान-पतन क्यों कर हुआ और यदि वे इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ न हों

तो फिर उनके 'इतिहास नियम' के सम्बन्ध में कुछ कहना कोरा प्रलाप ही है। लक्षणों के विषय में संकेत करना कारणों को बताना नहीं है।"

डॉ. लोहिया का मत था कि इतिहास के उद्देश्य एवं प्रक्रिया के बारे में कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किये जा सकते हैं। मानव इतिहास के विषय में वे लिखते हैं कि "यह स्मरण रखना अनिवार्य है कि ऐतिहासिक अन्वेषण का सम्बन्ध मुख्यतः तथ्यों (facts) के प्रकाशन से है और अभी बहुत-से तथ्य अज्ञात बने हुए हैं। कुछ स्थितियों में तो प्रमाण तथा तथ्यों के बीच संघर्ष अभी तक नहीं सुलझ सका है। जब यह स्थिति गोचर पदार्थों एवं घटनाओं के सम्बन्ध में है तो फिर सूक्ष्म प्रवृत्तियों एवं भावनाओं के बारे में निरन्तर मानव के अर्द्धचेतन मन को एवं उनके माध्यम से इतिहास को उद्वेलित करती रहती है, कहना ही क्या है।"

डॉ. लोहिया अरस्तू के कालचक्र से तो सहमत थे पर वे 'सीधे रेखाकार ऐतिहासिक विकास' के सिद्धान्त से पूर्णतया असहमत थे। डॉ. लोहिया स्पेन्गलर, नॉर्थट्राप, आदि इतिहासकारों के समान यह विश्वास रखते थे कि राष्ट्रों तथा सभ्यता का उत्थान-पतन सदैव होता रहता है तथा इतिहास के विद्यार्थी के नाते हमें ब्रिटिश साम्राज्य के उत्थान, फरोह साम्राज्य के पतन, गुप्त राज्य के उत्थान तथा रोम साम्राज्य, आदि के पतन के बारे में ज्ञात है। कोई भी देश इतिहास की चक्राकार गति से घूमता हुआ कभी अपने वैभव एवं विकास की चरम सीमा पर तो कभी पतन के अधोबिन्दु पर पहुँच जाता है।

अन्त में डॉ. लोहिया इतिहास के तीन तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं:

(1) देशों का उत्थान पतन होता है। वैभव-धन का स्थान बदलता रहता है। समूह के बाहरी रिश्तों में उतार-चढ़ाव होता रहता है।

(2) समूह के अन्दर वर्ग-जाति का संघर्ष होता रहता है।

(3) सभी समूह शारीरिक सांस्कृतिक ढंग से मिलन भी करते हैं। कारणों की खोज का कोई अन्त नहीं। इतिहास का प्रवाह और घटनाएँ होती रहती हैं। डॉ. लोहिया आगे लिखते हैं कि "यह वर्गों एवं जातियों तथा विचार प्रेरक प्रवृत्तियों एवं सभ्यताओं के मध्य संघर्ष इतिहास में तब तक चलता रहेगा, जब तक कि

मनुष्य में बुराई समाप्त नहीं हो जाती।" और वे यह भी विश्वास रखते थे कि "संसार अन्ततः विवेकपूर्ण तरीकों से मानव जाति की बहुरंगी एकता स्थापित करने में सफल हो सकेगा।"

(2) भौतिकवाद एवं चेतना का समन्वय लोहिया ने मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा को स्वीकार किया, किन्तु परम्परावादी मार्क्सवादियों की तुलना में वे चेतना को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। डॉ. वी.पी. वर्मा के अनुसार, "वे एक ऐसे सिद्धान्त की रचना के पक्ष में हैं जिसके अन्तर्गत आत्मा अथवा सामान्य उद्देश्यों तथा द्रव्य अथवा आर्थिक उद्देश्यों का परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रह सके।" डॉ. लोहिया ने भौतिकवाद को चेतनावाद में बदल दिया। उनका

कहना था कि "एक ऐसे बौद्धिक यन्त्र को निर्मित करना चाहिए, जो आत्मा या सामान्य उद्देश्यों में स्वायत्त सम्बन्ध को स्थापित कर सके।"

(3) जाति और वर्गों में संघर्ष की धारणा लोहिया ने अपनी पुस्तक 'दी व्हील ऑफ हिस्ट्री' में बताया है कि इतिहास में जाति और वर्गों का संघर्ष दिखायी देता है। वर्ग और जाति के बीच की यह आन्तरिक हलचल ही इतिहास को गतिशीलता प्रदान करती है। जातियों का रूप सुनिश्चित होता है, जबकि वर्गों की आन्तरिक रचना शिथिल होती है। वर्ग तथा जाति के बीच घड़ी के पेण्डुलम के समान आन्तरिक क्रिया होती रहती और यही क्रिया इतिहास को गति प्रदान करती है। जातियों में प्रायः गतिहीनता और निष्क्रियता पायी जाती है, जबकि वर्ग सामाजिक गतिशीलता की प्रचण्ड शक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं। लोहिया के अनुसार अब तक का मानव इतिहास जातियों तथा वर्गों के बीच आन्तरिक गति का इतिहास है। जातियाँ शिथिल होकर वर्गों में परिणत हो जाती हैं और वर्ग संगठित होकर जातियों का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार लोहिया की जातियों तथा वर्गों के बीच संघर्ष की धारणा पेरेटो के सिद्धान्त का ही लोकप्रिय रूप है।

(4) एशियाई समाजवाद की धारणा लोहिया ने एशियाई समाजवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

वे एशिया की समस्याओं को एशियाई तरीके से हल करने के पक्षपाती थे। पश्चिम का अन्धानुकरण उन्हें पसन्द नहीं था। उन्होंने स्पष्ट कहा कि एशिया के समाजवादियों को मौलिक चिन्तन तथा अभिक्रम का अभ्यास डालना चाहिए। उन्हें अपनी नीतियाँ उस सभ्यता के सन्दर्भ में निरूपित करनी है जो शताब्दियों पुराने निरंकुशतावाद तथा सामन्तवाद के कूड़े-करकट में से उभरने का प्रयत्न कर रही हैं।

26 मार्च, 1952 को "एशियन समाजवादी कांग्रेस" रंगून की प्रारम्भिक सभा को सम्बोधित करते हुए डॉ. लोहिया ने कहा था कि "एशिया में जहाँ आर्थिक समस्याएँ मुँह बाये खड़ी है, पश्चिमी ढंग का समाजवादी प्रजातन्त्र कदापि उपयोगी नहीं हो सकता। एशिया के लोग रोटी के लिए अपने प्रजातान्त्रिक अधिकारों को बेचने के लिए सरलता से तैयार हो जायेंगे। परम्परागत तरीके से सोचने पर, रोटी की समस्या के समाधान हेतु, हमें पूँजीवादी अथवा साम्यवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना ही अनिवार्य दिखाई देने लगती है, किन्तु दोनों की अर्थव्यवस्था एक जैसी ही है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि पूँजीवाद यदि निजी सम्पत्ति को प्रोत्साहन देता है, तो साम्यवाद सार्वजनिक सम्पत्ति को। पूँजी एवं सत्ता का केन्द्रीकरण दोनों में समान रूप से है। आर्थिक विकेन्द्रीकरण अन्ततः बेकारी को बढ़ा देता है।" डॉ. लोहिया ने एक बार कहा था कि, "एक बार जहाँ आपने आर्थिक विकेन्द्रीकरण का रास्ता अपनाया तो उसके परिणामस्वरूप लाखों करोड़ों लोगों का भारत में तथा एशिया के अन्य देशों में भी बेकार हो जाना निश्चित है।"

डॉ. लोहिया का पूर्ण विश्वास था कि यूरोप का मशीनरी समाजवाद एशिया के देशों के लिए उपयुक्त नहीं, क्योंकि यहाँ गरीबी अधिक है। वे कहते थे कि परम्परागत आर्थिक विकेन्द्रीकरण से एशिया की गरीबी दूर नहीं हो सकती। उन्हें बड़ी मशीनों का सहारा छोड़, गांधीजी के मतानुसार छोटी-छोटी मशीनों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार कुटीर उद्योगों में धन भी कम लगेगा और बेकारी भी घटेगी।

डॉ. लोहिया ने यह भी बताया कि यूरोपीय समाजवादियों ने समाज के राजनीतिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए जो तरीके अपनाये हैं वे एशिया के

देशों के लिए विशेषकर भारत और इण्डोनेशिया के लिए, हितकारी नहीं हो सकते। अतः इन दोनों के विकास के लिए नवीन तरीका अपनाना ही श्रेयस्कर होगा। वे लिखते हैं कि कृषकों को गहन खेती के बारे में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए तथा उसे किसी न किसी प्रकार की सहकारी कृषि के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। भूमि का साम्यवादी पुनर्विभाजन केवल एक मजाक ही नहीं, अपितु एक निरर्थक क्रूरता भी है। इसके विपरीत, भूमि के समाजवादी पुनर्विभाजन के साथ शक्ति का विकेन्द्रीकरण मिला होने के कारण अच्छे आर्थिक परिणाम निकलेंगे तथा जीवन-यापन का नया तरीका प्राप्त होगा।

डॉ. लोहिया पश्चिमी समाजवाद को संवैधानिक एवं विकासवादी बताते थे और उसे एशिया के लिए अनुपयोगी कहते थे। डॉ. लोहिया मार्क्स से पूर्णतया सहमत थे पर वे साम्यवादियों पर विश्वास नहीं करते थे क्योंकि उन्होंने सदैव आर्थिक दरिद्रता को अस्त्र बनाकर, राज्य के विरुद्ध विद्रोह कराकर या उस पर अनुचित दबाव डालने का प्रयत्न किया है।

डॉ. लोहिया के मतानुसार एशियन समाजवाद के मुख्य उद्देश्य है- प्रशासन का प्रजातन्त्रीकरण, छोटी मशीनों के लिए थोड़ी पूँजी लगाकर उपभोग, सम्पत्ति का समाजीकरण तथा अधिकाधिक आर्थिक एवं राजनीतिक समाजीकरण और इन उद्देश्यों को प्राप्त करने का जो तरीका डॉ. लोहिया ने सुझाया, वह है गांधीवादी जन-आन्दोलन का। वे हिंसा से चिढ़ते थे, अतः साम्यवादियों की पूँजीवाद की व्याख्या उन्हें पसन्द न थी और वर्ग संघर्ष का तरीका उन्हें अनैतिक लगता था।

(5) चौखम्भा राज्य की परिकल्पना लोहिया ने चौखम्भा राज्य अर्थात् चार स्तम्भों वाले राज्य की परिकल्पना की है। इस चौखम्भा राज्य में केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी धारणाओं को समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत गाँव, मण्डल, प्रान्त तथा केन्द्रीय सरकार का महत्व बना रहेगा और उन्हें एक कार्यमूलक संघवाद की व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकृत कर दिया जायेगा। चौखम्भे राज्य में स्तम्भों का संगठन इस ढंग से किया जाये कि राज्य के सभी स्तम्भ एक सूत्र में बँधे रहेंगे। ऐसे राज्य में कलेक्टर जैसे नौकरशाही के प्रतीक पद समाप्त कर दिये जायेंगे क्योंकि ऐसे

पद केन्द्रीकरण की बदनाम संस्थाएँ हैं। ऐसे राज्य में गाँवों, मण्डलों तथा नगरों की प्रशासन व्यवस्था पंचायतों के माध्यम से सम्पादित होगी।

चार स्तरीय राज्य की विशेषताएँ निम्नलिखित होंगी

(1) सम्पूर्ण सरकारी एवं योजना व्यय का एक-चौथाई भाग ग्राम, मण्डल तथा नगरपंचायत के माध्यम से खर्च किया जायेगा।

(2) पुलिस इन ग्राम मण्डल तथा पंचायतों के अधीन रहकर कार्य करेगी।

(3) जिलाधीश का पद समाप्त कर दिया जायेगा तथा उसके सम्पूर्ण कार्य जिले की विभिन्न संस्थाओं में विभाजित कर दिये जायेंगे।

(4) कृषि, उद्योग तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति, जिसका राष्ट्रीयकरण कर दिया जायेगा ग्राम, मण्डल तथा नगर पंचायतों के अधीन एवं उनके द्वारा शासित रहेगी,

(5) छोटी मशीनों के अधिकाधिक उपयोग द्वारा आर्थिक विकेन्द्रीकरण की तथा साथ ही राजनीतिक एवं प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में प्रयास किया जायेगा।

डॉ. लोहिया का यह मत था कि अभी तक उदारवादी तथा साम्यवादी दुनिया केवल दो स्तरीय राज्य के बारे में जानती है। राज्य के कार्यों अथवा शक्तियों का केन्द्र तथा संघ राज्यों में बँटवारा करने की दृष्टि से संवैधानिक सिद्धान्तों के निर्माण तथा उनके व्यावहारिक स्वरूप को निखारने के निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं, किन्तु प्रजातन्त्र डॉ. लोहिया के अनुसार, "सामान्य व्यक्ति को केवल तभी स्फूर्ति प्रदान कर सकता है, जबकि वे संवैधानिक सिद्धान्त चार स्तरीय राज्य के गठन से सम्बन्धित थे। समानताओं रूपी माँस और रक्त से पोषित इन चार स्तम्भों रूपी शारीरिक ढाँचे वाले राज्य से ही प्रजातन्त्र की आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है।"

डॉ. लोहिया समाजवादी चार स्तम्भीय राज्य में विश्व सरकार रूप में पाँचवाँ स्तम्भ जोड़ना चाहते थे। वे विश्व राज्य को विश्व शान्ति की स्थापना के लिए आवश्यक मानते थे।

(6) विकेन्द्रीकरण का समर्थन लोहिया विकेन्द्रीकरण के समर्थक थे। उन्होंने विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि साम्यवादियों की तरह बड़े-बड़े कारखाने न लगाकर लघु मशीनों को महत्व दिया जाये ताकि छोटी लागत लगाकर भी अधिकाधिक मनुष्यों को कार्य मिल सके। डॉ. राममनोहर लोहिया सामाजिक-आर्थिक न्याय के लिए आर्थिक शक्ति राज्य के हाथों में देने के पक्षधर तो थे, परन्तु निरंकुश शासन उन्हें भी स्वीकार नहीं था और वे राजनीतिक, आर्थिक सत्ता को देश, प्रान्तों, जिला तथा ग्राम-स्तर पर बाँटकर चौखम्भा समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे।

(7) नया समाजवाद - लोहिया ने प्राचीन समाजवाद को एक मृत सिद्धान्त 'कल की बात' कहा तथा इसके स्थान पर एक नवीन समाजवाद की वकालत की। लोहिया के अनुसार इस समाजवाद के तीन मुख्य तत्व थे। सभी उद्योगों, बैंकों तथा बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, समूचे संसार में जीवन-स्तर का सुधार तथा एक विश्व संसद की स्थापना। उनका यह नया समाजवाद आर्थिक और राजनीतिकशक्तियों के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में था। लोहिया का विश्वास था कि यह समाजवाद सहकारी श्रम और ग्राम सरकार के माध्यम से व्यावहारिक रूप ग्रहण कर सकता था। 1952 में कांग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप में लोहिया ने गांधीजी के विचारों को समाजवादी चिन्तन में अधिक मात्रा में स्थान देने की बात कही।

(8) सप्त क्रान्ति का सिद्धान्त लोहिया का विचार था कि देश में ऐसा कोई कार्यक्रम या सिद्धान्त नहीं है जिस पर अधिकांश राजनीतिक दल सहमत हो सकें। एकजुट कार्यक्रम के अभाव में भारत के प्रतिपक्षी दल आपस में लड़ते रहते हैं जिसका लाभ सत्तारूढ़ दल को मिलता है। जनता का विश्वास अर्जित करने के लिए एक आम सहमति के कार्यक्रम की घोषणा आवश्यक है।

डॉ. लोहिया के नेतृत्व में संयुक्त समाजवादी दल ने 1966 में निम्नलिखित सात प्रस्तावों को स्वीकार किया। जिसे 'सप्त क्रान्ति का सिद्धान्त' कहा जाता है। डॉ. लोहिया का मत था कि इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने पर समाजवाद के सार्वभौम सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है:

(1) स्त्री-पुरुष समानता की स्वीकृति,

(2) रंग-भेद पर आधारित असमानताओं की समाप्ति,

(3) जन्म और जाति सम्बन्धी असमानताओं की समाप्ति,

(4) विदेशियों द्वारा दमन की समाप्ति तथा विश्व सरकार का निर्माण,

(5) व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित आर्थिक असमानताओं का विरोध एवं उत्पादन की योजना बद्ध वृद्धि,

(6) व्यक्तिगत अधिकारों के अतिक्रमण का विरोध, तथा

(7) युद्ध शस्त्रों का विरोध तथा सविनय अवज्ञा सिद्धान्त की स्वीकृति ।

(9) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन लोहिया लोकतान्त्रिक राजनीतिक स्वतन्त्रता के पक्के समर्थक थे। वे चाहते थे कि वाणी की स्वतन्त्रता, समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता तथा निजी जीवन की स्वतन्त्रता के क्षेत्र में सुरक्षित होने चाहिए और किसी भी सरकार को बलपूर्वक उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उन्होंने सामान्य जनों के अधिकारों तथा प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वैयक्तिक तथा सामूहिक सविनय अवज्ञा की गांधीवादी कार्य-प्रणाली का समर्थन किया।

(9) विश्व संसद के समर्थक डॉ. लोहिया चाहते थे कि विश्व में झगड़ों को समाप्त करने के

लिए विश्व संसद होनी चाहिए। वह कहते थे कि देश में समाजवाद की स्थापना के बाद यह प्रयत्न होना चाहिए। वे लिखते हैं कि "बालिग मताधिकार पर चुनी विश्व पंचायत का निर्माण हो, जिसे सभी देशों के युद्ध बजट का एक-चौथाई या पाँचवाँ हिस्सा मिले। यह विश्व पंचायत कैसे बने, इसके लिए डॉ. लोहिया का मत था कि 'सत्याग्रह के द्वारा भी विश्व पंचायत सम्भव है'।"

8.5लोहिया के आर्थिक विचार

डॉ. राममनोहर लोहिया सम्पत्ति की प्रचुरता और उसका न्यायपूर्ण वितरण दोनों आवश्यक मानते थे। ऐसे न्यायपूर्ण वितरण को उन्होंने व्यर्थ बताया, जिससे

निर्धन की स्थिति पर प्रभावकारी अन्तर न पड़े। अतः न्याय से भी पहले सम्पत्ति बढ़ाना और सम्पत्ति बढ़ाने के लिए धनिक वर्ग के व्ययों पर अंकुश लगाकर बचत की संचित पूँजी का विनियोग उत्पादन तथा आजीविका के अवसर बढ़ाने वाले औद्योगीकरण में करना चाहते थे। भौतिकवादी होने के कारण उनके लिए धन सम्पत्ति की वृद्धि का ही विशेष महत्व था, गांधीजी के समान औद्योगिकरण के विरुद्ध कोई आध्यात्मिक कारण उनके समक्ष नहीं थे। फिर आजीविका की अधिकाधिक व्यवस्था के लिए लघु और ग्रामीण उद्योगों का महत्व वे भी स्वीकार करते थे। मुक्त अर्थव्यवस्था के समर्थकों का प्रायः तर्क हुआ करता है कि बिखरा धन निष्यभाव हो जाता है, जबकि उद्यमियों के हाथों में केन्द्रित होकर पूँजी के रूप में विनियोजित होने से वह उत्पादन बढ़ाने और श्रमिकों के आजीविका जुटाने में प्रयुक्त होता है। लोहिया का कथन था कि यदि ऐसा होता तो सम्पत्ति के प्राचुर्य के लिए वे इस सिद्धान्त को मान लेते, परन्तु व्यक्तिगत धनों में केन्द्रित हुआ धन भोग-विलास या खपत के आधुनिकीकरण पर व्यय कर दिया जाता है जिससे उत्पादन या आजीविका के अवसर नहीं बढ़ते । अतः व्यय की सीमा पर अंकुश लगाना और प्रभूत उत्पादन के साधनभूत उद्योगों का सामाजिक नियन्त्रण में अर्थात् राज्य के धन में होना आवश्यक है। संक्षेप में, साधन जुटाने के लिए नियन्त्रण, उत्पादन बढ़ाने के लिए औद्योगीकरण तथा सम-वितरण के लिए राष्ट्रीकरण, ये डॉ. लोहिया की अर्थनीति के प्रमुख आयाम हैं।

8.6 लोहिया : मूल्यांकन (Lohia: An Evaluation)

एक समाजवादी बुद्धिजीवी के रूप में लोहिया ने सूक्ष्म चिन्तन तथा मनन किया। उन्होंने समाजवादी चिन्तन की समस्याओं को एशियाई दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया। वे सच्चे गांधीवादी थे और उन्होंने एक सच्चे गांधीवादी के रूप में गांधीवाद को समाजवादी चिन्तन में प्रमुखता देने का भी प्रयास किया। वे साम्यवाद के विरोधी थे। जहाँ आचार्य नरेन्द्रदेव तथा जय प्रकाश नारायण मार्क्सवादी थे वहाँ लोहिया पर गांधीवाद की अमिट छाप थी। वे कृषकों तथा ग्रामों की स्थिति में सुधार लाने के लिए विकेन्द्रित समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे। वे पंथवादी नहीं थे। वस्तुतः लोहिया यथार्थवादी थे और इसी

कारण समाजवाद के पुरातनपन्थी चोले को दूर फेंक उन्होंने समाजवाद के साथ-साथ लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को जीवित रखा। आर्थिक विषमता उन्हें पसन्द नहीं थी, किन्तु वे राष्ट्रीयकरण की नीति को ही इसका एकमात्र हल नहीं मानते थे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के महान समर्थक होने के कारण उन्होंने प्रशासनिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को विकेन्द्रीकरण के साथ समन्वित करने का आदर्श भी प्रस्तुत किया है।

डॉ. लोहिया धर्म और राजनीति का समन्वित उपयोग चाहते थे। वे कहते थे कि राजनीति के बिना धर्म निष्याण हो जाता है तथा धर्म के बिना राजनीति कलह बन जाती है। धर्म को लोहिया 'दीर्घकालीन राजनीति' तथा राजनीति को 'अल्पकालीन धर्म' कहते थे। उनके लिए सत्य का महत्व उसके आध्यात्मिक मूल्य के कारण नहीं, समाज की व्यवस्था के लिए था। छल-कपट की राजनीति में तो उन्हें अरुचि थी ही, वे आलस्य, कर्तव्यनिष्ठा के अभाव और निकम्मेपन को भी असत्य से जुड़ा हुआ तथा सामाजिक प्रगति का रोड़ा मानते थे। वे समानता पर आधारित सामाजिक न्याय में विश्वास रखते थे। लोहिया ने गांधीजी में आस्था प्रकट करते हुए अहिंसा को सिद्धान्ततः तो स्वीकार किया, परन्तु केवल कर्म से ही नहीं, वाणी और मन से भी हिंसा से दूर रहने के गांधीवादी सिद्धान्त को उन्होंने कभी गम्भीरता से नहीं लिया। अपने विरोधियों के लिए कटु भाषा का प्रयोग करने से वे चूकते नहीं थे। डॉ. लोहिया की शिक्षा जर्मनी में में पूरी हुई थी और मार्क्सवाद का पर्याप्त प्रभाव उनके चिन्तन पर पड़ा था। वे वर्ग संघर्ष में विश्वास रखते थे, जिससे प्रकट हिंसा नहीं भी तो कटुता का आना तो स्वाभाविक था।

8.7 सार संक्षेप

डॉ. लोहिया जीवन भर दलित, शोषित दरिद्र नारायण के आर्थिक-सामाजिक अधिकारों की लड़ाई लड़ते रहे। अंग्रेजी को दासता का प्रतीक समझते थे और हिन्दी को राष्ट्रीय सम्पर्क सूत्र बनाना चाहतेरिि थे। भारत के खण्डित हो जाने के बाद भी उनका विश्वास था कि भारत प्रकृति से एक है, अत: वह पुनः test एक अवश्य होगा।

डॉ. लोहिया एक विवादास्पद व्यक्ति बने रहे। यद्यपि उन पर मार्क्स और गांधी दोनों का प्रभाव पड़ा, किन्तु न तो वे पूरे मार्क्सवादी बन सके और न सम्पूर्ण रूप से गांधीवादी। ओंकार शरद ने उनके बारे में लिखा है, "लोहिया गांधीजी के सत्याग्रह और अहिंसा के अखण्ड समर्थक थे, लेकिन गांधीवाद को अधूरा दर्शन मानते थे; वे समाजवादी थे, लेकिन मार्क्स को एकांगी मानते थे; वे राष्ट्रवादी थे, लेकिन विश्व सरकार का सपना देखते थे; वे आधुनिकतम आधुनिक थे, लेकिन आधुनिक सभ्यता को बदलने का प्रयत्न करते रहते थे; वे विद्रोही और क्रांतिकारी थे, लेकिन शांति और अहिंसा के अनूठे उपासक थे।"

8.8 मुख्य शब्द

1. चौखंभा राज्य: एक विकेन्द्रीकृत शासन प्रणाली का मॉडल।

2. सामाजिक समता: समाज में सभी वर्गों के लिए समान अधिकार।

3. भाषाई समानता: सभी भाषाओं को समान महत्व देना।

4. सत्याग्रह: गांधीजी द्वारा प्रेरित अहिंसात्मक विरोध।

5. उपनिवेशवाद: किसी देश का दूसरे देश पर राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण।

6. समाजवाद: आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था, जो समानता और सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित है।

7. विकेंद्रीकरण: शासन की शक्तियों को स्थानीय स्तर पर स्थानांतरित करना।

8.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

- लोहिया, र. (2017). *भारत विभाजन के दोषी*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
- गुप्ता, ए. (2018). राममनोहर लोहिया के राजनीतिक विचार: समाजवाद और क्रांति. *भारतीय समाजशास्त्र पत्रिका, 45*(3), 55-72.
- शर्मा, पी. (2019). राममनोहर लोहिया और भारतीय समाजवादी आंदोलन. वाराणसी: ज्ञान भारती प्रकाशन.
- तिवारी, आर. (2020). लोहिया का वैचारिक दृष्टिकोण: जाति और वर्ग पर दृष्टि. *समकालीन अध्ययन, 12*(2), 102-118.
- मिश्रा, के. (2021). राममनोहर लोहिया: भाषा और संस्कृति का विमर्श. पटना: सारस्वत प्रकाशन.
- सिंह, एम. (2022). लोहिया और आधुनिक भारत: विचार और प्रभाव. *राजनीति विज्ञान वार्ता, 8*(4), 89-104.
- यादव, एस. (2023). समाजवादी विचारधारा और राममनोहर लोहिया का योगदान. जयपुर: साहित्य सागर.
- चौधरी, एन. (2024). भारत में समाजवादी आंदोलन की पुनर्रचना और लोहिया. *ऐतिहासिक अध्ययन, 14*(1), 45-63.

8.10 स्व प्रगति के प्रश्न

. राममनोहर लोहिया की प्रमुख कृति है:

(अ) हिन्दू स्वराज्य, (ब) सत्यार्थ प्रकाश,

(स) इक्वीडिस्टेण्ट,

(द) गीता रहस्य।

2. किसने 'नवीन समाजवाद' का नारा दिया :

(अ) डॉ अम्बेडकर,

(ब) राम मनोहर लोहिया,

(स) महात्मा गाँधी,

(द) राजा राममोहन राय ।

3. लोहिया के अनुसार नवीन समाजवाद का मूल आधार नहीं माना गयाः

(अ) समानता,

(ब) लोकतंत्र,

(स) अहिंसा,

(द) केन्द्रीयकरण ।

4. कौन-सा विचार लोहिया से संबंधित नहीं है

(अ) चतुस्तम्भी राज्य,

(ब) नवीन समाजवाद,

(स) विकेन्द्रीकरण,

(द) राजनीति का आध्यात्मीकरण ।

8.11स्व प्रगति के प्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (स), 2. (ब), 3. (द), 4. (द)

8.12 अभ्यास के प्रश्न

1. डॉ. राममनोहर लोहिया के राजनीतिक विचारों की विवेचना कीजिए।

2. लोहिया की राजनीतिक चिन्तन को क्या देन है?

2 टिप्पणी लिखिए

1. चौखम्भा राज्य की अवधारणा ।

2. लोहिया का सप्त क्रान्ति सिद्धान्त

ब्लॉक - III

इकाई 9

यूनानी राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएँ

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 यूनान में सर्वप्रथम राजनीतिक चिन्तन के प्रादुर्भाव के कारण

9.4 यूनानी राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप

9.5 सार-संक्षेप

9.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.7 मुख्य शब्द

9.8 स्व प्रगति के प्रश्न

9.9 स्व प्रगति के प्रश्नों के उत्तर

9.10 अभ्यास के प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में यूनानी विचारों का अत्यन्त महत्व है। वे प्रारम्भ हैं, पृष्ठभूमि हैं और नींव हैं, समस्त पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन एवं मनन की। बार्कर के अनुसार "राजनीतिक चिन्तन यूनानियों से आरम्भ होता है। इसका प्रादुर्भाव यूनानी मन के शान्त और स्पष्ट बुद्धिवाद (Rationalism) से होता है। यूनानी भारत और जूडिया के लोगों की भाँति धर्म के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़े, उन्होंने इस दुनिया को विश्वास के आधार पर ग्रहण नहीं किया, श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखा, किन्तु वे चिन्तन के क्षेत्र में आगे बढ़े, दृश्यमान वस्तुओं पर आश्चर्य करने का साहस करते हुए उन्होंने बुद्धि (Reason) के प्रकाश में विश्व पर विचार करने का प्रयत्न किया।" जिमर्न के अनुसार, "यूनानियों की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने राजनीतिक चिन्तन का आविष्कार किया है।"

प्रो. ए. आर. मुरै के शब्दों में, "सर्वप्रथम किसी महत्व के दार्शनिक चिन्तन का प्रस्फुटन ई. पू. छठीं शताब्दी के यूनान में हुआ।" डनिंग ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि, "पौर्वात्य आर्यों ने अपनी राजनीति को धर्मशास्त्रीय एवं आध्यात्मिक पर्यावरण से मुक्त कभी नहीं किया। उन्होंने कभी ऐसा अग्रगामी और निश्चयात्मक कदम नहीं उठाया जिससे नैतिक और राजनीतिक चिन्तन में भेद किया जा सके। यूरोप के आर्य (यूनानी) ही केवल ऐसे लोग थे जिनके साथ राजनीतिक चिन्तन करने वाले का विशेषण जोड़ा जा सकता है।"

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को मानव समाज को नैतिकता और न्याय के आधार पर संगठित करने के बारे में बतलाना है

1. राजनीति और दर्शन का संबंध:राजनीति और नैतिकता के बीच के संबंध को समझना।

2. आदर्श राज्य की अवधारणा: प्लेटो के आदर्श राज्य और अरस्तू के राज्य सिद्धांत का विश्लेषण।

3. लोकतंत्र और अन्य शासकीय प्रणालियों का अध्ययन: एथेंस में प्राचीन लोकतंत्र और अन्य शासन प्रणालियों की तुलना।

4. न्याय और कर्तव्य पर विचार: न्याय, समानता, और कर्तव्य के विषय में यूनानी विचारकों के दृष्टिकोण को समझना।

5. तर्क और संवाद का महत्व: सुकरात द्वारा विकसित तर्कपूर्ण संवाद (सocratic method) की उपयोगिता।

6. प्राकृतिक कानून और समाज: यूनानी चिंतकों द्वारा समाज और राज्य के लिए प्राकृतिक कानूनों की अवधारणा।

7. राजनीतिक चिंतन की प्रासंगिकता: आधुनिक समय में यूनानी राजनीतिक विचारों की उपयोगिता का विश्लेषण

इस प्रकार यह निर्विवाद सत्य है कि क्रमिक व श्रृंखलाबद्ध राजनीतिक चिन्तन का जन्मदाता यूनान ही माना जाता है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि यूनानियों से पूर्व की समस्त सभ्यताएँ राजनीतिक दृष्टि से बंजर थीं। यह मानना सर्वथा अनुचित होगा कि भारत, मिस्र, ईरान, चीन, बेबीलोन, आदि देशों में कोई राजनीतिक चेतना न थी। अब यह निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि प्राचीन भारत, चीन, मिस्र, ईरान, आदि देशों के निवासियों ने न केवल विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं की रचना की वरन उन्होंने विभिन्न राजनीतिक समस्याओं पर गहन चिन्तन-मनन भी किया और कुछ ऐसे विचारों का प्रतिपादन किया जिनका बाद में पश्चिमी जगत में विकास किया गया। इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए मैक्सी ने लिखा है: "हजारों वर्ष पुरानी सभ्यताओं का हमारा ज्ञान हमें यह बताता है कि इन लुप्त युगों की जातियों का राजनीतिक चिन्तन कितना सम्पन्न है। विचार और व्यवहार दोनों ही बातों में उन्होंने यूरोपीय विचारों की पूर्व घोषणा की, उनके समकक्ष विचारों की सृष्टि की और एक सीमा तक तो कुछ ऐसे विचारों का शिलान्यास किया जो आगे चलकर यूरोपीय राजनीतिक चेतना में घुल-मिल गये।"

मैक्सी का उपर्युक्त कथन सत्य है फिर भी वास्तविकता यह है कि पौर्वात्य जातियों का राजनीतिक चिन्तन सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और वैज्ञानिक आधार लिए हुए नहीं था। जैसा कि गैटिल ने लिखा है: "प्राच्य साम्राज्य-मिस्र, बेबीलोनिया, असीरिया और ईरान अपनी सामान्य परिस्थितियों तथा सामाजिक वातावरण के कारण व्यवस्थित राजनीतिक चिन्तन का निर्माण नहीं कर पाये।" संक्षेप में, अन्य जातियों को राजनीतिक चिन्तन को प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त होते हुए भी उसे सर्वप्रथम व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का श्रेय यूनानियों को ही प्राप्त है। उन्होंने ही सबसे पहले विशुद्ध विवेक और तर्क के आधार पर विभिन्न राजनीतिक समस्याओं के समाधन का प्रयास किया और राज्य सम्बन्धी चिन्तन की उस परम्परा की स्थापना की जिसे हम वैज्ञानिक चिन्तन कहते हैं। आधुनिक राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक महत्वपूर्ण शब्द और परिभाषाओं की खोज यूनानियों ने की। शासन प्रणालियों में परिवर्तन का चक्राकार नियम यूनानियों की एक महान खोज थी। मैकिलवेन ने ठीक ही

लिखा है: "राजनीतिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श की जो धारा यूरोपियन जगत में तथा यूरोपियन संस्कृति से प्रभावित देशों में बह रही है उसका आरम्भ यूनानियों से हुआ।" वेपर के अनुसार, अन्य राष्ट्रों ने देवताओं, राजाओं, प्रेतात्माओं को बनाया, यूनानियों ने मनुष्य बनाये। कुक के शब्दों में यूनानी चिन्तन का ऐतिहासिक महत्व उसका अग्रगामी होना है। उसने हमारी पाश्चात्य परम्परा को ढाला है। मैकिलवेन ने ठीक ही लिखा है कि 'राजनीतिक' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'पोलिस' (Polis) से हुई। विभिन्न राजनीतिक शब्दों की परिभाषाएँ प्राचीन यूनानी विचारकों ने दीं। अधिकतर आधुनिक राजनीतिक आदर्शों न्याय, स्वतन्त्रता, संवैधानिक शासन, कानून के लिए आदर अथवा कम से कम उनकी परिभाषाएँ यूनानी विचारकों के नगर राज्य की संस्थाओं के बारे में चिन्तन से प्रारम्भ हुई। यूनान में राजनीतिक चिन्तन का सर्वोत्तम रूप हमें प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं में मिलता है। वस्तुतः यूनानी चिन्तन से पूर्व हम कोई लिपिबद्ध व क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन नहीं पाते हैं।

9.3 यूनान में सर्वप्रथम राजनीतिक चिन्तन के प्रादुर्भाव के कारण (Why Political Thought Begins with Greeks?)

राजनीतिक चिन्तन, जैसा हम इसे पश्चिम में जानते हैं, यूनानियों का अन्वेषण था। यूनानियों से पूर्व, यह सच है कि शासकों और शासितों का अस्तित्व था, परन्तु राजनीति का नहीं। यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि यूनान में सर्वप्रथम राजनीतिक दर्शन अथवा चिन्तन का उदय क्यों हुआ? इसके प्रमुख कारण निम्न हैं:त्र

(1) भौगोलिक स्थिति -अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण यूनान में राजनीतिक चिन्तन के उदय को काफी बल मिला। वह उस समय की सभ्यता के दो भूखण्डों के बीच स्थित था। पूर्व की और असीरिया का भूखण्ड था और दक्षिण की ओर मिस्र। राजनीतिक दृष्टि से नगण्य फौनीसिया के व्यापारियों ने उनको सभ्यता का संदेश दिया और ऐसा करने में उन्होंने उनकी स्वतन्त्रता पर

कोई कुठाराघात नहीं किया। फलस्वरूप, यूनानियों की स्वतन्त्रता बनी रही और उन्हें सभ्यता के निरन्तर विकास का अवसर मिला।

यद्यपि यूनान की वसुन्धरा उर्वरा नहीं है, लेकिन यहाँ की जलवायु अच्छी है; समशीतोष्ण तापमान है तथा स्थान-स्थान पर तापक्रम में अन्तर भी रहता है। यूरीपिडीज नामक यूनान के महान नाटककार के शब्दों में "हमारा परिवेश शान्ति प्रदान करने वाला तथा सुखद है; सर्दी में शीत हमारे लिए असह्य नहीं होती एवं सूर्य की किरणें हमें आहत नहीं करतीं।" इस देश की स्व प्रगति वर्धक जलवायु ने यूनानियों को शारीरिक दृष्टि से बड़ा हृष्ट-पुष्ट एवं मानसिक दृष्टि से चिन्तनशील बनाया है। भूमि के अधिक उपजाऊ न होने पर भी यहाँ के लोगों को उदर-पोषण के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ा है। जैतून, जो यहाँ बहुतायत से पैदा होता है एवं मछली, जो समुद्र की अनुपम भेंट है, प्राचीनकाल के यूनानियों का प्रमुख भोजन था। समशीतोष्ण जलवायु के कारण, उन्हें अपने वस्त्रों के विषय में भी अधिक चिन्तित नहीं होना पड़ा है। इन दो मूलभूत आर्थिक आवश्यकताओं की आसानी से पूर्ति हो जाने से इस देश के प्राचीन निवासियों को अपना समय अधिक मात्रा में चिन्तन, अध्ययन-मनन तथा सांस्कृतिक कार्यकलापों में लगाने का स्वर्ण अवसर उपलब्ध हुआ था।

(2) जिज्ञासा वृत्ति - राजनीतिक चिन्तन के प्रादुर्भाव के लिए यह स्वाभाविक है कि लोगों में उन्मुक्त जिज्ञासा वृत्ति हो, जिज्ञासा की भावना ही उन्हें दार्शनिक बनाती है। जैसा कि अरस्तू ने लिखा है: "सब मनुष्य जानना चाहते हैं, आश्चर्य की भावना उन्हें दार्शनिक बनाती है दर्शन का एकमात्र स्त्रोत यही है।" जिज्ञासा की भावना यूनानी चरित्र की अद्भुत विशेषता है। उनमें एक बालक की भाँति कभी न मिटने वाली जिज्ञासा वृत्ति थी। वे वैज्ञानिक परीक्षण के बाद ही किसी तर्क को स्वीकार करते थे। इसी जिज्ञासा वृत्ति (insatiable curiosity) के कारण यूनानी विचारकों ने विश्व की उत्पत्ति और राज्य सम्बन्धी प्रश्नों आदि पर चिन्तन किया।

(3) विवेक-बुद्धि- राजनीतिक चिन्तन के उद्भव के लिए विवेक और बुद्धि अपरिहार्य है। विवेक-बुद्धि से तात्पर्य है सत्यान्वेषण का अनुराग, बुद्धिवाद, तर्क, विचारों की स्पष्टता और आलोचक वृत्ति । प्रबल जिज्ञासा वृत्ति के साथ-

साथ यूनानियों में विवेक बुद्धि की भी कमी न थी। यूनानी लोग आलोचना एवं सामूहिक वाद-विवाद में बड़ी श्रद्धा रखते थे। वे किसी भी वस्तु को परखने और तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही ग्रहण करते थे, जीवन की विविध समस्याओं के बारे में मीमांसा करना उनका प्रिय विषय था, उनकी गहरी आस्था थी। धार्मिक अन्धविश्वासों के प्रति उनमें अधिक आकर्षण न था क्योंकि उनके अनुसार धर्म मनुष्य की बुद्धि को कुंठित कर देता है। वे अनुभव, मनन और विवेक से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने की इच्छा रखते थे। चूँकि उनमें बुद्धि व तर्क में गहरी आस्था थी, इसलिए वे राजनीतिक दर्शन के जन्मदाता के रूप में प्रकट हुए।

गैटेल के शब्दों में, "चूँकि यूनानी को उसके समाज ने सोचने और खोज करने की स्वतन्त्रता दे रखी थी, इसलिए उसके मानसिक क्षेत्र का विस्तार लगभग असीम था। कैटलिन ने उन थोड़े से विषयों की सूची बनायी है जिन पर सबसे अधिक विवाद चला करता था। वह इस प्रकार हैं- लोकतन्त्र, लिखने तथा सोचने की स्वतन्त्रता, प्रावेक्षण, लोकतन्त्र तथा विशेषज्ञ का सम्बन्ध, सुजनन विद्या, अवकाश की समस्या, मनोविश्लेषण, क्रान्ति, सर्वहारा, वर्ग संघर्ष इत्यादि। राजनीति के क्षेत्र में ही जिन विषयों पर विवाद हुआ, उनकी संख्या अगणित थी।"

यूनानियों के बुद्धिवाद की प्रशंसा करते हुए **पैरीक्लीज** ने अपने सार्वजनिक भाषण में कहा था- "एथेन्सवासी जिन कार्यों को स्वयं प्रारम्भ नहीं करते उनके भी गुण-दोषों को सदैव परखने में समर्थ होते हैं; इसलिए हम वाद-विवाद को कार्य के मार्ग में बाधा नहीं मानते, बल्कि यह समझते हैं कि कोई भी बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य तब तक भली-भाँति सम्पादित नहीं हो सकता जब तक कि करने से पहले उस पर वाद-विवाद और विवेचन नहीं कर लिया जाता।"

(4) **मनुष्य को अपनी महत्ता का ज्ञान**- राजनीतिक चिन्तन के उदय के लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य को अपनी महत्ता का ज्ञान हो। गैटेल के अनुसार 'खोज बुद्धि और मानव विवेक में आस्था के अतिरिक्त यूनानियों में एक और भी विशेष चीज थी।' उनका विश्वास था कि संसार में ऐसी बहुत कम चीजें हैं जिन्हें नियति ने पहले से निश्चित कर रखा है जो मनुष्य के अधिकार से बाहर

हैं। बल्कि ये समझते थे कि 'अदृश्य शक्तियों के' होते हुए भी मनुष्य में अपनी इच्छानुसार अपने समाज का स्वयं निर्माण करने की सामर्थ्य विद्यमान है।

वस्तुतः यूनानी जीवन के महत्व को समझते थे। वे राजकीय कार्यों में भाग लेते थे और अपने अधिकारों के प्रति सजग थे। इस तरह यूनान की दशा राजनीतिक चिन्तन के उदय के अनुकूल थी।

(5) **मानवीयता -** यूनान में राजनीतिक चिन्तन के उदय का एक कारण यूनानियों की मानवीयता में अटूट आस्था थी। उनके चिन्तन का मुख्य विषय मानव था। यूनानी महानतम मानवतावादी थे। सम्पूर्ण ग्रीक साहित्य में सोफोक्लीज का यह कथन महत्वपूर्ण है कि, "मनुष्य एक अद्भुत वस्तु है जिससे बढ़कर और कोई अद्भुत वस्तु नहीं।" सिसरो का बेटा जब एथेन्स की यात्रा पर रवाना हुआ तो उसने कहा, "तुम मानव के दर्शन करने जा रहे हो जो कि स्वय सर्वोपरि मानव है।" यूनानियों के अनुसार, "सबसे आश्चर्यजनक वस्तु मानव है उससे अधिक आश्चर्यजनक अन्य कोई वस्तु नहीं।" सुकरात की मान्यता थी कि, "सर्वश्रेष्ठ अनुसन्धान इस विषय का अध्ययन करना है कि मनुष्य को क्या बनना चाहिए और उसे किन बातों का अनुसरण करना चाहिए।" वेपर ने ठीक ही लिखा है कि, "अन्य राष्ट्रों ने देवताओं, राजाओं, प्रेतात्माओं को बनाया, यूनानियों ने मनुष्य बनाए।"

(6) **विविध शासन प्रणालियों का अस्तित्व** -यूनान में अनेक और विभिन्न प्रकार के छोटे-छोटे नगर राज्य होने के कारण राजनीतिक चिन्तन और मनन के लिए प्रचुर मात्रा में सामग्री उपलब्ध थी। छोटे से प्रायद्वीप में 150 से अधिक छोटे-छोटे नगर राज्य थे, जिनमें विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियाँ थीं। अनेक नगर राज्य परीक्षण के लिए मिश्रित संविधानों अथवा शासन प्रणालियों को अपनाते थे। विविधताओं से युक्त इस प्रकार की सामग्री ने राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में विशेष रूप से महत्वपूर्ण

योग दिया।

9.4 यूनानी राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप (Characteristics ot Greek Political Thought)

गैटेल के अनुसार "हमारे साहित्य, कला और विज्ञानों का इतिहास यूनान से प्रारम्भ होता है। यूनानी समाज के महापुरुष इन चीजों के जन्मदाता थे राजनीति दर्शन के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक सत्य है।" यूनानी राजनीतिक चिन्तन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. **नगर राज्य** -यूनान में राजनीतिक जीवन की इकाई नगर (Polis) था। नगर यूनानियों के चिन्तन का केन्द्र था। उन्हें यह विश्वास था कि नगर राज्य ही मानव के विकास की आदर्श संगठित इकाई है। अरस्तू ने इन छोटे-छोटे राज्यों के भौगोलिक विस्तार की अनुमति नहीं दी चाहे भले ही उन्हें बड़े साम्राज्यों और बड़ी जातियों के आक्रमण का मुकाबला करना पड़े। ऐसे दार्शनिक समझते थे कि एक बड़े राज्य में जीवन का वह सामंजस्य नहीं रह सकता जो इन छोटे-छोटे नगरों में सम्भव था। वे जीवन के चरम विकास को इन लघु इकाइयों में देखना चाहते थे। "नगर एक सामान्य जीवन का स्थान था। यह विभिन्न वर्गों का संघ था। इस की चहारदीवारी के अन्तर्गत मनुष्य एक सामान्य तथा स्वाभाविक जीवन में गुँथे हुए थे। धन, कुल तथा संस्कृति के विशेष सम्मान को चाहे इसने समाप्त न किया हो, किन्तु समस्त वर्गों में परस्पर एक सरल व्यवहार की इसने अवश्य स्थापना की।"

2. **मानव का अध्ययन-** यूनानी चिन्तन के अध्ययन का प्रमुख विषय मानव रहा है। यूनानी विचारकों ने मनुष्य को एक राजनीतिक एवं सामाजिक प्राणी माना है। यूनानी देवताओं की कल्पना भी मनुष्य के रूप प में करते थे। उनकी धारणा थी कि "मनुष्य एक अद्‌भुत वस्तु नहीं।"

3. **सांसारिक चिन्तन** - यूनानी राजनीतिक चिन्तकों का क्षेत्र सांसारिक एवं भौतिक था। उन्होंने आध्यात्मिक एवं पारलौकिक जगत को कम महत्व दिया। दूसरे शब्दों में यूनानी विचारक भौतिकवादी थे, मध्ययुगीन दार्शनिकों की भाँति आध्यात्मवादी नहीं। वे इस लोक को ही प्रधानता देते थे, परलोक को नहीं।

4. **सामुदायिक हित की भावना**- यूनानी दार्शनिकों ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का निरूपण करते हुए सामुदायिक हित को प्रधानता दी। उन्होंने ही सर्वप्रथम इस धारणा का प्रतिपादन किया कि मनुष्य समाज में रहकर ही अपना

विकास कर सकता है। समाज में ही उसका पालन-पोषण होता है और समाज में ही उसे आदर्श मानवीय गुणों की शिक्षा मिलती है। समाज से पृथक व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। इसीलिए यूनानियों ने कहा कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' यूनानियों में सामुदायिक जीवन के प्रति स्वाभाविक रुचि थी और वे संघों और संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में भाग लेते थे।

5. **राज्य एक नैतिक संस्था** -यूनानी विचारक राज्य को एक नैतिक संस्था मानते थे। वे राज्य को उच्चतम जीवन का साधन स्वीकार करते थे। अरस्तू के शब्दों में राज्य श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति का साधन है।

6. **समाज और राज्य में विभेद का अभाव**- यूनानी विचारकों ने समाज और राज्य के बीच कोई स्पष्ट भेद नहीं किया। उनके अनुसार समाज और राज्य पृथक-पृथक इकाई न होकर एक-दूसरे से अभिन्न इकाई हैं।

7. **दास प्रथा** -यूनानी चिन्तन दास प्रथा जैसी अमानवीय संस्था का समर्थन करता है। यूनानी दार्शनिक समाज को दो भागों में विभाजित मानते थे नागरिक और दास। नागरिक को सभी अधिकार प्राप्त होते थे और दास सभी अधिकारों से वंचित । चूँकि सम्पूर्ण यूनानी सभ्यता और उसका विकास दास प्रथा पर आधारित था इसलिए प्लेटो और अरस्तू जैसे दार्शनिकों ने इसे न्यायोचित ठहराया।

9.5 सार-संक्षेप

संक्षेप में, यूनानी राजनीतिक चिन्तन की अपनी विशेषताएँ हैं। यह आधुनिक राजनीतिक चिन्तन से अनेक अर्थों में भिन्न हैं। यूनानी चिन्तन अपनी प्रकृति में नैतिक था इसमें व्यक्ति को प्रमुखता नहीं दी गई। राजनीतिक और सामाजिक जीवन में कोई अन्तर नहीं था। यूनानियों की इस धारणा के अनुसार कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अभिन्न अंग है यह आवश्यक था कि हर नागरिक राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग ले ।

1. सुकरात:

नैतिकता और ज्ञान को राजनीति का आधार मानते थे। उन्होंने संवाद के माध्यम से सत्य को खोजने का प्रयास किया।

2. प्लेटो:

आदर्श राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसमें दार्शनिक राजा, सैनिक, और श्रमिक वर्ग शामिल थे। उन्होंने "The Republic" में न्याय और समानता के सिद्धांत दिए।

3. अरस्तू:

उन्होंने राजनीति को व्यवहारिक विज्ञान के रूप में देखा। "Politics" में उन्होंने मानव को सामाजिक प्राणी कहा और विभिन्न शासन प्रणालियों का वर्गीकरण किया।

यूनानी चिंतन में तर्क और विचार-विमर्श के माध्यम से राज्य की अवधारणाओं का गहन विश्लेषण किया गया।

9.6 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. "The Republic" (प्लेटो): आदर्श राज्य और न्याय पर केंद्रित।

2. "Politics" (अरस्तू): शासन प्रणाली और समाज पर उनका विश्लेषण।

3. "Apology" (सुकरात): न्याय और सत्य पर सुकरात के विचार।

4. "Nicomachean Ethics" (अरस्तू): नैतिकता और राजनीति के बीच संबंध।

5. "History of Political Philosophy" (लियो स्ट्रॉस और जोसेफ क्रोप्सी): यूनानी राजनीति के संदर्भ में गहन अध्ययन।

6. "Greek Political Theory" (ए. ई. टेलर): यूनानी राजनीतिक चिंतन का ऐतिहासिक विश्लेषण।

7. "Ancient Greek Political Thought in Practice" (पॉल कार्टलेज): यूनानी विचारों का व्यवहारिक पहलू।

9.7 कठिन मुख्य शब्द

1. आदर्श राज्य: प्लेटो द्वारा प्रस्तावित राज्य, जो न्याय और नैतिकता पर आधारित है।

2. दार्शनिक राजा: प्लेटो का विचार कि दार्शनिकों को राज्य का नेतृत्व करना चाहिए।

3. प्राकृतिक कानून: ऐसे नियम जो मानव समाज और प्रकृति के बीच संबंधों को नियंत्रित करते हैं।

4. लोकतंत्र: जनता द्वारा शासित शासन प्रणाली।

5. socratic method: सुकरात द्वारा विकसित प्रश्न और उत्तर की प्रक्रिया।

6. नैतिकता: सही और गलत के सिद्धांतों का अध्ययन।

7. तर्कपूर्ण संवाद: तथ्यों और तर्क के माध्यम से सत्य को समझने की प्रक्रिया।

8. शासन प्रणाली: राज्य को नियंत्रित करने के लिए स्थापित संरचना।

9. व्यवहारिक विज्ञान: ऐसा विज्ञान जो सिद्धांत और वास्तविकता के बीच संतुलन बनाता है।

9.8 स्व प्रगति के प्रश्न

1. यूनान में राजनीतिक जीवन की इकाई-

(अ) गाँव

(ब) नगर

(स) प्रान्त

(द) राष्ट्र

2. यूनानी चरित्र की अद्भुत विशेषता-

(अ) उदासीनता

(ब) समानता (स) राजनीतिक जागरुकता

(द) जिज्ञासावृत्ति ।

9.9 स्व प्रगति के प्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (स), 2. (द)

9.10 अभ्यास के प्रश्न

1. यूनानी राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

2. यूनानी राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताओं का परीक्षण कीजिए।

3. टिप्पणी लिखिए

1. यूनान में राजनीतिक चिंतन के प्रादुर्भाव के कारण।

2 नगर राज्य ।

इकाई 10

प्लेटो

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 प्लेटो का जीवन परिचय

10.4 प्लेटो की रचनाएँ

10.5 रिपब्लिक

10.6 प्लेटो का आदर्श राज्य

10.7 आदर्श राज्य की अवधारणा आलोचनात्मक मूल्यांकन-

10.8 प्लेटो का न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त

10.9 न्याय सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त

10.10 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

10.11 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ

10.12 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचना

10.13 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

10.15 प्लेटो की शिक्षा योजना की आलोचना

10.16 प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का महत्व

10.17 प्लेटो का साम्यवाद का सिद्धान्त

10.16 अरस्तू द्वारा प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की आलोचना

10.18 प्लेटो का दार्शनिक राजा का सिद्धान्त

10.19 प्लेटो का दार्शनिक राजाओं का सिद्धान्त

10.20 प्लेटो का योगदान मूल्यांकन

10.21 संक्षेप सार

10.22 मुख्य शब्द

10.23 संदर्भ ग्रंथ

10.24 स्व प्रगति के प्रश्न

10.25 स्व प्रगति के प्रश्नों के उत्तर

10.26 अभ्यास के प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

प्लेटो प्रथम राजनीतिक दार्शनिक थे। उनकी विचारधारा केवल उनके ही युग की नहीं वरन हमारे वर्तमान एवं भविष्य की भी पथ प्रदर्शक हैं। राज्य और व्यक्ति के संबंध, राज्य एवं शिक्षा पद्धति, शिक्षित एवं विचारशील दार्शनिकों के हाथों में शासन की बागडोर सौंपना, राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों का पृथक्करण, योग्य एवं उच्च स्तर तक शिक्षित महिलाओं की राज्य के प्रशासन में समानतापूर्ण भागीदारी से जुड़े हुए प्लेटो के विचार आज भी उतने ही उपयोगी हैं जितने कि वे प्लेटो के समय में थे और भविष्य में भी रहेंगे। सी.सी. मैक्सी का यह कथन उचित है कि " सभी जो पुरातन के स्थान पर नवीन दुनिया के अध्ययन कर्ता है, प्लेटो के अनुयायी है।"

10.2 उद्देश्य

1. इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को नैतिकता और न्याय ज्ञान की खोज शिक्षा और समाज आदि के अध्ययन के बारे में बतलाना है

   1 **ज्ञान की खोज**: प्लेटो का उद्देश्य ज्ञान और सच्चाई की खोज करना था। उन्होंने माना कि वास्तविकता केवल अनुभवजन्य दुनिया तक सीमित नहीं है, बल्कि एक आदर्श रूपों (फॉर्म्स) की दुनिया भी है।

2 **नैतिकता और न्याय**: प्लेटो ने न्याय के सिद्धांतों पर विचार किया, विशेषकर "गणराज्य" (The Republic) में। उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों और उनके कार्यों के बीच संतुलन बनाए रखने की बात की।

3 **शिक्षा और समाज**: प्लेटो ने शिक्षा के महत्व को समझा और इसके माध्यम से समाज के सुधार की बात की। उन्होंने अपनी शिक्षाओं में आदर्श राज्य की रचना की, जिसमें दार्शनिक राजाओं की भूमिका प्रमुख थी।

4 **राजनीतिक सिद्धांत**: प्लेटो का उद्देश्य एक आदर्श राज्य की परिकल्पना करना था, जिसमें न्याय, समानता और समाज का कल्याण मुख्य था।

10.3 प्लेटो का जीवन परिचय (Life History of Plato)

प्लेटो का जन्म एथेन्स के एक समृद्ध परिवार में 428-27 ई. पूर्व में हुआ था। उनके पिता का नाम अरिस्तोन (Ariston) एवं माता का नाम पेरिकतिओन (Perictione) था। उनके कंधे भरे हुए और चौड़े थे इसी कारण उसके व्यायाम शिक्षक ने उसे प्लातोन (Platon) कहना शुरू किया। प्लेटो शब्द का अर्थ ही होता है- चौड़ा चपटा। प्लेटो शब्द का यूनानी उच्चारण प्लातोन है। अरबी में इसी का विकृत रूप 'अफलातून' है। कालांतर में प्लातोन के स्थान पर प्लेटो शब्द प्रचलित हो गया।

युवावस्था में प्लेटो क्रांतिकारी विचारों के थे तथा सक्रिय राजनीति में भाग लेना चाहते थे। पर विधि का विधान कुछ दूसरा ही था तथा राजनीतिज्ञ के स्थान पर प्लेटो एक महान राजनीतिक दार्शनिक (Political Philosopher) अवश्य बन गये। प्लेटो ने अपने जीवन काल में एथेंस एवं स्पार्टा के बीच तीस वर्षीय युद्ध के कारण एथेंस का पतन एवं उसे गुणविहीन होते देखा था, एथेंस पर ही तीस व्यक्तियों के हिंसक एवं क्रूर शासन को देखकर उसे राजनीति से विरक्ति हो गई थी। तीस व्यक्तियों के शासन के पश्चात जब पुनः प्रजातंत्र की स्थापना हुई तो प्रारंभ में तो प्लेटो ने इसका स्वागत किया पर शीघ्र ही उसके कुकृत्यों से ऊबकर प्लेटो ने राजनीति से संन्यास ले लिया। इसी शासन व्यवस्था ने सुकरात को प्राण दण्ड की सजा दी थी जिसका दूरगामी प्रभाव प्लेटो पर पड़ा था। राजनीति से विरक्त होकर वह दर्शन की ओर आकृष्ट हो गया।

प्लेटो ने पिथागोरस के सिद्धांतों से ज्ञान पाया तथा 386 ई. पू. एथेन्स के बाहर उसने अपना शिक्षणालय खोला था जिसमें गणित और ज्यामिति के अध्ययन को विशेष महत्व दिया जाता था। वह दियोनिसियस को दार्शनिक राजा बनाना चाहता था, जिसमें उसे सफलता नहीं मिली। प्लेटो के प्रामाणिक ग्रंथ 28 हैं, जिसमें रिपब्लिक (Republic) स्टेट्समैन (statesman) एवं लॉज (laws) अधिक महत्वपूर्ण है।

प्लेटो के सभी ग्रंथ प्रश्नोत्तर रूप में, संवाद या वार्तालाप की शैली में लिखे गये हैं। इस कारण उन्हें संवाद कहा जाता है। ये ग्रंथ उसने द्वंद्वात्मक (Dialectical), विश्लेषणात्मक, (Analytical) सोद्देश्यात्मक (Analogical) तथा ऐतिहासिक (Historical) पद्धति से लिखे हैं।

प्लेटो की विचारधारा तत्कालीन एथेंस की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के साथ ही सुकरात से भी सर्वाधिक प्रभावित हुई है। वस्तुतः प्लेटो की रिपब्लिक का मुख्य आधार सुकरात का यह वाक्य है कि सद्गुण ही ज्ञान है (virtue is knowledge)

10.4 प्लेटो की रचनाएँ (Works of Plato)

प्लेटो द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या लगभग 36 या 38 मानी जाती है किन्तु इनमें से प्रामाणिक ग्रन्थ केवल 28 हैं। उसके सभी प्रामाणिक ग्रन्थों का बर्नेट द्वारा सम्पादित यूनानी संस्करण 2,662 पृष्ठों (ऑक्सफोर्ड द्वारा प्रकाशित) में प्रकाशित हुआ है। इनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है:

- अपॉलॉजी (Apology).
- क्रीटो (Crito),
- यूथीफ्रो (Euthyphro).
- जोर्जियस (Gorgias).
- मीनो (Meno),
- प्रोटागोरस (Protagoras).

- सिंपोजियम (Symposium).
- फेडो (Phaedo),
- रिपब्लिक (Republic).
- सोफिस्ट (Sophiest),
- स्टेट्समैन (Statesman).
- लॉज (Laws),

10.5 रिपब्लिक (Republic)

'रिपब्लिक' प्लेटो की महानतम और सर्वश्रेष्ठ कृक्ति है। इसे प्लेटो ने 40 वर्ष की अवस्था में अपने विचार परिपक्व और प्रौढ़ होने पर लिखा था। यह उसका अनुपम ग्रन्थ है। आकार की दृष्टि से 'रिपब्लिक' प्लेटो के अन्य सब ग्रन्थों से बड़ा होते हुए भी 'लाज' (laws) से छोटा है, किन्तु महत्व की दृष्टि से उससे बढ़ा चढ़ा है।

'रिपब्लिक' नाम से कुछ भान्ति हो जाती है। आजकल इस शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार की शासन प्रणाली 'गणराज्य' के लिए होता है। किन्तु प्लेटो ने इसका प्रयोग इस संकुचित अर्थ में नहीं किया। उसने यूनानी भाषा में इसे पोलीतेइया (Politea) का नाम दिया था, जिससे तात्पर्य है राज्य की शासन व्यवस्था या संविधान। "प्लेटो की रिपब्लिक में राज्य की आदर्श व्यवस्था का उल्लेख है, न कि उसके नाम के लेटिन अनुवाद' रिपब्लिका' से सूचित होने वाले गण-राज्यों की व्यवस्था का।"

रिपब्लिक में प्लेटो की नाटकीय शैली, कवित्त और कल्पना की उड़ान का अपूर्व रूप देखने को मिलता है। इसे 'गणराज्य' (Republic) और 'न्याय' (Concerning Justice) का दुहरा शीर्षक प्राप्त है किन्तु इस आधार पर इसे राजनीति विज्ञान या विधि शास्त्र का ही ग्रन्थ नहीं समझा जाना चाहिए। यह इससे बहुत अधिक भिन्न है और इसमें समाजशास्त्रीय, आध्यात्मिक और शैक्षणिक सभी समस्याओं की विवेचना की गई है। यह तो एक प्रकार से सम्पूर्ण मानव जीवन का दर्शन है। सेबाइन के शब्दों में, "यह (रिपब्लिक) किसी एक

प्रकार का शोध प्रबन्ध नहीं है और न ही यह राजनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र या मनोविज्ञान- इनमें से किसी एक का अंग है। यद्यपि इसमें यह सभी कुछ है और इससे अधिक भी क्योंकि कला, शिक्षा और दर्शन को भी इसमें स्थान दिया गया है।" वास्तविकता यह है कि प्लेटो के समय में आधुनिक काल की भाँति विभिन्न शास्त्रों का पृथक्करण नहीं हो पाया था। समस्त मानव जीवन एक ही शास्त्र था और 'रिपब्लिक' में समस्त मानवीय दर्शन के विवेचन का प्रयत्न किया गया है।

10.6 प्लेटो का आदर्श राज्य

रिपब्लिक में दार्शनिक प्लेटो के समस्त चिन्तन का केन्द्रीय विषय 'आदर्श राज्य' (Ideal State) है। अपने 'आदर्श राज्य' के भव्य भवन के निर्माण हेतु उसने न्याय सिद्धान्त की आधारशिला तथा शिक्षा योजना एवं साम्यवाद के सिद्धान्त को आधार स्तम्भ के रूप में प्रयोग किया है। आदर्श राज्य की बागडोर वह ऐसे दार्शनिक शासकों के हाथों में सौंपता है जिनमें आत्मा के सभी गुण विद्यमान थे। अतः वे विवेकशील, सर्वदृष्टा तथा परमसत् के गुणों से युक्त शासक होते थे।

प्लेटो एक ऐसे आदर्श राज्य की रचना करना चाहता था जो पूर्णरूपेण आदर्श हो। उसको इस बात की चिन्ता नहीं थी कि उसके द्वारा चित्रित आदर्श राज्य व्यावहारिक भी है अथवा नहीं। उसने

स्वीकार किया है कि "वह नगर (आदर्श राज्य) शब्दों में निर्मित है; क्योंकि मेरे विचार से पृथ्वी पर यह कहीं भी नहीं है।" राजनीतिक जीवन को आदर्श बनाने अथवा राज्य का आदर्श नमूना चित्रित करने की उसकी इतनी तीव्र लालसा थी कि इसे व्यावहारिक बनाने के लिए प्लेटो इसमें संशोधन करने के लिए तैयार न था। नैटिलशिप के शब्दों में, " रिपब्लिक में वह अपने आदर्श को किंचित मात्र भी न्यून नहीं करता, उसे केवल इस बात से सन्तोष है कि वह इसे (राज्य को) एक 'आदर्श' के रूप में प्रदर्शित कर रहा है।"

प्लेटो के आदर्श राज्य में व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध

अपने आदर्श राज्य के निर्माण का प्रारम्भ प्लेटो ने व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की प्रकृति पर विचार करते हुए किया है। उसके अनुसार राज्य तथा व्यक्ति दो पर्यायवाची शब्द हैं। राज्य व्यक्ति के विराट रूप की अभिव्यक्ति है। प्लेटो का मत था कि राज्य वृक्ष या चट्टानों से पैदा नहीं होते किन्तु उन व्यक्तियों के चरित्र से निर्मित होते हैं, जो उनमें रहते हैं। प्रो. बार्कर के शब्दों में, "राज्य की चेतना ठीक उसके सदस्यों की चेतना है, जब वे (राज्य के) सदस्य के रूप में विचार कर रहे हों।" राज्य तथा व्यक्ति में प्लेटो नैतिक एकता मानता है। प्लेटो व्यक्ति और राज्य के उद्देश्यों तथा हितों में किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं मानता है। उसके अनुसार अच्छे जीवन की प्राप्ति ही राज्य तथा व्यक्ति के जीवन का महानतम् उद्देश्य है। अच्छे व्यक्तिगत जीवन के आधार पर ही एक अच्छी राजनीतिक इकाई का निर्माण हो सकता है।

प्लेटो के आदर्श राज्य की उत्पत्ति विकास चरण

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य का निर्माण तीन चरणों में किया है। मानव की आर्थिक आवश्यकताओं को ही राज्य की उत्पत्ति का प्रमुख आधार उसने माना है क्योंकि इनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति किसी न किसी प्रकार का सहयोग करने के लिए बाध्य होता है। प्लेटो के शब्दों में, " राज्य मानव समाज की आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है कोई भी आत्मनिर्भर नहीं है।" इस प्रकार प्लेटो के अनुसार मानव की आर्थिक आवश्यकताएँ ही राज्य को एकता के सूत्र में बाँधने वाले प्रारम्भिक तन्तु हैं। इकाई के रूप में कोई भी व्यक्ति अपने आर्थिक जीवन की समस्त आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता, जबकि पारस्परिक सहयोग एवं विनिमय से सभी अपनी आवश्यकताओं की अधिक से अधिक मात्रा में पूर्ति करने में सफल हो सकते हैं। आर्थिक जीवन की वस्तुओं का आदान-प्रदान श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण (division of labour and specialisation of functions) को जन्म देता है। कार्य विशिष्टीकरण का सिद्धान्त (theory of specialisation of functions) उसकी दृष्टि में राज्य की एकता की सृष्टा है। प्लेटो के शब्दों में, "इरादा यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे काम में लगाया जाये जिसके लिए प्रकृति ने उसका चयन किया है। एक व्यक्ति को एक ही काम दिया जाये और तब प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं

का कार्य करेगा।" राज्य की उत्पत्ति के इस प्रथम चरण में राज्य के उस वर्ग का विकास होता है जिसे प्लेटो 'उत्पादक वर्ग' (producing class) कह कर पुकारता है एवं जिसका प्रमुख गुण 'सम्पत्ति प्रेम' (love of wealth) तथा 'क्षुधा' (appetite) है। साथ ही प्लेटो के आदर्श राज्य के आधार स्तम्भ दो सिद्धान्तों- (i) श्रम विभाजन का सिद्धान्त तथा (ii) कार्य विशिष्टीकरण के सिद्धान्त का भी बीजारोपण इसी प्रथम चरण में होता है।

जिस प्रकार प्लेटो के आदर्श राज्य के निर्माण के प्रथम चरण में उत्पादक वर्ग का उदय होता है उसी प्रकार उसके द्वितीय चरण में सैनिक वर्ग का अभ्युदय होता है। सैनिक वर्ग का मुख्य कार्य बाहरी आक्रमण से राज्य की रक्षा करना एवं आन्तरिक शांति सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देना है। आदर्श राज्य में सैनिक वर्ग का प्रमुख कार्य रक्षात्मक है, आक्रामक नहीं। प्लेटो ने सैनिकों को प्रहरी की संज्ञा दी है और उसकी तुलना रखवाली करने वाले कुत्तों (watch dogs) से की है। चेतना और साहस उसके मुख्य गुण होते हैं।

आदर्श राज्य के निर्माण के तीसरे चरण में प्लेटो राज्य के विवेक (reason) तत्व का प्रतिनिधित्व करने वाले सर्वोच्च वर्ग को निर्धारित करता है। उसके अनुसार सैनिक वर्ग के लोगों में सामान्यतया उत्साह (spirit) तथा विवेक (reason) पाया जाता है। किन्तु इसमें कतिपय ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें उत्साह की अपेक्षा विवेक का अधिक बाहुल्य होता है, ऐसे लोगों को प्लेटो ने राज्य के दार्शनिक शासक माना है। विवेक के अन्तर्गत प्लेटो के अनुसार दो गुण माने जाते हैं। प्रथम, विवेक से व्यक्ति को ज्ञान होता है तथा द्वितीय विवेक ही व्यक्ति को प्रेम करना सिखाता है। अतः प्लेटो के अनुसार शासक विवेकशील होना चाहिये एवं उसमें पर्याप्त मात्रा में स्नेहशीलता होनी चाहिए।

इस प्रकार तीन चरणों में राज्य का निर्माण, उन तीन वर्गों के क्रमशः विकास के साथ सम्पन्न होता है, जो राज्य की तीन मूलभूत आवश्यकताओं 'उत्पादन' (production), 'रक्षा' (defence), तथा शासन (rule) की पूर्ति अपने तीन गुणों से क्षुधा (appetite), साहस (spirit) तथा विवेक (reason) के आधार पर करते हैं।

आदर्श राज्य के निर्माणक तीन वर्ग

प्लेटो के आदर्श राज्य का निर्माण करने वाले तीन वर्ग उत्पादक वर्ग, सैनिक वर्ग तथा दार्शनिक शासक क्रमशः राज्य की आत्मा के तीन गुणों- क्षुधा, उत्साह तथा विवेक का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें से दो वर्गों - सैनिक तथा दार्शनिक शासक को प्लटो ने राज्य का संरक्षक (Guardian) माना है। इसका कारण यह है कि राज्य का विवेक राज्य के उत्साह की सहायता से राज्य के संरक्षक की जिम्मेदारी को समुचित रूप से निभा सकता है। प्लेटो का मानना था कि राज्य के इन तीनों वर्गों को अपने गुणों के अनुसार, कार्यों का संचालन करना चाहिए। इस प्रकार उसके आदर्श राज्य की प्रमुख विशेषता कार्य विभाजन (division of labour) का सिद्धान्त था।

आदर्श राज्य की आधारशिला : न्याय

प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य की आधारशिला न्याय है। आदर्श राज्य में तीन वर्ग होते हैं। कार्य विभाजन एवं विशिष्टीकरण की धारणा के आधार पर इन तीनों वर्गों को अपना-अपना कार्य दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप किये बिना करना होता है। इसलिए न्याय राज्य का वह गुण है जो राज्य के वर्गीकरण को तथा कार्य विभाजन को सुचारु रूप से कायम रखता है। इस गुण के कारण ही राज्य के विभिन्न वर्ग अपने कार्य क्षेत्रों तक अपने को सीमित रखते हुए, अपनी प्राकृक्तिक क्षमता एवं प्रशिक्षण के आधार पर निर्धारित कार्य को पूरी तन्मयता एवं लगन से, श्रेष्ठतापूर्वक (excellence) करते हैं। प्लेटो की दृष्टि में वह राज्य न्याय पर आधारित है जिसमें नागरिक अपने-अपने निर्धारित क्षेत्रों में उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करते हैं।

आदर्श राज्य के आधार स्तम्भ शिक्षा और साम्यवाद

यदि न्याय का सिद्धान्त आदर्श राज्य की आधारशिला है तो शिक्षा योजना तथा साम्यवादी व्यवस्था आदर्श राज्य के आधारभूत स्तम्भ हैं। उसने रिपब्लिक में शिक्षा को इतना अधिक महत्व दिया है कि रूसो ने इसे राजनीतिक विषयक ग्रन्थ न मानकर शिक्षा विषयक एक अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रन्थ माना है। प्लेटो का दृढ़विश्वास था कि शिक्षा व्यक्ति को एक विशेष कार्य का प्रशिक्षण देकर उसे

वही कार्य सम्पन्न करते रहने की प्रेरणा देगी। राज्य द्वारा नियोजित शिक्षा प्रणाली को अपनाकर एक बहुत बड़ी सीमा तक व्यक्ति के दृष्टिकोण को सही दिशा में बदला जा सकता है। आदर्श राज्य द्वारा प्रदत्त शिक्षा योजना की निम्नलिखित विशेषताओं पर प्लेटो बल देता है:

(1) शिक्षा राज्य द्वारा दी जानी चाहिए;

(2) स्त्री एवं पुरुषों को एक ही प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए:

(3) शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास करना है;

(4) शिक्षा का प्रयोजन व्यक्ति को राज्य का उत्तम नागरिक बनाना है:

(5) शिक्षा द्वारा दार्शनिक राजा तैयार किये जाने चाहिए।

साम्यवाद प्लेटो के आदर्श राज्य का दूसरा आधारस्तम्भ है। प्लेटो का दृढ़ विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा नैतिक विकास कर लेने मात्र से ही आदर्श राज्य का निर्माण हो जायेगा क्योंकि उनमें अनेक बाह्य परिस्थितियाँ ऐसी होती है जिनका अनिष्टकारी प्रभाव मानव के हृदय पटल पर पड़ता है। अतः साम्यवाद के द्वारा अपने आदर्श राज्य में वह उन बाह्य परिस्थितियों को जड़ मूल से नष्ट कर देना चाहता था, जो मानव समाज के नैतिक विकास की बाधाएँ हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा परिवार ऐसी ही बाधाएँ हैं जिन्हें प्लेटो हटाना चाहता है।

प्लेटो ने अपने साम्यवाद को आदर्श राज्य के दो वर्गों- शासकों तथा सैनिकों तक ही सीमित रखा है। अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अपने पारिवारिक जीवन की आहुति राज्य के दार्शनिक शासक वर्ग तथा सैनिक वर्ग को ही देनी थी। वह भी इसलिए कि प्लेटो के आदर्श राज्य का सफल निर्माण उनकी कुशलता, स्वार्थहीनता तथा राज्य के प्रति उनकी आस्था पर आधारित था। प्लेटो की योजना में संरक्षक वर्ग के पास न तो सम्पत्ति होती है और न ही परिवार। उनकी सेवाओं के बदले राज्य उनकी आर्थिक आवश्यकताओं भोजन, वस्त्र, निवास आदि का सामूहिक रूप से प्रबन्ध करता है। संक्षेप में आदर्श राज्य में प्लटो राज्य की शक्ति तथा आर्थिक शक्ति का एक ही हाथों में रखना अनुचित मानता है।

आदर्श राज्य की बागडोर दार्शनिक शासक के हाथों में

प्लेटो आदर्श राज्य की बागडोर दार्शनिक वर्ग को प्रदान करता है। दार्शनिक शासक सर्वाधिक शिक्षित, सुसंस्कृत, साहसी, आत्मसंयमी, ज्ञानी और निर्लोभी होते हैं। प्लेटो की यह धारणा है कि आदर्श राज्य में शासन कार्य परम बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथों में रखना चाहिए, जो कंचन और कामिनी से दूर रहते हुए शासन का संचालन करें। दार्शनिक शासक उसे समस्त गुणों का आगार प्रतीत होता है।

इस दार्शनिक शासक को प्लेटो 'आदर्श राज्य' की बागडोर निर्बाध रूप से सौंप देना चाहता है। इस श्रेष्ठ मल्लाह के नेतृत्व में आदर्श राज्य की नौका आँधी और तूफानों के झंझावातों से बचती हुई अपनी मंजिल तक अवश्य पहुँच जायेगी। प्लेटो को यह बिल्कुल स्वीकार नहीं था कि इस दार्शनिक शासक के कार्य में किंचित मात्र भी व्यवधान उपस्थित किया जाये। इसलिए इस दार्शनिक शासक द्वारा शासित आदर्श राज्य में प्लेटो ने कानून (law) को भी कोई स्थान नहीं दिया है। बार्कर ने प्लेटो के आदर्श राज्य के दार्शनिक शासक पर टिप्पणी करते हुए कहा है, "वह (दार्शनिक शासक) एक तर्कसंगत परिणाम है।"

10.7 आदर्श राज्य की अवधारणा आलोचनात्मक मूल्यांकन-

प्लेटो के आदर्श राज्य की अवधारणा की डनिंग, पॉपर, रसेल आदि विद्वानों ने कटु आलोचना की है। डनिंग के अनुसार आदर्श राज्य की अवधारणा अव्यावहारिक है। पॉपर के अनुसार प्लेटो ने आदर्श राज्य का निर्माण इस प्रकार से किया है कि उसकी वेदी पर उसने व्यक्ति को राज्य के परिप्रेक्ष्य में एक साधन मान लिया है। रसेल ने आदर्श राज्य को रोमांसवाद की संज्ञा दी है। प्लेटो के आदर्श राज्य की अवधारणा की निम्नांकित आलोचना की जाती हैं।

1. **आदर्श राज्य एक स्वप्निल संसार है-** प्लेटो के आदर्श राज्य की अव्यावहारिकता को देखते हुए उसे एक स्वप्निल संसार (utopia) कह कर पुकारा गया है। उसे बादलों में स्थित नगर की संज्ञा दी गई है; ऐसा सायंकालीन तंतु कहा गया है जो क्षण भर के लिए दृष्टिगोचर होकर रात्रि की नीरवता में विलुप्त हो जाता है। आदर्श राज्य निरी कल्पना तथा मृगतृष्णा है।

2. **स्वतन्त्रता का निषेध** -प्लेटो का आदर्श राज्य व्यक्तियों को आवश्यक स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता है। इसमें व्यक्तियों का विकास संभव नहीं है। प्लेटो का सर्वाधिकारवादी राज्य स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं है।

3. **उत्पादक वर्ग** -की नितान्त उपेक्षा प्लेटो ने उत्पादक वर्ग की उपेक्षा की है। वह अन्य दोनों वर्गों के समान इनके लिए न तो विशेष शिक्षा की व्यवस्था करता है और न ही सामाजिक ढाँचे में उनको महत्वपूर्ण मानता है।

प्लेटो इस बात को स्वीकार करता है कि निम्न वर्ग में उत्पत्र व्यक्तियों को अपनी योग्यता के आधार पर उच्च वर्ग में सम्मिलित होने का अधिकार मिलना चाहिए, लेकिन प्लेटो इस कार्य को संभव बनाने हेतु उत्पादक वर्ग के लिए समुचित शिक्षा सुविधाओं की व्यवस्था नहीं करता।

4. **शासक वर्ग की निरंकुश सत्ता**- प्लेटो के आदर्श राज्य में कानून और नियमों का पूर्ण अभाव है और इसमें दार्शनिकों को निरंकुश सत्ता सौंप दी गई है, जिसे किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। प्लेटो का आदर्श राज्य निरंकुशवाद (enlightened tyranny) है।

5. **कानून की उपेक्षा** -आदर्श राज्य में कानून को कोई स्थान न देकर भी प्लेटो ने बड़ी भूल की है। आगे चलकर 'लाज' में कानून की अनिवार्यता को स्वयं स्वीकार किया है।

6. **कार्यात्मक विशेषीकरण की पद्धति अनुचित**- प्लेटो के आदर्श राज्य का एक मुख्य आधार कार्यात्मक विशेषीकरण की पद्धति या न्याय है। कार्यात्मक विशेषीकरण की पद्धति या न्याय के आधार पर मानवीय व्यक्तित्व का एक विशेष पक्ष ही विकसित हो पाता है और शेष व्यक्तित्व अप्रभावित रहता है।

7. **व्यक्ति और राज्य की समानता को अत्यधिक महत्व** -अपने आदर्श राज्य में प्लेटो ने व्यक्ति एवं राज्य में जिस मात्रा में समानता स्थापित की है, उस मात्रा में व्यक्ति एवं राज्य में समानता वास्तव में होती नहीं है।

8. **शासन के लिए आवश्यक तत्वों की उपेक्षा-** प्लेटो ने आदर्श राज्य के लिये आवश्यक तत्वों की उपेक्षा की है। उनके द्वारा कानूनों, सरकारी पदाधिकारी को

दण्ड देने की व्यवस्था का कोई वर्णन नहीं किया गया है। इन तत्वों की उचित व्यवस्था के बिना एक आदर्श राज्य का कार्य संचालन कठिन ही प्रतीत होता है।

क्या प्लेटो का आदर्श राज्य काल्पनिक है

प्लेटो के आदर्श राज्य को काल्पनिक कहा जाता है। परन्तु बार्कर का विचार है कि वह "वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित है।" क्योंकि उसे प्लेटो ने तत्कालीन स्पार्टा एवं ऐथेस की शासन प्रणालियाँ जो अज्ञान एवं वासना से प्रदूषित थीं जिसका निदान प्लेटो विवेक को सर्वोच्च स्थान देकर एक नई शिक्षा एवं साम्यवाद के द्वारा करना चाहता है।

उसका आदर्श राज्य निरीह कल्पना अथवा थोथी भावुकता पर आश्रित नहीं है, यह नितान्त अप्राप्य आदर्श नहीं है; अपितु वह ठोस आधार पर आश्रित एक ऐसा आदर्श है, जिसकी प्राप्ति भी एक निश्चित सीमा तक संभव हो सकती है। बार्कर के अनुसार साम्यवादी योजना एवं शिक्षा योजना का राज्य के गिने-चुने लोगों (संरक्षक वर्ग) के लिए प्रस्तुत करना ही इस बात का द्योतक है कि प्लेटो अपने आदर्श राज्य के व्यावहारिक होने के प्रति जागरूक था। स्वयं प्लेटो ने इन शब्दों में अपने आदर्श राज्य के व्यावहारिक होने का दावा किया कि "जो कुछ भी राज्य तथा उसकी सरकार के बारे में कहा गया है वह केवल स्वप्न मात्र नहीं है; और यद्यपि कठिन है, असम्भव नहीं है; किन्तु यह केवल उसी स्थिति में सम्भव हो सकता है, जब दार्शनिक राजा हो जाए।"

प्लेटो का आदर्श राज्य एक प्रकाश स्तम्भ के रूप में राज्यों की नौका खेने वाले नाविकों का मार्गदर्शन करता है। उसका आदर्श राज्य वह मंजिल है जिस तक पहुँचना प्रत्येक राज्य के लिए वांछनीय है। उसका आदर्श राज्य वह ऊँचाई है जो मौजूदा राज्यों को उनकी लघुता का बोध कराती है और उन्हें उनके व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने की चुनौती देती है। यह ठीक है कि किसी भी आदर्श की सम्पूर्ण रूप में प्राप्ति नहीं की जा सकती है, किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि आदर्श का आभास होने पर ही आदर्श की दिशा में चला जा सकता है एवं

अपनी वर्तमान स्थिति तथा आदर्श के बीच की दूरी को कम किया जा सकता है। प्रो. नेटिलशिप के शब्दों में "आदर्श के सम्बोधन में एक ओर तो यह सन्निहित होता है कि वह कभी भी पूर्णरूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता और दूसरी ओर यह सन्निहित होता है कि यह निरन्तर प्राप्त किया जा रहा है।" सेबाइन के अनुसार प्लेटो का दिमागी रुझान वैज्ञानिक था। इसका मतलब यह था कि उसका सिद्धान्त केवल वर्तमान राज्य का ही वर्णन न करे बल्कि एक आदर्श राज्य का भी खाका खींचे। यह बात कुछ विरोधाभास सी लग सकती है। लेकिन यह सही है कि प्लेटो ने एक काल्पनिक राज्य का चित्र सलिए नहीं खींचा है कि यह डनिंग की मुख्य शब्द में एक 'रोमांस' है। काल्पनिक राज्य का चित्रण करने में प्लेटो का मुख्य उद्देश्य 'सत' के विचार को वैज्ञानिक आधार देना था। प्लेटो के विचार से राजनेता के लिए यह जरूरी है कि वह यह जाने कि 'सत' किसे कहते हैं और एक श्रेष्ठ राज्य के निर्माण के लिए क्या चीजें जरूरी हैं। उसे यह भी जानकारी होनी चाहिए कि राज्य क्या है, अपने परिवर्तनशील रूप में नहीं बल्कि अपने शाश्वत और मूल रूप में यह गौण प्रश्न है कि वास्तविक राज्य आदर्श के अनुसार हो सकते हैं या नहीं प्लेटो वास्तविक परिस्थितियों से कितना दूर था इस सम्बन्ध में हम बहुत कुछ कह सकते हैं। लेकिन प्लेटो ने जिस रूप में समस्या को समझा था उसको ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न कि क्या आदर्श राज्य का निर्माण किया जा सकता है, असंगत था। वह केवल यही प्रदर्शित कर रहा था कि सिद्धान्त में एक राज्य को क्या होना चाहिए। यदि तथ्य सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है, तो यह तथ्यों की ही कमजोरी है। इसी बात को दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि प्लेटो यह मानकर चल रहा था कि 'सत' वस्तुपरक चीज है। लोग उसे चाहते हैं या चाहने के लिये राजी किये जा सकते हैं यह बिल्कुल दूसरा प्रश्न है। यदि सद्गुण ज्ञान है तो यह माना जा सकता है कि लोग 'सत' को प्राप्त करना चाहेंगे; लोग 'सत' को प्राप्त करते हैं या नहीं इससे 'सत' अच्छा या बुरा नहीं हो जाता।

10.8 प्लेटो का न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त (Plato's Theory ot Justice)

न्याय का सिद्धान्त दार्शनिक प्लेटो के राजनीतिक चिन्तन का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। इसके महत्व का आभास इस तथ्य से होता है कि प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक 'का वैकल्पिक नाम ही 'न्याय से सम्बन्धित' (Concerning Justice) रखा है। जिस 'आदर्श राज्य' की रूप रेखा प्लेटो ने तैयार की है, उसका प्रमुख आधार न्याय ही है।

रिपब्लिक का सबसे अधिक महत्वपूर्ण रूझान न्याय की प्रकृति एवं उसके स्थान की खोज करना है। वह एक ऐसे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का अन्वेषण करना चाहता था जो एक आदर्श समाज की रचना कर सके, एक ऐसे आदर्श राज्य का निर्माण कर सके जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समूह को अपनी प्राकृक्तिक क्षमता (capacity) तथा उपर्जित योग्यता (training) के आधार पर अपना अधिक से अधिक विकास करने का समुचित अवसर प्राप्त हो तथा साथ ही वह अपने अन्य साथियों के समुचित विकास में किसी प्रकार भी बाधा उपस्थित न करे ।

रिपब्लिक में न्याय संबंधी धारणा को इतना प्रमुख स्थान प्राप्त है कि इस संबंध में बार्कर ने लिखा है कि " चाहे वह सोफिस्ट वर्ग की धारणाओं का विरोध कर रहा हो या कि समाज की विद्यमान व्यवस्था में सुधार के लिए प्रयत्नशील हो, न्याय प्लेटो के विचार का मूलाधार रहा है।" ईबन्स्टीन के अनुसार, "प्लेटो के न्याय सम्बन्धी विवेचन में उसके राजनीतिक दर्शन के समस्त तत्व शामिल हैं। "

रिपब्लिक का प्रारम्भ और अन्त न्याय सिद्धान्त से ही होता है। न्याय की स्थापना हेतु ही प्लेटो आदर्श राज्य की स्थापना करता है, साम्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, एक नई शिक्षा योजना के द्वारा मनुष्य को आत्मज्ञान की सीख देकर न्यायी बनाना चाहता है और ज्ञानी, विशेषज्ञ, सुशिक्षित दार्शनिकों के शासन की चर्चा करता है। यही कारण है कि प्रो. बार्कर ने न्याय को प्लेटो के सिद्धान्त का केन्द्र और उसकी रिपब्लिक का मूलपाठ कहा है। संक्षेप में, "रिपब्लिक का आधारभूत विषय न्याय-सिद्धान्त की प्रकृति एवं स्वभाव का अन्वेषण है।" P

प्लेटोवादी न्याय अवधारणा से अभिप्राय

वर्तमान काल में न्याय का अर्थ न्यायाधीश द्वारा कानून के अनुसार अपराधियों को दण्ड देना होता है, वहाँ प्लेटो के मतानुसार न्याय की अवधारणा को कानूनी अथवा वैधानिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध विद्वान बार्कर के अनुसार, "प्लेटो का न्याय एक कानूनी विषय नहीं है, न ही यह कानूनी अधिकारों एवं कर्तव्यों की बाह्य योजना से सम्बन्धित है। यह कानूनीपन के क्षेत्र में नहीं आता अपितु इसका सम्बन्ध सामाजिक नैतिकता से है।"

प्लेटो के मतानुसार न्याय का अर्थ केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने उन सब कर्तव्यों का पूरा पालन करे, जिनका समाज के प्रयोजनों की दृष्टि से किया जाना आवश्यक है। समाज और राज्य अपनी आवश्यकताओं तथा व्यक्तियों की योग्यताओं के अनुसार उनके लिए कुछ कर्तव्यों और धर्मों का निर्धारण करते हैं, इनका यथावत् पालन ही न्याय है। भारतीय परिभाषा के अनुसार स्वधर्मपालन न्याय है।

तीन गुणों अर्थात् विवेक, शौर्य एवं वासना में से व्यक्ति में एक गुण प्रधान हो सकता है। अतः व्यक्ति के द्वारा अपने विशेष गुण की पहचान एवं सामाजिक जीवन में उसकी अभिव्यंजना, प्रगटीकरण अथवा उपयोग ही न्याय है। यह व्यक्तिगत न्याय है। तीनों गुणों को आत्म नियंत्रण द्वारा यथास्थान पर रखना तथा एक गुण को दूसरे में हस्तक्षेप न करने देना सामाजिक न्याय है। इसीलिये प्लेटो कहता है कि सब वर्गों के विशेष गुणों से बड़ा गुण आत्म नियंत्रण का सद्गुण है।

10.9 न्याय सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त

न्याय सम्बन्धी अपनी धारणा को प्रतिपादित करने के पूर्व प्लेटो अपने समय में प्रचलित न्याय के त्रुटिपूर्ण सिद्धान्तों का खण्डन करता है। प्लेटो के समय में न्याय के सम्बन्ध में तीन गलत धारणाओं का प्रचलन था, जिन्हें क्रमशः परम्परावादी सिद्धान्त, उग्रवादी सिद्धान्त और यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जा सकता हैं।

1. **न्याय का परम्परावादी सिद्धान्त (Traditional Theory of Justice)**- प्लेटो के समकालीन जगत में न्याय सम्बन्धी जो अनेक सिद्धान्त प्रचलित थे, उनमें एक प्रमुख सिद्धान्त सेफालस (Cephalus) का था जिसे परम्परावादी विचारधारा (Traditional Theory) कहा जाता है। उसके अनुसार "न्याय सत्य बोलने एवं अपने कर्ज चुकाने में निहित है।" (Justice seems to lie in speaking the truth and paying our debts) उसके पुत्र एवं इस विचारधारा के दूसरे प्रमुख प्रतिपादक पोलेमारकस (Polemarchus) के अनुसार "न्याय प्रत्येक मनुष्य को वह देने में है, जो उसके लिए उचित है।" (Justice consists in the giving to each man of what is proper to him) इस प्रकार परम्परावादी विचारक 'न्याय' को एक 'कला' मानते हैं।

प्लेटो ने परम्परावादी विचारधारा का खण्डन चार तर्कों के आधार पर किया है: प्रथम न्याय एक कला नहीं है। कला परस्पर दो विरोधी कार्य अच्छा और बुरा कर सकती है, पर न्याय तो सिर्फ अच्छाई और भलाई की दिशा में प्रवाहित होता है, बुराई की दिशा में नहीं। प्लेटो के अनुसार न्याय, आत्मा एवं मन का एक गुण है, वह अन्तरमन की वस्तु है, एक उपार्जित बाह्य कार्यविधि नहीं जिसे इच्छानुसार दो विपरीत दिशाओं में प्रयोग में लाया जा सके। न्याय, सेवा, त्याग तथा कल्याण का मार्ग है, पर-पीड़न का मार्ग नहीं। द्वितीय, यह कथन बड़ा सरल है कि मित्रों की भलाई तथा शत्रुओं की बुराई न्याय है, किन्तु यह कहना कठिन है कि हम किसको मित्र एवं किसको शत्रु मानें। अनेक बार ऐसा होता है कि हमारे मित्र हमारे बड़े शत्रु साबित होते हैं एवं जिन्हें हमने अब तक शत्रु माना है वे हमारे परम शुभ चिन्तक सिद्ध होते हैं। अतः 'शत्रु' तथा 'मित्र' के आधार पर 'न्याय' का व्यवहार करना बड़ा दुष्कर कार्य है। तृतीय, यदि मित्रों की भलाई करना न्याय मान भी लिया जाये तो शत्रुओं की बुराई करना न्याय का उद्देश्य नहीं हो सकता है। न्याय का ध्येय 'जैसे को तैसा' (Tit for tat) नहीं होता। किसी भी व्यक्ति का बद से बदतर बनना न्याय का कदापि उद्देश्य नहीं हो सकता है। चतुर्थ, परम्परावादियों ने एक अन्य त्रुटि यह की है कि उन्होंने न्याय को केवल दो व्यक्तियों का सम्बन्ध मात्र माना है, साथ ही नग्न व्यक्तिवाद पर इस सम्बन्ध को आधारित किया है। ऐसा करना त्रुटिपूर्ण है

क्योंकि न्याय न केवल व्यक्तिगत जीवन की, अपितु सामूहिक जीवन की वस्तु भी है, वह श्रेष्ठ सामाजिक जीवन के विकास की एक बड़ी आवश्यकता है।

2. **न्याय की उग्रवादी विचारधारा अथवा थेसीमेकस का सिद्धान्त (Radicalism or the Theory of Thrasymachus) -** न्याय सम्बन्धी दूसरा सिद्धान्त थेसीमेकस का है। वह ई. पू. पाँचवी शताब्दी का विचारक है और उस विचारधारा का प्रतिनिधि है जिसे प्लेटो ने उग्र तार्किक विचारधारा (Radicalism) कहा है। थेसीमेकस के अनुसार 'शक्तिशाली का हित ही न्याय है' (Justice is the interest of the stronger)। वह 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत को स्वीकार करता है। उसके विचार में शक्तिशाली के हित में कार्य करना ही 'न्याय' है। थ्रेसीमेकस के इस विचार का निष्कर्ष यह है कि 'अन्याय न्याय से अच्छा होता है' (Injustice is better than the Justice) |

प्लेटो ने थेसीमेकस द्वारा प्रतिपादित उग्रवादी सिद्धान्त का खण्डन किया है। इस सिद्धान्त की पहली मान्यता यह है कि शासन अपने हित में कार्य करता है जो जन समुदाय के हित से भिन्न होता है। परन्तु प्लेटो इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। वह शासन को एक कला तथा शासक को 'कलाकार मानता है। उदाहरणार्थ, चिकित्सा करना एक कला है और चिकित्सक या डॉक्टर एक कलाकार है। इस कला की विषयवस्तु रोगी है। अतएव डॉक्टर रूपी कलाकार का प्रमुख उद्देश्य अपनी विषयवस्तु रूपी रोगी के रोग को दूर करना है। इसी प्रकार शिक्षण एक कला है और सच्चा शिक्षक अपने विद्यार्थियों के मन के दोषों को दूर करके उन्हें विद्वान और बुद्धिमान बनाता है न कि स्वयं अपना कोई हित साधन करता है। इसी प्रकार आदर्श शासक वही है जो अपने नहीं किन्तु शासित प्रजा के हितों का ध्यान रखे और उसके दोषों, दुःखों, कठिनाइयों को दूर करे। अतः यह मानना अनुचित है कि शासक केवल अपने हित में ही सोचता है एवं नागरिकों को केवल मात्र उसके स्वार्थों की पूर्ति के लिए बाध्य करता है। प्लेटो को एक आदर्श शासक तथा आदर्श नागरिकों के हितों में किचित मात्र भी विरोधाभास प्रतीत नहीं होता ।

थ्रेसीमेकस की दूसरी मान्यता यह है कि अन्याय न्याय से श्रेष्ठतर होता है क्योंकि अन्यायी व्यक्ति न्यायी की तुलना में अधिक बलवान और अधिक

प्रसन्न होता है। प्लेटो ने थेसीमेकस के उक्त कथन का भी खण्डन किया है। प्लेटो के अनुसार न्यायी व्यक्ति अन्यायी की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान, शक्तिशाली एवं सुखी होता है। न्यायी व्यक्ति बुद्धिमान है क्योंकि उसे अपनी सीमाओं का आभास है, अधिक शक्तिशाली है क्योंकि उसके पास अपने सिद्धान्तों की शक्ति है और अधिक सुखी है क्योंकि वह अच्छे जीवन के गुणों से विभूषित है।

प्लेटो के अनुसार थेसीमेकस का सिद्धान्त व्यक्तिवादी विचारधारा पर आधारित है। न्याय कभी भी व्यक्ति के जीवन तक सीमित नहीं रखा जा सकता, वह व्यक्ति की नहीं समष्टि की वस्तु है।

3. ग्ल्यूकोन का सिद्धान्त अथवा न्याय का यथार्थवादी सिद्धान्त (Glaucon's Theory of Pragmatism)- ग्ल्यूकोन के अनुसार न्याय कमजोर की आवश्यकता है। ग्ल्यूकोन का विचार थ्रेसीमेकस की इस धारणा के सर्वथा विपरीत है कि न्याय शक्तिशाली व्यक्तियों का स्वार्थ होता है। ग्ल्यूकोन समाज में न्याय के विचार के सृजन का श्रेय निर्बल व्यक्तियों को देता है। वह इसका आधार शक्तिशाली की इच्छा नहीं किन्तु दुर्बल व्यक्तियों का भंय और आशंका मानता है।

प्लेटो ने ग्ल्यूकोन की धारणा का खंडन किया है। प्लेटो के अनुसार न्याय एक ऐसी बाह्य और कृत्रिम वस्तु नहीं होती कि जिसकी उत्पत्ति समझौते से हुई हो। न्याय तो मनुष्य के अन्तर्मन अथवा आत्मा की, एक नैसर्गिक वस्तु है। वह मनुष्य ही नहीं, राज्य की भी आत्मा में निवास करता है।

10.10 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

सिफालस और पोलीमारकस, थ्रेसीमेकस तथा ग्ल्यूकोन न्याय से सम्बन्धित जिन दृष्टिकोणों का प्रतिपादन करते हैं, उन तीनों की ही एक समान विशेषता है कि वे न्याय को बाह्य वस्तु मानते हैं। इसके विपरीत प्लेटो न्याय को आत्मा के अन्दर की वस्तु मानता है और इसी आधार पर इन तीनों दृष्टिकोणों को अस्वीकार कर देता है। प्लेटो का कहना है कि, "न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृक्तिक माँग है। ई. एम. फॉस्टर के शब्दों

में, "जिसे हम नैतिकता कहते हैं, वही प्लेटो के लिए न्याय है।" न्याय का चिन्तन करते समय दो प्रश्न प्लेटो के सामने आ उपस्थित होते हैं- प्रथम तो उसे न्याय की वास्तविक प्रक्ति की खोज करनी है, दूसरे, उसे 'न्याय' के निवास स्थान को ढूँढ़ निकालना है। न्याय उसे एक ओर तो व्यक्ति के मानस में स्थित होता है और दूसरी ओर उसे समस्त नगर (राज्य या समाज) में इसका निवास दिखलाई पड़ता है। उसके विचार से व्यक्ति तथा राज्य में एक प्रकार की वैसी ही एकरूपता विद्यमान है, जैसी कि बड़े अक्षरों में और छोटे अक्षरों में होती है। राज्य व्यक्ति से बहुत बड़ा है अतः इस बात की अधिक सम्भावना है कि राज्य में स्थित न्याय की प्रकृति ढूँढ़ निकालने पर व्यक्ति में स्थित न्याय के स्वरूप को समझना अधिक सरल होगा।

प्लेटो के अनुसार न्याय के दो रूप है- व्यक्तिगत और सामाजिक। वह मानवीय आत्मा (व्यक्ति) में तीन तत्व या नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ मानता है- (i) इन्द्रिय तृष्णा या वासना (Appetite), (ii) शौर्य या साहस (Spirit) (iii) बुद्धि या ज्ञान (Wisdom)।

ये तीनों गुण जब उचित अनुपात में मानव मस्तिष्क में विद्यमान रहते हैं, तभी व्यक्ति न्याय का पालन कर सकता है। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय तृष्णा, शौर्य तथा बुद्धि का उचित समन्वय और सामंजस्य व्यक्ति के जीवन में न्याय की सृष्टि करता है।

तृष्णा, साहस, और बुद्धि प्लेटो के दर्शन के प्रमुख आधार हैं और इनसे समाज के तीन वर्ग प्लेटो की मान्यता है कि व्यक्ति की भाँति राज्य में भी तीनों गुण वासना, साहस और बुद्धि विद्यमान होते हैं। इन्हें पूरा करने के लिए राज्य निर्माण के उपर्युक्त तीन तत्वों के आधार पर प्लेटो ने अपने राज्य में तीन वर्गों की सत्ता मानी है: (i) तृष्णा या वासना (Appetite) तत्व की पूर्ति करने वाले उत्पादक या कृषक वर्ग, (ii) शौर्य या साहस (Spirit) गुण के प्रतिनिधि सैनिक या संरक्षक (Auxiliary Guardians), तथा (iii) बुद्धि या विवेक (Wisdom) गुण का प्रतिनिधित्व करने वाले संरक्षक (Guardians) 1

प्लेटो के अनुसार राज्य में जब शासक निःस्वार्थ भाव से शासितों के हितों की रक्षा करते हुए शासन कार्य करता है, सैनिक वर्ग प्राणों की बाजी लगाते हुए देश की सीमाओं की रक्षा करता है और उत्पादक वर्ग सब कष्टों को सहन कर अपने उपयोग की सामग्रियाँ पैदा करता है- तभी राज्य में न्याय स्थिर रहता है। न्याय वस्तुतः कर्तव्य पालन से परे कोई वस्तु नहीं है।

राज्य के इन तीन वर्गों दार्शनिक शासक, सैनिक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग द्वारा अपने-अपने कार्य क्षेत्र में विशिष्टता (specialisation) प्राप्त कर लेना तथा अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से निर्वाह करने का नाम ही 'न्याय' है। यह राज्य के तथा व्यक्ति के हित में है कि व्यक्ति अपनी प्राकृतिक प्रतिभा एवं क्षमता के आधार पर अपना एक कार्यक्षेत्र निर्धारित करे और उस कार्य में अधिक से अधिक योग्यता बढ़ाकर अधिकतम श्रेष्ठता (excellence) पूर्वक कार्य करे। न्याय के सिद्धान्त की माँग है कि राजा विवेकशील (wise) हो, सैनिक साहसी (courageous) हो और उत्पादक वर्ग आत्म संयम (temperance) युक्त हो। अगर ऐसा है तो उसै राज्य में 'न्याय' का निवास है, अन्यथा नहीं।

न्याय क्या है और उसका अधिवास कहाँ है, इसका उत्तर देते हुए प्लेटो ने कहा है कि "यह अपने निश्चित स्थान में अपने कर्तव्यों का पालन करना और दूसरे के कर्तव्यों में हस्तक्षेप न करना ही है और इसका निवास स्थान अपना निश्चित कर्तव्य पूरा करने वाले प्रत्येक नागरिक के मन में है।" प्लेटो का न्याय सम्बन्धी विशेषीकरण (specialisation) इस विचार पर आधारित है कि एक व्यक्ति को केवल एक ही ऐसा कार्य कुशलतापूर्वक करना चाहिए जो उसके स्वभाव के नितान्त अनुकूल हो।

प्लेटो के राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख उद्देश्य एक आदर्श राज्य की रूपरेखा तैयार करना था।

इस आदर्श राज्य को वह तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों में पाई जाने वाली अक्षमता (inefficiency). अस्थिरता (instability), अव्यवस्था (disorder), अत्यधिक व्यक्तिवाद (excessive individualism) तथा राजनीतिक स्वार्थपरता (political selfishness) आदि से पैदा होने वाली कमजोरियों से बचाना चाहता

था। अतः न्याय के सिद्धान्त की रचना उसने अपने आदर्श राज्य के रक्षक एवं त्राता के रूप में की है।यह सिद्धान्त मुख्यतः नैतिक (moral) तथा मानसिक (psychic) है। इसके दो पहलू है- पहला, सामाजिक तथा दूसरा व्यक्तिगत। जब न्याय के सामाजिक पहलू पर विचार किया जाता है तो 'न्याय' का आशय राज्य के विभिन्न वर्गों एवं समूहों द्वारा स्वयं निर्धारित मर्यादाओं का निर्वाह कर दूसरों के उचित कार्यों एवं अधिकारों में अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने से है। शासक, सैनिक एवं उत्पादक वर्ग के मेल से राज्य का निर्माण होता है। इन तीनों वर्गों के लोग अगर अपने-अपने कार्यक्षेत्र में ही रहें और एक-दूसरे के कार्यक्षेत्र पर अतिक्रमण न करें तो राज्य न्यायपूर्ण होगा एवं अनेक त्रुटियों से मुक्त होगा। "राज्य का न्याय नागरिक का अपने क्षेत्र में कर्तव्य ज्ञान है जो विश्व के सामने सार्वजनिक कार्यवाही के रूप में प्रकट होता है।" इसी प्रकार जब हम न्याय के व्यक्तिगत पहलू को दृष्टि में रखकर सोचते हैं तो "न्याय का अर्थ होता है कि व्यक्ति अपना काम अपने उस कार्यक्षेत्र में रहते हुए करे जो कि उसकी क्षमता के आधार पर निश्चित हुआ है।"

10.11 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

1. **तीन गुणों का समावेश**- प्लेटो के अनुसार 'न्याय' राज्य तथा व्यक्ति के मौलिक सद्गुणों का एक अंग है। व्यक्ति में तीन नैसर्गिक गुण है- तृष्णा, साहस एवं बुद्धि। इन तीन गुणों का सुव्यवस्थित सन्तुलन और जीवन संचालन ही न्याय है।

2. **नैतिक सिद्धान्त** - प्लेटो की न्याय सम्बन्धी धारणा वैधानिक नहीं वरन् नैतिक और सर्वव्यापी

है।

3. **न्याय जीवन** का एक आन्तरिक तत्व और सन्तुलनकारी धारणा प्लेटो के अनुसार न्याय कृत्रिम या बाह्य वस्तु न होकर मनुष्य के अन्तः करण की एक पवित्र भावना है जिसका आधार आत्मज्ञान, आत्मसंयम एवं आत्म त्याग है।

4. **कार्य विशिष्टता का सिद्धान्त** (Specialisation of function) न्याय सिद्धान्त कार्यों के विशिष्टीकरण का प्रतिपादक है। यह तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि व्यक्ति प्राकृक्तिक क्षमता के आधार पर निश्चित कार्य करें एवं उस कार्य के करने में अधिक से अधिक कार्यकुशलता प्राप्त करे ।

5. **अहस्तक्षेप का सिद्धान्त** न्याय का सिद्धान्त मुख्यतः निर्बाधता (non-interference) का सिद्धान्त है। 'न्याय' इसी में है कि राज्य के विभिन्न अंग अपने कार्य सम्पन्न करें तथा दूसरों के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें।

6. **अति व्यक्तिवाद का विरोध**- प्लेटो का न्याय सिद्धान्त नग्न व्यक्तिवाद का घोर विरोधी है। प्लेटो नहीं मानता था कि समष्टि (राज्य समाज) से भिन्त्र एवं प्रतिकूल व्यक्ति का कोई अस्तित्व अथवा हित है। उसके विचार से, व्यक्ति तथा राज्य दोनों का लक्ष्य एक श्रेष्ठ जीवन का विकास है। राज्य के अंग के रूप में अपनी प्राकृतिक क्षमता तथा प्रशिक्षण के आधार पर निर्धारित क्षेत्र में अधिक से अधिक श्रेष्ठता प्राप्त करके ही व्यक्ति अपने जीवन का समुचित विकास कर सकता है।

7. **सावयव एकता का सिद्धान्त** प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में व्यक्ति बनाम राज्य जैसी कोई चीज नहीं। इसमें व्यक्ति राज्य के लिए है, राज्य के प्रति उसके कर्तव्य ही हैं, अधिकार नहीं; राज्य साध्य है व्यक्ति साधन। प्लेटो ने स्पष्ट लिखा है कि "नागरिकों की कर्तव्य भावना ही राज्य का न्याय सिद्धान्त है।" राज्य से पृथक व्यक्ति की कोई अपनी इच्छाएँ, आवश्यकताएँ या आकांक्षाएँ नहीं हैं। व्यक्ति आंगिक है और संपूर्ण सावयव का अंग है। इस कारण भी प्लेटो को पहला फासिस्ट कहा जाता है।

8. मनोवैज्ञानिक आधार प्लेटो के न्याय सम्बन्धी विचार मनोवैज्ञानिक तत्व लिए हुए है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अपनी प्राकृतिक क्षमता एवं तदनुरूप प्रशिक्षण पर आधारित अपने विशिष्ट कार्य क्षेत्र में रहकर काम करने वाले व्यक्ति को किसी की कोई शिकायत नहीं होगी। स्वभावतः ही वह अपने कार्य

में अधिक रुचि लेगा एवं अपने तथा समाज के लिए अधिकतम श्रेष्ठता प्राप्त करने का अविरल प्रयत्न करेगा।9. दार्शनिक शासक न्याय की प्राप्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य की शासन व्यवस्था विवेकशील, निःस्वार्थी और कर्तव्यपरायण व्यक्तियों के हाथ में हो। इन्हीं गुणों से युक्त समूह को प्लेटो के द्वारा शासक का नाम दिया गया है।

10.12 प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की आलोचना

यूनान की तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से न्याय धारणा उपयोगी थी और उसका अपना महत्व था लेकिन वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अनेक आधारों पर आलोचकों ने प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की कड़ी अग्नि परीक्षा की है। सेबाइन ने लिखा है: "यह अत्यधिक स्थैतिक, व्यक्तिनिष्ठ, नैतिक रूप से पतनकारी, अमनोवैज्ञानिक एवं अव्यावहारिक है।'

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है:

1. न्याय को कानूनी धारणा न मानकर नैतिक धारणा मानना न्याय शब्द के कानूनी पहलू को ध्यान में रखकर कुछ आलोचक यह कहते हैं कि उसका न्याय कानूनी न्याय नहीं है। यह न्याय आत्मसंयम, आत्म निषेध आदि नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित है। लेकिन कानूनी शक्ति के अभाव में यह निष्क्रिय सिद्धान्त है। व्यक्तियों की इच्छाओं एवं विभिन्न हितों में टकराहट होने की दशा में प्लेटो का न्याय सिद्धान्त अधिक कारगर सिद्ध नहीं होता। अतः इस शब्द का वह अर्थ नहीं है जो साधारणतया न्याय शब्द का अर्थ समझा जाता है।

2. व्यक्ति को राज्य का अधीनस्थ बना देना प्लेटो का न्याय सिद्धान्त व्यक्ति को पूर्णतया राज्य के अधीन कर देता है। इकाई के रूप में व्यक्ति का, चाहे वह किसी भी वर्ग का क्यों न हो कोई विशेष महत्व नहीं माना गया है।

3. अत्यधिक एकीकरण पर बल अरस्तू ने प्लेटो के सिद्धान्त को अत्यधिक एकीकरण

(excessive unification) की दिशा में ले जाने वाला कहा है। यह व्यक्ति को राज्य के हित साधन के लिए यन्त्रमात्र समझता है। वह अपनी आत्मा के केवल उसी गुण का विकास कर सकता है जो अन्य दो गुणों से कुछ ज्यादा प्रबल है। अतः प्लेटो के न्याय सिद्धान्त पर आधारित व्यवस्था में व्यक्ति के बाकी के दो गुणों के विकास की आहुति 'अत्यधिक एकीकरण' (excessive unification) की वेदी पर चढ़ा दी जाती है।

4. अत्यधिक पृथक्ककरण- जहाँ अरस्तू ने प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को 'अत्यधिक एकीकरण' की दिशा में ले जाने वाला कहा है, वहाँ कतिपय आलोचकों ने प्लेटो को राज्य के 'अत्यधिक पृथक्ककरण' (excessive separation) के लिए जिम्मेदार ठहराया है। उनके विचार में प्लेटो का राज्य एक इकाई नहीं है, बल्कि एक राज्य के नागरिकों का वर्गीकरण करके तथा उनमें कार्यों का विभाजन करके, प्लेटो ने राज्य की एकता को आँच पहुंचायी है। इस वर्गीकरण एवं कार्य विभाजन के कारण, राज्य के विभिन्न वर्गों में सामान्य हित की भावना का अभाव हो जाता है। उनका समूचा ध्यान अपने वर्गगत हितों की ओर केन्द्रित हो जाता है और वे वर्गहित साधन के सिवाय अन्य किसी प्रकार के उद्देश्यों को ध्यान में नहीं रखते।

5. प्रजातन्त्र विरोधी - झेनोफोन तथा जोन बोवले के अनुसार, प्लेटो का न्याय सिद्धान्त अप्रजातान्त्रिक है। इसमें एक वर्ग का राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार है, जो अल्पसंख्यक है, जबकि दूसरे वर्ग को, जो बहुसंख्यक है उससे वंचित रखा गया है।

6. विरोधाभास यह कहा जाता है कि प्लेटो का न्याय सिद्धान्त विभिन्न वर्गों में पारस्परिक अहस्तक्षेप (non-interference) एवं समानता को प्रोत्साहन देने वाला है। राज्य के तीनों अंग एक दूसरे के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करते। किन्तु व्यावहारिक रूप में हम पाते हैं कि प्लेटो के आदर्श राज्य में राज्य के विवेक (Reason) का प्रतिनिधित्व दार्शनिक शासक, बाकी दो वर्गों सैनिक तथा उत्पादक वर्ग- के कामों में हस्तक्षेप ही नहीं, कठोर नियंत्रण भी रखता है।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का महत्व

विभिन्न आलोचनाओं के बावजूद प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों की परिस्थितियों के सन्दर्भ में इसका महत्व नितान्त स्पष्ट है। प्लेटो कालीन यूनानी समाज में बड़ी अव्यवस्था फैली हुई थी और प्रत्येक राज्य धनी तथा निर्धन, दो परस्पर विरोधी वर्गों में बँटे हुए थे। उस समय 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त क्रियात्मक रूप में तो प्रचलित था ही, थेसीमेकस जैसे सोफिस्ट विचारक बुद्धि एवं तर्क की दृष्टि से भी इसे न्यायसंगत ठहरा रहे थे। इनके राज्य और सामाजिक व्यवस्था की कुरीतियों को दूर करने के लिए प्लेटो ने श्रेष्ठ तर्कों के आधार पर न्याय के विचार को प्रतिपादित किया। संक्षेप में, प्लेटो का न्याय स्वधर्म का सिद्धान्त है, सदाचरण का सिद्धान्त है, नैतिकता का सिद्धान्त है, जो कानूनी न्याय की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है।

10.13 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त (Plato's Theory of Education)

यदि रिपब्लिक का मूल उद्देश्य 'न्याय' के सिद्धान्तों की खोज है तो शिक्षा उसकी प्राप्ति का मुख्य स्रोत एवं माध्यम है। जैसा कि स्वयं प्लेटो ने लिखा है कि "सामाजिक शिक्षा ही सामाजिक न्याय का साधन है।" रूसो के शब्दों में रिपब्लिक "शिक्षा पर सर्वकाल में लिखा गया सर्वश्रेष्ठ गवेषणात्मक ग्रन्थ है।" उसके इस कथन का आधार यह है कि अपने राजनीतिक चिन्तन में प्लेटो ने शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। प्लेटो की मान्यता थी कि किसी भी श्रेष्ठ राजनीतिक जीवन के निर्माण के लिए श्रेष्ठ शिक्षा प्रणाली का होना नितान्त आवश्यक है। आदर्श राज्य के एक आधार के रूप में प्लेटो ने शिक्षा प्रणाली को अंगीकार किया है। शिक्षा का इस दार्शनिक ने कितना महत्व स्वीकार किया है, यह इस तथ्य से भी प्रकट होता है कि 'रिपब्लिक' की लगभग चार पुस्तकों (Books ii, iii, iv and vii) में उसने अपना ध्यान प्रमुख रूप में

एक आदर्श राज्य के लिए उपयुक्त शिक्षा प्रणाली की सुविस्तृत रूपरेखा तैयार करने पर ही केन्द्रित किया है।

सेबाइन के शब्दों में "प्लेटो ने राजनेता के मार्ग से बाधाओं को हटाने के लिए साम्यवाद को चाहे कितना भी महत्व क्यों न दिया हो, लेकिन उसका मुख्य जोर साम्यवाद पर नहीं, बल्कि शिक्षा पर है। शिक्षा ही वह भावात्मक साधन (positive means) है जिसके द्वारा शासन समरसतापूर्ण राज्य की स्थापना करने के लिए मानव प्रकृति को सही दिशा में मोड़ सकता है।"

शिक्षा का महत्व

प्लेटों के राजनीतिक दर्शन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी मान्यता है कि राज्य प्रथम और सर्वोत्तम शिक्षण संस्थान है। श्रेष्ठ शिक्षा प्रणाली द्वारा कोई भी सुधार सम्भव हो सकता है। यदि राज्य शिक्षा की उपेक्षा करता है तो उसका महत्व नगण्य हो जाता है, चाहे वह अन्य कितने भी कार्य क्यों न करे। इसलिए डनिंग ने कहा है कि प्लेटो के राज्य का प्रमुख कार्य शैक्षणिक (Pedagogic) है। प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का महत्व निम्नलिखित बातों से स्पष्ट है:

1. शिक्षा का सिद्धान्त न्याय सिद्धान्त का तार्किक परिणाम प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य को न्याय सिद्धान्त पर आधारित किया है। न्याय सिद्धान्त के अनुसार राज्य के प्रत्येक नागरिक को उसकी क्षमता एवं प्रशिक्षण के आधार पर निर्धारित हुए कार्यक्षेत्र में काम करते हुए श्रेष्ठता की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर निरन्तर गतिशील रहना चाहिए। "एक सामान्य शिक्षा प्रणाली ही एक विशिष्ट कार्य के लिए वह प्रशिक्षण देगी, तथा उस कार्य के निस्वार्थ भाव से सम्पादन करने के लिए वह प्रेरणा देगी, जो कि न्याय की आवश्यकता है।" प्लेटो के शब्दों में, "वास्तव में एक श्रेष्ठ शिक्षा हो (न्याय सिद्धान्त की) सर्वश्रेष्ठ अभिरक्षण होगी।"

2. नागरिकों को सदगुणी बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त उसकी मूलभूत मान्यता 'सदगुण ही ज्ञान है' (Virtue is

Knowledge) पर आधारित है। यदि सद्‌गुण ही ज्ञान है तो इसे शिक्षा द्‌वारा ग्रहण किया जा सकता है और इसलिए नागरिकों को सद्‌गुणी बनाने के लिए श्रेष्ठ शिक्षा का प्रबन्ध करना अपरिहार्य है।

3. शिक्षा द्‌वारा प्राकृतिक क्षमता का विकास सामान्यतया दो तत्वों (1) प्रकृति (Nature) तथा (2) परिपोषण (Nurture) की, व्यक्ति के चरित्र निर्माण हेतु समान रूप से अनिवार्यता स्वीकार की जाती है। शिक्षा वह 'परिपोषण' है, जिसके श्रेष्ठ तथा निष्कृट होने पर मानव की प्राकृतिक क्षमता का समुचित विकास अथवा ह्रास होता है ।

4. शिक्षा द्‌वारा आत्म चक्षु को प्रकाशोन्मुख करना - प्लेटो के अनुसार शिक्षा का ध्येय आत्म-श्रेष्ठ गुणों को बाहर लाकर उन्हें सही दिशा में गतिमान करना है। शिक्षा एक वातावरण तैयार करती है जो आत्मा को अपने विकास के प्रत्येक स्तर पर सहायता करती है। शिक्षा के द्‌वारा आत्मा पल्लवित, पुष्पित और सुरभित होती है ।

5. शिक्षा का सामाजिक पहलू - प्लेटो की शिक्षा योजना का एक सामाजिक पहलू भी है । एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में शिक्षा व्यक्ति को समष्टि के साथ अपना समन्वय बैठाने में सहायता देती है । यह व्यक्ति में वह सत्यवादिता उत्पन्न करती है जो उसमें आज्ञाकारिता तथा आत्मसंयम आदि समष्टि-हितकारी गुणों का विकास करती है । उसे छल, प्रपंच, पाखण्ड आदि से बचाकर समुचित समाजीकरण करने के लिए शिक्षा के अतिरिक्त दूसरा सफल साधन और कोई प्रतीत नहीं होता । शिक्षा के कारण समाज की विभिन्न इकाइयाँ सामाजिक चेतना के साथ एकरूपता स्थापित कर, सामाजिक हित की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। प्लेटो ने इसे व्यक्ति के मानसिक रोगों का नैतिक उपचार भी माना है। प्रो. बार्कर के शब्दों में, "शिक्षा सामाजिक सदाचरण का मार्ग है, सामाजिक सफलता का नहीं । सत्य तक पहुँचने का मार्ग भी है।"

6. शिक्षा का राजनीतिक पहलू दार्शनिक शासन का निर्माण प्लेटो के अनुसार शिक्षा विषयक कार्य राज्य के कार्यों में प्रमुख तथा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। शिक्षा का महत्व इस बात में है कि यह नागरिकों को उनके राज्य के नैतिक

जीवन में भाग लेने योग्य बनाती है। आदर्श राज्य में जो सर्वोच्च स्थान प्लेटो ने दार्शनिक शासक को प्रदान किया है एवं संरक्षक वर्ग को उत्पादक वर्ग की तुलना में जो महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है, उसका आधार शिक्षा ही है। प्लेटो का दार्शनिक शासक सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ स्थान पर इसलिए प्रतिष्ठित है कि उसकी शासन करने की प्राकृतिक क्षमता का शिक्षा के द्वारा समुचित रूप से विकास हो चुका है। शिक्षा के माध्यम से उसने 'सम्पूर्ण आदर्श अच्छाई' (Absolutely Ideal Good) का साक्षात्कार किया है। बार्कर के शब्दों में, " दार्शनिक शासक का शासन वास्तव में उसकी शिक्षा योजना का निर्गम एवं परिणाम है।"

7. शिक्षा का दार्शनिक दृष्टि से महत्व - व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व के अतिरिक्त शिक्षा का एक दार्शनिक महत्व भी है। यह अपने आप में एक अच्छाई है। इसका अन्तिम लक्ष्य उस सत्य की खोज करना है, जो काल तथा स्थान की पहुँच से बहुत दूर है, जो सृष्टि की सभी वस्तुओं का मूल कारण है, जो अपनी विभूति से सदा दैदीप्यमान होता है एवं जिसकी ज्योति से प्रकाशित होता रहता है।

शिक्षा की पृष्ठभूमि : एथेन्स और स्पार्टा की शिक्षा पद्धतियाँ

प्लेटो के समय दो प्रकार की शिक्षा पद्धतियाँ प्रचलित थीं : पहली पद्धति एथेन्स की थी तथा दूसरी स्पार्टा की । इन दोनों प्रणालियों में अत्यन्त गम्भीर अन्तर था । साथ ही दोनों में अपनी-अपनी विशेषताएँ एवं कमियाँ भी थीं। अपने आदर्श राज्य के लिए शिक्षा-प्रणाली की रूपरेखा तैयार करते समय प्लेटो ने एथेन्स तथा स्पार्टा की शिक्षा प्रणालियों के गुणों को अंगीकार किया है। एथेन्स के पाठ्यक्रम का उसने स्पार्टा के शिक्षण-संगठन के साथ समन्वय बैठाकर चलने का प्रयत्न किया है। एथेन्स से उसने शिक्षा का वह व्यक्तिगत पहलू अपनाया है, जो व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास को सम्भव बनाता है और स्पार्टा से उसने ग्रहण किया है शिक्षण का सामाजिक पहलू । उसकी मान्यता थी कि शिक्षा व्यक्तिगत आधार पर न दी जाकर राज्य के नियन्त्रण में ही दी जानी चाहिये। ऐसा होने पर ही व्यक्ति को समाज तथा राज्य में, उसके लिए उचित स्थान पर अवस्थित किया जा सकता है। साथ ही वह यह भी मानता था

कि स्पार्टा की भाँति शिक्षा एकांगी भी नहीं होनी चाहिए। प्रो. बार्कर के अनुसार, "एथेन्स से प्लेटो की शिक्षा योजना का व्यक्तिगत पहलू आता है– यह मानव का सम्पूर्ण विकास होना चाहिये । स्पार्टा से उसका सामाजिक पहलू– नागरिक को राज्य में उसके लिए उचित स्थान पर प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से शिक्षा राज्य द्वारा नियन्त्रित होनी चाहिये ।"

यदि तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाये तो यह प्रतीत होता है कि, एथेन्स तथा स्पार्टा की शिक्षा प्रणालियों में वह स्पार्टा की शिक्षा प्रणाली से अधिक प्रभावित हुआ था । यद्यपि यह शिक्षा - प्रणाली अपूर्ण थी, तथापि इसके माध्यम से, राज्य के नियन्त्रण में प्रशिक्षण द्वारा, सामाजिक भावना से परिपूर्ण स्त्री-पुरुष का निर्माण सम्भव हो सकता था ।

प्लेटो की शिक्षा योजना की रूपरेखा

अपने आदर्श राज्य के लिए प्लेटो ने जिस शिक्षा योजना को अपनाया है, उसकी प्रमुख विशेषता राज्य - नियन्त्रण है । शिक्षा के राजकीय नियन्त्रण के साथ-साथ उसने यह भी व्यवस्था की है कि संरक्षक वर्ग के स्त्री तथा पुरुष इस शिक्षा योजना से समान लाभ उठा सकें । अपनी शिक्षा योजना को प्लेटो ने दो स्तरों-

(1) प्रारम्भिक शिक्षा, तथा (2) उच्च शिक्षा में विभक्त किया है। शिक्षा का इन दो स्तरों में वर्गीकरण विद्यार्थियों की उम्र तथा उनके वर्गों को ध्यान में रखकर किया गया है ।

(1) प्रारम्भिक शिक्षा (Primary Education) - प्रारम्भिक शिक्षा 6 से 20 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए है। इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य नागरिकों में सामाजिकता का विकास करना है । यह मुख्य रूप से भावनाओं (Emotions) द्वारा चरित्र निर्माण की शिक्षा है । इस शिक्षा के माध्यम से नागरिकों में शौर्य (Spirit) के गुणका विकास करना है जो देश की आवश्यकताओं के तथा सैनिकों के कार्य के अनुरूप हों। इसका उद्देश्य ऐसे नागरिकों का वर्ग तैयार करना है जो सैनिक कार्यों के दायित्व को भली-भाँति पूर्ण कर सके। प्रो. नेटिलशिप के विचार से इस

प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य आत्मा को 'अच्छाई' के अनेक काल्पनिक प्रकारों से, जिन्हें कि वह आगे चलकर तार्किक रूपों में जान लेगी, परिचित कराना होना चाहिये ।" प्रो.बार्कर के अनुसार, "यह प्रमुख रूप से सामाजिक प्रशिक्षण है । इसका उद्देश्य नागरिकों के एक वर्ग को सैनिक कार्यों के समुचित सम्पादन के लिए तैयार करना है।"

अपनी प्राथमिक शिक्षा के द्वारा प्लेटो शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से सबल सैनिक वर्ग के नागरिकों का निर्माण करना चाहता था। अतः प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में उसने व्यायाम (Gymnastic) तथा संगीत (Music) को सम्मिलित किया है। प्लेटो के शब्दों में, "शरीर के लिए व्यायाम तथा आत्मा के लिए संगीत है ।"

यहाँ यह जान लेना उचित होगा कि प्लेटो ने विशेष अर्थों में ही व्यायाम और संगीत का प्रयोग किया है। उसके व्यायाम शब्द में शरीर सम्बन्धी समस्त शिक्षा का समावेश हो जाता है। बार्कर के शब्दों में, "व्यायाम से तात्पर्य शरीर की सामान्य देखरेख से है" (It means the general care of the body) । व्यायाम का अर्थ केवल शारीरिक कसरत ही नहीं, अपितु शरीर को स्वस्थ बनाये रखने वाले आहारशास्त्र और चिकित्साशास्त्र का भी ज्ञान है । व्यक्ति के शारीरिक विकास के लिए उसने सादे भोजन को महत्वपूर्ण माना है । खुराक तथा कसरत के अतिरिक्त वह यह भी आवश्यक समझता था कि शरीर निरोगी रहे, ताकि नागरिकों को डॉक्टरों की शरण में न जाना पड़े । वह अपने आदर्श राज्य में डॉक्टरों को कोई विशेष महत्व नहीं देता है क्योंकि वे बीमारी का इलाज करने के स्थान पर उसे बढ़ाते हैं । चिकित्सा का होना मनुष्य के निरोग रहने की क्षमता का अभाव था। उसके शब्दों में "हमारी वर्तमान चिकित्सा - प्रणाली बीमारियों का शिक्षण देती है।"

शारीरिक शिक्षण के साथ मानसिक विकास के लिए 'संगीत' को रखा गया है। प्लेटो की दृष्टि में 'संगीत' शब्द का भी विस्तृत क्षेत्र था। संगीत का अर्थ कोरी गान विद्या नहीं किन्तु, यह काव्य, साहित्य, गीत, नृत्य, मूर्ति, चित्र आदि सभी ललित कलाओं का प्रतीक है। बार्कर के शब्दों में, "यह मन के सामान्य प्रशिक्षण का मार्ग है । (It is the way of the general training of mind)

काव्य, गायन तथा नृत्य इसमें शामिल थे। " संगीत के एक अंग के रूप में प्लेटो ने साहित्य को अपनी प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। वह साहित्य के मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से पूर्णरूपेण परिचित था । अत: किस प्रकार के साहित्य की शिक्षा दी जानी चाहिये, इस प्रश्न पर उसने गम्भीर रूप से विचार किया है। उसके विचार से सत् साहित्य को ही पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाना चाहिये। ऐसा काव्य जो देवताओं तथा ईश्वर के श्रेष्ठ चरित्र तथा महानता का चित्रण करता हो, पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाना चाहिये । धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का भी प्लेटो ने साहित्य के अन्तर्गत ही समावेश किया है । संगीत का शिक्षण वह नागरिकों के लिए अत्यन्त उपयोगी मानता था । संगीत एवं अन्य ललित कलाएँ मनुष्य के मन को सुशिक्षित बनाती हैं, उसमें उत्साह (Spirit) तथा विवेक (Reason) की प्रसुप्त शक्ति का विकास करती हैं । पाठ्यक्रम में संगीत को सम्मिलित करते समय भी प्लेटो ने इस बात पर विचार किया है कि संगीत की कौन-कौनसी रागिनियाँ एवं पद्धतियाँ अपनायी जायें। वह मानता था कि संगीत में इतनी महान शक्ति है कि उसकी रागिनियों का परिवर्तन राज्य के विधान में परिवर्तन कर सकता है (When modes of music है change, the fundamental laws of the state change----------) प्लेटो जिस प्रकार शारीरिक शिक्षण द्वारा अपने राज्य से डॉक्टरों को निर्वासित करना चाहता है, उसी प्रकार संगीत की शिक्षा द्वारा वकीलों और न्यायालयों के बहिष्कार का पक्षपाती है। यदि संगीत और गानों की शिक्षा द्वारा सभी नागरिकों के मन में राज्य की व्यवस्थाएँ अंकित कर दी जाएँ तो वे स्वयमेव इनका पालन करेंगे, कानून बनाने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। डेनियल ओ, कोनेल (Danial O' Connell) ने कहा था, “मुझे राष्ट्र के गीत लिखने दो। मैं इस बात की परवाह नहीं करता कि कौन कानून बनाता है।” प्लेटो का इसी प्रकार यह मत था कि “मुझे एक देश के लिए उचित प्रकार के गीत लिखने दो, किसी व्यक्ति को उस देश के कानून बनाने की आवश्यकता नहीं होगी।”

प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी प्लेटो के विचारों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसने प्राथमिक शिक्षा के दोनों अंग- व्यायाम तथा संगीत पर अपने विचार

व्यक्त करते समय सादगी (Simplicity) को मुख्य रूप से ध्यान में रखा है। एथेन्स के नगर-राज्य में नागरिकों के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जिन जटिलताओं तथा कृत्रिमताओं का समावेश तेजी के साथ होता चला जा रहा था, उनसे प्लेटो आशंकित था । वह चाहता था कि एथेन्सवासी अपनी कृत्रिमता से छुटकारा पाकर वास्तविकता को अपनावें । प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी एक स्मरणीय बात यह भी है कि इस शिक्षा के दोनों अंगों का उद्देश्य, अन्तिम रूप से प्लेटो ने मानव मन के विकास को ही माना है। व्यायाम तथा संगीत का ध्येय चरित्र - निर्माण ही था । संगीत प्रत्यक्ष रूप से मन का प्रशिक्षण कर सकता है और व्यायाम अप्रत्यक्ष रूप से। प्रो. बार्कर के मतानुसार, "व्यायाम मन के लिए शरीर का प्रशिक्षण है।" (Gymnastic is a training of the body for the sake of the mind) । व्यायाम तथा संगीत के समुचित सन्तुलन को ही प्लेटो श्रेष्ठ मानता था- वह मानता था कि केवल व्यायामिक होने से व्यक्ति असभ्य तथा जंगली हो जाता है और केवल संगीतज्ञ होने से व्यक्ति में अनुचित मात्रा में मधुरता तथा कोमलता बढ़ जाती है। ये दोनों स्थितियाँ त्याज्य हैं।"

प्रारम्भिक शिक्षा के बाद दो वर्ष का सैनिक प्रशिक्षण (Military Training for two years after the Elementary Education) - प्लेटो द्वारा प्रतिपादित प्रारम्भिक शिक्षा के अन्तर्गत व्यायाम और संगीत का प्रशिक्षण 18 वर्ष की आयु तक दिया जायेगा। इसके उपरान्त 18 वर्ष से 20 वर्ष की आयु तक दो वर्षों की अवधि में सैनिक शिक्षा का पाठ्यक्रम लागू किया जायेगा । उसके समाप्त होने पर जो व्यक्ति की अवधि में सबसे अधिक योग्यता का परिचय देगा उन्हें उच्चस्तरीय शिक्षा के लिए चुन लिया जायेगा और शेष को सैनिक वर्ग में सम्मिलित करके उनके अनुरूप काम-काज में लगा दिया जायेगा 1

(2) उच्च शिक्षा (Higher Education)- प्रो. सेबाइन के अनुसार, "उच्च स्तरीय शिक्षा योजना निःसन्देह रिपब्लिक का अत्यन्त मौलिक तथा अत्यन्त विशिष्ट प्रस्ताव है।" प्लेटो द्वारा प्रस्तुत उच्च शिक्षा राज्य का शासक या संरक्षक (Guardians) बनने वालों के लिए है। वस्तुतः संरक्षक वर्ग में से केवल उन्हीं लोगों के लिए यह शिक्षा थी जो दार्शनिक शासक के स्थान को ग्रहण करने के

यो करने के योग्य हों। इसका प्रमुख उद्देश्य दार्शनिक राजा (शासक) का प्रशिक्षण करना था ।

प्लेटो की उच्च शिक्षा में दो स्तर हैं- 20 से 30 वर्ष तक शिक्षण और 30 से 35 वर्ष तक का से 30 वर्ष तक शिक्षण और 30 से 35 वर्ष तक का शिक्षण |

उच्च शिक्षा के प्रथम स्तर पर प्लेटो विज्ञान और तर्क के अध्ययन पर बल देता है। विज्ञान तथा तर्क के आधार पर सत्यान्वेषण करना ही उच्चस्तरीय शिक्षा का लक्ष्य है। जिन सत्यों को व्यक्ति ने प्राथमिक शिक्षाकाल में भावात्मक तथा कलात्मक रूप में कला के माध्यम से प्राप्त किया है, उन्हीं का सान्निध्य अब उसे तर्क तथा विज्ञान के द्वारा प्राप्त करना था । विज्ञान के पाठ्य विषयों में गणित को विशेष महत्व दिया गया है। प्लेटो अंकगणित का दार्शनिक महत्व मानता था। साथ ही उसने अंकगणित का व्यावहारिक महत्व भी स्वीकार किया है। उसके शब्दों में, "सेनापति के लिए संख्या ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा उसे अपनी सैनिक टुकड़ियों को व्यवस्थित करना नहीं आयेगा ।" अंकगणित के साथ-साथ रेखागणित का अध्ययन भी उसने इस विषय के व्यावहारिक तथा दार्शनिक महत्व के कारण आवश्यक माना है। इसी प्रकार विज्ञान के अन्य विषय ज्योतिष (Astronomy) तथा संगीत का शास्त्रीय ज्ञान (Harmonics– समस्वरता शास्त्र) हैं जिन्हें उसने अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। ज्योतिष में केवल ग्रह नक्षत्रों की गतियों के स्थूल ज्ञान पर ही नहीं, अपितु इन गतियों को उत्पन्न करने वाले कारणों के अध्ययन पर बल भी दिया जाता था ।30 वर्ष की आयु में उच्च शिक्षा पाने वाले संरक्षकों (Guardians) में पुन: अन्य चुनाव एवं परीक्षा होती है । इसमें योग्य समझे जाने वाले व्यक्ति ही राज्य के पूर्ण संरक्षक (दार्शनिक शासक) बनेंगे। इसके लिए पाँच वर्ष तक अर्थात् 30 वर्ष से 35 वर्ष की आयु तक प्लेटो ने उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था की है । यह शिक्षा मुख्यतः द्वन्द्वात्मकता (Dialectic) की शिक्षा होगी जिसमें दर्शनशास्त्र के अध्ययन पर विशेष जोर दिया गया है।

35 वर्ष की आयु तक शिक्षा देने के बाद भी प्लेटो संरक्षकों के शिक्षण को अपूर्ण मानता है । अभी तक उन्हें कोरी बौद्धिक शिक्षा मिली है, उन्हें संसार का क्रियात्मक अनुभव नहीं है । अत: प्लेटो के अनुसार हर प्रकार से श्रेष्ठ सिद्ध हों वे

आगे के पन्द्रह वर्ष तक (अर्थात् 50 वर्ष की उम्र तक) संसार की पाठशाला में तूफानी थपेड़े और धक्के खाकर व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करें। इस प्रकार जो व्यक्ति 50 वर्ष की उम्र तक हर अग्नि परीक्षा में खरे उतरेंगे वे ही दार्शनिक राजा बनेंगे और राज्य का शासन भार संभालेंगे ।

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की विशेषताएँ

1. राज्य द्वारा नियन्त्रित तथा अनिवार्य शिक्षा - प्लेटो राज्य द्वारा नियन्त्रित अनिवार्य शिक्षा पर बल देता है। उसके अनुसार राजकीय नियन्त्रण के अभाव में शिक्षा सामाजिक हितों की नहीं, बल्कि वैयक्तिक हितों की पूर्ति करेगी। सेबाइन के अनुसार "प्लेटो ने रिपब्लिक में राज्य नियन्त्रित अनिवार्य शिक्षा की योजना प्रस्तुत की है। उसकी यह योजना एथेन्स की शिक्षा प्रणाली से बहुत आगे बढ़ कर थी ।

प्लेटो ने शिक्षा को अनिवार्य बताया है। उसके अनुसार शिक्षा कोई ऐसी चीज नहीं जिसे परिवार अथवा माँ-बाप की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाये। राज्य की ओर से शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था की जायेगी ।

2. व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास- प्लेटो की शिक्षा पद्धति का उद्देश्य व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अर्थात् सर्वांगीण विकास करना है ।

3. स्त्री- - पुरुष के लिए समान शिक्षा - प्लेटो की शिक्षा स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान रूप से उपलब्ध है। प्लेटो दोनों की योग्यता और क्षमता में कोई भेद नहीं करता। वह दोनों के समान प्रशिक्षण पर बल देता है और दोनों को ही राज्य के कार्यों के लिए तत्पर करना चाहता है। प्लेटो के राज्य में स्त्रियों के लिए राजपद के द्वार उसी प्रकार खुले हैं जिस प्रकार ये पुरुष के लिए खुले हैं। प्लेटो की शिक्षा प्रणाली का यह तत्व ग्रीक पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं सुधार था ।

4. शिक्षा प्रणाली के दो भाग- प्लेटो की शिक्षा प्रणाली के दो भाग हैं- प्राथमिक एवं उच्चतर । प्राथमिक शिक्षा 20 वर्ष तक के युवकों को मिलती है और इसकी पराकाष्ठा सैनिक सेवा के प्रारम्भ में है। उच्चतर शिक्षा उन चुने हुए स्त्री पुरुषों

को मिलती है जो संरक्षक वर्ग के सदस्य होते हैं। इस शिक्षा का काल 20 से 35 वर्ष तक का है।

5. शरीर और मन का विकास- प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना के द्वारा शरीर और मन दोनों के विकास पर उचित ध्यान दिया है। शरीर के विकास के लिए व्यायाम और मन के विकास के लिए संगीत की शिक्षा को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया है ।

6. दार्शनिक राजाओं का निर्माण - प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का उद्देश्य दार्शनिक राजाओं का निर्माण करना है। राज्य का सबसे प्रमुख और सर्वोत्तम तत्व विवेक है जिसका प्रतिनिधित्व दार्शनिक शासक ही करेंगे। अत: प्लेटो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसे वर्ग का निर्माण करना होना चाहिए जो दर्शन की ओर सबसे अधिक उन्मुख हो और राज्य के कर्णधार के रूप में शासन व सेवा कार्य सम्पन्न करें ।

7. पाठ्यक्रम का आधार निश्चित आयु व वर्ग- प्लेटो ने शिक्षा का के आधार पर निर्धारित किया है

8. पाठ्यक्रम में नैतिक मानदण्डों को उचित स्थान- प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना के अन्तर्गत धर्म और नैतिकता को उचित स्थान प्रदान किया है। वह नैतिकता की दृष्टि से कुरुचिपूर्ण साहित्य और कलाकृतियों को सहन करने के लिए तैयार नहीं है

9. शिक्षा एक दीर्घकालीन अनवरत प्रक्रिया - प्लेटो ने शिक्षा को जीवन का अल्पकालीन कार्य न मानकर उसे आजीवन चलने वाली प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है।

10.15 प्लेटो की शिक्षा योजना की आलोचना

प्लेटो की शिक्षा योजना की अनेक गम्भीर आलोचनाएँ हैं, जो इस इस प्रकार हैं:

(1) अप्रजातान्त्रिक तथा एकांगी- प्लेटो की शिक्षा योजना को अप्रजातान्त्रिक तथा एकांगी शिक्षा योजना की संज्ञा दी गई है। इसका राज्य के समस्त नागरिकों से कोई सम्बन्ध नहीं है। राज्य के अत्यन्त ही छोटे जनसमुदाय को

प्लेटो ने इस बात का सौभाग्य दिया है कि वे ज्ञान के प्रकाश से अपनी आत्मा को आलोकित कर सकें तथा नागरिकता एवं सामाजिकता का समुचित रूप से प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें। राज्य का अत्यन्त विशाल जनसमुदाय (उत्पादक वर्ग) शिक्षा के लाभ से पूर्णरूपेण वंचित कर दिया गया है। प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था सिर्फ अभिजात वर्ग के लिए ही है ।

(2) साहित्य की उपेक्षा- इस शिक्षा योजना में साहित्य को बहुत कम और गणित को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया है जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। साहित्य जीवन का दर्पण है और मानव की कोमल भावनाओं को विकसित कर उसके दृष्टिकोण को व्यापक करता है ।

(3) कला और साहित्य पर अनुचित नियन्त्रण- स्वाधीनता, कला और साहित्य के विकास की म आवश्यकता है, राज्य के कठोर नियन्त्रण में इनका विकास सम्भव नहीं है।

(4) शिक्षाक्रम लम्बा और खर्चीला - प्लेटो की शिक्षा एक निश्चित आयु तक सीमित नहीं रहती, वह तो जीवन पर्यन्त चलती रहती है । दार्शनिक शासक को 35 वर्ष तक केवल शिक्षा ही प्राप्त करते रहना चाहिए। प्लेटो यह भूल जाता है कि एक विशेष अवस्था के पश्चात कोरा किताबी कोरा किताबी ज्ञान मानव मस्तिष्क को संतुष्ट रखने में असमर्थ हो जाता है।

(5) वैयक्तिक विकास का बलिदान- प्लेटो की शिक्षा योजना राज्य की प्रकृति तथा आवश्यकताओं पर इतनी अधिक केन्द्रित है कि वैयक्तिक विकास का राज्य के हितों के सम्मुख बलिदान हो गया है ।

(6) विरोधाभास - प्लेटो की शिक्षा प्रणाली एक ओर तो आदर्श राज्य का आधार है और दूसरी ओर शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण है। एक ओर यदि आदर्श राज्य की स्थापना के लिए पहली शर्त उचित शिक्षा है तो दूसरी ओर उचित शिक्षा की व्यवस्था आदर्श राज्य की स्थापना के पश्चात् ही प्रारम्भ होती है|

(7) शिक्षा योजना में अधिनायक तन्त्र के बीज- प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में अधिनायकतन्त्र के बीज निहित हैं । फासीवादी, नाजीवादी और साम्यवादी शासन की भाँति प्लेटो का राज्य भी शिक्षा पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है; कला

और साहित्य पर कठोर प्रतिबन्ध लगाता है, शासन के अनुरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व को ढालता है एवं व्यक्ति को अपनी प्रतिभा को स्वतन्त्र रूप से मुखरित करने से वंचित करता है ।

10.16 प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का महत्व

आलोचनाओं के बावजूद भी प्लेटो की शिक्षा योजना का अपना महत्व है–

(1) इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि यह उचित आयु में उचित शिक्षा की व्यवस्था करती है प्लेटो ने शिक्षा का पाठ्यक्रम, बालकों, किशोरों, युवकों तथा प्रौढ़ों के लिए पृथक्-पृथक् बनाया है

(2) प्लेटो की शिक्षा का पाठ्यक्रम कुछ विषयों तक ही सीमित न होकर मानव जीवन के सम्पूर्ण अनुभव तक विस्तृत है और शिक्षा का काल भी इस तरह जीवन पर्यन्त व्यापक है

(3) इस शिक्षा योजना में एक वर्ग को वही शिक्षा दी जाती है जो उसके लिए आवश्यक है, उदाहरणार्थ, वह सैनिक वर्ग के लिए दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं समझता ।

(4)प्लेटो की शिक्षा योजना में व्यायाम और संगीत का सन्तुलन है

(5) प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में स्त्री एवं पुरुष में किसी प्रकार का भेद नहीं रखा है। उस युग में एथेन्स में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र केवल घर तक ही सीमित था, ऐसी स्थिति में प्लेटो द्वारा स्त्रियों को शिक्षा देने की योजना बनाना और उन्हें पुरुषों के समकक्ष मानना निश्चय ही एक क्रान्तिकारी कदम था।

(6) प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का समान विकास करना है।

(7) वह दर्शनशास्त्र तथा विशेष शिक्षा द्वारा आदर्श शासकों का निर्माण करना चाहता है क्योंकि उसकी धारणा है कि “जब तक दार्शनिक राजा नहीं होंगे और राजा दार्शनिक नहीं होंगे तब तक राज्य से बुराइयाँ समाप्त नहीं होंगी।" वास्तव में इस बात से कोई असहमति नहीं हो सकती कि शासकों के लिए ऐसी विशेष

योग्यता और शिक्षा की आवश्यकता है जिससे वे सद्गुणी एवं योग्य शासक बन सकें ।

संक्षेप में, प्लेटो ने हमें शिक्षा का एक विकसित सिद्धान्त प्रदान किया है। उसकी शिक्षा सीमित नहीं, निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, सिर्फ मानसिक नहीं, शारीरिक भी है, संकीर्ण नहीं, पर सर्वांगीण है ।

10.17 प्लेटो का साम्यवाद का सिद्धान्त(Plato's Theory of Communism)

वस्तुतः प्लेटो के साम्यवादी विचार तात्कालिक यूनानी नगर राज्यों की परिस्थितियों की उपज थे । प्लेटो के काल में सम्पत्तिशाली वर्ग के हित में शासन संचालित होता था, शोषण प्रथा प्रचलित थी एवं आर्थिक तत्व राजनीतिक वातावरण को प्रभावित करते रहते थे। इसी कारण नगर राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता पायी जाती थी। उस युग में स्त्रियों की दशा भी अत्यन्त दयनीय थी। सामाजिक जीवन में उनकी स्थिति गौण थी । बाल्यावस्था में ही उन्हें वैवाहिक बन्धन में बाँध दिया जाता था। उनका कर्त्तव्य अपने पति की कामवासना की तृप्ति, सन्तान की उत्पत्ति तथा उनके पालन-पोषण करने तक ही सीमित था। बार्कर के अनुसार, "ऐथेन्स में पायी जाने वाली मातृ दासता, एकांगिता तथा नारी की महत्वहीनता के प्रति प्लेटो के हृदय में आक्रोश का भाव विद्यमान था । ऐथेन्स का राजनीतिक जीवन पुरुष प्रधान राजनीतिक जीवन था, वहाँ के समाज में अर्धभाग (स्त्रियों) को गृहों की दीवारों के पीछे पशुवत जीवन बिताना पड़ता था । मातृ जाति की इस प्रकार की दयनीय दशा उसके लिए असहाय थी।" अतएव प्लेटो ने साम्यवादी विचार का प्रतिपादन करके इन समस्त बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया है।

वस्तुतः प्राचीन ग्रीस के कतिपय राज्यों के सामाजिक जीवन में जहाँ प्लेटो ने एक ओर 'स्त्रियों के साम्यवाद' के बीज बटोरे, वहाँ कुछ अन्य राज्यों के सामाजिक जीवन की त्रुटियों से उसने यह प्रेरणा ग्रहण की कि मातृजाति का अपने आदर्श राज्य के लिए उनकी सेवाएँ प्राप्त करें ।

प्लेटो के साम्यवाद का सीमित क्षेत्र

प्लेटो के साम्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके द्वारा साम्यवादी व्यवस्था को अपनाने का सुझाव राज्य की समस्त जनता के लिए नहीं वरन् केवल संरक्षक वर्ग (सैनिक और शासक वर्ग के लिए) के लिए ही दिया गया है और उसके द्वारा इस विशेष स्थिति को अपनाये जाने के कारण यह है कि उसके साम्यवाद का उद्देश्य वर्तमान साम्यवाद की भाँति आर्थिक नहीं, वरन राजनीतिक है । उसका उद्देश्य तो एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है, जिसमें शासक वर्ग अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों का सर्वाधिक श्रेष्ठतापूर्वक सम्पादन कर सके, क्योंकि प्लेटो की सामाजिक व्यवस्था का तीसरा वर्ग उत्पादक वर्ग (Producers) शासन व्यवस्था के संचालन से सम्बन्धित नहीं है अत: उसके द्वारा उत्पादक वर्ग को साम्यवाद की परिधि में सम्मिलित नहीं किया गया है। जहाँ तक संरक्षक वर्ग का सम्बन्ध है, प्लेटो उन्हें राज्य कार्य के योग्य बनाने हेतु उनके लिए व्यापक शिक्षा की व्यवस्था करता है और कालान्तर में शिक्षा का प्रभाव समाप्त होकर दूषित तत्व उनके मानस में प्रवेश न कर लें, इस दृष्टि से वह संरक्षक वर्ग हेतु साम्यवादी व्यवस्था का निर्देश करता है। प्लेटो के अनुसार सैनिक तथा शासकों को राज्य के हित की दृष्टि से वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार नहीं रखना चाहिए। यदि वे इन्हें रखेंगे तो मोह में फँस जायेंगे । धनलोलुपता, स्वार्थपरता और पारिवारिक कार्यों में आसक्ति उनके निष्पक्ष भाव से शासन के कर्तव्य पालन में बाधक होगी। अत: प्लेटो शासकों को संतान एवं सम्पत्ति से दूर रखना चाहता है सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा का एक अंग है। प्लेटो की धारणा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति को लालची, ईर्ष्यालु, प्रतिद्वन्द्वी और हीन बनाती है और राज्य की एकता और न्याय को संकट में डाल देती है । अत: प्लेटो अपने आदर्श राज्य के दार्शनिक शासकों और सैनिकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति से वंचित रखता है । वह धन या सम्पत्ति को अनैतिक बतलाते हुए कहता है कि एक ही व्यक्ति के हाथ में सम्पत्ति और शासन की शक्ति रहने से वह पथभ्रष्ट होकर भीषण परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है । अतः सम्पत्ति को शासन से अलग रखना ही श्रेयस्कर है। शासक

तथा सैनिक वर्ग निजी सम्पत्ति के अधिकारी नहीं बन सकते। प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था में संरक्षक वर्ग के पास किसी प्रकार की कोई सम्पत्ति नहीं होगी । उनकी सेवाओं के पुरस्कारस्वरूप उत्पादक वर्ग उन्हें प्रतिवर्ष वस्तुओं के रूप में निश्चित वेतन देगा। इन वस्तुओं का उपयोग एवं स्वामित्व भी व्यक्तिगत आधार पर नहीं होगा, सामूहिक रूप से ही वे इनका उपयोग कर सकेंगे। वे धर्मशाला में रहेंगे। सामूहिक भोजनालय में भोजन करेंगे ।

राज्य के तीसरे वर्ग - उत्पादक वर्ग (Producing Class) को प्लेटो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया है । सम्पत्ति पैदा करने एवं संचय करने का अधिकार केवल इसी वर्ग को दिया है। इस वर्ग को यह अधिकार स्वच्छन्द रूप से प्रदान नहीं करता। यह वर्ग सम्पत्ति का उत्पादन राज्य के कठोर नियन्त्रण में ही करेगा। राज्य व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धों पर कठोर नियन्त्रण रखेगा। राज्य इस बात को भी ध्यान में रखेगा

प्लेटो के अनुसार राज्य को यह भी देखना है कि सम्पत्ति उचित साधनों से अर्जित की गई है अथवा नहीं। ऊँचे ब्याज पर अथवा अधिक मुनाफा रखकर किया गया सम्पत्ति का संचय उसने अनुचित माना है । कृषि के विषय में प्लेटो का यह विचार था कि उत्पादन व्यक्तिगत आधार पर किया जाये और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो । भूमि प्रकृति की देन है, अतः सभी कृषकों में इसका समान रूप से वितरण किया जाना चाहिए। सभी प्रकार की सम्पत्ति के उपयोग के बारे में प्लेटो ने यह विचार व्यक्त किया है कि यह उपयोग किसी भी तरह से समाज के लिए अनिष्टकारी सिद्ध नहीं होना चाहिए । प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की विशेषताएँ

प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

(i) यह साम्यवाद सभी नागरिकों के लिए नहीं, वरन् केवल शासक और सैनिक वर्ग के लिए

(ii) इसका उद्देश्य राजनीतिक है, आर्थिक नहीं है । आधुनिक साम्यवाद की तरह इसका उ आर्थिक विषमता दूर करना नहीं वरन् राजनीति और शासन व्यवस्था को दोषमुक्त करना है।

(iii) प्लेटो का साम्यवाद भोग नहीं वरन् त्याग मार्ग है। यह समाज के छोड़कर जनकल्याण में रत रहने के लिए प्रेरित करता है ।

सम्पत्ति विषयक साम्यवाद के पक्ष में तर्क

सम्पत्ति विषयक साम्यवाद के पक्ष में प्लेटो ने दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, व्यावहारिक, एवं राजनीतिक आधार प्रस्तुत किये हैं ।

दार्शनिक आधार कार्यों के विशिष्टीकरण से संबंधित है। संतान के प्रति मोह स्वार्थ को जन्म देता है जो कि राज्य के प्रशासन को दूषित कर देता है। अतः संरक्षक वर्ग को धन से दूर रखना चाहिये । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संरक्षकों को अपने विवेक एवं शौर्य को जनहित में स्वच्छ एवं पवित्र बनाये रखने हेतु धन से दूर रहना चाहिए ।

नैतिक आधार के रूप में प्लेटो संरक्षकों को इस भावना से प्रेरित करता है कि वे यह समझें कि वे समष्टि का ही एक भाग हैं जिसके प्रति उन्हें अपना उत्तरदायित्व निष्ठापूर्वक पूरा करना चाहिये । व्यावहारिक दृष्टि से राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति को एक ही हाथ में केन्द्रित करना प्लेटो उचित नहीं मानता है। ऐसा होने पर राज्य में भ्रष्टाचार फैल सकता है

राजनीतिक दृष्टिकोण से संपत्ति के साम्यवाद का लाभ यह होगा कि राज्य की एकता नष्ट नहीं होगी तथा पदलोलुपता एवं प्रतिस्पर्धा का अभाव रहेगा।

सम्पत्ति के साम्यवाद का मूल्यांकन

प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की निम्न आधारों पर आलोचना की गई है:

(1) अर्द्ध साम्यवाद - प्रो. बार्कर और प्रो. नैटिलशिप का मत है कि प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद अर्द्ध साम्यवाद है क्योंकि यह समाज के सभी वर्गों पर लागू नहीं होता। यह तो समाज के केवल दो वर्गों (शासन व सैनिक वर्ग) पर ही लागू होता है जो संख्या में अत्यधिक अल्पमत में हैं ।

(2) अव्यावहारिक एवं नकारात्मक- प्लेटो का साम्यवाद अव्यावहारिक भी है और नकारात्मक भी । यह राज्य की समस्त जनता के भौतिक कल्याण की बात नहीं करता। उत्पादकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार देकर और

शासकों तथा सैनिकों को उससे वंचित रखकर यह राज्य की एकता को बनाये रखने के स्थान पर विभाजन को बढ़ावा देता है। यह एक राज्य में दो राज्यों को जन्म देता है ।

(3) सम्पत्ति की समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ - सम्पत्ति का साम्यवाद सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली समस्याओं, झगड़ों और जटिलताओं को समुचित रूप से सुलझाने में भी असमर्थ है। जो वर्ग (शासक वर्ग) सम्पत्तिविहीन है, एक तो वह सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को समझ नहीं सकता और दूसरे उसके द्वारा किए गए समाधान अपर्याप्त एवं अनुचित होंगे। नैतिक जीवन बिताने वालों और . सम्पत्ति के सम्बन्ध में अनुभवहीन व्यक्तियों से सम्पत्ति की समस्याओं के समुचित समाधान की आशा करना कोरा आदर्शवाद है।

(4) मानव प्रकृति और स्वभाव के विपरीत युगों-युगों से व्यक्तिगत सम्पत्ति मानव व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और उसके सामाजिक स्तर का प्रतीक रही है। अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति से समाज के एक बहुत बड़े भाग को वंचित करना मानव प्रकृति की उपेक्षा ही नहीं बल्कि व्यक्ति के व्यक्तित्व की प्रगति को अवरुद्ध करना भी है।

10.16 अरस्तू द्वारा प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की आलोचना

प्लेटो के प्रमुख शिष्य अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की निम्न प्रकार से आलोचना की है:

(1) अरस्तू के अनुसार प्लेटो का साम्यवाद 'आध्यात्मिक बुराइयों का भौतिक निदान' है जिसके परिणाम आशानुकूल नहीं हो सकते ।

(2) प्लेटो का साम्यवाद समाज की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान कर देता है।

(3) साम्यवाद जीवन के सामान्य अनुभव के विरुद्ध है।

अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना करते हुए कहा है कि यह आध्यात्मिक बुराइयों का भौतिक निदान है, जो कि संभव नहीं है। प्लेटो

राज्य की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान कर देता है। साम्यवाद जीवन की यथार्थता एवं मनुष्य की मनोवैज्ञानिकता से बहुत दूर है। प्लेटो का साम्यवाद अर्द्ध साम्यवाद है क्योंकि वह उत्पादक वर्ग पर लागू नहीं है। प्लेटो राज्य में एकता के लिये शासकों को संपत्ति से दूर रखता है। पर यह एकता तो शिक्षा से लाई जा सकती है।

(4) यह व्यवस्था समाज में झगड़ों और फूट को बढ़ाने वाली है। वैयक्तिक सम्पत्ति में व्यक्तिगत स्वार्थ का क्षेत्र अलग होने से पारस्परिक कलह का एक मुख्य कारण दूर हो जाता है। किन्तु साम्यवाद में वैयक्तिक क्षेत्र सुनिश्चित न होने के कारण विवाद अधिक होगा। समाज की उन्नति अवरुद्ध हो जायेगी।

(5) प्लेटो का साम्यवाद उत्पादक वर्ग पर लागू नहीं किया गया है जिसकी संख्या समस्त जनसंख्या की आधे से भी अधिक होती है। इस प्रकार यह राज्य की समस्त जनसंख्या के भौतिक कल्याण का ध्यान नहीं रखता और राज्य को दो विषम समुदायों में बाँट देता है जिससे देश की एकता बनाए रखना असम्भव हो जाता है।

(6) मनुष्य में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी निजी सम्पत्ति रखना चाहता है उसमें गर्व और गौरव का अनुभव करता है, उसे बढ़ाने में दिन-रात लगा रहता है। किसी वस्तु को अपना समझने में मनुष्य को अवर्णनीय आनन्द होता है। साम्यवाद में यह लाभ नहीं मिल सकता है।

(7) इससे परोपकार और उदारता की श्रेष्ठ मानवीय सम्भावनाएँ नष्ट हो जायेंगी क्योंकि व्यक्ति परोपकार सम्बन्धी कार्य वैयक्तिक सम्पत्ति के आधार पर ही कर सकता है।

(8) प्लेटो राज्य की एकता बनाए रखने के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है किन्तु यह उपयुक्त शिक्षा द्वारा ही स्थापित हो सकती है, न कि साम्यवाद द्वारा।

सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद का महत्व- उपर्युक्त कमजोरियों के बावजूद भी कतिपय लेखक ऐसे हैं जो इन आलोचनाओं को विवेकहीन और इतिहास की उपेक्षा मानते हैं। इन लेखकों की मान्यता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का इतिहास

तो केवल 4 से 5 हजार वर्ष पुराना है। प्राचीन समाजों में भूमि तथा अन्य वस्तुएँ सामूहिक होती थीं। इन लेखकों की मान्यता है कि वर्ग भेद कार्य विशिष्टीकरण के कारण किया गया है, कटुता या संघर्ष उत्पत्र करने के लिए नहीं। गार्नर के अनुसार "प्लेटो का साम्यवाद सारे समाज के कल्याण के लिए है यद्यपि यह सारे समाज के लिए नहीं है।" यह एक ही हाथों में राजनीतिक और आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण होने से बचाता है।

परिवार या स्त्रियों का साम्यवाद

संरक्षक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति का निषेध करने के साथ-साथ प्लेटो उन्हें निजी परिवार से भी वंचित कर देता है। प्लेटो का विचार है कि संरक्षक वर्ग कुशलतापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन कर सके, इसके लिए उन्हें सम्पत्ति के मोह के साथ-साथ परिवार और स्त्रियों के मोह से भी मुक्त किया जाना चाहिये ।

प्लेटो विश्व के उन कतिपय दार्शनिकों में से है जिन्होंने राजनीतिक जीवन में स्त्रियों को समुचित स्थान देने के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया है। उसने निर्भीकता से यह घोषित किया है कि महिलाओं में शासन संचालन करने की लगभग उतनी ही क्षमता होती है जितनी कि पुरुष वर्ग में। उसने साम्यवाद के रूप में एक ऐसी योजना प्रस्तुत की जो स्त्रियों को घर की चहारदीवारियों के घुटनमय जीवन से बाहर निकालकर राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की स्वच्छ हवा में श्वास लेने दे। यद्यपि वह यूनानी जगत की समस्त स्त्रियों के उद्धार तथा राजनीतिक जीवन में भाग लेने का पैगम्बर नहीं है- उसका समस्त उद्धार कार्यक्रम राज्य के संरक्षक वर्ग (Guardians) की स्त्रियों तक ही सीमित है तथापि इस दिशा में उसके चिन्तन का महत्व किसी भी प्रकार से कम नहीं होता, क्योंकि स्त्रियों के राजनीतिक जीवन में भागलेने के अधिकार के विषय में जिसे विश्व आज तक भी पूर्णरूप से स्वीकार नहीं कर पाया है- उसने आज से लगभग 2350 वर्ष पूर्व जो विचार व्यक्त किये हैं, वे अनेक दृष्टियों से मूलभूत हैं।

यदि संरक्षक वर्ग का ध्यान सम्पत्ति संचय वृत्ति से हटाना है तो यह आवश्यक है कि इस संचय वृत्ति को प्रोत्साहन देने वाली परिवार संस्था का उन्मूलन कर दिया जाये। ऐसा होने पर 'न बाँस रहेगा न बाँसुरी बजेगी। बोसांके के शब्दों में, "संरक्षक वर्ग में व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन परिवार के उन्मूलन का उपासाध्य मात्र है जो कि विचारों में एकता की आवश्यक शर्त है।"

प्लेटो ने अपने परिवार सम्बन्धी साम्यवाद की योजना के पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं:

(1) संरक्षक वर्ग को पारिवारिक मोह से मुक्त करना प्लेटो परिवार को ऐसी घातक संस्था मानता है जो व्यक्तियों में संकीर्ण तथा प्रबल स्वार्थपूर्ण भावनाएँ उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक मोह तथा चिन्ताओं में फँसकर व्यक्ति सार्वजनिक कर्तव्यों के सम्पादन में वैसी सजगता का परिचय नहीं दे सकता, जैसी सजगता संरक्षक वर्ग के व्यक्तियों में होनी चाहिए। अतः प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिए परिवार की व्यवस्था का अन्त करना चाहता है।

(2) राज्य में एकता स्थापित करने हेतु परिवार व्यक्तियों में मेरे तेरे की भावना उत्पन्न करता

है और इस भावना के परिणामस्वरूप संरक्षक वर्ग के व्यक्ति सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष करते रहते हैं। प्लेटो राज्य के हित में पारस्परिक संघर्ष की इस प्रवृत्ति का अन्त आवश्यक मानता है। अतः प्लेटो संरक्षक वर्ग के समस्त स्त्री-पुरुष को एक ही परिवार के रूप में परिणत करके राजनीतिक एकता स्थापित करना चाहता है।

(3) महिलाओं की मुक्ति तथा समानाधिकार प्लेटो के समय में एथेन्स का सार्वजनिक जीवन

पुरुष तक ही सीमित था और इसमें स्त्रियों का प्रवेश वर्जित था। प्लेटो का विचार है कि, "परिवार एक ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य की प्रतिभा का हनन होता है तथा पत्नी की मानसिक शक्ति चौके चूल्हे में बर्बाद हो जाती है"। प्लेटो स्त्रियों के इस हीन जीवन का अन्त करना चाहता था। उसका विचार था कि स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने के लिए उपयुक्त

हैं और उन्हें इस बात का अवसर दिया जाना चाहिए। वह स्त्रियों के साम्यवाद का प्रावधान कर एक ओर तो स्त्रियों को स्वतन्त्रता एवं स्वतन्त्र जीवन का आधार देना चाहता था और दूसरी ओर वह राज्य के आधे भाग (महिलाओं) की उपयोगी सेवाएँ राज्य के लिए उपलब्ध करना चाहता था। प्रो. क्रासमैन के शब्दों में "उसके शासक वर्ग को ऐसी स्त्रियों की आवश्यकता थी जो पुरुषों के समान हो।"

(4) श्रेष्ठ सन्तति की प्राप्ति- प्लेटो का विचार है कि स्त्री पुरुषों का संसर्ग भी व्यक्तिगत इच्छाओं की तुष्टि के लिए नहीं वरन् राज्य के व्यापक हितों को दृष्टि में रखकर होना चाहिए। राज्य के हित में यह जरूरी है कि आने वाली सन्तति श्रेष्ठ नस्ल की हो और इस लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय यह है कि उचित आयु के केवल सर्वोत्तम स्त्रियों और पुरुषों को ही अस्थायी विवाह सूत्र में बाँधा जाये। इस प्रकार के क्षणिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाले बच्चों का पालन-पोषण राज्य अपने शिशु-गृहों में करेगा। बार्कर के अनुसार प्लेटो के लिए यही पर्याप्त नहीं है कि बच्चे की शिक्षा-दीक्षा भली प्रकार हो, वरन् उसका जन्म भी उचित रूप में चुने हुए और स्वस्थ पूर्वजों से होना चाहिए।

(5) विवाह संस्था में सुधार एक अन्य उद्देश्य महिलाओं के साम्यवाद का यह प्रतीत होता है कि प्लेटो विवाह संस्था में भी समुचित सुधार चाहता था। वह यह मानता प्रतीत नहीं होता कि विवाह कोई नैतिक अथवा पवित्र बन्धन है। उसे विवाह का सीधा सादा प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि इसके माध्यम से सन्तान प्राप्त की जा सकती है।

पत्नियों का साम्यवाद या राज्य-परिवार की रूपरेखा

महिलाओं को पारिवारिक बन्धनों से मुक्त कर उन्हें शासक वर्ग में स्थान देने मात्र को ही प्लेटो पर्याप्त नहीं समझता था। उसने इस बात की भी व्यवस्था की है कि 'संरक्षक वर्ग' के स्त्री-पुरुषों में श्रेष्ठ आधार पर यौन सम्बन्धों का विकास हो, जिससे कि उनकी सन्तति का राज्य के हित में उपयोग हो सके। प्लेटो चाहता था कि संरक्षक वर्ग श्रेष्ठ सन्तति पैदा करे तथा संरक्षक वर्ग की जनसंख्या भी स्थायी बनी रहे। इसलिए वह शासक वर्ग के लिए वैयक्तिक यौन

सम्बन्धों पर आधारित व्यक्तिगत परिवार की स्थापना का खतरा मोल नहीं लेना चाहता था। वस्तुतः उसने राज्य परिवार की स्थापना की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसकी योजना यह है कि शासक वर्ग के स्त्री-पुरुषों के वैवाहिक सम्बन्ध सामूहिक आधार पर ही हों तथा शासक वर्ग के अच्छे स्वी-पुरुष को उचित समय में परस्पर मिलने दिया जाए, जिससे कि वे सर्वश्रेष्ठ सन्तान राज्य को दे सकें। उसकी यह योजना थी कि विवाह सम्बन्धों को नियन्त्रित रखा जाए। स्त्री एवं पुरुषों की प्रजनन की श्रेष्ठ आयु का निश्चय किया जाए एवं शुभ मुहूर्तों में उन्हें संभोग करने का अवसर दिया जाए।

राज्य नियन्त्रित यौन सम्बन्धों के अलावा प्लेटो की यह योजना भी थी कि राज्य परिवार में माता-पिता को अपनी सन्तान का तथा सन्तान को अपने माता-पिता का कोई ज्ञान नहीं होगा। प्लेटो के अनुसार नवजात शिशु का पालन-पोषण राज्य द्वारा किया जाए जिससे माँ-बाप तथा बच्चों में उन प्रवृत्तियों का अभाव होगा जो तुच्छ पारिवारिक प्रेम तथा स्नेह को जन्म देते हैं।

प्लेटो यह समझता है कि इस व्यवस्था से न केवल उत्तम सन्तान उत्पन्न होगी, अपितु सारा राज्य एक विशाल परिवार का रूप धारण कर लेगा। इस योजना के द्वारा प्लेटो एक ऐसी नैतिकता पैदा करना चाहता था जो व्यक्ति तथा समष्टि के हित-भेद को मिटाकर पारस्परिक प्रेम तथा सार्वजनिक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत एक नूतन समाज की रचना कर सके। इस योजना के द्वारा वह संरक्षक वर्ग में ऐसी एकता स्थापित करना चाहता था जो समस्त राज्य में सुख-शान्ति की स्थापना का आधार है।

पलियों के साम्यवाद का मूल्यांकन

पलियों के साम्यवाद की योजना के दो पहलू हैं। जहाँ तक स्त्रियों के उत्थान, कल्याण और राज्य कार्यों में हिस्सा लेने का प्रश्न है यह योजना उदार, क्रान्तिकारी व्यावहारिक और आधुनिक है क्योंकि कोई भी राज्य अपनी जनसंख्या के आधे भाग की उपेक्षा कर विकासोन्मुख तथा सभ्य नहीं हो सकता, परन्तु जहाँ तक विवाह, यौन सम्बन्धों, सन्तानोत्पत्ति और उसके पालन-पोषण

का प्रश्न है, प्लेटो की साम्यवादी योजना अनैतिक, अप्राकृतिक, अस्वाभाविक, हास्यास्पद और असभ्य समाज की द्योतक है।

1. अनावश्यक सम्पत्ति और पलियों के साम्यवाद को अरस्तू आदर्श राज्य की प्राप्ति हेतु अनावश्यक मानता है। उसकी धारणा है कि जिस उद्देश्य की प्राप्ति प्लेटो साम्यवाद द्वारा करना चाहता है उसकी प्राप्ति समुचित शिक्षा व्यवस्था द्वारा हो सकती है। रोगों के लिए नैतिक उपचारों की आवश्यकता है, भौतिक उपचारों की नहीं जैसा कि प्लेटो साम्यवाद द्वारा व्यवस्था करता है।

2. लिंग भेद की अपूर्ण व्यवस्था- स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध अस्थायी नहीं होते और उनका मिलन केवल काम-वासना की सन्तुष्टि या प्रजनन के लिए नहीं होता। विवाह एक स्थायी बन्धन होता है जो जीवन पर्यन्त चलता है।

3. स्त्री-पुरुष के स्वभाव में भिन्नता स्वभाव से स्त्रियाँ कोमल, संवेदनशील और दयालु होती है, जबकि पुरुष उद्यमी, उत्साही और बुद्धिमान होता है। गृह-संचालन और बच्चों का पालन-पोषण स्त्रियों का स्वाभाविक कार्य है, जबकि पुरुष का स्वाभाविक कार्य आय के स्रोतों को जुटाना तथा परिवार को संरक्षण प्रदान करना है।

4. न्याय सिद्धान्त के विपरीत स्त्रियों का साम्यवाद प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के भी विपरीत है। यदि न्याय, अपने स्वाभाविक कार्य को कुशलता से करना है तथा उसमें ही श्रेष्ठता और निपुणता प्राप्त करना है तो स्त्रियों को गृह-संचालन और बच्चों के लालन-पालन में निपुणता प्राप्त करनी चाहिए और उसी के माध्यम से राज्य को अपनी सेवाएँ करनी चाहिए।

5. यौन सम्बन्ध सार्वजनिक विषय नहीं स्त्रियों के साम्यवाद की योजना यौन सम्बन्धों को सार्वजनिक विषय बनाना चाहती है ताकि राज्य के लिए विवेकी और पुष्ट सन्तान पैदा की जा सके। यह सन्देहास्पद है कि विवेक और पुष्ट स्त्री-पुरुष की सन्तान विवेकी व पुष्ट ही होगी।6. नैतिक गुणों का ह्रास- पलियों के साम्यवाद की स्थिति में सभी नैतिक गुणों का हास होगा। सार्वजनिक शिशु-गृहों में पले हुए बच्चों में प्रेम, त्याग, सहानुभूति, सेवा का अभाव होगा। प्लेटो ने परिवार को केवल विकृत संस्था के रूप में देखा जहाँ स्वार्थ और संकीर्ण

भावनाएँ पैदा होती हैं। वह परिवार के उस स्वरूप को न देख सका जो कि प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, त्याग, बलिदान की प्राकृतिक पाठशाला है।

7. मनोवैज्ञानिक तत्वों की उपेक्षा- प्लेटो की साम्यवादी योजना मनोवैज्ञानिक तत्वों की उपेक्षा

करती है। यह परिवार को नष्ट करना चाहती है जो युगों से चली आ रही है। महिलाओं को राज्य की सेवा करने का अवसर प्रदान करने के लिए एक ओर तो उसने परिवार जैसी व्यक्ति की मूलभूत संस्था पर घातक क्रूर प्रहार किया है तो दूसरी ओर उसने विवाह संस्था की धज्जियाँ उड़ा कर रख दी हैं। साथ ही स्त्री तथा पुरुष के यौन सम्बन्धों को लेकर उसने अपनी एक ऐसी योजना प्रस्तुत की है जिसे सभ्य कहलाने वाला एवं व्यवस्थित एवं शान्तिपूर्ण जीवन का निर्वाह चाहने वाला कोई भी मानव समाज स्वीकार नहीं कर सकता ।

8. अत्यधिक एकीकरण राज्य और व्यक्ति दोनों के लिए हानिकारक है- प्लेटो साम्यवादी व्यवस्था द्वारा ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहता है जो 'राज्य-परिवार' अर्थात् 'एक व्यक्ति राज्य' (one man state) का रूप धारण कर लेगा। परन्तु ऐसा राज्य व्यक्ति व राज्य दोनों के लिए हानिकारक होगा। जैसा कि अरस्तू ने लिखा है कि "राज्य अन्त में उस सीमा तक एकता प्राप्त कर लेगा कि वह राज्य ही नहीं रहेगा।"

9. नीरस और प्रेरणा रहित संरक्षकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति और पारिवारिक जीवन के स्वाभाविक सुख और आनन्द से वंचित प्लेटो का साम्यवाद उनके आकर्षण के लिए कोई क्षेत्र नहीं छोड़ता, अतः वे प्रेरणा रहित और कुशलता हीन बन जायेंगे।

अरस्तू द्वारा पत्नियों के साम्यवाद की आलोचना

अरस्तू ने प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना करते हुये कहा है कि-

(1) भौतिक जीवन की बीमारियों का उपचार करने के लिये नैतिक औषधियों का उपयोग ही करना चाहिये था। प्लेटो ने भौतिक औषधियों का प्रयोग किया है। जबकि अरस्तू शिक्षा को उचित मानता है।

(2) राज्य के लिये कुटुंब को नष्ट करना उचित नहीं है। राज्य यदि बच्चों का लालन-पालन करेगा, तो वे मातृत्व के स्नेह से वंचित हो जाएँगे। उनके प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व किसी का उत्तरदायित्व नहीं होगा।

(3) पलियों के साम्यवाद के द्वारा प्लेटो कुटुंब को समाप्त कर राज्य में एकता स्थापित करने के लिये नैतिकता को भ्रष्ट कर देता है।

(4) प्लेटो जिस सीमा तक राज्य का एकीकरण करना चाहता है, वह राज्य एवं व्यक्ति दोनों के विकास में बाधक बन जायेगा।

(5) प्रकृक्ति ने ही नारी को परिवार के लिये बनाया है। वह प्राकृक्तिक रूप से निर्धारित कार्य दूसरों को अर्थात् राज्य को नहीं सौंपना चाहेगी।

(6) साम्यवादी व्यवस्था समाज के केवल दो वर्गों पर लागू की गई है।

प्लेटो के साम्यवादी विचारों की एक गम्भीर आलोचना यह की जाती है कि प्लेटो को अपने दार्शनिक शासकों तथा सैनिकों के विवेक (wisdom) तथा उत्साह (Spirit) में अधिक विश्वास नहीं था। उसे इस बात का अत्यन्त भय था कि बाह्य वस्तुएँ अर्थात् परिवार, सम्पत्ति, शासक वर्ग के विवेक (wisdom) तथा उत्साह (spirit) को ही कुंठित कर सकती है। शासक वर्ग में इस प्रकार अविश्वास प्रकट करने के साथ ही अपनी शिक्षा योजना की प्रभावशीलता में भी अविश्वास प्रकट किया है। यदि उसकी अपनी शिक्षा योजनाओं में आस्था होती, तो वह साम्यवाद के बाह्य एवं अत्यधिक कठोर अनुशासन की योजना ही उपस्थित न करता ।प्रतिनिधि राजनीतिक क्धिारक अपने जीवन काल में ही प्लेटो को साम्यवाद के सभी पहलुओं के अव्यावहारिक होने का आभास हो गया था। अतः 'लाज' (laws) में उसने परिवार, सम्पत्ति तथा विवाह संस्था पर रिपब्लिक से बिल्कुल भिन्न विचार प्रकट किये हैं। 'लाज' में उसने शासक वर्ग को सीमित मात्रा में सम्पत्ति रखने तथा पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान किया है।

प्लेटो के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन

प्लेटो ने साम्यवाद की वैसी ही विधिवत् विवेचना की है, जैसी कि कार्ल मार्क्स या किसी और विचारक ने। इसी आधार पर अनेक लेखकों के द्वारा प्लेटो को पश्चिमी जगत का प्रथम साम्यवादी विचारक माना गया है। प्रो. मैक्सी के अनुसार "प्लेटो साम्यवादी विचारों का मुख्य प्रेरणा स्रोत है और रिपब्लिक में सभी साम्यवादी और समाजवादी विचारों के मूल बीज मिलते हैं।"

प्लेटो के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद के बीच कई समानताएँ हैं। दोनों में एक महत्वपूर्ण समानता यह है कि दोनों में ही व्यक्ति के स्वतन्त्र महत्व को अस्वीकार किया गया है। दोनों ही व्यक्ति का महत्व इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि यह मानव समुदाय शरीर का उपयोगी अंग है। एक अंग से कुछ अधिक महत्व व्यक्ति को उपलब्ध न हो सका है। दोनों यह मानते हैं कि व्यक्ति राज्य में रहकर ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति सरलता से कर सकता है। दोनों में ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना है। जिसमें व्यक्ति सामाजिक हितों की पूर्ति में अपने हितों की पूर्ति समझता है। दोनों में व्यक्ति के अधिकारों के स्थानों पर उसके कर्तव्यों पर बल दिया जाता है। दोनों में कला, साहित्य और विज्ञान पर समाज का पूर्ण नियन्त्रण होता है। दोनों में सर्वसत्तावादी शासकों की कल्पना है। प्लेटो के आदर्श राज्य में दार्शनिक शासकों की शक्ति इतनी असीमित है कि उन पर कानून का भी कोई प्रतिबन्ध नहीं। आधुनिक साम्यवाद तो स्पष्टतः सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की बात करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति से समाज को होने वाली हानि को दोनों ने पहचाना है एवं दोनों में ही व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन की व्यवस्था है। सामाजिक सुख, एकता तथा एकरसता की प्रतिष्ठा करना ही इन दोनों का लक्ष्य माना जा सकता है। प्लेटो अनियमित आर्थिक प्रतियोगिता को कोई महत्व नहीं देता है दूसरी तरफ मार्क्स भी अनियमित आर्थिक प्रतियोगिता को कोई स्थान नहीं देता।

जहाँ हमें इन दोनों साम्यवादी प्रणालियों में उपरोक्त कतिपय समानताएँ नजर आती हैं, वहाँ सहज ही में इनकी गम्भीर विषमताओं का भी हमें आभास हो सकता है, जिन्हें देखकर हम यह कह सकते हैं कि ये दोनों किंचित मात्र भी एक नहीं हैं। प्रो. नैटिलशिप के शब्दों में, "प्लेटो द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद इस युग के साम्यवाद से मुश्किल से ही कहीं मेल खाता है।" प्रो. जी. कैटलिन के अनुसार, "यह संकेत करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि प्लेटो मार्क्सवादी कम्युनिस्ट नहीं है। उसका साम्यवाद न तो सर्वहारावर्गीय है और न ही अन्तर्राष्ट्रीय है। यह आधारशिला के रूप में, इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर आधारित नहीं है। सबसे बड़ा अन्तर यह है कि यह वर्ग संघर्ष के नितान्त विपरीत है और यह कहीं भी इस बात की कल्पना नहीं करता कि सामाजिक न्याय की स्थापना की प्राथमिक आवश्यकता वर्ग संघर्ष में विजय प्राप्त करने में है।"

नैटिलशिप, कैटलिन, बार्कर आदि विद्वान दोनों ही साम्यवादों में असमानता का पुट अधिक देखते हैं। नैटिलशिप का मत है "दोनों में कठिनाई से ही मेल है।" दोनों में निम्न असमानताएँ है :

(1) उद्देश्य में भिन्नता- प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य राजनीतिक था जबकि आधुनिक साम्यवाद का उद्देश्य आर्थिक है। प्लेटो को आदर्श राज्य के निर्माण हेतु एक साधन के रूप में साम्यवाद की आवश्यकता थी। प्लेटो का साम्यवाद मार्क्सवादी नहीं है, वह उत्पादक वर्ग को किसी उत्पीड़न या शोषण से नहीं बचाना चाहता, वह इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर आधारित नहीं। प्लेटो का साम्यवाद न सार्वभौम है, न अन्तर्राष्ट्रीय। दूसरी ओर आधुनिक साम्यवाद आर्थिक है, वह सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ (पूँजीपतियों) के शोषण और उत्पीड़न से बचाना चाहता है, वह इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर आधारित है। वह सार्वभौम भी है और अन्तर्राष्ट्रीय भी।

(2) राज्य के सम्बन्ध में भिन्नता प्लेटो के साम्यवाद में राज्य एक स्थायी संस्था है, वह उसका विनाश नहीं चाहता बल्कि उसे श्रेष्ठ ढंग से स्थापित करना चाहता है ताकि उसकी एकता व सुदृढ़तास्वाभाविक रूप से बनी रहे।

आधुनिक साम्यवाद राज्य को एक अस्थायी संस्था समझता है और इसमें साम्यवादी व्यवस्था स्थापित होने पर राज्य-विहीनता की कल्पना करता है।

(3) अर्द्ध और पूर्ण साम्यवाद की भिन्नता- प्लेटो का साम्यवाद अपूर्ण है, यह अभिजात वर्गीय है। यह समाज के सभी वर्गों पर लागू नहीं होता, केवल दो वर्गों (शासक व सैनिक) पर लागू होता है- उत्पादन वर्ग पर लागू नहीं होता। दूसरी ओर आधुनिक साम्यवाद समाज के सभी वर्गों पर समान रूप से लागू होता है।

(4) आर्थिक सत्ता और राजनीतिक सत्ता के संयोजन की भिन्नता प्लेटो ने अपने साम्यवाद की व्यवस्था राजनीतिक सत्ता को आर्थिक सत्ता के दूषित प्रभावों से बचाने के लिए की। दूसरी ओर आधुनिक साम्यवाद आर्थिक सत्ता को राजनीतिक सत्ता से पृथक् नहीं करता बल्कि राजनीतिक सत्ता को आर्थिक सत्ता (उत्पादकों) के हाथों में सौंपना चाहता है।

(5) सम्पत्ति के स्वामित्व, उत्पादन और वितरण की भिन्नता प्लेटो के साम्यवाद में केवल दार्शनिक शासकों और सैनिकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार है। प्लेटो के साम्यवाद में वस्तुतः उत्पादन व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें सम्पत्ति के सार्वजनिक नियन्त्रण की बात नहीं और न ही सम्पत्ति के समान या न्यायपूर्ण वितरण और उपभोग की बात है। दूसरी ओर आधुनिक साम्यवाद सम्पत्ति का समाजीकरण करता है, इसमें उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व है, यह सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण और समुचित उपभोग की बात करता है।

(6) वर्गों की कल्पना में भिन्नता प्लेटो के साम्यवाद में वर्गों की कल्पना है यद्यपि ये वर्ग कार्य विशिष्टीकरण और कार्य विभाजन पर आधारित हैं। प्लेटो के साम्यवाद में वर्गों के संघर्ष की बात नहीं और इसमें वर्गों के सामंजस्य और एकता की कल्पना है। दूसरी ओर, आधुनिक साम्यवाद वर्गविहीन समाज की कल्पना करता है, इसमें वर्गों के सहयोग की नहीं- संघर्ष की बात कही गयी है।

(7) पारिवारिक साम्यवाद के सम्बन्ध में भेद प्लेटो के साम्यवाद में सम्पत्ति की सामूहिक व्यवस्था के साथ-साथ पत्नियों की भी सामूहिक व्यवस्था की गयी है,

किन्तु वि आधुनिक साम्यवाद पलियों के सम्बन्ध में इस प्रकार की किसी व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं करता।

(8) दृष्टिकोणों में अन्तर प्लेटो के साम्यवाद का दृष्टिकोण आध्यात्मिक, निराशावादी और विरक्तिमूलक है जबकि आधुनिक साम्यवाद का दृष्टिकोण भौतिकवादी, क्रान्तिकारी तथा प्रगतिशील है।

इस प्रकार प्लेटो द्वारा प्रतिपादित प्राचीन और मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्तमान साम्यवाद में मौलिक अन्तर है। टेलर ने ठीक ही लिखा है- "रिपब्लिक के साम्यवाद और समाजवाद के सम्बन्ध में बहुत कहा जाने के बावजूद वस्तुतः इस ग्रन्थ में न तो समाजवाद पाया जाता है और न ही साम्यवाद मिलता है"। प्लेटो के साम्यवाद पर विचार करते हुए प्रो. बार्कर ने कहा है कि 'प्लेटो का समाजवाद वैराग्यवाद का मार्ग है' (Platonic Communism is a way to asceticism)। इस समाजवादी व्यवस्था द्वारा प्लेटो ने राज्य के संरक्षक वर्ग के लिए वैराग्यवाद का मार्ग खोल दिया है।

10.18 प्लेटो का दार्शनिक राजा का सिद्धान्त (Plato's Theory of Philosopher King)

प्लेटो कालीन नगर राज्यों में अयोग्य और स्वार्थी राजनीतिज्ञ शासन सत्ता का संचालन करते थे। प्लेटो ने समकालीन तथा पूर्वकालीन यूनानी नगर राज्यों की व्यक्तिवादी (individualism), अक्षमता (inefficiency), अस्थिरता (instability) एवं राजनीतिक स्वार्थपरता (political selfishness) आदि से उत्पन्न होने वाली त्रुटियों को भली प्रकार से पहचाना था। उसे अपने जीवन में एथेन्स आदि राज्यों के अज्ञानी (ignorant) शासकों के दुष्परिणामों को देखकर यह दृढ़विश्वास हो गया था कि संसार में तब तक शान्ति नहीं स्थापित हो सकती, जब तक शासन संचालन जैसा महत्वपूर्ण कार्य योग्य, ज्ञानी तथा दार्शनिक के हाथों में न आ जाये। रिपब्लिक में उसने अपने इस विश्वास को दृढ़तापूर्वक रखते हुए राजकीय शक्ति और दार्शनिक बुद्धिमत्ता के संगम पर बल देते हुए घोषणा की है- "हमारे नगर (राज्यों) में तब तक कष्टों का अन्त नहीं होगा, जब तक दार्शनिक राजा न होंगे या इस संसार के राजाओं और राजकुमारों में दर्शन की भावना और सत्ता

न होगी"।(Until philosophers are kings or kingsand princes of this world have the spirit and power of philosophy, cities will never rest from their evils.) |

10.19 प्लेटो का दार्शनिक राजाओं का सिद्धान्त

प्लेटो के दार्शनिक राजा का सिद्धान्त उसकी दो प्रमुख मान्यताओं का तार्किक परिणाम है। उसकी पहली मान्यता आत्मा के त्रिभाग की धारणा है। उसके अनुसार आत्मा अथवा मानव व्यक्तित्व में तीन तत्व होते हैं- विवेक, साहस और क्षुधा। विवेक का कार्य शासन करना, साहस का कार्य रक्षा करना और क्षुधा का कार्य उत्पादन करना है। इन्हीं के अनुरूप राज्य में तीन वर्ग होते हैं- दार्शनिक, सैनिक और उत्पादक । दार्शनिक विवेक का, सैनिक साहस का और उत्पादक क्षुधा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव जिस प्रकार विवेक (बुद्धि) किसी श्रेष्ठ व्यक्ति का पूर्ण स्वामी होता है, उसी प्रकार विवेक के प्रतीक दार्शनिक को भी आदर्श राज्य का शासक होना चाहिए।

प्लेटो की दूसरी मान्यता यह है कि "सद्गुण ही ज्ञान है"। इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि वह मनुष्य जो जानता है, जिसे सत्य का ज्ञान है, वही सद्गुणी होता है और इसीलिए उसे ही शासन करना चाहिए। उसका ज्ञान ही उसे शक्ति का अधिकारी बनाता है।

दार्शनिक राजा सम्बन्धी प्लेटो का सिद्धान्त सिर्फ उसकी तार्किक मान्यताओं पर ही नहीं, अपितु उसके व्यावहारिक अनुभव (practical experience) पर भी आधारित है। प्लेटो के समय में एथेन्स प्रजातन्त्र के, स्पार्टा सैनिक तन्त्र के तथा सिराक्यूज निरंकुशतन्त्र के दुर्गुणों से पीड़ित थे। शासक अज्ञानी, स्वार्थी और संकीर्ण होते थे। एथेन्स जैसे नगर राज्य में लोकतन्त्र के नाम पर लाटरी प्रणाली के आधार पर शासकों का चयन होता था, अज्ञानियों और स्वार्थियों के हाथों में शासन की बागडोर थी। प्लेटो ने व्यंग्य भरे शब्दों में कहा है कि "बढ़ाई और दर्जी होने के लिए भी कुछ प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, परन्तु शासक होने के लिए नहीं।" अतएव नगर राज्यों को विनाश से बचाने के लिए, मानवता के कल्याण के लिए, शासन के अज्ञान, स्वार्थपरता और अनिपुणता को दूर

करने के लिए प्लेटो ने दार्शनिक राजा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार एक जहाज की सुरक्षा योग्य चालक पर निर्भर करती है, उसी प्रकार राज्य की सुरक्षा परिपक्व दार्शनिक पर। इसलिए दार्शनिक को ही राजा या शासक होना चाहिए।

प्लेटो के शब्दों में "यदि वे (दार्शनिक) बुद्धिमत्ता और न्याय के नियमों पर चलते हैं, और अपनी शक्ति का प्रयोग सबकी सुरक्षा और उत्थान के ध्येय से करते हैं, तो वे जिस नगर पर शासन करते हैं और जिस नगर में ऐसी विशेषताएँ पायी जाती है, उसी को सच्चे राज्य की संज्ञा दी जा सकती है।"

दार्शनिक राजा के गुण

प्लेटो के अनुसार दार्शनिक शासक में निम्नलिखित गुण होने चाहिए

(1) विवेक का प्रेमी (Lover of Wisdom) प्लेटो के अनुसार शासक विवेकशील होना चाहिए। उसे शिव के स्वरूप का ज्ञान होता है और इसलिए वह मानव जीवन के अन्तिम उद्देश्यों और कार्यों से परिचित होता है। मैक्सी के अनुसार 'एक सच्चा दार्शनिक ज्ञान से प्रेम रखता है, न कि किसी मत से। वह क्रोध, घृणा, संकीर्णता, द्वेष, स्वार्थपरता आदि से दूर रहता है।'

(2) सत्य का अनुगामी (Follower of Truth)- दार्शनिक राजा सत्य का अनुगामी होगा। उसके मस्तिष्क में निंदा, अविश्वास, झूठ, फरेब और धोखे के विचार नहीं आयेंगे। प्लेटो के अनुसार "झूठ के विचार से शासकों को घृणा होगी।"

(3) न्याय का प्रेमी (Lover of Justice)- आदर्श राज्य में दार्शनिक राजा 'न्याय' का प्रेमी होगा। वह इस बात का ध्यान रखेगा कि राज्य के अन्य दो वर्ग- सैनिक और उत्पादक वर्ग अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करें ताकि न्याय की स्थापना हो सके।

(4) निःस्वार्थी (Free from Selfishness)- प्लेटो का दार्शनिक पूर्णतः निःस्वार्थी होता है। उसके पास न अपनी सम्पत्ति होती है और न अपना परिवार। कंचन और कामिनी के मोह से मुक्त सर्वकल्याण की भावना से वह ओतप्रोत होता है।

(5) आत्म नियन्त्रण (Self Control) दार्शनिक शासक आत्म नियन्त्रण के गुण से विभूषित होता है। उसे कोई निर्देश, आदेश नहीं देता, वह अपने जीवन और शासन का स्वयं संचालन करने की क्षमता रखता है।

(6) स्मरण शक्ति (Memory)- दार्शनिक राजा का एक अन्य प्रमुख गुण तीक्ष्ण स्मरण शक्ति है। किसी भी व्यक्ति के लिए दार्शनिक ज्ञान का अर्जन तभी सम्भव है जबकि उसके पास अच्छी स्मरण शक्ति हो।

(7) शान्त स्वभाव (Calm Nature)- प्लेटो के अनुसार दार्शनिक शासक का स्वभाव शान्त होना चाहिए। नेटिलशिप के शब्दों में "सच्चे दार्शनिक को स्वभाव से ही शान्त होना चाहिए, वह शान्ति के साम्राज्य में निवास करता है।"

रिपब्लिक की पाँचवीं-छठीं पुस्तक में प्लेटो ने दार्शनिक शासक के गुणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। "उसमें उच्चतम प्राकृक्तिक गुण हैं और वह इनका अधिकतम उपयोग करता है। वह सत्य का अन्वेषक है और तब तक अपना प्रयत्न जारी रखता है, जब तक उसे सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता है। उसमें तृष्णा और ऐन्द्रियिक विषयों को भोगने की लालसा नहीं होती। उसमें सुन्दर आत्मा के सभी गुण होते हैं। वह मृत्यु से नहीं डरता, सत्य का आलाप नहीं करता, उसे न्याय, सौन्दर्य और संयम के विचारों का तथा परम सत के विचार (idea of good) का मानवीय जीवन के अन्तिम प्रयोजन और कार्यों का ज्ञान पहले बताई शिक्षा पद्धति द्वारा होता है। इस प्रकार का ज्ञानी और गुणी व्यक्ति ही प्लेटो की दृष्टि में शासक बनाया जाना चाहिए।"

प्लेटो द्वारा 'दार्शनिक' मुख्य शब्द को नूतन अर्थ प्रदान करना

फॉस्टर के अनुसार 'दार्शनिक' से प्लेटो का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो वैज्ञानिक चिन्तन की शक्ति से सम्पन्न हो और प्लेटो के अनुसार सच्चा ज्ञान ही विज्ञान है। प्लेटो के अनुसार दर्शन का कार्य यह है कि वह न केवल गणित के क्षेत्र में, बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में सच्चे ज्ञान की प्रतिष्ठा करे ।

प्लेटो का दार्शनिक राजा ज्ञान का उपासक ही नहीं है अपितु ज्ञान और विद्वता का अपूर्व भण्डार है। वह सत्य का अन्वेषक, ज्ञान का प्रेमी, शांति का पुजारी, न्यायी, साहसी और संयमी होता है। उसकी बुद्धि तीव होती है, स्मरण शक्ति

तीक्ष्ण होती है और चरित्र उज्ज्वल होता है। अतः दार्शनिक के द्वारा शासन से प्लेटो का तात्पर्य 'विद्वता का शासन' अथवा विवेक के शासन से' (rule of learnedness or the rule of intellect) है।

दार्शनिक शासक के कर्तव्य

प्लेटो के अनुसार दार्शनिक शासक के प्रमुख कर्तव्य निम्नलिखित है-

(1) प्रत्येक व्यक्ति को उसका विशिष्ट कार्य सौंपना दार्शनिक शासक राज्य के प्रत्येक व्यक्ति

को उसका विशिष्ट कार्य सौंपेंगे तथा यह देखेंगे कि उनका सम्पादन ठीक ढंग से हो रहा है अथवा नहीं।

(2) भावी शासकों की शिक्षा का संचालन करना- दार्शनिक शासकों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य भावी शासकों की शिक्षा का संचालन करना होगा। वे उन सारी कविताओं, नाटकों, कला और साहित्य पर प्रतिबन्ध लगा देंगे जिनमें अनैतिक तत्वों का संयोग होगा।

(3) धार्मिक विश्वासों को नियन्त्रित करना दार्शनिक शासक समस्त धार्मिक विश्वासों को नियन्त्रित करेंगे तथा अपने राज्य के लिए विश्वासों की एक नियमावली बनायेंगे ।

दार्शनिक शासक का सिद्धान्तः आलोचनात्मक मूल्यांकन प्लेटो द्वारा प्रतिपादित की अवधारणा पर कठोर प्रहार किये गये हैं। टॉयनबी के अनुसार, "प्लेटो के सिद्धान्त में विरोधाभास है क्योंकि दार्शनिक कुशल शासक नहीं हो सकता और शासक दर्शन को तिलांजलि देकर जब शक्ति का प्रयोग करता है तभी वह सफलतापूर्वक शासन का संचालन कर सकता है।" अर्थात् शासन का संचालन शक्ति के द्वारा होता है, दर्शन या ज्ञान के द्वारा नहीं। जर्मन विचारक कांट के शब्दों में 'राजा का दार्शनिक होना और दार्शनिक का राजा होना न सम्भव है न वांछनीय ही, क्योंकि सत्ता का भोग निरपवाद रूप से

विवेक से स्वतन्त्र निर्णय को भ्रष्ट कर देता है।' क्रॉसमैन के अनुसार, दार्शनिक शासक सम्बन्धी प्लेटो का प्रस्ताव अव्यावहारिक है क्योंकि किसी भी नगर या राष्ट्र में बुद्धिमान लोगों की संख्या इतनी अधिक नहीं होती कि वे स्थायी रूप से शासक वर्ग का निर्माण कर सकें और यदि वे हों भी तो अपार जनसमूह में से उनका चयन कठिन हो जाएगा। फिर, प्लेटो अपने दार्शनिक शासक का चयन न समस्त जनसमूह से करता है न श्रमिक वर्ग से, बल्कि सिर्फ कुलीन वर्ग से करता है। इस प्रकार दार्शनिक को कुलीनवर्ग के साथ जोड़कर प्लेटो ने अपने सिद्धान्त को भ्रष्ट कर दिया है।

पॉपर के अनुसार प्लेटो ने अपने स्वार्थ की सिद्धि हेतु ही दार्शनिक शासक का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है क्योंकि एक दार्शनिक होने के नाते प्लेटो स्वयं शासक भी बनना चाहता था। जॉवेंट के अनुसार, "दार्शनिक राजा या तो भविष्य में बहुत दूर तक देखने वाला होता है या अतीत में पीछे की ओर देखता है, वर्तमान की वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।" सेबाइन के अनुसार, दार्शनिक शासन का सिद्धान्त प्रबुद्ध निरंकुराता (enlightened despotism) का सिद्धान्त है।

प्लेटो के दार्शनिक शासक के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न तर्कों के आधार पर की जाती है:

1. निरंकुश शासन का मार्ग प्रशस्त करना प्लेटो ने दार्शनिक शासक को शासन की असीमित शक्ति देकर निरंकुश शासन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। यद्यपि प्लेटो ने शासक पर चार प्रतिबन्धों का उल्लेख किया है, किन्तु ये प्रतिबन्ध ऐसे नहीं हैं कि उसे निरंकुश बनने से रोक सके 12. नागरिकों की स्वतन्त्रता और स्वविवेक का अन्त दार्शनिक राजा को शासन की सम्पूर्ण शक्ति प्रदान कर प्लेटो ने राज्य के नागरिकों की स्वतन्त्रता और स्वविवेक का अन्त कर दिया है।

3. प्रजातान्त्रिक समानता के सिद्धान्त की अवहेलना प्लेटो का यह विचार कि गुण और ज्ञान के धनी तो केवल कुछ ही व्यक्ति होते हैं, प्रजातान्त्रिक समानता के आधुनिक सिद्धान्त के विरुद्ध है।

4. विरोधाभास से परिपूर्ण- प्लेटो का दार्शनिक शासन का सिद्धान्त विरोधाभास से भी पूर्ण है। एक ओर तो वह अपने दार्शनिक शासक को असीम अधिकार प्रदान करता है और दूसरी ओर वह उस पर चार सैद्धान्तिक प्रतिबन्ध लगाता है।

5. शासन के लिए आवश्यक विषय दार्शनिक राजा गणित, ज्योतिष, नक्षत्रविद्या, तर्कशास्त्र, द्वन्द्वात्मकता तथा दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित होता है, किन्तु प्रशासन के लिए केवल इन्हीं विषयों का ज्ञान आवश्यक नहीं है।

6. दार्शनिक वर्ग का शासन असन्तुलित और अहितकर प्लेटो के दार्शनिक शासक सार्वजनिक क्षेत्र के कर्तव्यों का उचित रूप से सम्पादन कर सकेंगे, इसमें भी बहुत अधिक सन्देह है। अत्यधिक दार्शनिकता सनकीपन उत्पन्न करती है और सनकी व्यक्ति का शासन निश्चित रूप से अन्यायपूर्ण और असन्तुलित ही होगा।

7. काल्पनिक अवधारणा प्लेटो का दार्शनिक राजा मात्र काल्पनिक है। व्यावहारिक जगत में ऐसे निःस्वार्थ, निष्ठावान और उच्च आदर्शों के व्यक्ति का मिलना असम्भव है।

10.20 प्लेटो का योगदान मूल्यांकन (Plato's Contribution: An Estimate)

प्लेटो को एक कल्पनादर्शी दार्शनिक कहकर उसकी आलोचना की जाती है, किन्तु वास्तव में प्लेटो एक कल्पनादर्शी विचारक नहीं वरन् आदर्शवादी विचारक है जिसने अपनी आदर्शवादी दृष्टि के आधार पर यर्थाथ जीवन में सुधार करने की चेष्टा की है। कुछ सीमा तक प्लेटो के विचार काल्पनिक है। रिपब्लिक में चित्रित 'आदर्श राज्य' के सम्बन्ध में यह स्वयं कहता है कि इस प्रकार का आदर्श राज्य तो स्वर्ग में ही सम्भव है, पृथ्वी पर नहीं। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आदर्श राज्य के चित्रण में उसके द्वारा एक ऐसा प्रतीक खड़ा किया गया है जैसा कि राज्य को वास्तव में होना चाहिए। उसका कार्य विद्यमान राज्य व्यवस्था में सुधार और उनके गुणों के मापदण्ड के लिए एक आदर्श की स्थापना करना मात्र है, अपने आदर्श की व्यावहारिकता पर

विचार करना नहीं। वस्तुतः प्लेटो एक आदर्शवादी और इसके साथ ही एक व्यावहारिक दार्शनिक है। जेनट का विचार है कि "प्लेटो की रिपब्लिक का एक अंश काल्पनिक है और एक अंश आदर्शवादी। काल्पनिक अंश मृत है और पुनर्जीवित नहीं होगा, लेकिन आदर्शवादी अंश अमर है।" वास्तव में जेनट का यह विचार पूर्णतया सही है।इसी प्रकार प्लेटो की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि उसका चिन्तन सीमित व संकुचित परिस्थितियों की उपज है। उसमें सर्वत्र यूनानी तत्वों (Hellenism) का जबर्दस्त प्रभाव झलकता है। इस सम्बन्ध में मैक्सी ने लिखा है, "प्लेटो की रचनाओं में बहुत कुछ क्षणभंगुर और अस्थाई है किन्तु उसके राजनैतिक दर्शन की मध्य नाड़ी (mid rib) अनन्त एवं सार्वभौम है।"

10.21 संक्षेप सार

प्लेटो के दर्शन में दो मुख्य विचारधाराएँ हैं: रूपों का सिद्धांत और न्याय का सिद्धांत। प्लेटो ने कहा कि वास्तविकता में केवल वह चीजें हैं जो अनुभव नहीं की जा सकतीं, बल्कि जो रूपों (फॉर्म्स) के रूप में विद्यमान हैं। उनका प्रसिद्ध संवाद "गणराज्य" में, उन्होंने आदर्श राज्य की संरचना का विश्लेषण किया, जिसमें दार्शनिकों को शासक और नागरिकों को न्याय का पालन करने के लिए प्रेरित किया गया।

10.22 मुख्य शब्द

1. **आदर्श रूप (Ideal Forms)**: प्लेटो के अनुसार, ये सच्चाई का सच्चा रूप हैं, जो कि भौतिक संसार में अनुभव नहीं किया जा सकता।
2. **गणराज्य (The Republic)**: प्लेटो का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ, जिसमें उन्होंने न्याय और आदर्श समाज की परिकल्पना की।
3. **दार्शनिक राजा (Philosopher-King)**: प्लेटो के अनुसार, एक आदर्श शासक वह है जो दार्शनिक है और सच्चाई के ज्ञान से प्रेरित है।
4. **सोशल श्रेणियाँ (Social Classes)**: प्लेटो ने समाज को तीन श्रेणियों में बांटा: शासक (राजा), रक्षक (सैनिक), और उत्पादक (किसान/कारपेंटर)।

10.23 संदर्भ ग्रंथ

- शर्मा, आर. एस. (2018). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सिंह, उपिंदर. (2019). *प्राचीन भारत में राजनीति और शासन*. नई दिल्ली: पेंगुइन रैंडम हाउस.

- ठाकुर, विनय. (2020). *भारतीय राजनीतिक विचार: प्राचीन से आधुनिक तक*. नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशंस.
- मिश्रा, सुधीर कुमार. (2021). *प्राचीन भारतीय राज्यcraft और प्रशासन*. वाराणसी: ज्ञान भारती प्रकाशन.
- वर्मा, अरुण कुमार. (2022). *भारत का राजनीतिक दर्शन: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य*. जयपुर: साहित्य सदन.
- चौधरी, प्रीति. (2023). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएं और उनके सिद्धांत*. पटना: विद्या विहार पब्लिकेशंस.
- दास, मनीषा. (2024). *भारतीय राजनीतिक विचारकों का योगदान*. कोलकाता: यूनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता प्रेस.

10.24 स्व प्रगति के प्रश्न

1. दार्शनिक राजा के शासन से प्लेटो का तात्पर्य है-

(अ) विधि का शासन

(ब) कुलीन का शासन

(स) दार्शनिक का शासन

(द) विवेक का शासन

2 प्लेटो ने अपनी किस कृति में उप-आदर्श राज्य की विवेचना की है-

(अ) पॉलिटिक्स

(ब) रिपब्लिक

(स) लॉज

(द) प्रिन्स

3.प्लेटो के उप-आदर्श राज्य की आधारशिला है-

(अ) दार्शनिक राजा का शासन

(ब) कानून की सत्ता

(स) विवेक का शासन

(द) जनता का शासन

10.25 स्व प्रगति के प्रश्नों के उत्तर

उत्तर-1(द),2(ब),3(स),

10.26 अभ्यास के प्रश्न

1. प्लेटो की न्याय अवधारणा का परीक्षण कीजिए ।

2.प्लेटो के आदर्श राज्य की अवधारणा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ।

3.रिपब्लिक में प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

4."रिपब्लिक राजनीति पर लिखित ग्रन्थ नहीं है, वरन् शिक्षा पर ऐसी उत्कृष्ट कृति है, जैसी पहले कभी नहीं लिखी गई।" समीक्षा कीजिए।

5. सम्पत्ति तथा परिवार के साम्यवाद संबंधी प्लेटो के विचारों का परीक्षण कीजिए।

6. प्लेटो के आदर्श राज्य की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए। क्या ऐसा राज्य व्यावहारिक है।

7. टिप्पणी लिखिए

1. रिपब्लिक ।

2. दार्शनिक राजा के गुण ।

3. प्लेटो के साम्यवाद और आधुनिक साम्यवाद में अन्तर ।

इकाई 11

अरस्तू

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 अरस्तू का जीवन परिचय

11.4 अरस्तू की रचनाएँ: संक्षिप्त परिचय

11.5 अरस्तू की महानतम रचना दि पॉलिटिक्स

11.5 अरस्तू का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त

11.6 अरस्तू के अनुसार राज्य की विशेषताएँ

11.7 अरस्तू के अनुसार राज्य के उद्देश्य एवं कार्य

11.8 अरस्तू: संविधानों का वर्गीकरण

11.9 संविधानों का वर्गीकरण

11.10 अरस्तू के वर्गीकरण का महत्व और प्रभाव

11.11 अरस्तू का दासता सम्बन्धी सिद्धान्त

11.12 अरस्तू के दासता सिद्धान्त की आलोचना

11.13 अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार

11.14 क्रान्तियों को रोकने के उपाय

11.15 अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों की विशेषताएँ

11.16 सार संक्षेप

11.17स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

11.18 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

11.19 मुख्य शब्द

11.20 संदर्भ सूची

11.21 अभ्यास प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

यूनान के दार्शनिक मनीषियों में सुकरात और प्लेटो के बाद अरस्तू का नाम उल्लेखनीय है। वह यूनान की अमर गुरु-शिष्य परम्परा का तीसरा सोपान था। यूनान का दर्शन बीज की तरह सुकरात में आया, लता की भाँति प्लेटो में फैला और पुष्प की भाँति अरस्तू में खिल गया। गुरु-शिष्यों की इतनी महान तीन पीढ़ियाँ विश्व इतिहास में बहुत ही कम दृष्टिगोचर होती हैं। सुकरात महान के आदर्शवादी तथा कवित्वमय शिष्य प्लेटो का यथार्थवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला शिष्य अरस्तू बहुमुखी प्रतिभा का धनी था। मानव जीवन तथा प्रकृक्ति विज्ञान का शायद ही कोई ऐसा पहलू हो, जो उसके चिन्तन से अछूता बचा हो। उसकी इसी प्रतिभा के कारण कोई उसे 'बुद्धिमानों का गुरु' कहता है तो कोई 'सामाजिक विज्ञान में नवीन विषयों का जन्मदाता' कहता है। मैक्सी ने उसे प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक (first political scientist) की संज्ञा दी है। उसे तर्कशास्त्र का जनक भी कहा जाता है। प्लेटो अपने शिष्य की प्रतिभा से इतना प्रसन्न था कि वह उसे अकादमी की शरीरधारिणी बुद्धिमत्ता (nous) कहा करता था। उसके अनुसार अकादमी के दो भाग थे- उसका धड़ विद्यार्थी थे और मस्तिष्क अरस्तू। अरस्तू को ग्रन्थ संग्रह करने का बड़ा शौक था, अतः प्लेटो उसके घर को 'पाठक का घर' कहता था।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को समाज और राजनीति के बीच संबंध तथा नागरिकों के कर्तव्यों का विश्लेषण शासन प्रणाली का वर्गीकरण आदि के बारे में बतलाना है

1 **राजनीति और समाज का विश्लेषण:**समाज और राजनीति के बीच संबंध को समझना।

2. **राज्य का उद्देश्य और स्वरूप**:राज्य के गठन, उसके उद्देश्य, और नागरिकों के कर्तव्यों का विश्लेषण।

3. **शासन प्रणालियों का वर्गीकरण**:विभिन्न शासन प्रणालियों (राजतंत्र, लोकतंत्र, तानाशाही) की विशेषताओं का अध्ययन।

4. **न्याय और समानता**:समाज में न्याय और समानता की भूमिका और उनके महत्व को समझना।

5. **मानव स्वभाव और समाज**:अरस्तू का विचार कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" का गहन विश्लेषण।

6. **सर्वोत्तम राज्य की परिकल्पना**:आदर्श राज्य के लक्षण और संरचना का अध्ययन।

7. **शिक्षा और नैतिकता का महत्व**:राज्य और समाज में शिक्षा और नैतिकता की भूमिका का मूल्यांकन।

11.3 अरस्तू का जीवन परिचय

अरस्तू का जन्म 384 ईसा पूर्व में मेसीडोनिया के स्टेजिरा (Stagira) नामक नगर में हुआ था, जो एथेन्स के लगभग दो सौ मील दूर उत्तर में है। अरस्तू के पिता मेसीडोनिया के राजा तथा सिकन्दर के पितामह एमण्टस (Amyntas) के मित्र और चिकित्सक थे। ऐसा लगता है कि स्वयं अरस्तू भी बाद में एस्किलपेड़स (Asclepiads) के प्रसिद्ध चिकित्सक समाज का सदस्य बन गया था। अस्पताली वातावरण में उसका पालन-पोषण हुआ और इस तरह उसके मस्तिष्क को वैज्ञानिक ढंग से सोचने-समझने का अभ्यास हो गया, जिसके लिए उसे हर तरह का अवसर और प्रोत्साहन मिला था।

ऐसा माना जाता है कि अरस्तू ने प्लेटो की अकादमी में प्रवेश लिया और वह वहाँ 8 से 20 वर्ष तक रहा। प्लेटो ने इस विचित्र नये शिष्य की महानता पहचान ली थी। अरस्तू ने पुस्तकों के संग्रह पर पानी की तरह पैसा बहाया था। ऐसा कहा जाता है कि मेसीडोनिया के राजा फिलिप ने अरस्तू को सिकन्दर की

शिक्षा का कार्य सौंपने के लिए उसे पेल्ला के अपने दरबार में बुला लिया था। इससे स्पष्ट लगता है कि दार्शनिक अरस्तू की प्रसिद्धि कितनी फैल चुकी थी कि तत्कालीन सबसे महान् राजा ने किनकी सर्वश्रेष्ठ गुरु की खोज में अरस्तू को चुना, जिसे विश्व के भावी शासक का शिक्षक बनना था।

जब अरस्तू ने 53वें वर्ष की आयु में अपने विद्यालय लिसीयम (Lyceum) की स्थापना की तो इतने अधिक छात्र इकट्ठे हो गये कि व्यवस्था बनाये रखने के लिए जटिल नियम बनाना आवश्यक हो गया। ना

यह नया विद्यालय प्लेटो के विद्या मन्दिर का केवल प्रतिरूप नहीं था, प्लेटो के विद्या मन्दिर (Academy) में सबसे अधिक ध्यान गणित तथा विचार एवं राजनीतिक दर्शनशास्त्र के अध्ययन पर दिया जाता था, जबकि अरस्तू के विद्यालय में जीवविज्ञान तथा प्राकृक्तिक विज्ञानों की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

एथीनास का कथन है (जिसमें कुछ अत्युक्ति अवश्य होगी) कि सिकन्दर ने अरस्तू को भौतिक तथा प्राणी विद्या सम्बन्धी सामान खरीदने और अनुसन्धान करने के लिए 800 यूनानी गिन्नियाँ दी थीं(आधुनिक समय में उनका क्रय मूल्य चालीस लाख डालर होगा)। कुछ लोगों का कहना है कि अरस्तू के सुझाव पर ही सिकन्दर ने नील नदी का उद्गम जानने और समय-समय पर उनमें बाढ़ आ जाने का कारण खोजने के लिए एक दल भेजा था, जिस पर काफी धन व्यय किया गया था। अरस्तू ने राजनीतिक विधानों की रूपरेखा वाले विधि संग्रह की रचना की।

अरस्तू के जीवन की अवसान वेला अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण एवं कष्टमय बीती। यूरीमेडन नामक एक प्रमुख पु पुरोहित ने अरस्तू के विरुद्ध अभियोग पत्र रखा जिसमें उस पर आरोप थे कि वह प्रार्थना और बलि को व्यर्थ मानने की शिक्षा देता है। अरस्तू ने देखा कि उसका भाग्य अब उन न्यायाधीशों और जनसमूह के हाथों में है जो उनसे भी अधिक विरोधी हैं जिन्होंने सुकरात की हत्या की थी। अतः उसने बुद्धिमानी की और यह कहकर नगर छोड़कर चला गया कि मैं एथेन्सवासियों को दर्शन के विरुद्ध दूसरी बार पाप करने का अवसर देना नहीं

चाहता। कैलसिस आकर अरस्तू बीमार पड़ गया। अरस्तू की बीमारी घातक सिद्ध हुई और एथेन्स छोड़ने के कुछ माह बाद (323 ई. पू.) एकान्तवासी अरस्तू ने संसार त्याग दिया। इस प्रकार यूनान का सूर्य अस्त हो गया, इसके बाद उसका वैभव भी नष्ट हो गया।

11.4 अरस्तू की रचनाएँ: संक्षिप्त परिचय

अरस्तू बहुमुखी प्रतिभा का विलक्षण व्यक्ति था। फोस्टर के अनुसार, "अरस्तू की महानता उसके जीवन में नहीं किन्तु उसकी रचनाओं में प्रदर्शित होती है।" केटलिन के शब्दों में "अरस्तू विद्या का सर्वश्रेष्ठ एवं प्रथम विश्वकोशी था।" उसने तर्कशास्त्र, प्राणीशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, मनोविज्ञान, प्राकृक्तिक विज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, भाषणकला, लेखनकला और काव्यकला पर अनेक ग्रन्थ लिखे। उसके समस्त ग्रन्थों की सही संख्या बता पाना सम्भव नहीं है। दियोगेनेस लायतिस ने अरस्तू के जीवन चरित्र के साथ जो सूची दी है, उसमें अरस्तू की रचनाओं की संख्या 400 बतलाई है। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से यह समूचा ग्रन्थ संग्रह 3500 पृष्ठों के लिए 12 खण्डों में प्रकाशित हुआ है। वह अपने समय के यूनानी ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोष माना जाता है। अपनी अगाध विद्वता के कारण मध्ययुग में वह सबसे बड़ा एकमात्र दार्शनिक तथा दांते के शब्दों में वह 'ज्ञानियों का गुरू' कहलाता है। दुर्भाग्यवश अरस्तू की अनेक कृतियाँ काल के प्रवाह में लुप्त हो चुकी हैं और उपलब्ध कृतियों में भी रचना शैली की वह प्रौढ़ता, सुसम्बद्धता, रोचकता तथा प्रवाह दृष्टिगोचर नहीं होता जो प्लेटो की रचनाओं में है। विद्वानों की धारणा है कि ये ग्रन्थ सम्भवतः अरस्तू द्वारा अथवा उसके शिष्यों द्वारा लिखे गये उसके व्याख्यानों के नोट्स मात्र हैं। इन्हीं को बाद में सम्पादकों ने अपनी समझ के अनुसार विभिन्न ग्रन्थों में प्रस्तुत कर दिया है। अरस्तू ने इनका अन्तिम रूप में सम्पादन या संशोधन नहीं किया इसीलिए इनमें अनेक विसंगतियाँ और त्रुटियाँ पायी जाती हैं।

अरस्तू की रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। अपने समय में लगभग सभी विषयों पर अरस्तू के वाक्य अन्तिम वाक्य थे। वास्तव में उसने सारा जीवन सरस्वती की साधना में समर्पित कर दिया था। विभिन्न विषयों पर उसके प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं:

(1) राजनीति पर The Politics, The Constitutions.

(2) साहित्य पर- Eademus or Soul, Protepicus, Poetics तथा Rhetoric आदि !

(3) तर्कशास्त्र व दर्शन पर-Physics, De Anima, The Prior Metaphysics, Categories, Interpretation, The Posterior Analytics तथा The Topics आदि ।

(4) भौतिक विज्ञान पर Meteorology (चार भाग) तथा अन्य ग्रन्थ ।

(5) शरीर विज्ञान पर- Histories of Animals तथा दस अन्य ग्रन्थ।

11.5 अरस्तू की महानतम रचना दि पॉलिटिक्स(Greatest Works of Aristotle: The Politics)

'पॉलिटिक्स' अरस्तू की महानतम रचना है जिसे राजनीति पर लिखी गई बहुमूल्य निधि माना जाता है। इसमें पहली बार राजनीति को एक वैज्ञानिक रूप दिया गया है। प्लेटो राजनीति और नैतिकता में कोई भेद नहीं समझता था जबकि अरस्तू ने इस ग्रन्थ में न केवल राजनीति को नैतिकता अथवा नीति

से भिन्न बताया अपितु राजनीति को सर्वोत्तम विज्ञान (Master Science) कहा। 'पॉलिटिक्स' के विषय में अनेक विरोधी भावनाएँ और विचार विद्यमान हैं। एक ओर जैलर और फोस्टर जैसे विद्वान हैं तो दूसरी ओर विरोधी विचार प्रकट करने वाले टेलर तथा मैक्इल्वेन जैसे लेखक हैं। जैलर के अनुसार, "अरस्तू की पॉलिटिक्स प्राचीनकाल में हमें प्राप्त होने वाली सर्वाधिक मूल्यवान निधि है तथा राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में हमें प्राप्त होने वाला महानतम योगदान है"। फोस्टर का कहना है- "यदि यूनानी राजनीतिक दर्शन का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधित्व करने वाला कोई ग्रन्थ हो सकता है तो वह यही है"। इस

मत के सर्वथा विपरीत विचार, ए. ई. टेलर का है। इसके अनुसार, "पॉलिटिक्स के अतिरिक्त अरस्तू का कोई दूसरा ग्रन्थ एक बहुमुखी विषय की विवेचना में इतना साधारण कोटि का नहीं रहा है तथा सत्य यह है कि सामाजिक विषयों में उसकी अभिरुचि तीक्ष्ण नहीं थी।" मैक्ड्ल्वेन के अनुसार "यह (पॉलिटिक्स) यदि अत्यन्त महत्वपूर्ण भी नहीं है तो भी राजनीति दर्शन के शास्त्रीय ग्रन्थों में अत्यन्त हैरानी पैदा करने वाला ग्रन्थ तो है ही।"

'पॉलिटिक्स' के बारे में विद्वानों के इसी प्रकार परस्पर विरोधी विचार हैं, पर इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि 'पॉलिटिक्स' राजनीति के क्षेत्र में अरस्तू की एक अनुपम देन है। प्रो. बार्कर ने इसे राजनीति के क्षेत्र में 'सर्वश्रेष्ठ रचना' (Magnum opus) कहा है और बाउले के शब्दों में "अपने विषय पर 'पॉलिटिक्स' सबसे अधिक प्रभावक और सबसे अधिक गम्भीर ग्रन्थ है जिसका अध्ययन सबसे पहले किया जाना चाहिए।"

अरस्तू : प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक के रूप में

(Aristotle as the First Political Scientist)

मैक्सी ने अरस्तू को प्रथम वैज्ञानिक विचारक कहा है। डनिंग के अनुसार, पश्चिम जगत में राजनीति विज्ञान अरस्तू से ही प्रारम्भ हुआ। उसकी महानतम कृति 'पॉलिटिक्स' को राजनीति विज्ञान की अनुपम निधि माना जाता है। यद्यपि अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने राजनीति पर विचार किया था किन्तु उसका ज्ञान कल्पनावादी था जो वास्तविक तथ्यों से दूर था इसके अतिरिक्त प्लेटो राजनीति को स्वतन्त्र विज्ञान का पद भी नहीं दिला सका। वह राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का ही अंग मानता है। राजनीति विज्ञान को एक स्वतन्त्र विज्ञान की गरिमा प्रदान करने का कार्य अरस्तू के द्वारा किया गया। उसने राजनीति शास्त्र को उच्च कोटि का शास्त्र माना क्योंकि यह राज्य जैसी सर्वोच्च संस्था का अध्ययन करता है। अरस्तू को निम्नलिखित कारणों के आधार पर राजनीति विज्ञान का जनक अथवा प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक कहा जा सकता है।

1. **आगमनात्मक विधि का अनुसरण**- अधिकतर विद्वानों ने अरस्तू को राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में आगमनात्मक विधि के प्रणेता के रूप में स्वीकार किया है। इस विधि की विशेषता यह है कि इसमें विचारक जो कुछ देखता है या जिन ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करता है उसका निष्पक्ष रूप से बिना अपनी किसी पूर्व धारणा के अध्ययन करता है और इस अध्ययन के फलस्वरूप जो कुछ भी निष्कर्ष निकलता है उनमें वैज्ञानिकता का पुट होता है। इस दृष्टि से अरस्तू ने अपने समय में प्रचलित 158 संविधानों का अध्ययन किया और उस अध्ययन के सन्दर्भ में निकले निष्कर्षों के आधार पर ही राज्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

2. **राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक करना**- प्लेटो ने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का एक अंग माना है। उसने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र में ही समाहित कर दिया जिससे राजनीतिशास्व का अपना स्वतन्त्र और पृथक स्थान नहीं रहा। इसके विपरीत अरस्तू वह प्रथम विचारक है, जिसने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक कर उसे स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया। उसने नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में अन्तर किया है। उसके अनुसार नीतिशास्त्र का सम्बन्ध उद्देश्यों (ends) से है, जबकि राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध उन साधनों (means) से है जिनके द्वारा उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

3.. **यथार्थवादी विचारक** -अरस्तू प्रथम विचारक है जिसने राजनीति पर यथार्थवादी और व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार किया। उसने सदैव ही अतिवादिता से बचते हुए मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। केटलिन के शब्दों में, "व्यावहारिक विचारक होने के कारण अरस्तू ने मध्यममार्ग केअनुसरण पर सबसे अधिक जोर दिया।" वह यह मानता है कि विकास के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध असन्तुलन है, चाहे वह राजनीतिक असन्तुलन हो अथवा सामाजिक और आर्थिक ।

4. **राज्य के पूर्ण सिद्धान्त का क्रमबद्ध निरूपण -** अरस्तू ही वह पहला विचारक है जिसने राज्य का पूर्ण सैद्धान्तिक वर्णन किया है। राज्य के जन्म और उसके विकास से लेकर उसके स्वरूप, संविधान की रचना, सरकार के निर्माण, नागरिकता की व्याख्या, कानून की सर्वोच्चता और क्रान्ति आदि अनेक

महत्वपूर्ण विषयों पर उसने विस्तार से प्रकाश डाला है। ये सभी आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों के चिन्तन के विषय हैं और इन विषयों पर इतना क्रमबद्ध विवेचन प्लेटो के दर्शन में भी नहीं मिलता है। बार्कर के शब्दों में, "अरस्तू के विचार प्रायः आधुनिकतम हैं, भले ही अरस्तू का राज्य केवल एक नगर-राज्य ही रहा है।" अरस्तू ही वह पहला विचारक था जिसने यह प्रतिपादित किया कि "मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है।" अरस्तू का यह कथन आज भी राजनीतिशास्त्र की अमूल्य धरोहर है।

5. **संविधानों का वैज्ञानिक वर्गीकरण-** बार्कर ने अरस्तू की महान कृति 'पॉलिटिक्स' के अनुवादमें लिखा है, "अगर कोई यह पूछे कि अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' ने सामान्य यूरोपीय विचारधारा को उत्तराधिकारी के रूप में क्या दिया तो इसका उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सकता है 'संविधानशास्त्र' ।" वास्तव में संविधान के बारे में जितना विस्तृत विचार हमें अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं और उस समय जबकि दुनिया में राजनीतिक विचारधाराओं का उदय हो रहा था, संविधान पर व्यक्त अरस्तू के विचार कल के विचारों जैसे मालूम होते हैं। अरस्तू को संविधान और संविधानवाद का जनक कहा जाता है।

6. **नागरिकता की व्याख्या**- अरस्तू द्वारा नागरिकता की जो व्याख्या की गई है वह राजनीतिशास्त्र के लिए बहुत सहायक और आधुनिक नागरिकता की परिभाषा को निर्धारित करने में मार्गदर्शन सिद्ध हुई है। नागरिकता सम्बन्धी विषय के अध्ययन के लिए आगे चलकर विद्वानों ने अरस्तू के मूल विचारों को ही आधार बनाया। नागरिकता का विचार अरस्तू की एक मौलिक देन है।

7. **कानून की सर्वोच्चता का प्रतिपादन** -अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता के बारे में एक सम्यक विचार प्रस्तुत किया है। अरस्तू सर्वाधिक बुद्धिसम्पन्न व्यक्तियों के विवेक के स्थान पर परम्परागत नियमों और कानूनों की श्रेष्ठता में विश्वास करता है जबकि प्लेटो अतिमानव के शासन में विश्वास करता है। प्लेटो एक ऐसे अतिमानव (superman) की खोज करना चाहता है जो आदर्श राज्य का निर्माण कर सके, अरस्तू एक ऐसे अतिविज्ञान (Super Science) का अन्वेषण करना चाहता है, जो राज्य को अच्छे से अच्छा बना सके। अरस्तू ने

कानून की सर्वोच्चता के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसमें वैज्ञानिक सम्प्रभुता के बीज निहित हैं। आगे चलकर ग्रोशियस, बेन्थम, हॉब्स, ऑस्टिन और लास्की ने अरस्तू की व्याख्या के आधार पर ही वैधानिक सम्प्रभुत्ता की अवधारणा का प्रतिपादन किया।

8. **सरकार के अंगों का निर्धारण** -अरस्तू ने सरकार के तीन अंगों नीति निर्धारक, प्रशासकीय और न्यायिक का निरूपण किया है। ये शासकीय अंग वर्तमान समय के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के समान ही हैं। अरस्तू ने इन विभिन्न शासकीय अंगों के संगठन, कार्यक्षेत्र और शक्तियों के बारे में विस्तार से विचार किया है। अरस्तू की यह खोज आगे चलकर शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त तथा नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त की रूपरेखा बनी।

9. **राजनीति पर भौगोलिक एवं आर्थिक प्रभावों का अध्ययन** -अरस्तू ने राजनीति पर पड़ने वाले भौगोलिक और आर्थिक प्रभावों को बहुत अधिक महत्व दिया है। उसने इस मूलभूत तथ्य का प्रतिपादन किया कि सम्पत्ति का लक्ष्य और वितरण शासन व्यवस्था के रूप को निश्चित करने में निर्णयकारी तत्व होता है, राज्य की समस्याओं का एक बहुत बड़ा कारण अत्यधिक धनी-निर्धनों के बीच चलने वाला संघर्ष है, व्यक्तियों का व्यवसाय उनकी राजनीतिक योग्यता और प्रवृत्ति को प्रभावित करता है, यदि सम्पत्ति पर स्वामित्व व्यक्तिगत रहे, लेकिन उसका उपयोग सार्वजनिक हो तो राज्य की समस्याएँ सरलता से हल हो सकती हैं। राज्य की भौगोलिक स्थिति की चर्चा करते हुए अरस्तू कहता है कि राज्य सागर तट के पास होना चाहिए ताकि विदेशों से व्यापार सम्बन्ध रखे जा सकें।संक्षेप में, अरस्तू पहला राजनीतिक वैज्ञानिक है। उसने राजनीति को एक पूर्ण विज्ञान का सम्मान प्रदान किया। वह प्लेटो की भाँति कल्पनावादी और आदर्शवादी नहीं था, वरन एक पूर्णतः व्यावहारिक एवं यथार्थवादी दार्शनिक था जिसने राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग करके उसे एक स्वतन्त्र विज्ञान का रूप प्रदान किया

11.5 अरस्तू का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त (Aristotle's Theory of the State)

'पॉलिटिक्स' में अरस्तू ने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उसने राज्य के स्वरूप, जन्म और लक्ष्य का सुन्दर प्रतिपादन किया। उसके राज्य सम्बन्धी विचार इतने सुव्यवस्थित है कि अरस्तू के लगभग 2350 वर्ष बाद भी आज उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया जाता है।

अरस्तू के राज्य की उत्पत्ति एवं विकास संबंधी विचार

अरस्तू अपने गुरू प्लेटो की भाँति सोफिस्ट वर्ग के इस विचार का खण्डन करता है कि राज्य की उत्पत्ति समझौते से हुई है और उसका अपने नागरिकों की शक्ति पर कोई वास्तविक अधिकार नहीं है। अरस्तू के अनुसार व्यक्ति अपनी प्रकृति से ही एक राजनीतिक प्राणी है। राज्य व्यक्ति की इस प्रवृत्ति का परिणाम है। उसका मत था की राज्यं का जन्म विकास के कारण हुआ है। वह स्वाभाविक संस्था है। उसके उद्देश्य और कार्य नैतिक है। वह सब संस्थाओं में श्रेष्ठ और उच्च है।

अरस्तू के अनुसार राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं से होती है, परन्तु उसका अस्तित्व सजीवन की सिद्धि के लिए बना रहता है। अरस्तू के शब्दों में, "इसलिए यह जाहिर है कि राज्य प्रकृति की रचना है और मनुष्य प्रकृति से राजनीतिक प्राणी है।" जो मनुष्य प्रकृति से या मात्र संयोगवश किसी भी राज्य से सम्बद्ध न हो, वह या तो नराधम होगा, या अति मानव ।

व्यक्ति के लिए राज्य की उत्पत्ति प्राकृक्तिक हैं, अपने इस विचार की पुष्टि के लिए अरस्तू ने दो तर्क दिये हैं- सर्वप्रथम, वह मानता है कि प्रत्येक राज्य प्रकृक्तिजन्य है क्योंकि राज्य उन समस्त समुदायों का पूर्ण रूप है, जो प्रकृक्तिजन्य हैं। राज्य में भी वही गुण विद्यमान है जो इसका विकास करने वालें पूर्ववर्ती समुदायों में पाया जाता है। राज्य की प्रारम्भिक एवं मूलभूत इकाई अरस्तू व्यक्ति को मानता है जो अकेले में अपूर्ण है। अपनी दैनिक आवश्यकताओं को जुटाने एवं अपने जीवन को सुन्दर व सुखमय बनाने के लिए व्यक्ति को अनेक समुदायों की आवश्यकता होती है। परिवार, ग्राम, राज्य आदि

व्यक्ति के कुछ ऐसे ही मूलभूत समुदाय हैं। जिस अर्थ में परिवार या ग्राम व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक होने के कारण स्वाभाविक समुदाय (Natural Association) हैं, उसी अर्थ में राज्य भी व्यक्ति का एक नितान्त आवश्यक समुदाय है। इस समुदाय की उपस्थिति से ही व्यक्ति आत्मनिर्भरता एवं पूर्णत्व की स्थिति को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं,। अरस्तू का मत है "केवल जीवन मात्र की आवश्यकता के लिए राज्य उत्पन्न होता है और अच्छे जीवन की उपलब्धि के लिए कायम रहता है।" अरस्तू के विचार में राज्य इस कारण प्राकृक्तिक है कि वह उद्देश्य अथवा सम्पूर्णत्व है जिसकी ओर अन्य दूसरे समुदाय बढ़ते हैं।

व्यक्ति के सम्पूर्ण प्राकृतिक समुदायों का विकसित स्वरूप राज्य है। यदि परिवार आत्मनिर्भरता सम्बन्धी व्यक्ति की सभी आवश्यकताएँ पूर्ण कर पाते हैं तो ग्राम व्यक्ति के लिए आवश्यक हो जाते और इसी प्रकार यदि परिवार एवं ग्राम ही व्यक्ति को आत्मनिर्भरता प्रदान कर पाते तो राज्य उसके लिए महत्वहीन हो जाते, किन्तु राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायों में इतनी क्षमता नहीं है कि वे व्यक्ति को आत्मनिर्भर बना सकें, अतः राज्य व्यक्ति के लिए एक प्राकृतिक एवं मूलभूत समुदाय है। दूसरा, राज्य को प्राकृक्तिक कहने का एक अन्य कारण भी है। अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य एवं लक्ष्य आत्मनिर्भरता की प्राप्ति है। इसे व्यक्ति के जीवन का महानतम लक्ष्य कहा जा सकता है। सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य की उपलब्धि का साधन राज्य है। अतः सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति का साधन होने के कारण भी राज्य व्यक्ति के लिए प्राकृतिक संस्था है।

अरस्तू के अनुसार राज्य मनुष्य की सामाजिकता का परिणाम है। सामाजिक जीवन अन्य | जीवनधारियों में भी पाया जाता है, परन्तु व्यक्ति विचारशील प्राणी है, इसलिए उसकी सामाजिकता अन्य श्रेणी के जीवधारियों से भिन्त्र है। राज्य सामाजिक मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों तथा कुछ विशेष उद्देश्यों पर आधारित है और इसने अनेक स्थितियों से गुजरकर अपना पूर्ण विकास प्राप्त किया है।

सर्वश्रेष्ठ विवाह पद्धति के आधार पर अरस्तू ने सबसे पहले सामाजिक संस्था परिवार की स्थापना की जिसमें पति-पत्नी और सन्तान एक साथ रहते हैं। परिवार में हमें राज्य के बीज दिखाई देते हैं, क्योंकि परिवार का स्वामी शासक के रूप में कार्य करता है। परिवार स्वाभाविक समुदाय है क्योंकि यह सन्तानोत्पत्ति और सुरक्षा की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

परन्तु व्यक्ति केवल सुरक्षा ही नहीं चाहता, उसकी अन्य भी अनेक भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताएँ हैं। इसलिए कुछ परिवार मिलकर ग्राम का निर्माण करते हैं। ग्राम के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़े निपटाने और उनके सामूहिक जीवन व्यतीत करने का प्रबन्ध किया जाता है। लेकिन ग्राम भी व्यक्तियों की सभी भौतिक, बौद्धिक और नैतिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाते। अतः ग्रामों के सम्मिलन से नगर-राज्य का जन्म होता है। नगर-राज्य सुरक्षा और न्याय प्रदान करने की आवश्यकता ग्राम की तुलना में अधिक प्रकार से पूरी कर सकता है और यह व्यक्ति की बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियों को भी अधिक अच्छे प्रकार से विकसित कर सकता है। अतः नगर-राज्य व्यक्तियों का अन्तिम, पूर्ण एवं श्रेष्ठतम समुदाय है। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार परिवार से ग्राम और ग्राम से राज्य अस्तित्व में आये। अरस्तू के शब्दों में- "जब बहुत से ग्राम एक दूसरे से पूर्ण रूप से इस प्रकार मिल जाते हैं कि वे केवल एक ही समाज का निर्माण करते हैं, तब वह समाज-राज्य बन जाता है।" दूसरे शब्दों में, राज्य कुलों (परिवार) और ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।

राज्य के विकास का स्वरूप

अरस्तू के अनुसार राज्य एक सावयव जीवधारी के समान है, अतः जिस प्रकार एक सावयवी जीवधारी का विकास होता है उसी प्रकार राज्य का भी विकास होता है।

अरस्तू के विचार को मानव शरीर के उदाहरण से समझाया जा सकता है। मानव शरीर में हाथ, पैर, नाक, कान आदि अनेक अंग होते हैं, इन अंगों को अलग-अलग कार्य करने पड़ते हैं और इन्हें करने के लिए वे शरीर पर निर्भर

रहते हैं। यदि शरीर का कोई अंग अपना कार्य करना बन्द कर देता है या उसे ठीक प्रकार से नहीं करता है तो शरीर निर्बल हो जाता है। जो बात शरीर के बारे में कही गयी है, वही राज्य के बारे में भी कही जा सकती है। जिस प्रकार शरीर का विकास स्वाभाविक ढंग से होता है, उसी प्रकार राज्य का भी हुआ है। शरीर के समान राज्य भी अनेक अंगों से मिलकर बना है। ये अंग है- व्यक्ति और उनकी संस्थाएँ, परिवार, ग्राम आदि। जिस प्रकार शरीर के सब अंगों को अपने-अपने निर्धारित कार्य करने पड़ते हैं, उसी प्रकार राज्य के सब अंगों को भी अपने निर्धारित कार्य करने आवश्यक हैं।

इस प्रकार राज्य के विकास का स्वरूप सावयवी (organic) या जैविक है। व्यक्ति, परिवार और ग्राम इसके विभिन्न अंग हैं। ये अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और इनका क्रमिक विकास होता रहता है। इनके विकास की अन्तिम परिणति राज्य में होती है।

राज्य के विकास के सम्बन्ध में अरस्तू के दृष्टिकोण को समझाते हुए बार्कर ने लिखा है "राजनीतिक विकास, दैनिक विकास है।" राज्य तो मानो पहले से ही ग्राम, परिवार और व्यक्ति के रूप में भ्रूणावस्था में होता है। राजनीतिक विकास की प्रक्रिया ऐसी है मानो राज्य आरम्भ से लेकर अन्त तक विभिन्न रूपों को धारण करता है और प्रत्येक रूप इसको पूर्णता के अधिक से अधिक निकट ले जाता है।

इस प्रकार अरस्तू के राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार' विकासवादी सिद्धान्त' के अनुरूप हैं। परिवार के विकास से व्यक्ति पूर्णत्व की दिशा में कुछ कदम बढ़ाता नजर आता है। कुछ और अधिक पूर्णता की प्राप्ति उसकी ग्राम को जन्म देती है और सम्पूर्णता एवं आत्मनिर्भरता की दिशा में बढ़े हुए मानव के चरण अपनी मंजिल तक उस समय पहुँच जाते हैं जबकि सर्वोच्च एवं सर्वव्यापी समुदाय के रूप में राज्य की स्थापना सम्भव हो जाती है।

11.6 अरस्तू के अनुसार राज्य की विशेषताएँ

1. **राज्य एक स्वाभाविक संस्था है (State is a Natural Institution)-** अरस्तू द्वारा राज्य के प्रादुर्भाव के बारे में प्रकट किये गये विचारों से प्रकट

होता है कि वह राज्य को स्वाभाविक संस्था मानता है। उसके अनुसार राज्य मानव के भावनात्मक जीवन की अभिव्यंजना है और इससे अलग रहकर व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। राज्य परिवार का ही वृहत रूप होने के कारण यह भी वैसे ही स्वाभाविक है जैसा कि परिवार। व्यक्ति के विकास का जो कार्य परिवार में प्रारम्भ होता है उसकी पूर्ण सिद्धि राज्य ही होती है।

'राज्य एक स्वाभाविक संस्था है' इस कथन की पुष्टि में अरस्तू का एक तर्क यह भी है कि जिन संस्थाओं पर राज्य आधारित है वे संस्थाएँ स्वाभाविक हैं, तो निश्चय ही उन स्वाभाविक संस्थाओं का विकसित रूप भी स्वाभाविक ही होगा।

अरस्तू का मत है कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था इसलिए भी है कि राज्य का जन्म मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एवं उसके सर्वांगीण विकास के लिए स्वाभाविक रूप से हुआ है। उसके शब्दों में, "मानवीय आवश्यकताओं पर आधारित मानव समुदाय के बढ़ते हुए घेरे की पराकाष्ठा राज्य है।" वह कहता है कि राज्य स्वाभाविक है और इसके बिना मनुष्य का जीवन सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति राज्य में नहीं रहता वह या तो देवता है या पशु ।

2. **राज्य व्यक्ति से पूर्व का संगठन है (State is Prior to Individual)-** अरस्तू का कहना है राज्य मनुष्य से प्राथमिक है। ऐसा कहने में अरस्तू का तात्पर्य यह नहीं था कि ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले हुआ, वरन् उसके कहने का अभिप्राय यह था कि मानसिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राज्य का जन्म पहले ही हो चुका था। यह कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि राज्य एक पूर्ण समुदाय है, व्यक्ति केवल एक तत्व। पूर्णता पहले आती है, उसके बाद में अंग, इसलिए राज्य व्यक्ति से पूर्ववर्ती है। मनुष्य के बौद्धिक विकास का पूर्ण कल्पना के रूप में राज्य का जन्म व्यक्ति, परिवार और ग्राम के अस्तित्व में आने से पूर्व ही हो चुका था। अरस्तू का कथन है कि, "समय की दृष्टि से परिवार पहले है, परन्तु प्रकृति की दृष्टि से राज्य पहले है।"

अरस्तू के इस दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए फोस्टर ने लिखा "राज्य का स्थान प्रकृतिवश परिवार और व्यक्ति से पहले है, क्योंकि अवयवी अनिवार्यतः अवयव से पहले आता है। "राज्य प्रकृति की रचना है और वह व्यक्ति से पहले आता है इसका प्रमाण यह है कि यदि व्यक्ति को राज्य से पृथक कर दिया जाये तो वह आत्मनिर्भर नहीं रह जाता अतः उसकी स्थिति संपूर्ण अंग की तुलना में एक अंग जैसी हो जाती है।

3. **राज्य सर्वोच्च समुदाय है (The State is a Supreme Association)-** अरस्तू के अनुसार राज्य एक सर्वोच्च समुदाय है। उसके शब्दों में, "राज्य केवल समुदायों का समुदाय ही नहीं है, वरन् सर्वोच्च समुदाय है।" इस दृष्टिकोण के पक्ष में अरस्तू कहता है- प्रथम, राज्य में अनेक प्रकार की सामाजिक, धार्मिक संस्थाएँ होती हैं। इन सब संस्थाओं का अस्तित्व राज्य के कारण ही होता है, ये केवल राज्य के अन्दर ही कार्य कर सकती है, ये राज्य के अधीन होती हैं और राज्य का इन पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। द्वितीय राज्य के अन्तर्गत विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक संस्थाएँ एकपक्षीय होती हैं। जैसे धार्मिक संस्थाएँ धार्मिक आवश्यकताओं और सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। इनमें से कोई भी व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती। राज्य ही एकमात्र ऐसी संस्था है जो व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करके उसका अधिकतम विकास करती है, अतः राज्य सर्वोच्च समुदाय है। तृतीय राज्य के अन्तर्गत कार्यरत सभी संस्थाओं का कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होता है। पर राज्य अपने नागरिकों को अपने जीवन को शुभ और सुखी बनाने का अवसर प्रदान करता है। वे इस प्रकार के जीवन की प्राप्ति राज्य के सदस्यों के रूप में ही कर सकते हैं, समुदायों या संस्थाओं के सदस्यों के रूप में नहीं। अतः राज्य सर्वोच्च समुदाय है।

4. **राज्य का स्वरूप जैविक है (State is like an Organic)-** अरस्तू के राज्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका स्वरूप जैविक अथवा आंगिक (Organic) है। जैविक सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण के

बहुत अंग होते हैं, प्रत्येक अंग का अपना पृथक कार्य होता है और प्रत्येक अंग अपने अस्तित्व एवं जीवन के हेतु सम्पूर्ण पर पूर्ण रूप से निर्भर करता है। जब

अरस्तू राज्य को समुदायों का समुदाय कहता है, तब उसके सिद्धान्त में राज्य का यही जैविक तत्व परिलक्षित होता है। उसने राज्य की तुलना शरीर से और व्यक्ति की तुलना हाथ जैसे अंग से की है। उसके अनुसार राज्य और व्यक्ति में वही सम्बन्ध होता है जो शरीर और हाथ में है। उसने यह भी कहा है कि जिस प्रकार शरीर के किसी एक अंग में अत्यधिक वृद्धि होने से समस्त शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है, उसी प्रकार राज्य के किसी एक तत्व में अत्यधिक वृद्धि होने से राज्य का स्थायित्व खतरे में पड़ जाता है।

5. **राज्य एक आत्मनिर्भर संगठन है (The State is self-sufficient)-** अरस्तू के अनुसार राज्य की एक प्रमुख विशेषता उसका आत्मनिर्भर होना है। आत्मनिर्भरता से अभिप्राय है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करता है। अरस्तू ने 'आत्मनिर्भरता' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। उसने इसके लिए यूनानी शब्द 'आतरकिया' (Autarkia) का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है 'पूर्ण निर्भरता'। अरस्तू के शब्दों में, "आत्मनिर्भरता वह गुण है जिसके कारण जीवन स्वयं वाँछनीय बन जाता है और उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जाता है।" वस्तुतः अरस्तू ने आत्मनिर्भर शब्द का प्रयोग अतिव्यापक अर्थ में किया है। इससे उसका अभिप्राय यह है कि राज्य न केवल व्यक्ति की भौतिक समस्याओं का समाधान करता है अपितु उसे अच्छा और सुखी जीवन व्यतीत करने में भी सहायता देता है। राज्य व्यक्ति के लिए उन समस्त परिस्थितियों का निर्माण करता है जो उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। अरस्तू के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए बार्कर ने लिखा है, "आत्मनिर्भरता का अर्थ है- राज्य में ऐसे भौतिक साधनों और ऐसी नैतिक प्रेरणाओं और भावनाओं की उपस्थिति जो किसी प्रकार की बाह्य भौतिक या नैतिक सहायता पर निर्भर हुए बिना पूर्ण मानव विकास को सम्भव बनाए।"

6. **नगर राज्य सर्वाधिक श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन है (City-State is the highest Political Association)-** अरस्तू के लिए प्लेटो की ही भाँति नगर-राज्य सर्वाधिक श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन था। यद्यपि उसके जीवनकाल में ही फिलिप ने यूनान के नगर राज्यों का अन्त कर अपने साम्राज्य की स्थापना की

थी, लेकिन अरस्तू ने इन साम्राज्यों के सम्बन्ध में बिलकुल भी विचार नहीं किया है। उसने तो आदर्श राज्य का चित्रण एक नगर राज्य के रूप में ही किया है। अरस्तू का यह नगर-राज्य समस्त विज्ञान, कला, गुणों और पूर्णता में एक साझेदारी है।

7. **राज्य विविधता में एकता है (The State is a Unity in Diversity)-** अरस्तू के अनुसार राज्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता 'विविधता में एकता' है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में एकता पर विशेष बल दिया है और वह सम्पूर्ण राज्य को एक परिवार का रूप देना चाहता था। किन्तु अरस्तू प्लेटो के एकता सम्बन्धी विचारों से सहमत नहीं है। प्लेटो के समान अरस्तू राज्य की चरम एकता पर बल न देकर, राज्य की विविधता में एकता का समर्थन करता है। अरस्तू के अनुसार राज्य का आदर्श स्वरूप, उसकी विविधता में एकता है। उसका निर्माण विभिन्न तत्वों के मिलने से होता है। जिस प्रकार सुन्दर चित्र विभिन्न रंगों के अनुपम मिश्रण से बनता है और जिस प्रकार मधुर संगीत की सृष्टि विभिन्न रंगों और ताल के समन्वय से होती है, उसी प्रकार आदर्श राज्य का निर्माण उसके विभिन्न अंगों के उचित सामंजस्य और संगठन से होता है। स्वयं अरस्तू ने कहा है, "राज्य तो स्वभाव से ही बहु-आयामी होता है। एकता की ओर अधिकाधिक बढ़ना तो राज्य का विनाश करना होगा।"

8. **राज्य एक क्रमिक विकास है (The State is a Gradual Evolution)-** अरस्तू राज्य के विकासवादी सिद्धान्त का समर्थक है। उसके अनुसार राज्य का क्रमिक विकास हुआ है। राज्य का विकास उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार सावयवी जीवधारी का होता है। राज्य के विकास का रूप आंगिक (organic) है। व्यक्ति, परिवार और ग्राम इसके विभिन्न अंग हैं। ये अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और इनका क्रमिक विकास होता रहता है। पूर्ण विकास के अंत में राज्य आता है।

9. **राज्य आध्यात्मिक संगठन है (The State is a Spiritual Organism)-** अरस्तू के अनुसार राज्य एक मानवीय समुदाय है अतः इसका उद्देश्य मानव सद्गुणों या अच्छी शक्तियों का विकास करना है। यह मानव को बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक श्रेष्ठता की प्राप्ति के साधन प्रदान करता है। तभी

तोअरस्तू कहता है" राज्य नैतिक जीवन में आध्यात्मिक समुदाय है।" (State is a spiritual association in moral life) जिस प्रकार व्यक्ति नैतिक जीवन का अनुसरण कर आनन्द की प्राप्ति करता है उसी प्रकार राज्य का आनन्द भी सकारात्मक अच्छाई का विकास है।

10. **संविधान राज्य की पहचान है (Constitution is the Identity of the State)-** अरस्तू की धारणा है कि संविधान राज्य की पहचान है और संविधान में परिवर्तन राज्य में परिवर्तन करने के समान है।

11. **राज्य और शासन में भेद (Distinction between State and Government)-** अरस्तू ने राज्य और शासन में स्पष्ट भेद किया है। जहाँ राज्य समस्त नागरिकों और गैर नागरिकों का समूह है वहाँ शासन उन नागरिकों का समूह है जिनके हाथ में सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता है। अरस्तू का कहना है शासन में परिवर्तन तो उसी समय आ जाता है जब शासकों को अपदस्थ कर दिया जाता है। राज्य में परिवर्तन तभी होता है जब उसके संविधान में परिवर्तन होता है।

11.7 अरस्तू के अनुसार राज्य के उद्देश्य एवं कार्य

अरस्तू के अनुसार "राज्य का अस्तित्व सजीवन के लिए है, मात्र जीवन के लिए नहीं। यदि इसका उद्देश्य मात्र जीवन को बनाये रखना होता तो गुलाम और जंगली जानवर भी राज्य बना लेते, परन्तु वे राज्य नहीं बना सकते क्योंकि न तो जीवन के आनन्द में उनका कोई हिस्सा होता है न वे अपनी पसन्द काजीवन जी सकते हैं. राज्य का अस्तित्व मैत्री के लिए या अन्याय से सुरक्षा के लिए भी नहीं होता, न परस्पर संसर्ग तथा विनिमय के लिए..... अतः राजनीतिक समाज का अस्तित्व उदात्त कार्यों के लिए है, मात्र साहचर्य के लिए नहीं।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि राज्य के कार्यों और उद्देश्यों के प्रति अरस्तू का दृष्टिकोण रचनात्मक और सकारात्मक (Positive) है। उनका यह दृष्टिकोण लॉक और स्पेन्सर जैसे व्यक्तिवादियों के नकारात्मक और विध्वंसात्मक

दृष्टिकोण से पूर्णतया भिन्न है। अरस्तू के अनुसार राज्य एक सकारात्मक अच्छाई है, अतः इसका कार्य केवल बुरे कामों अथवा अपराधों को रोकना नहीं वरन् मानव को नैतिकता और सद्गुणों के मार्ग पर आगे बढ़ाना है। इस प्रकार राज्य का उद्देश्य है व्यक्ति के जीवन को श्रेष्ठ बनाना और व्यवहार में उसके द्वारा वे सभी कार्य किये जाने चाहिए जो इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हों। संक्षेप में, अरस्तू राज्य को निम्न कार्य सौंपता है:

1. अपने सदस्यों के लिए पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की व्यवस्था करना। आत्मनिर्भरता का व्यापक अर्थ है- व्यक्ति न केवल भौतिक उपकरणों की दृष्टि से ही आत्मनिर्भर हों, अपितु नैतिक प्रोत्साहनों एवं प्रेरणाओं की दृष्टि से भी आत्मनिर्भर बनें। इस विस्तृत अर्थ में आत्मनिर्भरता की प्राप्ति का एकमात्र साधन राज्य है।

2. उत्तम और आनन्दपूर्ण जीवन का निर्माण उत्तम जीवन की व्याख्या करते हुए बार्कर ने लिखा है कि यह एक ऐसा जीवन है जो उत्तम आचरणों से ओत-प्रोत है। नैतिक और बौद्धिक सद्गुण ही उत्तम जीवन के मुख्य तत्व है और इन दोनों की प्राप्ति के लिए बाह्य साधन अपरिहार्य हो जाते हैं। बाहा साधनों में आर्थिक व्यवस्था और शारीरिक स्व प्रगति को मुख्य माना गया है। अरस्तू आनन्द को 'सत' से पृथक नहीं करता। अरस्तू के शब्दों में, "हमें यह मानना होगा कि हर व्यक्ति में आनन्द की मात्रा उसके द्वारा किये गये उत्तम और बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यों तथा उत्तमता और बुद्धिमत्ता के गुणों के अनुसार प्राप्त होती है। सार यह है कि मनुष्य का उद्देश्य एक नैतिक और आनन्दपूर्ण जीवन बिताना है और राज्य ऐसे जीवन को सम्भव बनाने के लिए स्थित है और इस प्रकार स्वयं एक नैतिक संस्था है। एक नैतिक और सद्गुणी जीवन का निर्माण करना इस राज्य का उद्देश्य है।"

3. अरस्तू ने राज्य का एक प्रमुख कार्य नागरिकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना माना है। शिक्षा को कुछ अर्थों में अरस्तू ने प्लेटो से भी अधिक महत्व दिया है। फोस्टर के शब्दों में, "लॉक (व्यक्तिवादी) के विचार से शिक्षा राज्य का कार्य नहीं है अरस्तू के विचार से यह उसका प्रमुख कार्य है। इसकी संस्थाओं का उद्देश्य मनुष्यों को उत्कृष्ट बनाना है- त केवल बौद्धिक स्तर पर बल्कि

नैतिक औरभौतिक स्तर पर भी, न केवल बाल्यकाल में बल्कि उनके सम्पूर्ण जीवन के दौरान। राज्य नागरिकों के लिए पाठशाला होना चाहिए।"

1. शिक्षा सम्बन्धी कार्य के साथ ही अरस्तू ने राज्य का यह कार्य भी माना है कि वह नागरिकों के लिए अवकाश जुटाने का प्रयत्न करे। ए.के. रोगर्स के अनुसार, "चूँकि अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य श्रेष्ठ जीवन का निर्माण है और यह अवकाश से ही सम्भव है।"

11.8 अरस्तू : संविधानों का वर्गीकरण(Aristotle: Classification of Constitutions)

अरस्तू द्वारा संविधानों का वर्गीकरण राजनीति विज्ञान को कोई मौलिक देन नहीं है। उसने प्लेटो द्वारा 'स्टेट्समैन' में किए गए राज्यों के वर्गीकरण को ही अपनाया है। 'पॉलिटिक्स' के तीसरे भाग में संविधानों का वर्गीकरण किया गया है तथा पुस्तक में चार से छह भाग में विभिन्न संविधानों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अरस्तू की संविधान विषयक विवेचना 158 भिन्न-भिन्न संविधानों के अध्ययन पर आधारित है।

संविधान की परिभाषा

अरस्तू ने संविधान की व्याख्या दो रूप में की है सर्वप्रथम वह कहता है- राज्य के विभिन्न मनुष्यों के जीवन-निर्वाह के विशेष नियमों का नाम ही संविधान है। इस प्रकार संविधान एक जीवन पद्धति है, जीवन-निर्वाह का एक विशेष मार्ग है।

पॉलिटिक्स की चतुर्थ पुस्तक में वह संविधान की परिभाषा करते हुए लिखता है- यह (विधान) राज्य में विभिन्न पदों का संगठन है जिससे उनकी वितरण विधि को निश्चित किया जाता है, सार्वभौम सत्ता का निर्धारण किया जाता है एवं

समुदाय तथा उसके समस्त सदस्यों के द्वारा अंगीकार लक्ष्य की प्रकृति का निर्णय किया जाता है।

जहाँ पहली परिभाषा में अरस्तू संविधान के नैतिक रूप की ओर ध्यान आकर्षित करता है वहाँ दूसरी परिभाषा में संविधान के राजनीतिक स्वरूप की ओर संकेत करता है। संविधान केवल जीवन-निर्वाह की पद्धति ही नहीं, राज्य के प्रशासन की व्यवस्था का भी नाम है। संविधान द्वारा शासन के विभित्र अंगों का वर्णन किया जाता है, उन अंगों का स्वरूप निर्धारित किया जाता है तथा उनका परस्पर सम्बन्ध सुनिश्चित किया जाता है।

अरस्तू द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं का विश्लेषण करने से निम्न बातें स्पष्ट होती है-

1. संविधान राज्य अथवा उसके पदों का संगठन है। संविधान द्वारा ही राज्य की रूपरेखा एवं राज्य का आकार-प्रकार सुनिश्चित होता है।

2. संविधान ही राज्य के पदों तथा उनके स्वरूप को निर्धारित करता है। राज्य के प्रशासन का स्वरूप किस प्रकार का है, यह निश्चय भी संविधान द्वारा ही होता है। शासन के विभिन्न अंगों में सत्ता का वितरण किस आधार पर किया गया है एवं कितनी-कितनी मात्रा में किया गया है, इसकी जानकारी भी संविधान से ही हो सकती है।

3. संविधान ही सर्वोच्च सत्ता को निश्चित करता है। ऐसे प्रश्नों का कि राज्य की सार्वजनिक सत्ता एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों अथवा अनेक व्यक्तियों में निहित है, उत्तर हम राज्य के संविधान के आधार पर ही दे सकते हैं।

4. संविधान ही राज्य तथा लोगों के लक्ष्य को निश्चित करता है।

5. संविधान राज्य का सार है, संविधान के आधार पर ही राज्यों का निर्माण अथवा अन्त होता है। विशिष्ट प्रकार के संविधान में यदि परिवर्तन कर दिया जाए, तो उसका एक अनिवार्य परिणाम होगा उस विशिष्ट प्रकार के विधान के आधार पर निर्मित राज्य की समाप्ति ।

6. अरस्तू के संविधान सम्बन्धी विचार आधुनिक विचारों की अपेक्षा अधिक विस्तृत हैं। अरस्तू का विधान किसी राज्य का कानूनी स्वरूप मात्र निर्धारित नहीं करता प्रत्युत यह समस्त जीवन के उस तरीके का निश्चय करता है, जिसमें जीवन के सभी पहलुओं के स्वरूप का निर्धारण होता है। इस विधान के अन्तर्गत राजनीतिक जीवन के तरीके के अलावा सामाजिक आचारशास्त्र एवं आर्थिक संगठन की आधारशिला का भी निश्चय हो जाता है।

संविधान सम्बन्धी अरस्तू के विचारों के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि अरस्तू राज्य और संविधान में स्पष्ट अन्तर देखता है। वास्तव में अरस्तू से पूर्व संविधान और राज्य को पृथक् पृथक् वर्णित नहीं किया गया था, परन्तु जहाँ एक ओर अरस्तू राज्य और संविधान के बीच अन्तर स्पष्ट करता है वहाँ दूसरी ओर स्वयं ही वह कहता है कि संविधान द्वारा राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है।

11.9 संविधानों का वर्गीकरण

संविधानों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण अरस्तू के द्वारा किया गया है। अरस्तू ने अपना यह वर्गीकरण दो आधारों पर प्रस्तुत किया है-

(i) संख्या (Number) के आधार पर संख्या के आधार पर अर्थात् प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग कितने व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।

(ii) लक्ष्य या उद्देश्य (Purpose) के आधार पर इसका तात्पर्य है शासन करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य सार्वजनिक हित है या स्वार्थ सिद्धि ।

अरस्तू ने पहले आधार पर एक व्यक्ति का शासन और बहुसंख्यकों का शासन इस प्रकार के तीन भेद किये हैं और दूसरे आधार पर अरस्तू ने इन्हीं तीन शासन व्यवस्थाओं के दो रूपों-स्वाभाविक और विकृत का निरूपण किया है। अरस्तू के अनुसार शासन का वह रूप स्वाभाविक है जिसमें शासन सामान्य हित के आदर्श के आधार पर कार्य करता है और विकृत रूप वह है जिसमें शासक वर्ग केवल अपने हितों को दृष्टि में रखता है।

अरस्तू द्वारा संविधानों के वर्गीकरण को निम्न तालिका द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है-

प्रथम आधार (संख्या)	द्वितीय आधार (नैतिक आधार) सर्वोच्च सत्ता के संचालक का उद्देश्य	
शासन करने वाले व्यक्तियों की संख्या	स्वाभाविक रूप	विकृत रूप
एक व्यक्ति	एकतन्त्र या राजतन्त्र (Monarchy)	निरंकुशतन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्ति	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	वर्गतन्त्र या धनिकतन्त्र (Oligarchy)
अनेक व्यक्ति	संयत प्रजातन्त्र का बहुतन्त्र (Polity)	भीड़तन्त्र या प्रजातन्त्र (Democracy)

(1) **राजतन्त्र (Monarchy)-** अरस्तू के अनुसार राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है, इसमें किसी भी राज्य का शासन एक व्यक्ति के हाथ में होता है। इसमें राजा का लक्ष्य प्रजा की सामान्य भलाई होता है। यह आदर्श व्यवस्था है। इसमें शासक को सब सद्गुणों से युक्त होना चाहिए। यह शासन प्रणाली सर्वोत्तम आदर्श होने पर भी क्रियात्मक नहीं है क्योंकि ऐसा सर्वगुण सम्पन्न शासक मिलना दुर्लभ है और यदि वह मिल जाय तो भी यह आवश्यक नहीं कि उसका उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार का गुण सम्पन्न होगा। अतः राजतन्त्र विकृत होकर निरंकुशतन्त्र (तानाशाही) में परिणत हो जाता है।

(2) **निरंकुशतन्त्र (Tyranny)**- अरस्तू के अनुसार निरंकुशतन्त्र राजतन्त्र का वह रूप है जिसमें शासक शासितों के ही हितों की उपेक्षा कर केवल अपने हित में

शासन करता है। इस शासन की कई विशेषताएँ हैं यह राजतन्त्र का विकृत रूप है, यह एक प्रकार की तानाशाही है, यह धूर्तता और धोखे द्वारा कानून की चिन्ता न करते हुए स्व-हित पर आधारित होता है। अरस्तू ने निरंकुश शासन के तीन प्रकार बताये हैं: प्रथम प्रकार का निरंकुश शासन वह होता है जिसमें राजा संयम का पालन करते हुए कानून के अनुसार शासन करता है, दूसरे प्रकार के निरंकुश शासक धन प्राप्ति को अपना लक्ष्य बना लेते हैं और तीसरे प्रकार के निरंकुश शासक कानून की पूर्ण रूप से उपेक्षा करते हुए स्वेच्छाचारी आचरण करते हैं।

(3) **कुलीनतन्त्र (Aristocracy)-** जिस राज्य में शासन सत्ता कुछ व्यक्तियों के हाथ में हो तथा जहाँ शासन सत्ता का प्रयोग विधि अथवा कानून के अनुसार होता हो उसे कुलीनतन्त्र कहा जाता है। जे. एल. मिरेस के अनुसार "कुलीनतन्त्र से अरस्तू का अभिप्राय उस प्रकार के राज्य अथवा सरकार से है जिसमें जन्माधिकार ही कम या अधिक रूप में राजनीतिक सुविधाओं की अनिवार्य शर्त है।" अरस्तू की धारणा है कि केवल यही ऐसा शासन विधान है जिसमें अच्छे नागरिक एवं अच्छे व्यक्ति के गुणों में पूर्णरूपेण समानता होती है।

अरस्तू के दृष्टिकोण से कुलीनतन्त्र एक प्रकार के लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के तत्वों के मिश्रण से निर्मित विधान है। इसके निर्माण के लिए तीन तत्वों- स्वतन्त्र जन्म, सम्पत्ति और योग्यता का मिश्रित होना अनिवार्य है। अरस्तू के अनुसार कुलीनतन्त्र में कानून की समुचित उपस्थिति रहती है। कुलीनतन्त्र भी, राजतन्त्र की भाँति बुद्धि, गुण तथा संस्कृति द्वारा संचालित कानूनप्रिय शासन प्रणाली है। कुलीनतन्त्र वंशानुगत भी हो सकता है तथा आयु के अनुसार भी। अरस्तू के आदर्श राज्य में आयु पर आधारित कुलीनतन्त्र को ही अपनाया गया है जिसके अनुसार प्रौढ़ व्यक्तियों को ही शासन संचालन का अधिकार दिया गया है।

(4) **घनिक वर्ग तन्त्र (Oligarchy)-** अरस्तू के अनुसार "धनिकतन्त्र ऐसा शासन विधान है जिसमें सम्पन्न एवं कुलीन लोग शासन संचालन करते हैं एवं वे अल्पमत में होते हैं। इस परिभाषा के आधार पर धनिकतन्त्र में दो विशेषताएँ

दृष्टिगोचर होती हैं: प्रथम, इसमें सत्ता सम्पत्तिशाली वर्ग के हाथों में होती है, दूसरा, इन सम्पत्ति स्वामियों की संख्या अल्पमत में होती है।

अरस्तू ने धनिकतन्त्र का वर्गीकरण दो आधारों पर किया है। इस वर्गीकरण का प्रथम आधार राजनीतिक ढाँचा है तथा दूसरा आधार सामाजिक संगठन है।

राजनीतिक ढाँचे के आधार पर उसने धनिकतन्त्र के चार प्रकार बतलाये हैं- प्रथम प्रकार का धनिकतन्त्र वह होता है जो अधिक मात्रा में सम्पत्ति के स्वामी को राजकीय पदों पर आरूढ़ होने के लिए आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकार करता है, दूसरे प्रकार के धनिकतन्त्र में सम्पत्ति की योग्यता ऊंची होती है और रिक्त स्थानों की पूर्ति अधिक धनी लोगों द्वारा चुनाव किया जाकर, की जाती है, घनिकतन्त्र के तीसरे प्रकार में वंश परम्परा के आधार पर सम्पन्न लोगों को शासन कार्य में हाथ बंटाने का अवसर मिलता है किन्तु कानून की प्रभुसत्ता बनी रहती है, चौथे प्रकार के धनिकतन्त्र में वंश परम्परा के आधार पर सम्पन्न लोग शासन करते हैं किन्तु यह शासन विधि पर आधारित न होकर व्यक्तिगत शासन (Personal Rule) होता है।

सामाजिक संगठन के आधार पर धनिकतन्त्र के भी अरस्तू ने चार प्रकार बतलाये हैं- पहले प्रकार का धनिकतन्त्र वह होता है जिसमें बहुमत के पास सम्पत्ति होगी, सामान्यतया सब लोग राज सत्ता में हाथ बँटा सकते हैं और इस राज्य में सार्वभौम सत्ता कानून में निहित होती है, दूसरे प्रकार के धनिकतन्त्र में सत्ता कतिपय लोगों के पास होती है, ये कतिपय लोग बड़े-बड़े पद धारण करते हैं, अधिक अधिकारों की माँग करते हैं। फिर भी इस धनिकतन्त्र में कानून की सर्वोच्चता होती है। तीसरे प्रकार के धनिकतन्त्र में बहुत ही कम लोगों के पास अत्यधिक मात्रा में सम्पत्ति होती है और ये अत्यन्त धनी लोग ही राजकीय पदों को अपने लिए सुरक्षित कर लेते हैं। किन्तु, इतना होने पर भी कानून के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न किया जाता है, चौथे प्रकार के धनिकतन्त्र में एक अत्यन्त अल्प (मुट्ठीभर) समुदाय ही सम्पत्तिशाली होता है। इनके हाथों में अतुलित धन सम्पत्ति संचित हो जाती है। ये कानून की उपेक्षा करके व्यक्तिगत रूप से राजनीतिक जीवन का संचालन करेंगे।

अरस्तू के अनुसार धनिकतन्त्र का सबसे बड़ा दोष आपसी फूट तथा ईर्ष्या है। इनके प्रत्येक कार्य के आधार व्यक्तिगत लाभ है। निर्धन वर्ग धनिकतन्त्र का सबसे बड़ा शत्रु है जो इसके विनाश के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। अरस्तू धनिक वर्गतन्त्र को सर्वथा अस्थायी और पूर्णतया त्याज्य व घृणित मानता है।

(5) सर्वप्रजातन्त्र (Polity), पॉलिटी या सर्वप्रजातन्त्र का अर्थ सारी जनता का तथा सारी जनता के हित के लिए किया जाने वाला शासन है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अरस्तू मध्यममार्गी दार्शनिक था, उसे अतिवादिता पसन्द नहीं थी। अतः 'राजतन्त्र' और 'कुलीनतन्त्र' की अप्राप्यता को देखते हुए उसे 'सर्वप्रजातन्त्र' अथवा 'पॉलिटी' ही सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली जान पड़ी। उसका स्वर्णिम मध्य मार्ग (Golden Mean) उसे एक ऐसे संविधान को स्वीकार कराना चाहता है जिसमें न तो निरंकुशतन्त्र और न धनिकतन्त्र के दोष हों और न ही सम्पूर्ण जनता की अराजकता। यह मध्य मार्ग 'सर्वप्रजातन्त्र' (Polity) ही है।

इस विधान के बारे में अरस्तू का विचार है कि "सामान्य शब्दों में, पॉलिटिया दो विधानों (धनिकतन्त्र एवं प्रजातन्त्र) के मिश्रण को कहते हैं, किन्तु सामान्य व्यवहार में यह नाम उस मिश्रण का है, जिसमें प्रजातन्त्र की ओर झुकाव पाया जाता है"। न्यूमैन के शब्दों में "पॉलिटिया को अरस्तू ने धनिकतन्त्र तथा प्रजातन्त्र_सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र जन्म और सम्पन्नों तथा विपन्नों का मिश्रण कहकर पुकारा है।"

पॉलिटिया संविधान के अरस्तू ने तीन प्रकार बतलाये हैं: पॉलिटिया का प्रथम प्रकार वह है जिसमें प्रजातन्त्र एवं धनिकतन्त्र के तत्व समान रूप से ग्रहण किये जाते हैं, दूसरे प्रकार के पॉलिटिया में इन दोनों प्रकार के विधानों का माध्यक निकाल लिया जाता है एवं दोनों के सिद्धान्तों के माध्यक के आधार पर कार्य किया जाता है, तीसरे प्रकार का पॉलिटिया वह है जिसमें प्रजातन्त्र एवं धनिकतन्त्र के तत्वों को आंशिक रूप से अपनाया जाता है। उदाहरण के लिए, शासकों का चुनाव करते समय धनिकतन्त्र के नियमों में से यह नियम अपनाया जाये कि शासकों के निर्वाचन के लिए मतदान हो, तथा प्रजातन्त्र के नियमों में

से इस नियम को अपनाया जाये कि इस निर्वाचन के लिए सम्पत्ति के रूप में कोई योग्यता न रखी जाये।

(6) **प्रजातन्त्र या भीड़तन्त्र (Democracy)**- प्लेटो की भाँति अरस्तू भी प्रजातन्त्र का आलोचक है किन्तु वह इसके कुछ गुणों को भी स्वीकार करता है। अरस्तू के मतानुसार प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें निरपेक्ष समानता के तत्व पर बहुत बल दिया जाता है और सब नागरिक विभिन्न प्रकार की योग्यताओं का विचार न करते हुए समान माने जाते हैं, धनी निर्धन, अनपढ़ पढ़े-लिखे, विद्वान और मूर्ख बराबर समझे जाते हैं। यह स्वतन्त्रता के आधार पर सब नागरिकों को समान अधिकार देता है, किन्तु अधिकारों की यह समानता और स्वतन्त्रता शीघ्र ही नियन्त्रण के अभाव में उच्छृंखलता और अराजकता में परिणत हो जाती है, नागरिक जीवन को असम्भव बना देती है। प्रजातन्त्र की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने उन भान्तियों को मिटाने की कोशिश की है, जो साधारणतया इसके विषय में प्रचलित हैं। सामान्यतया प्रजातन्त्र वह विधान माना जाता है जिसमें राज्य की प्रभुसत्ता बहुसंख्यक वर्ग के हाथों में होती है। अरस्तू के अनुसार यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है। बहुसंख्यक वर्ग का शासन होना मात्र प्रजातन्त्र के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि उस राज्य को प्रजातन्त्र की संज्ञा कदापि नहीं दी जा सकती जिसमें राज्य के शासन की बागडोर धनवान बहुसंख्यक लोगों के हाथ में हो। अरस्तू के शब्दों में "प्रजातन्त्र उस विधान को कहा जायेगा जिसमें निर्धन, जो बहुसंख्यक भी है, शासन के कर्ताधर्ता हों।" यदि किसी राज्य में प्रभुसत्ता निर्धन वर्ग के हाथ में है तो राज्य में चाहे उनका बहुमत हो अथवा अल्पमत, वह राज्य अनिवार्य रूप से प्रजातन्त्र ही कहलायेगा।

अरस्तू ने दो आधारों पर प्रजातन्त्र का वर्गीकरण किया है: प्रथम आधार है प्रजातन्त्रों का राजनीतिक स्वरूप एवं दूसरा आधार है उनका सामाजिक स्वरूप । राजनीतिक स्वरूप के आधार पर अरस्तू ने प्रजातन्त्र के पाँच प्रकार बतलाये है पहला प्रकार, जिसमें धनी निर्धन सभी के अधिकार बिल्कुल बराबर होते हैं, दूसरे प्रकार का प्रजातन्त्र वह है जिसमें प्रतिनिधिराजकीय पद सम्पत्ति की योग्यता के आधार पर प्रदान किये जाते हैं, तीसरे प्रकार का प्रजातन्त्र वह है जिसमें श्रेष्ठ वंश के व्यक्ति ही राजकीय पद प्राप्ति के अधिकारी होते हैं, चौथे

प्रकार का प्रजातन्त्र वह है जिसमें प्रत्येक नागरिक बिना किसी भेदभाव के राजकीय पद प्राप्ति का अधिकारी होता है, इस प्रजातन्त्र में कानून की सर्वोच्चता प्राप्त होती है। पाँचवें प्रकार के प्रजातन्त्र में सर्वोपरि शासन कानून का नहीं, किन्तु जनता का होता है। ऐसी स्थिति लोकनायकों (Demagogues) द्वारा पैदा की जाती है। प्रभावशाली वक्ताओं के नेतृत्व में इस प्रजातन्त्र के लोग कानून की उपेक्षा करते हैं एवं लोकमत को सर्वोच्च महत्व देकर चलते हैं और अरस्तू के अनुसार ऐसे प्रजातन्त्र में जनता को खुश करने वाले चापलूसों की बन आती है और लोकतन्त्र 'भीड़तन्त्र' बन जाता है, इसमें नियम और कानून की समाप्ति हो जाती है और प्रभावशाली नेता अपने करिश्मे द्वारा जनता को खुश करके अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं।

सामाजिक ढाँचे के आधार पर अरस्तू ने प्रजातन्त्र के अग्रांकित 4 प्रकार बतलाये हैं: पहला प्रकार कृषक प्रजातन्त्र है जिसमें शासन सत्ता किसानों के पास होती है। किसानों के पास शासन कार्य में भाग लेने का समय नहीं होता, अतः वे कानूनों को सर्वोपरि बना देते हैं, राज्य के कार्यों की देखरेख योग्य व्यक्तियों को सौंप देते हैं। दूसरे प्रकार के प्रजातन्त्र का आधार जन्म होता है। राजकीय सत्ता में भागीदार होने के लिए उच्च कुल में उत्पन्न होना ही योग्यता मानी जाती है, तीसरे प्रकार का प्रजातन्त्र वह है जिसमें शासन में भागीदारी होने का आधार स्वतन्त्र रूप से जन्म लेना होता है। चौथे प्रकार का प्रजातन्त्र वह है जिसमें सबको सरकार के हाथ बंटाने का अधिकार प्राप्त होता है। इसमें संस्था पर जोर दिया जाता है, कानून की सार्वभौमिकता नहीं होती और राज्य की बागडोर जनसाधारण के हाथ में होती है।

अरस्तू के अनुसार श्रेष्ठ प्रकार का प्रजातन्त्र वह है जिसमें कानून का शासन हो, करिश्माती नेताओं का अभाव हो तथा योग्य नागरिकों को विधिसंगत ढंग से शासन संचालन का अवसर प्राप्त होता हो। इसके विपरीत, जिन प्रजातन्त्रों में कानून की उपेक्षा करके, जनसमुदाय के आदेशों का पालन किया जाता है, वे निकृष्ट श्रेणी के प्रजातन्त्र है। लोक लुभावने नारों द्वारा शासित ऐसे प्रजातन्त्र वास्तव में अनेक द्वारा शासित निरंकुशतन्त्र हैं। नारेबाजों का प्राधान्य एवं कानून की पूर्ण उपेक्षा, इन प्रजातन्त्रों को एक व्यक्ति द्वारा शासित

अत्याचारतन्त्र के समरूप बना देते हैं। अरस्तू के अनुसार, वे प्रजातन्त्र श्रेष्ठ हैं, जिनमें सामान्य साधनों वाले कृक्षक वर्ग का प्राधान्य हो अथवा जो पूर्ण समानता के सिद्धान्त पर आधारित हों, एवं कानून की सम्प्रभुता को स्वीकार करके चलते हों। कानून की सर्वोच्चता को अरस्तू इतना अधिक महत्व प्रदान करता है कि वह उस संविधान को प्रजातन्त्र की संज्ञा देने के लिए तैयार नहीं है जिसमें प्रत्येक चीज का कानून द्वारा अनुशासन न होकर आदेशों (decree) द्वारा प्रबन्ध होता है।

प्रजातन्त्र का आलोचक होने के बावजूद अरस्तू को इसमें निम्नलिखित गुण (merits) दिखलायी देते हैं: (1) जनसाधारण में सामूहिक रूप से यह क्षमता पाई जाती है कि वे समस्याओं को अधिक अच्छी तरह से समझ सकते हैं, (2) जनसाधारण को आसानी से पथभ्रष्ट नहीं किया जा सकता, (3) अन्य विधानों की अपेक्षा प्रजातन्त्र में षड्यन्त्रों के होने का डर भी कम होता है, प्रजातन्त्र में मध्यम वर्ग की समुचित संख्या होने के कारण क्रान्तियों का डर नहीं रहता, (4) इसमें स्वतन्त्रता और समानता के गुणों का समावेश होता है।

संविधान में चक्रीय परिवर्तन

अरस्तू ने संविधान के वर्गीकरण के साथ-साथ राजनीतिक परिवर्तनों का एक कालचक्र भी प्रस्तुत किया है जिसे 'Cyclic Theory of Government' कहते हैं। अरस्तू की धारणा है कि जिस प्रकार ऋतुएँ स्वाभाविक रूप में बदलती रहती हैं, उसी प्रकार शासनों में भी परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। राजनीतिक परिवर्तन का यह चक्र राजतन्त्र से प्रारम्भ होता है और क्रमशः निरंकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र, धनिक वर्गतन्त्र, पॉलिटी और प्रजातन्त्र (भीड़तन्त्र) के बाद अन्त में फिर से राजतन्त्र के रूप में परिणत हो जाता है।

अरस्तू के अनुसार संविधान का सर्वश्रेष्ठ रूप राजतन्त्र है। पर जब राजा, जनहित से मुँह मोड़कर अपने स्वार्थ की सिद्धि में लिप्त हो जाता है तब राजतन्त्र निरंकुशतन्त्र में बदल जाता है। कुछ समय बादनिरंकुश शासन के अत्याचारों से पीड़ित होने के कारण कुछ अच्छे और योग्य व्यक्ति कुलीनतन्त्र की स्थापना करते हैं। शासन प्राप्त करने के बाद इन अच्छे व्यक्तियों के

सद्गुण अदृश्य होने लगते हैं और ये अपने स्वार्थ में जुट जाते हैं। परिणामतः कुछ समय के उपरान्त कुलीनतन्त्र का पतन हो जाता है और इसका स्थान धनिक वर्गतन्त्र ले लेता है। धनिकतन्त्र अपने न्यस्त स्वार्थों की पूर्ति के लिए जनता का शोषण करता है, परिणामतः जनता बगावत कर देती है और धनिकतन्त्र पॉलिटी (सर्व-प्रजातन्त्र) में परिणत हो जाता है। पर समय की गति के साथ-साथ इसका रूप दूषित होता चलता है, अव्यवस्था फैल जाती है और करिश्माती नेता भीड़ के हितों पर जोर देने लगते हैं तो वह प्रजातन्त्र (भीड़तन्त्र) कहलाने लग जाता है। भीड़तन्त्र एक प्रकार का अतिवादी लोकतन्त्र है। अरस्तू के अनुसार, यह संविधान का निकृष्टतम रूप है। इस रूप को प्राप्त करने के बाद संविधान में फिर परिवर्तन होता है और राज्य का कोई वीर व सद्गुणी व्यक्ति अपनी सत्ता स्थापित करके कानून के शासन की स्थापना करता है। यह संविधान का राजतन्त्र रूप होता है, इसके बाद उसी भाँति संविधान के परिवर्तनों का चक्र चलता रहता है। इस परिवर्तन का क्रम-राजतन्त्र, निरंकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र, धनिकतन्त्र, सर्वप्रजातन्त्र और भीड़तन्त्र। अरस्तू के अनुसार शासन या संविधानों का यह परिवर्तन चक्र निरन्तर अबाध गति से चलता रहता है।

अरस्तू के संविधानों के वर्गीकरण की आलोचना अरस्तू के वर्गीकरण की कई आधारों पर आलोचना की जाती है। सिनक्लेयर के अनुसार, "अरस्तू के वर्गीकरण की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है, क्योंकि उसने अपना वर्गीकरण संविधानों के व्यावहारिक पक्ष के आधार पर नहीं किया है।" ब्लंटशली के अनुसार," अरस्तू का वर्गीकरण पूर्णतया लौकिक है क्योंकि उसने धर्म और राजनीति में सम्बन्ध स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया है।" बर्गेस के अनुसार, "अरस्तू का संविधानों का वर्गीकरण आध्यात्मिक है, संख्यात्मक नहीं। सीले के शब्दों में, "अरस्तू ने अपने समय के नगर राज्यों का वर्गीकरण किया है जिसे आज के राष्ट्रीय, बहुराष्ट्रीय और भीमकाय राज्यों का वर्गीकरण करने के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता।" मोटे रूप में अरस्तू के वर्गीकरण की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती

(1) **यह सरकारों का वर्गीकरण है राज्यों (संविधानों) का नहीं**- अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए डॉ. गार्नर ने इस बात पर बल दिया है कि अरस्तू राज्य और सरकार में भेद नहीं कर पाता, फलतः उसके द्वारा किया गया वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण है।

परन्तु यह आलोचना उचित नहीं है क्योंकि राज्य तथा सरकार का यह भेद आधुनिक युग की देन है। ग्रीक काल में तो राज्य और सरकार में तो अन्तर किया ही नहीं जा सकता था और अरस्तू का अपने समय में प्रचलित धारा से प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में भी राज्यों का वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक वर्गीकरण सरकार के आधार पर ही किया जा सकता है। अरस्तू के बाद विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए वर्गीकरण किसी न किसी रूप में सरकार से सम्बन्धित है।

(2) **मौलिकता का अभाव** - आलोचकों के अनुसार अरस्तू के संविधानों के वर्गीकरण में मौलिकता का अभाव है। उसने इस सन्दर्भ में अपने गुरू प्लेटो की नकल की है। केवल अन्तर इतना ही है कि प्लेटो के संवैधानिक प्रजातन्त्र के स्थान पर उसने (अरस्तू ने) पॉलिटी और प्रजातन्त्र के स्थान पर भीड़तन्त्र (अतिवादी प्रजातन्त्र) का नाम रखा है। प्लेटो ने वर्गीकरण का आधार उत्तमता और संख्या को बनाया है तो अरस्तू ने उसमें आर्थिक तत्व और जोड़ दिया है।

(3) **संविधान, राज्य और शासन शब्दों में अन्तर का अभाव**- अरस्तू के वर्गीकरण में संविधान, राज्य और शासन शब्दों को पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया गया है। अरस्तू इन शब्दों के भेद को स्पष्ट नहीं करता। आधुनिक समय में इन शब्दों में स्पष्ट भेद किया जाता है। अतः आलोचकों द्वारा इसकी आलोचना की जाती है।

(4) **अवैज्ञानिक तथा संख्यावाचक वर्गीकरण-** अरस्तू का वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं हुआ है। गार्नर ने इसी कमी का संकेत करते हुए लिखा है कि सरकारों के वर्गीकरण के रूप में यह असंगत है, क्योंकि यह ऐसे किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, जिसके अनुसार सरकारों में परस्पर आधारभूत विशेषताओं तथा संगठन के रूप में सम्बन्धित भिन्नता स्थापित की

जा सके। वॉन मॉहल ने भी इसी कमी की तरफ ध्यान दिलाते हुए लिखा है कि, "जिस सिद्धान्त पर यह आधारित है उसका स्वरूप राज्य के गठन से सम्बन्धित न होकर गणित से सम्बन्धित है तथा वह गुण-विषयक न होकर संख्या विषयक है।"

किन्तु इस प्रकार की आलोचना युक्तिसंगत नहीं है। शासन करने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर ही राजनीतिक चेतना का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अरस्तू के वर्गीकरण में संख्या विषयक आधार से अधिक महत्वपूर्ण नैतिक आधार है जिसके अन्तर्गत शासन व्यवस्था के स्वाभाविक और विकृत रूपों का वर्णन किया गया है। बर्गेस ने ठीक ही कहा है, "अरस्तू का वर्गीकरण नैतिक और आध्यात्मिक है, संख्यावाचक नहीं है।"

(5) **प्रजातन्त्र को उचित स्थान नहीं दिया**- अरस्तू ने अपने वर्गीकरण में प्रजातन्त्र को उचित स्थान नहीं दिया है। अरस्तू प्रजातन्त्र को भौड़तन्त्र का पर्यायवाची मानता है, लेकिन वर्तमान समय में प्रजातन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति समझा जाता है। अतः प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

(6) **अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक राज्यों पर खरा नहीं उतरता** -आलोचकों का यह भी आरोप है कि यह वर्गीकरण आधुनिक राज्यों पर खरा नहीं उतरता है। उनका कहना है कि अरस्तू ने अपने समय के नगर-राज्यों को ध्यान में रख कर ही यह वर्गीकरण किया जो आज के राष्ट्रीय, बहुराष्ट्रीय तथा विशाल राज्यों पर लागू नहीं होता।

(7) **परिवर्तन चक्र त्रुटिपूर्ण है-** अरस्तू के राज्यों के वर्गीकरण के साथ-साथ शासन व्यवस्थाओं का परिवर्तन चक्र त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः राज्यों या शासन व्यवस्थाओं में वैसे ही नियमित या व्यवस्थित परिवर्तन नहीं होते हैं जैसे कि अरस्तू द्वारा बताए गए हैं।

(8) **राजतन्त्र का काल्पनिक चित्रण**- अरस्तू मेसेडोनिया के शासक से बहुत अधिक प्रभावित था, इसीलिए उसने कल्पना के घोड़े दौड़ाकर राजतन्त्र को

श्रेष्ठतम शासन विधान घोषित किया है। अतः वह प्लेटो जैसी कल्पना लोक में उड़ने वाला दार्शनिक बन जाता है।

11.10 अरस्तू के वर्गीकरण का महत्व और प्रभाव

अरस्तू के द्वारा किये गये वर्गीकरण की आलोचनाओं का यह अर्थ नहीं है कि इस वर्गीकरण का कोई महत्व नहीं है। वास्तव में इस वर्गीकरण का ऐतिहासिक महत्व है। सुनिश्चित आधारों पर यह वर्गीकरण किया गया था। राजनीति विज्ञान में यह सबसे पहला व्यवस्थित वर्गीकरण था। अरस्तू का वर्गीकरण एक तरह से मार्गदर्शक बन गया है। इसके बाद के विद्वान सरकारों के वर्गीकरण में अरस्तू के द्वारा दिखाये मार्ग से न तो पूर्णतया अलग हो सकते हैं और न उसके प्रभाव से ही बच सके हैं। पोलिबियस, मेकियावेली, बोदां, मॉण्टेस्क्यू तथा आधुनिक विचारक मेरियट तक ने इस वर्गीकरण से प्रेरणा ली है। उपयोगिता की दृष्टि से भी अरस्तू के वर्गीकरण का विशेष महत्व है डॉ. इकबाल नारायण ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि वस्तुतः उसका मूल्य इस बात में है कि वह इस तथ्य पर बल देता है कि राज्य शक्ति का उपयोग करने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर ही राज्यों में परस्पर भेद स्थापित नहीं किया जाना चाहिए अपितु स्वार्थपरता अथवा परार्थपरता की इस नैतिक भावना के आधार पर ही राज्यों में परस्पर भेद स्थापित किया जाना चाहिए जिससे शासन करते हों। अरस्तू द्वारा किया हुआ राज्यों का वर्गीकरण वस्तुतः एक शाश्वत सत्य प्रस्तुत करता है। इसमें सन्देह नहीं कि राज्यों के अब इतने भेद और प्रकार हो गये कि वे सब अरस्तू के वर्गीकरण में समा नहीं सकते। फिर भी यह तो स्वीकार है करना ही पड़ेगा कि एकतन्त्र, श्रेणीतन्त्र और लोकतन्त्र राज्यों के ऐसे आधारभूत भेद हैं, जिनके अध्ययन की उपयोगिता कभी नष्ट नहीं हो सकेगी।अरस्तू की अवधारणाओं ने बाद के वर्गीकरण की योजनाओं को स्थायी रूप से प्रभावित किया है। पोलिबियस ने भी अरस्तू की भाँति शासनतन्त्र के तीन विशुद्ध रूप राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र व प्रजातन्त्र और फिर उसके तीन विक्त (Perverted) रूप निरंकुशतन्त्र, वर्गतन्त्र तथा भीड़तन्त्र माने हैं।

पोलिवियस के बाद सिसरो, मेकियावेली, बोदां, हॉब्स, लॉक, रूसो, माण्टेस्क्यू आदि विचारकों ने सरकारों के वर्गीकरण की योजना प्रस्तुत की। इन सबके वर्गीकरण का स्रोत अरस्तू का ही वर्गीकरण है। संक्षेप में, अरस्तू का वर्गीकरण ही सर्वप्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण था, जिसने आधुनिक वर्गीकरण का मार्ग प्रशस्त किया ।

11.11 अरस्तू का दासता सम्बन्धी सिद्धान्त (Aristotle's Theory of Slavery)

यूनानी समाज का आधार दास प्रथा रही है। दास प्रथा की उपस्थिति यूनानी नगर राज्यों की एक प्रमुख विशेषता और महान् आवश्यकता थी। व्यक्तिगत आधार पर यूनानी लोग अनेक दासों के स्वामी होते थे। इन दासों की सहायता से वे जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं-भोजन, वस्त्र आदि को जुटाने का प्रयत्न करते थे एवं अवकाश के क्षण निकालकर अपने राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के कर्तव्यों का निर्वाह करते थे।

प्लेटो अपनी 'रिपब्लिक' में दासता के प्रश्न पर चुप रहता है और पाठकों को भ्रम में डाल देता है कि वह दास प्रथा को समाप्त करना चाहता है। परन्तु वह अपनी 'लॉज' में इस प्रथा को मान्यता देता है। अरस्तू के युग में दासता का प्रश्न एक विवादास्पद प्रश्न बन गया था। दास संस्था के औचित्य को अनेक बुद्धिजीवी शंका की दृष्टि से देखने लगे थे एवं इसे एक निकृष्ट एवं त्याज्य संस्था मानकर वे दासता विरोधी एक जन-आन्दोलन प्रारम्भ करने की सोच रहे थे। खासतौर से सोफिस्ट विचारक इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि दासता जैसी अमानुषिक प्रथा का समूल विनाश कर दिया जाए। वे इसे अप्राकृतिक, अनैतिक एवं अनुचित संस्था मानते थे। एल्सिडेमस तथा एन्टीफोन जैसे सोफिस्टों की स्पष्ट धारणा थी कि 'ईश्वर ने सबको स्वतन्त्र बनाया है और प्रकृक्ति ने किसी भी व्यक्ति को दास नहीं बनाया' । वस्तुतः अरस्तू के युग में दास प्रथा के विरुद्ध एक भयंकर तूफान आया था जिससे दास प्रथा पर आधारित यूनानी नगर-राज्यों की सभ्यता के अस्तित्व की चुनौती उत्पन्न हो गई थी।

अरस्तू वैज्ञानिक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक अध्ययन का प्रवर्तक था किन्तु साथ ही एक व्यावहारिक बुद्धिजीवी भी था। अतः दासता पर आधारित यूनानी सभ्यता का एक सच्चा प्रतिनिधि होने के नाते तथा स्वयं अनेक दासों का स्वामी होने के कारण उसने बौद्धिक आधार पर दास प्रथा के औचित्य का प्रतिपादन किया है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो यूनानी सभ्यता का अस्तित्व संकट में पड़ जाता। उस काल में दासता को मिटा देने का अर्थ होता उस आधार स्तम्भ को हटा देना जिस पर समस्त यूनानी सभ्यता का भवन टिका हुआ था।

अरस्तू के अनुसार दासता का अर्थ एवं प्रकृक्ति

दासप्रथा सम्बन्धी अपने विश्लेषण में अरस्तू ने सर्वप्रथम दास के अर्थ को स्पष्ट किया है। उसने दास को पारिवारिक सम्पत्ति का एक भाग माना है। उसके अनुसार, "जो स्वाभावतः अपना नहीं है, लेकिन दूसरों का है, दास है (Any one who by nature is not his own man but others, is a slave)।" दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि दास वह है जिसका स्वयं का कोई व्यक्तित्व नहीं होता और यहाँ तक कि जिसका अपना मस्तिष्क नहीं होता।

अरस्तू के अनुसार राज्य चूँकि गृहस्थियों के संयोग से बनता है इसलिए दासप्रथा को समझने के लिए हमें गृहस्थी के प्रबन्ध को समझना चाहिए। गृह प्रबन्ध के विभिन्न अंग उन व्यक्तियों के साथ जुड़े होते हैं जिनके संयोग से गृहस्थी बनती है और पूरी गृहस्थी में स्वतन्त्र नागरिक भी होते हैं और दास भी। परिवार के प्रमुख अंग है- स्वामी और सेवक (दास), पति और पत्नी, पिता और सन्तति ।

अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति गृहस्थी का हिस्सा होती है। सम्पत्ति अर्जित करने की कला गृह प्रबन्ध की कला का अंग है। सम्पत्ति दो प्रकार की होती है- (1) सजीव (Animate), (2) निर्जीव (Inanimate)। निर्जीव सम्पत्ति में मकान, खेत और अचल सम्पत्ति आती है तथा सजीव सम्पत्ति में हाथी, घोड़े, अन्य पशु व दास आदि सम्मिलित हैं। किसी भी परिवार की सफलता और उसके कल्याण के

लिए दोनों ही प्रकार की सम्पत्ति अपरिहार्य है। अरस्तू के शब्दों में, "सम्पत्ति वास्तव में सजीव और निर्जीव उपकरणों का समूह है। दास सम्पत्ति का सजीव उपकरण है। जिस प्रकार कुछ उपकरण अन्य उपकरणों में अग्रणी होते हैं, उसी प्रकार दास, जो सजीव उपकरण है, अन्य निर्जीव उपकरणों की अपेक्षा अग्रणी होता है, क्योंकि निर्जीव उपकरणों से तभी काम लिया जा सकता है जब उनसे पहले सजीव उपकरण विद्यमान हो।"

संक्षेप में, अरस्तू ने दास को मनुष्यों की श्रेणी में न रखकर उपकरणों की श्रेणी में रखा है। दास परिवार की सम्पत्ति है, उसका उपकरण है। दास का महत्व परिवार के कारण है, उससे पृथक उसका कोई अस्तित्व नहीं। अरस्तू के शब्दों में, "सम्पत्ति की प्रत्येक वस्तु जीवन के लिए उपकरण स्वरूप है, जीवन कार्य है, कार्य का परिणाम नहीं। अतः दास, कार्य के क्षेत्र में प्रयोग किया जाने वाला उपकरण है।" अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दासता के अर्थ से उसकी प्रकृति (Nature) स्पष्ट होती है। दासता की प्रकृति स्पष्ट करते हुए अरस्तू तीन बातें बतलाता है:

प्रथम, "जो व्यक्ति अपनी प्रकृक्ति से स्वयं अपना नहीं है बल्कि दूसरे का है, फिर भी मनुष्य ही है, वह स्वभावतः दास है।"

द्वितीय, "वह व्यक्ति जो मनुष्य होते हुए भी सम्पत्ति की एक वस्तु है और दूसरे के अधीन रहता है" दास कहा जाता है।

तृतीय, "सम्पत्ति को वस्तु, जो कार्य का उपकरण है और जिसे सम्पत्ति के स्वामी से पृथक् किया जा सकता है, दास है।"

अरस्तू लिखता है, "स्वामी अपने दास का स्वामी होता है, पर वह उसी का नहीं होता। इसके विपरीत दास न केवल अपने स्वामी का दास ही होता है, बल्कि पूरा का पूरा उसी का होता है। यहीं से पता चलता है कि दास का स्वरूप (Nature) क्या है। जो प्रकृक्ति से ही अपना नहीं बल्कि किसी और का है, वह प्रकृति से ही दास है और जो मनुष्य होते हुए भी किसी और का है, वह भी सम्पत्ति है। अतः सम्पत्ति को कार्य सम्पादन का उपकरण कह सकते हैं जिसका अपने स्वामी से पृथक् अस्तित्व हो सकता है।"

दासता का औचित्य

अरस्तू दास प्रथा के पक्ष में नैतिक और भौतिक दोनों ही आधारों पर अनुमोदन और उसके औचित्य का समर्थन करता है। फास्टर के अनुसार "यथार्थ में अरस्तू उपयोगिता के आधार पर दासता के औचित्य का प्रतिपादन करता है।" बार्कर का भी मत है कि "अरस्तू की दासता की धारणा तथ्यों के निष्पक्ष अवलोकन से प्राप्त होने वाले निष्कर्षों की अपेक्षा आवश्यकता के औचित्य पर आधारित है"। उसके द्वारा दास प्रथा के समर्थन में दिए गए तर्क अथवा आधार निम्न हैं:

(1) **दासता प्राक्तिक है-** अरस्तू के अनुसार दास प्रथा प्राकृक्तिक है। प्रकृक्ति में सर्वत्र ही यह नियम दृष्टिगोचर होता है कि उत्कृष्ट निकृष्ट पर शासन करता है। विषमता प्रकृति का नियम है। मनुष्यों में स्वाभाविक और प्राकृक्तिक रूप से असमानता होती है। सभी मनुष्य एक सी बुद्धि, योग्यता और गुण लेकर उत्पन्न नहीं होते। दासता प्राकृक्तिक असमानता का ही परिणाम है। मूर्ख और बुद्धिहीन व्यक्ति दास बनने के योग्य हैं और कुशल तथा बुद्धिमान व्यक्ति स्वामी बनने के योग्य हैं। अरस्तू कहता है कि विषमता तो प्रकृति का नियम है। कुछ व्यक्ति जन्म से ही स्वामी तो कुछ दास होते हैं, कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं तो कुछ शासित होने के लिए। कुछ आज्ञा देने के लिए जन्म लेते हैं और कुछ आज्ञा का पालन करने के लिए। शासक और शासित या स्वामी और सेवक का यह अन्तर सारी जड़-चेतन प्रकृक्ति में व्याप्त है। प्रकृक्ति ने जिन्हें स्वामी बनाया है उसमें बौद्धिक बल की और जिन्हें दास बनाया है उसमें शारीरिक बल की प्रधानता होती है। इस तरह बौद्धिक असमानता और शारीरिक क्षमता के आधार पर यह दास स्वामी सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ है। दासता प्राकृक्तिक है, इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए अरस्तू ने कहा है कि जो लोग शारीरिक सेवाएँ करने का कार्य करते हैं, एवं अपनी सेवाएँ अर्पित कर श्रेष्ठतम उत्पादन करते हैं, वे सब प्रकृक्तिशः दास है एवं उनके लिए यह उचित है कि वे अपने स्वामी द्वारा शासित हों। अरस्तू के शब्दों में, "व्यक्ति यदि वह दूसरे की सम्पत्ति बनने के योग्य है, तो प्रकृक्तिशः दास है"।

दासता प्राकृतिक है, इस मत की पुष्टि में अरस्तू ने एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया है कि दास एवं स्वामी में न केवल बौद्धिक अन्तर है, अपितु उसमें

प्राकृतिक अन्तर भी है। यथा, दास को प्रकृति ऐसा शरीर देती है कि वह शारीरिक श्रम सम्बन्धी कार्य कर सके। इसके विपरीत, स्वामी शारीरिक श्रम के योग्य तो नहीं होता, पर नागरिक जीवन के अनेक कार्यों के सम्पादन के पूर्ण उपयुक्त होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए फास्टर लिखते हैं सच्ची बात यह है कि जैसा काम पालतू पशुओं से लिया जाता है, वैसा ही दासों से भी लिया जाता है: "दोनों में विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि दोनों ही अपने शरीर से काम लेकर जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। प्रकृति ने स्वतन्त्र नागरिक और दास के शरीर में भी अन्तर रखा है। एक का शरीर दासोचित श्रम के लिए उपयुक्त होता है. अतः यह स्पष्ट है कि कुछ मनुष्य प्रकृति से स्वतन्त्र होते हैं, बल्कि बाकी दास होते हैं इसलिए दूसरे वर्ग के लिए दासता अभीष्ट भी है, उचित भी।"

(2) **दास प्रथा दोनों पक्षों के लिए उपयोगी**- अरस्तू दास प्रथा को इस दृष्टि से भी न्यायोचित ठहराता है कि यह न केवल स्वामी के लिए अपितु दास के लिए भी उपयोगी है। बुद्धिमान एवं विवेकसम्पन्न स्वामियों को राजकार्य एवं अपने बौद्धिक व नैतिक गुणों के विकास के लिए समय और विश्राम की आवश्यकता होती है। यह अवकाश उन्हें तभी मिल सकता है जब दास उनकी आर्थिक, आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु श्रम करें। वास्तव में जिस प्रकार एक संगीतज्ञ संगीत यन्त्रों के अभाव में उत्तम संगीत की निष्पत्ति नहीं कर सकता, उसी प्रकार एक गृहस्थ अर्थात स्वामी- दासों के बिना सुखी जीवन-यापन नहीं कर सकता, अतः स्वामी के दृष्टिकोण से दास प्रथा उचित है। स्वामी के साथ-साथ दास के दृष्टिकोण से भी यह प्रथा उतनी ही उचित है। दास के लिए यह उपयोगी इस रूप में है कि दास निर्बुद्धि व अयोग्य होते हैं लेकिन स्वामी के साथ सम्बद्ध होने से उन्हें आत्म-संयम और विवेक के गुणों को समझने का अवसर मिलता है।

अरस्तू के अनुसार, "जिस प्रकार शिशुओं को माता-पिता के संरक्षण की आवश्यकता है, उसी प्रकार दासों को भी, जो कि बौद्धिक दृष्टि से शिशुवत ही होते हैं, बुद्धि सम्पन्न स्वतन्त्र व्यक्तियों के संरक्षण में रखना उनके लिए

श्रेयस्कर है। ऐसे संरक्षण के अभाव में स्वयं दासों का जीवन संकटग्रस्त हो जायेगा।"

(3**) दासता नैतिक है**- अरस्तू नैतिक दृष्टि से भी दास प्रथा को आवश्यक मानता है। उसका मत है कि स्वामी तथा दासों के नैतिक स्तर में भेद होता है। स्वामी गुणी और दास गुणहीन होते हैं। अतः स्वामी का कर्तव्य है कि दासों के प्रति स्नेहपूर्ण और दयालु रहे तथा दास का काम है कि वह स्वामी की आज्ञा का पालन करे। दासों में गुणों का उत्पन्न होना तभी स्वाभाविक है जब स्वामी और दास दोनों का सम्पर्क हो।

(4) **राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा स्थायित्व का अंग-** अरस्तू ने एक अन्य कारण से भी दासता को उचित बताया है। उसके समय में दास प्रथा लगभग सम्पूर्ण यूनानी जगत में प्रचलित थी और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा स्थायित्व का एक अंग बन गयी थी। यूनानी नगर राज्यों में दासों का एक बहुत बड़ा वर्ग होता था और सारी अर्थव्यवस्था इन पर टिकी हुई थी। ऐसी स्थिति में दास प्रथा को अस्वीकार करने से न केवल नगर राज्यों का शक्ति संतुलन बिगड़ने का डर था वरन् इन राज्यों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने की भी आशंका थी। अतः अरस्तू ने अपनी व्यावहारिक बुद्धि के आधार पर दास प्रथा का समर्थन किया।

(5) **दासता सम्पूर्ण समाज के हित-** में स्वामियों तथा दासों के अतिरिक्त सम्पूर्ण समाज के दृष्टिकोण से भी अरस्तू दास प्रथा को आवश्यक तथा हितकर समझता है। इसके द्वारा कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों को घरेलू धन्धों से मुक्ति मिल जाती है और वे निश्चिन्त तथा एकाग्रचित होकर अपना सारा समय समाज हित के कार्यों में लगा सकते हैं।

(6) **विवेकीय दृष्टिकोण से दास प्रथा का औचित्य**- अरस्तू के अनुसार समस्त संसार में शासक और शासित का सिद्धान्त प्रचलित है। यह सिद्धान्त समाज में ही नहीं बल्कि अचेतन वस्तुओं में भी होता है। उदाहरण के लिए, यन्त्र भी बड़े और छोटे होते हैं। बड़ा यन्त्र छोटे यन्त्र को अपना सहायक बनाकर रखता है। आत्मा शरीर को निरंकुशता से शासित करती है। स्वामी और दास के

आपसी सम्बन्ध निरकुशता बिलकुल आत्मा और शरीर के समान है। जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है उसी प्रकार दास पर स्वामी का शासन विवेकशील है। विवेक के अनुसार स्वामी के निर्देश में रहकर ही दास अपना विकास कर सकता है।

(7) **युद्ध का आधार** - युद्ध में पराजित व्यक्ति को अरस्तू दास बनाने के पक्ष में है। वह विजेता पर इस बात का निर्णय लेने के लिए छोड़ देता है कि पराजित व्यक्ति को दास बनाया जाये या नहीं। इस प्रकार उसको वह वैधानिक दासता की संज्ञा देता है। युद्ध को दासता का आधार मानते हुए भी अरस्तू युद्ध में पराजित होने पर यूनानी को दास न बनाने के पक्ष में है।

दासता के प्रकार

अरस्तू के अनुसार दासता दो प्रकार की होती है :

(1) स्वाभाविक दासता (Natural Slavery),

(2) वैधानिक दासता (Legal Slavery) |

कुछ व्यक्ति जो जन्म से ही मन्दबुद्धि, अकुशल व अयोग्य होते हैं वे स्वाभाविक दास (Natural Slaves) होते हैं। अरस्तू के शब्दों में "कुछ मनुष्य स्वभाव से ही दास होते हैं।"

इसके अतिरिक्त युद्ध में किसी अन्य राज्य को पराजित कर लाए हुए बन्दी भी दास बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार की दासता वैधानिक दासता (Legal Slavery) कहलाती है। परन्तु यूनान निवासी युद्ध में पराजित हो जाने के पश्चात् भी दास नहीं बनाये जा सकते क्योंकि प्रकृति की ओर से वे दासत्व के लिए नहीं स्वामित्व के लिए बनाये गये हैं। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित वैधानिक दासता का सार यही निकालता है कि अरस्तू को यह किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं था कि दासता का अभिशाप किसी भी कारण से यूनानियों को भी सहना पड़े, किन्तु जहाँ तक बर्बर जातियों का प्रश्न है, वैधानिक दासता उसे सर्वथा उचित एवं न्यायसंगत प्रतीत होती है। अरस्तू यह स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि यूनानी सदैव प्रकृक्तिशः ही स्वतन्त्र हैं।

दास प्रथा के बारे में अरस्तू द्वारा प्रतिपादित मानवीय व्यवस्थाएँ

अरस्तू ने दास प्रथा के सिद्धान्त को न्यायोचित ठहराते हुए भी उस पर कतिपय मानवोचित परिसीमाएँ लगायी हैं। रॉस ने इस सन्दर्भ में लिखा है, "ये व्यवस्थाएँ दासप्रथा से होने वाले अन्यायों और बुराइयों को कुछ अंशों तक रोकने के लिए महत्वपूर्ण हैं।" ये परिसीमाएँ निम्नलिखित हैं:

(1) दासता प्राकृतिक कृतिक है न कि वंशपरम्परा पर आधारित। दास की सन्तान गुणवान और स्वामी की सन्तान निकम्मी हो सकती है, अतः जो व्यक्ति दास होते हुए भी योग्य और बुद्धिमान हैं, उनको मुक्त कर देना चाहिए।

(2) स्वामी को दास के प्रति किसी प्रकार का अत्याचार या क्रूर व्यवहार करने का अधिकार नहीं है। उसे दास को अपने शरीर का अंग समझना चाहिए और अपने अंग के समान ही उसके साथ व्यवहार करना चाहिए।

(3) स्वामी को अपने दासों को यह वचन देना चाहिए कि यदि वे अच्छा कार्य करेंगे तो वह उनको मुक्त कर देगा।

(4) स्वामी को अपने दासों से केवल वही कार्य करवाने चाहिए जिनको करने की उनमें क्षमता है।

(5) स्वामी का कर्तव्य है कि दास की भौतिक और शारीरिक सुविधाओं का ध्यान रखें।

(6) अरस्तू दासों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में नहीं है, वह उनकी संख्या आवश्यकतानुसार ही रखना चाहता है।

(7) स्वामी को चाहिए कि अपनी मृत्यु के समय अपने दासों को दासता से मुक्त कर दे।

(8) अरस्तू का मत है कि समस्त दासों को अपने सम्मुख स्वतन्त्रता का अन्तिम ध्येय रखना चाहिए।

(9) जैसे-जैसे दास अपने बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाता जायेगा वैसे-वैसे ही उसका मुक्ति मार्ग प्रशस्त होता जायेगा। जब उसका बौद्धिक स्तर स्वामी के बराबर हो जायेगा तो उसे स्वतन्त्र कर दिया जायेगा ।

अरस्तू ने अपनी वसीयत में यहाँ तक लिखा था कि उसके किसी दास को बेचा न जाये एवं उनमें से कुछ को उचित आयु का होने पर मुक्त कर दिया जावे। इससे स्पष्ट होता है कि वह दासों के प्रति मानवीय व्यवहार का समर्थक और क्रूर व्यवहार का विरोधी था।

11.12अरस्तू के दासता सिद्धान्त की आलोचना

अरस्तू के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन में उसके दासता सम्बन्धी विचार ही ऐसे हैं जिन्हें त्याज्य कहा जा सकता है। इसी कारण ये आलोचकों की कटु आलोचना के पात्र रहे हैं। आलोचकों ने इन्हें अमानवीय, संकीर्ण, क्रूर, यूनानी पूर्वाग्रहों से युक्त की संज्ञा दी है। ये न तो तर्कसंगत हैं, न वैज्ञानिक, न परोपकारी और न ही कल्याणकारी। दासप्रथा को आवश्यक मानना समानता और स्वतन्त्रता के वर्तमान कालीन सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दासता का सिद्धान्त स्वयं ही अनेक त्रुटियों से भरा है। यहाँ अरस्तू दार्शनिक या वैज्ञानिक की भाँति नहीं, यूनानी (Hellenic) की भाँति व्यवहार करता है। अरस्तू की दासता सम्बन्धी धारणा की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है:

1. दास प्रथा अप्राकृतिक दास प्रथा किसी भी भाँति प्राकृतिक नहीं है। मनुष्य में विभिन्नता तथा बुद्धि की कुशग्रता में अन्तर होते हुए भी एक प्राकृतिक समानता होती है जिसकी अवहेलना करना राजनीतिशास्त्र का अपमान करना है।

2. मानव समूह का विभाजन सम्भव नहीं अरस्तू द्वारा प्रतिपादित दास प्रथा का औचित्य पूर्ण

रूप से इस मान्यता पर आधारित है कि मानव समूह को गुण और योग्यता से युक्त उच्च वर्ग तथा बुद्धिहीन निम्न वर्ग में विभाजित किया जा सकता है, किन्तु मानव समूह को इस प्रकार के दो वर्गों में विभाजित करना और किसी

व्यक्ति या समूह के सम्बन्ध में यह कहना कि वह गुण और योग्यता की दृष्टि से बिल्कुल हीन है, सम्भव नहीं है।

3. विभाजन का सर्वमान्य मापदण्ड नहीं- अरस्तू का यह विचार नितान्त अव्यावहारिक प्रतीत होता है कि प्रकृक्ति स्वस्थ और पुष्ट शरीर दासों को देती है और दुर्बल शरीर किन्तु विवेकयुक्त मन स्वामी को देती है। अरस्तू के इस कथन से ऐसा ध्वनित होता है कि प्रकृति के पास ऐसा कोई यन्त्र है जिससे वह स्वामी और दास वर्ग को अलग-अलग साँचे में ढाल देती है। इस आधार पर स्वामी की खोज करना उचित नहीं कहा जा सकता।

4. अनुदारवादी धारणा अरस्तू की यह मान्यता कि प्राकृतिक दास में केवल अत्यन्त सीमित बुद्धि, इतनी सीमित कि यह केवल दासता के अपने कर्तव्यों को ही समझ सके, होती है, एक बड़ी गलत मान्यता है। किस आधार पर यह इस मान्यता को लेकर चलता है इस प्रश्न का हमें कोई तर्कसंगत अन्तर ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता है। साथ ही दासों को पशुतुल्य मानकर एवं उनके कार्यों में पूर्ण समानता | देखने का प्रयत्न करके उसने अत्यन्त अनुदारता का ही परिचय दिया है, मानवोचित उदारता का नहीं। 5. विरोधाभास से परिपूर्ण धारणा अरस्तू का दासता सिद्धान्त विरोधाभासी है। एक ओर तो अरस्तू राज्य का उद्देश्य मनुष्य को श्रेष्ठ जीवन प्रदान करना मानता है और दूसरी ओर वह कुछ व्यक्तियों को श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति से वंचित करता है, एक ओर वह दासता को प्राकृक्तिक बताता है और दूसरी ओर कहता है कि दास को दासता से मुक्ति भी मिल सकती है।

6. जातीय अहंकार का प्रतीक दासता के प्रश्न पर विचार करते समय अरस्तू ने अपने जातिगत अभिमान एवं जातीय हितों को पूरी तरह से ध्यान में रखा है। प्रो. थियोडोर गोम्पर्ज के शब्दों में, "जातीय अहंकार को यहाँ दासता की पुष्टि के लिए अपनाया गया है। ।" उसके दासता विषयक विचारों का सार यह निकलता है कि कुलीनता एवं जन्म तथा प्राकृतिक श्रेष्ठता के कारण केवल यूनानी जाति ही स्वतन्त्रता एवं स्वामित्व के लिए पैदा हुई है, बाकी अन्य सब जातियों के लोग निकृष्ट हैं, अतः नैसर्गिक रूप से परतन्त्रता एवं दासता के पात्र हैं।

7. अव्यावहारिक - दासता सम्बन्धी अरस्तू के विचार व्यावहारिकता की कसौटी पर भी खरे नहीं उतरते हैं। यदि उसका यह कथन स्वीकार कर लिया जाए कि दासता एवं स्वामित्व के तत्व व्यक्तियों में जन्मजात है तो यह व्यावहारिक कठिनाई उपस्थित हो जाती है कि यह निश्चय किस प्रकार किया जाए कि कौन-कौन से व्यक्ति नैसर्गिक रूप से दासत्व के तत्व लेकर पैदा हुए हैं एवं किन में स्वभावतः ही स्वामित्व के गुण विद्यमान है।

8. अवकाश का बहाना न्यायसंगत नहीं- मनुष्य दास इसलिए रखता है कि उसको शासन कार्यों, संगीत, कला और साहित्य के माध्यम से अपने बौद्धिक विकास का अवसर मिल सके। यह दो तरह से न्यायसंगत नहीं लगता। प्रथम, तो इतने अवकाश की आवश्यकता ही नहीं है कि सारा गृहकार्य तो दास करें और स्वामी साहित्य सेवा के नाम पर ऐशो-आराम का जीवन व्यतीत करें। यह तो सामन्तवादी युग की एक दूषित प्रणाली का सा रूप बनता दिखाई देता है। द्वितीय, यह कहाँ तक न्यायोचित है कि अवकाश का समय और बौद्धिक विकास के लिए समय समाज के केवल एक अंग को मिले और दूसरा अंग इस सुविधा से वंचित रहे।

9. अलोकतान्त्रिक सिद्धान्त यह सिद्धान्त लोकतन्त्र के दो आधार स्तम्भों स्वतन्त्रता और समानता दोनों के विपरीत है। श्रमिकों को जो समाज के वास्तविक रचयिता होते हैं, वे उस समाज में सम्मानपूर्वक रहने के भी हकदार नहीं है, यह कहाँ का न्याय है। समाज के अल्पसंख्यकों को अधिकारों से लाद दिया जाये कि वे उनके भार से दबकर ऐशोआराम के गर्त में पड़ जायें और दूसरा वर्ग दासता की बेड़ियों में पड़ा सिसकता रहे।

10. अतार्किक सिद्धान्त - अरस्तू यह भी कहता है कि दास एवं स्वामी के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण होना चाहिए। किन्तु, वह भूल जाता है कि मित्रता सामान्यतया समान स्थिति वाले लोगों में ही हो सकती है, असमान स्थिति वाले लोगों में नहीं।

11. अवैज्ञानिक सिद्धान्त आलोचकों का कहना है कि राजनीतिशास्व को विज्ञान का स्वरूप देने वाले अरस्तू ने दासप्रथा को उचित घोषित कर विज्ञान

के उज्ज्वल मस्तक पर एक कालिमा पोत दी। अरस्तू यह मानता है कि कुछ व्यक्ति जन्मजात ही मूढ़ हैं परन्तु वह इस वैज्ञानिक तथ्य की अवहेलना करता है कि अच्छे वातावरण, उचित परिस्थितियों तथा सही शिक्षा से उन मूढ़व्यक्तियों को भी बुद्धिमान बनाया जा सकता है।

निष्कर्ष- संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दासता विषयक अरस्तू के विचार अत्यन्त अवैज्ञानिक, असंगत, अग्राह्य और मानवता विरोधी हैं। इबन्सटीन ने लिखा है- "उसकी दासता सम्बन्धी स्वीकृति यह सिद्ध करती है कि किस प्रकार एक बुद्धिमान और महान् दार्शनिक अपने समय की संस्थाओं का और उन पक्षपातों का बन्दी होता है जो उन संस्थाओं को तर्क द्वारा औचित्यपूर्ण बतलाती हैं।" मैक्सी ने तो दासप्रथा के विवरण के कारण अरस्तू की पुस्तक 'पॉलिटिक्स' को अवैध घोषित करने की सिफारिश की है।

अरस्तू के अनुसार धनिकतन्त्र का सबसे बड़ा दोष आपसी फूट तथा ईर्ष्या है। इनके प्रत्येक कार्य के आधार व्यक्तिगत लाभ है। निर्धन वर्ग धनिकतन्त्र का सबसे बड़ा शत्रु है जो इसके विनाश के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। अरस्तू धनिक वर्गतन्त्र को सर्वथा अस्थायी और पूर्णतया त्याज्य व घृणित मानता है।

11.13अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार

यूनान के नगर-राज्यों में राजनीतिक क्रान्तियों एवं वैधानिक परिवर्तनों द्वारा शासन प्रणाली में बहुधा परिवर्तन होता रहता था। ये क्रान्तियाँ यूनानी जगत में राजनीतिक जीवन का कटु सत्य बनी हुई थीं। इनके कारण यूनानी नगर-राज्यों का राजनीतिक जीवन अत्यन्त अस्थिर एवं डाँवाडोल बना हुआ था। आये दिन वहाँ पर राजतन्त्र के स्थान पर निरंकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र के स्थान पर धनिकतन्त्र और प्रजातन्त्र के स्थान पर निरंकुशतन्त्र का विकास तथा हास होता चला जाता था। इन परिवर्तनों से न केवल शासन व्यवस्था ही बदलती थी, बल्कि इनसे यूनानियों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के स्वरूप में भी कभी-कभी गम्भीर परिवर्तन हो जाते थे। अरस्तू ने पॉलिटिक्स की पाँचवीं पुस्तक में एक अत्यन्त अनुभवी एवं योग्य चिकित्सक की भाँति अपने प्रौढ़ राजनीतिक विवेक की सहायता से यूनानियों के राजनीतिक जीवन की इस रुग्णता का

विश्लेषण किया है तथा इनका प्रतिकार करने के महत्वपूर्ण उपाय सुझाए हैं। इसमें उसने अपनी परिपक्व राजनीतिक बुद्धिमत्ता तथा यूनानी इतिहास के गम्भीर तथा विशद ज्ञान का सुन्दर परिचय दिया है इतिहास के बीसियों शिक्षाप्रद तथा मनोरंजक उदाहरणों का उल्लेख किया है। डनिंग के अनुसार अपने इस चिन्तन के लिए उसने बड़ी मात्रा में ऐतिहासिक तथ्यों तथा वैज्ञानिक विश्लेषण को आधार बनाया है, एवं समुचित चिन्तन के उपरान्त अनेक उपयोगी सुझाव दिए हैं। क्रान्ति सम्बन्धी अपने समग्र चिन्तन में अरस्तू एक वैज्ञानिक, विश्लेषणकर्ता अधिक रहा है और राजनीतिक अथवा सामाजिक सुधारक कम एक तटस्थ राजनीतिक चिकित्सक के रूप में प्रयत्न किया है। रोगी के अच्छे अथवा बुरे होने से उसका कोई मतलब नहीं है। उसे तो हर रोगी के रोग का हर सम्भव ढंग से उपचार करना है।

अरस्तू को प्रथम राजनीतिक यथार्थवादी कहा जाता है। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि उसने तत्कालीन समस्याओं का गहन अध्ययन कर उसके समाधान के व्यावहारिक उपाय बताए हैं। मैक्सी के अनुसार, "यूनानी राजनीतिक जीवन में क्रान्ति से बढ़कर भयंकर समस्या नहीं थी और पॉलिटिक्स के कई पृष्ठों में वह इसी का विवेचन करता है।" गैटेल के शब्दों में, "पॉलिटिक्स राजनीतिक दर्शन का क्रमबद्ध अध्ययन ही नहीं अपितु शासन की कला पर एक ग्रन्थ है। इसमें अरस्तू नगर-राज्यों में प्रचलित बुराइयों और उनके राजनीतिक संगठनों के दोषों का विश्लेषण करता है, और ऐसे व्यावहारिक सुझाव देता है जिनसे आपत्तिसूचक भयों को दूर किया जा सकता है।" क्रान्तियों के प्रति इसी यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण पोलक जैसे विचारक यह मानते हैं कि अरस्तू पहला दार्शनिक है जिसने राजनीति को नीतिशास्त्र से पृथक् किया है। अरस्तू के क्रान्ति को रोकने के उपायों का अध्ययन करते हुए हमें सहसा कौटिल्य और मेकियावेली का स्मरण हो आता है।

क्रान्ति का अर्थ

अरस्तू की क्रान्ति सम्बन्धी धारणा तथा हमारी आज की क्रान्ति सम्बन्धी धारणा में महान् अन्तर है। किसी राज्य में जनता अथवा जनता के किसी भाग

द्वारा सशस्त्र विद्रोह का नाम ही क्रान्ति नहीं है। अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का अर्थ है संविधान में परिवर्तन ।

संविधान में होने वाला छोटा-बड़ा परिवर्तन, संविधान में किसी प्रकार का संशोधन होना, जनतन्त्र का उग्र या उदार रूप धारण करना, जनतन्त्र द्वारा धनिकतन्त्र का या धनिकतन्त्र द्वारा जनतन्त्र का विनाश किया जाना, सरकार में किसी प्रकार का परिवर्तन हुए बिना एक अत्याचारी शासक का दूसरे को हटाकर अपनी सत्ता स्थापित करना-इन सब बातों को अरस्तू क्रान्ति मानता है। संविधान में पूर्ण परिवर्तन के फलस्वरूप राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतया बदल जाता है। इसे हम पूर्ण क्रान्ति कह सकते हैं। संविधान में परिवर्तन के फलस्वरूप उसके किसी एक भाग में भी परिवर्तन हो सकता है- इसे आंशिक क्रान्ति कह सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकार के परिवर्तनों के लिए रक्तपात किया जाए। अरस्तू संविधान में परिवर्तन को ही क्रान्ति कहता है और संविधान में परिवर्तन चुनाव, धोखे अथवा रक्तहीन उपायों द्वारा भी हो सकते हैं।क्रान्तियों के प्रकार

अरस्तू के अनुसार क्रान्तियाँ निम्न पाँच प्रकार की होती है:

(1) **आंशिक अथवा पूर्ण क्रान्ति** -जब सम्पूर्ण संविधान बदल दिया जाए तो उसे पूर्ण क्रान्ति और जब उसका कोई महत्वपूर्ण भाग बदल दिया जाता है तो उसे आंशिक क्रान्ति कहा जाता है। पूर्ण क्रान्ति में राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतः बदल जाता है। यथा, मौजूदा प्रजातन्त्र धनिकतन्त्र में अथवा निरंकुशतन्त्र में अथवा कुलीनतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है।

(2) **रक्तपूर्ण अथवा रक्तहीन क्रान्ति** जब संविधान का परिवर्तन सशस्त्र विद्रोह के कारण व खून-खराबे के कारण हो तो उसे रक्तपूर्ण क्रान्ति कहेंगे। जब संविधान या शासन का परिवर्तन बिना किसी रक्तपूर्ण उपद्रव के सम्भव होता है तो उसे अरस्तू ने रक्तहीन क्रान्ति कहा है।

(3) **व्यक्तिगत अथवा गैर-व्यक्तिगत क्रान्ति**- अरस्तू के अनुसार जब संविधान परिवर्तन किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति को पदच्युत करने से होता है तो उसे

वैयक्तिक क्रान्ति कहेंगे; जब संविधान परिवर्तन का उद्देश्य गैर-व्यक्तिगत होता है तो उसे अरस्तू ने अवैयक्तिक क्रान्ति की संज्ञा दी है।

(4) **वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रान्ति-** इसमें राज्य के निर्धन व्यक्ति राजतन्त्र या धनिकतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह करते हैं अथवा धनिक राजतन्त्र या जनतन्त्र के विरुद्ध क्रान्ति करते हैं। यदि निर्धन व्यक्ति राजा या धनी व्यक्तियों के विरुद्ध विद्रोह करके राज्य में जनतन्त्र की स्थापना कर देते हैं तो उसे जनतन्त्रीय क्रान्ति कहते हैं। यदि राज्य के धनी व्यक्ति जनतन्त्रीय या राजतन्त्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके अपना शासन स्थापित कर लेते हैं तो उसे धनतन्त्रीय क्रान्ति कहते हैं।

(5) **वाग्वीरों की क्रान्ति**- जब किसी राज्य में कुछ करिश्माती नेतागण अथवा वाग्वीर लोग लुभावनकारी नारों अथवा शब्द चमत्कार द्वारा अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए राज्य में क्रान्ति कर दें तो उसे वाग्वीरों की क्रान्ति (Demagogic Revolution) कहा जाता है।

क्रान्तियों के कारण

अरस्तू ने क्रान्तियों के कारणों को तीन भागों में विभक्त किया है।

(1) सामान्य कारण (General causes of revolution).

(2) विशिष्ट कारण (Particular causes of revolution).

(3) विशिष्ट शासन प्रणालियों में क्रान्ति के विशिष्ट कारण (Causes of revolution in different kinds of states)

1. क्रान्ति के सामान्य कारण

अरस्तू क्रान्तियों का सामान्य कारण (मूल कारण) विषमता (Inequality) को मानता है। "क्रान्ति का मूल कारण समानता की भावना है।" समानता दो प्रकार की होती है- संख्यावाचक समानता और योग्यता सम्बन्धी समानता। अरस्तू योग्यता सम्बन्धी समानता का तात्पर्य आनुपातिक समानता समझता है। संख्या की दृष्टि से तीन दो से उतना ही बड़ा है, जितना दो एक से, किन्तु आनुपातिक दृष्टि से चार दो से उतना ही बड़ा है, जितना दो एक से, क्योंकि दो चार का

वही अंश है जो एक दो का। सब मनुष्य इस बात पर तो सहमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष न्याय योग्यता के अनुपात में होना चाहिए, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में योग्यता के प्रश्न पर मतभेद रखते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यदि मनुष्य किसी एक बात में समान हों तो सभी बातों में समान होने चाहिए। जब ये मनुष्यत्व की दृष्टि से समान हैं तो उनके अधिकारों, धन-सम्पत्ति आदि में भी समानता होनी चाहिए, किसी प्रकार विषमता नहीं होनी चाहिए। दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि यदि कोई व्यक्ति एक बात में कुल या धन की दृष्टि से दूसरों से बढ़चढ़ कर है तो अन्य सभी बातों से बढ़ कर होना चाहिए। दोनों विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष के कारण विद्रोह होते हैं। उदाहरणार्थ, जनतन्त्र में सब व्यक्तियों के अधिकार समान माने जाते हैं, किन्तु कुलीनतन्त्र और धनिकतन्त्र में उच्च कुलों में उत्पन्न तथा धनवान व्यक्तियों के विशेषाधिकार समझे जाते हैं। अधिकारों की यह विषमता, समानता के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाली जनता को सहा नहीं होती है। अतः धनिकतन्त्रों और जनतन्त्रों में अधिक क्रान्तियाँ होती है। धनिकतन्त्र में विद्रोह दोहरे ढंग से होते हैं- प्रथम, धनिक वर्ग में ही दो गुट हो जाते हैं और एक गुट दूसरे के विरुद्ध क्रान्ति करता है, द्वितीय, धनिक वर्ग के विरुद्ध निर्धन वर्ग विद्रोह करता है। किन्तु जनतन्त्र में जनता का समूह केवल उस राज्य वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करता है।

अतः यह स्पष्ट है कि समानता का अर्थ राजतन्त्र और धनिकतन्त्र में एक जैसा नहीं होता और विषमता को दूर कर समानता लाने की भावना से इन दोनों पद्धतियों में अनेक क्रान्तियाँ होती हैं।

वस्तुतः क्रान्तियों के मूल कारण न्याय का एकाकी दूषित दृष्टिकोण है। जनतन्त्रवादी यह समझते है कि सब मनुष्य समान रूप से स्वतन्त्र हैं अतः उनमें समानता होनी चाहिए। इसके विपरीत, धनिकतन्त्रवादियों का यह विश्वास है कि मनुष्यों में धन की विषमता है, अतः अन्य बातों में भी विषमता होनी चाहिए।

अरस्तू इस स्थिति से उत्पन्न होने वाली मनोदशा को क्रान्ति का सामान्य (मूल कारण) कारण मानते हुए कहता है- "कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके हृदय

समानता की भावना से ओतप्रोत हैं, वे जानते हुए विद्रोह खड़ा किया करते हैं कि यद्यपि वे उन लोगों के समान हैं, जो उनसे कहीं अधिक (धन सम्पत्ति) पाए हुए हैं तथापि उनको स्वयं अन्य लोगों से कम (सुविधाएँ) प्राप्त हैं। दूसरे, कुछ विद्रोह करने वाले वे लोग होते हैं जिनका हृदय असमानता (अर्थात् अपनी उच्चता) की भावना से भरा होता है क्योंकि वे यह समझते हैं कि यद्यपि वे अन्य मनुष्यों से बढ़कर है। तथापि उनको अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं मिलता प्रत्युत् या तो दूसरों के बराबर या उनसे कम मिलता है। इस प्रकार छोटे व्यक्ति बराबर होने के लिए विद्रोही बना करते हैं और बराबर स्थिति वाले बड़े बनने के लिए। यही वह मनोदशा है, जिससे क्रान्तियों की उत्पत्ति होती है।"

2. क्रान्तियों के विशिष्ट कारण

क्रान्तियों के सामान्य कारण की चर्चा करने के बाद अरस्तू क्रान्ति के विशिष्ट कारणों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करता है। क्रान्ति के विभिन्न विशिष्ट कारणों का उल्लेख कर अरस्तू ने सामाजिक और आर्थिक वास्तविकता के प्रति अपनी सूक्ष्य दृष्टि का परिचय दिया है। क्रान्ति के विशिष्ट कारण निम्नलिखित हैं :

1. **शासकों की धृष्टता या लालच** -जब राज्य के शासक या शासन सत्ता से सम्पन्न व्यक्तियों के व्यवहार में धृष्टता या उद्दण्डता आ जाती है और वे लालच के वश में होकर व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक सम्पत्ति को हड़पना आरम्भ कर देते हैं तो जनता उनके विरुद्ध विद्रोह कर देती है।

2. **शासन सत्ता का दुरुपयोग** -जब शासक वर्ग भ्रष्ट हो जाए, इसमें रिश्वत का बोलबाला हो तथा भाई-भतीजावाद उग्र रूप धारण करले तब भी क्रान्ति हो सकती है।

3. **अयोग्य व्यक्ति का शासन** -जब शासक अयोग्य हो और शासन की भागीदारी में योग्य लोगों को स्थान न हो तो क्रान्ति की भूमिका बनती है।

4. **मध्यम वर्ग का अभाव** - समाज का दो वर्गों धनवान और निर्धन में बंटना भी क्रान्ति का एक कारण हो सकता है। मध्यमवर्ग, जो समाज में सन्तुलित

अवस्था में रहता है, के अभाव में निर्धन वर्ग द्वारा क्रान्ति की सम्भावना हो सकती है।

5. **आर्थिक असन्तुलन-** अरस्तू इस तत्व पर बहुत जोर देता है। जिस समाज में अमीरी व गरीबी के बीच भारी खाई हो वहाँ क्रान्ति का होना स्वाभाविक है।

6. **विदेशियों का बाहुल्य -** यदि किसी अन्य राज्य में विदेशी बहुत बड़ी संख्या में आ जाएँ तो उससे वहाँ के नागरिकों को चुनौती मिलती है और इस प्रकार दो संस्कृक्तियों की टकराहट क्रान्ति को जन्म देती है।

7. **सम्मान की लालसा** -यह सबमें स्वाभाविक है, किन्तु जब शासक किसी को अनुचित रूप से बिना योग्यता या कारण के सम्मानित या अपमानित करते हैं तो जनता रुष्ट होकर विद्रोह कर देती है।

8. **भय**- भय दो प्रकार के व्यक्तियों को क्रान्ति के लिए बाधित करता है- प्रथम, अपराध करने वाले व्यक्तियों को दण्ड का भय होता है. इससे बचने के लिए वे विद्रोह कर देते हैं। द्वितीय, कुछ व्यक्तियों को यह डर होता है कि उनके साथ अन्याय होने वाला है। इसके प्रतिकार के लिए वे विद्रोह कर बैठते हैं। इसका उदाहरण रोड्स टापू के कुलीन व्यक्ति थे, साधारण जनता इन पर अभियोग चलाने की धमकियाँ दे रही थी, अतः इन्होंने जनता के विरुद्ध षड्यन्त्र किया।

9. **घृणा**- जब राज्य में एक वर्ग या दल बहुत समय तक सत्तारुढ़ है तब उसका विरोधी वर्ग या दल उससे घृणा करने लगता है। इस घृणा का कुछ समय के बाद क्रान्ति के रूप में विस्फोट होता है। उदाहरणार्थ, धनिकतन्त्र में उस समय क्रान्ति होती है, जब बहुसंख्यक लोगों को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं और वे अपने को शक्तिशाली समझने लगते हैं। जनतन्त्र में विद्रोह तब होता है, जब सम्पत्तिशाली मनुष्यों को राज्य में फैली हुई अव्यवस्था और अराजकता के कारण जनसाधारण से घृणा हो जाती है।

10. **पारिवारिक झगड़े** -पारिवारिक झगड़े, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य के कारण भी राज्य में क्रान्ति हो जाती है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में तो प्रायः क्रान्तियाँ पारिवारिक घृणा या व्यक्तिगत ईर्ष्या के कारण होती हैं।

11. **शासक वर्ग की असावधानी** -क्रान्ति का एक कारण शासक वर्ग की असावधानी होता है। शासक वर्ग कभी-कभी अज्ञान तथा असावधानी के कारण राजद्रोहियों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर देता है। इससे किसी भी समय अवसर प्राप्त होने पर वे व्यक्ति राज्य का तख्ता उलट देते हैं।

12. **भौगोलिक स्थिति**- अरस्तू ने क्रान्ति के विशिष्ट कारणों में राज्य की भौगोलिक स्थिति की भी चर्चा की है। उसने कहा है कि जो राज्य नदियों, घाटियों और पर्वतों से विभिन्न हिस्सों में बंटा है उसके लोग एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में नहीं रहते और इसलिए राज्य का कोई हिस्सा किसी तथ्य को लेकर कभी भी क्रान्ति करने की सुविधा में रहता है। अतः राज्य की भौगोलिक स्थिति, अरस्तू के अनुसार, क्रान्ति के सहायक तत्वों में से एक है।

13. **अल्प परिवर्तनों की उपेक्षा-** अल्प परिवर्तनों की उपेक्षा भी कई बार क्रान्ति का कारण होता है। ये छोटे-छोटे परिवर्तन शनैः शनैः महान् परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं, जैसे अम्बाकिया में मताधिकार की शर्तों में सामान्य परिवर्तन से शासन में क्रान्ति हो गई।

14. **प्रमाद**- प्रमाद भी क्रान्ति का कारण होता है। जनता अपने आलस्य और उपेक्षा के कारण ऐसे व्यक्तियों को सत्तारूढ़ होने दे सकती है जो वर्तमान शासन के प्रति निष्ठावान नहीं होते और शासन को बदल देते हैं।

15. **निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र** -निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र भी क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। हेराइया में चुनावों में बड़े षड्यन्त्र होते थे और इनके कारण इनका परिणाम पहले से ही निश्चित हो जाता था। इस दोष को दूर करने के लिए यहाँ परची या गोट पद्धति (Lot) को अपना करके निर्वाचन पद्धति में क्रान्ति की गई।

16. **परस्पर विरोधी वर्गों का शक्ति में सन्तुलित होना** -क्रान्तियों का एक बड़ा कारण राज्य में परस्पर विरोधी वर्गों (निर्धन एवं धनी आदि) का शक्ति में सन्तुलित होना भी है। जहाँ एक पक्ष दूसरे पक्ष से अधिक प्रबल होता है तो निर्बल पक्ष प्रबल पक्ष के साथ लड़ाई मोल नहीं लेता है। किन्तु जब दोनों पक्षों

में शक्ति सन्तुलन हो तो दोनों को सफलता की सम्भावना होती है और वे विद्रोह करके सत्ता हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं।

विभिन्न शासन प्रणालियों में क्रान्ति के विशिष्ट कारण

क्रान्ति के विशिष्ट कारणों की विवेचना करने के बाद अरस्तू ने विभिन्न शासन प्रणालियों में होने वाली क्रान्तियों का उल्लेख किया है।

प्रजातन्त्र में क्रान्ति- अरस्तू के अनुसार सम्पूर्ण अर्थ में समानता (absolute equality) की भूख न प्रजातन्त्र में क्रान्ति पैदा करने वाला एक प्रमुख कारण है। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र में होने वाली क्रान्तियों के लिए वाग्वीरों के उच्छृंखल व्यवहार को अरस्तू ने प्रमुख रूप से जिम्मेदार माना है। प्रजातन्त्र में ये वाग्वीर नेता कभी तो धनिक वर्ग पर प्रहार करते हैं और कभी जनसाधारण को धनिक वर्ग के विरुद्ध उत्तेजित करते हैं। रोड्स हेरीक्लीआ, मोगारा आदि नगर राज्यों में इन वाग्वीरों के उच्छृंखल व्यवहार ने ही प्रजातन्त्र विधान को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। ये वाग्वीर अपने न्यस्त स्वार्थों और अपनी लोकप्रियता बनाये रखने के लिए प्रजातन्त्र विधान के लिए घातक कार्यवाहियाँ करते रहते हैं। इनके प्रहार प्रमुख रूप से प्रजातन्त्र में रहने वाले धनिक वर्ग के लोगों पर होते हैं क्योंकि ऐसा करने से ही ये जनसाधारण में अपनी लोकप्रियता बनाये रख सकते हैं।

अरस्तू के अनुसार यदि वाग्वीर प्रजातन्त्र पद पर आरूढ़ हैं तो उसकी कार्यवाहियाँ प्रजातन्त्र को नष्ट कर निरंकुशतन्त्र को जन्म देने वाली सिद्ध होती हैं।

धनिकतन्त्र में क्रान्ति- धनिकतन्त्र का आधार यह सिद्धान्त है कि जो लोग किसी एक बात में असमान हैं, वे सभी बातों में बिल्कुल भिन्न हैं। धनिक वर्ग का यह असमानता का सिद्धान्त अपने अन्तिम रूप में धनिकतन्त्र के जीवन के लिए समय-समय पर विभिन्न रूपों में संकट पैदा करता रहता है। इसी असमानता के आभास के कारण सरकार द्वारा जन साधारण की उपेक्षा की जाती है एवं अनुचित व्यवहार किया जाता है। जब जनसाधारण की दयनीय स्थिति पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है तो शासक वर्ग के ही किसी महत्वाकांक्षी

व्यक्ति को जनसाधारण का नेता बनने का अवसर बड़ी सुगमता से प्राप्त हो जाता है और क्रान्ति का सूत्रपात होता है। अरस्तू के अनुसार अपने न्यस्त्र स्वार्थों के कारण धनिक वर्ग में से ही लोग धनिकतन्त्र की कब खोदने वाले बन जाते हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि धनिक वर्ग के वे व्यक्ति जिन्हें शासन-संचालन में हाथ बंटाने का अवसर प्राप्त नहीं होता, वर्ग द्रोही बन जाते हैं।

धनिकतन्त्र में क्रान्ति का सूत्रपात उस स्थिति में भी हो जाता है जबकि शासक वर्ग के कुछ लोग फिजूलखर्ची द्वारा अपनी समस्त सम्पत्ति को स्वाहा कर देते हैं। ऐसे लोग क्रान्ति के माध्यम से शासन सत्ता हथिया कर निरंकुश बनने की मनोकामना रखते हैं ताकि अपनी दरिद्रता से छुटकारा पाने की आशा कर सकते हैं। सिराक्यूज, एम्फीपोलिस तथा एजिना आदि राज्यों में इसी प्रकार के लोगों ने उपद्रव पैदा किये। शादी विवाह, पारस्परिक झगड़े-फसाद तथा कुछ आकस्मिक घटनाओं के द्वारा भी क्रान्ति का सूत्रपात हो सकता है। अरस्तू का यह भी कहना है कि धनिकतन्त्रों में सम्पत्ति के आधार पर मतदान का निर्णय किया जाता है, वहाँ आर्थिक समृद्धि के कारण मतदाताओं की संख्या में भारी वृद्धि हो सकती है जिसके परिणामस्वरूप विधान में परिवर्तन हो जाता है।

कुलीनतन्त्र में क्रान्ति- अरस्तू के अनुसार कुलीनतन्त्र के जनसाधारण में जब यह धारणा पैदा हो जाती है कि वे श्रेष्ठता में शासक वर्ग के अनुरूप हैं तो कुलीनतन्त्र में विग्रह का समारम्भ हो सकता है। इसी कुलीनतन्त्र में विग्रह होने का एक अवसर उस स्थिति में भी उपस्थित होता है जब सर्वश्रेष्ठ प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जाता है अथवा जब तेजस्वी पुरुषों को शासन संचालन का गौरव प्राप्त नहीं होता। विद्रोह का एक अवसर इस कारण भी उपस्थित हो सकता है कि शासक वर्ग का अंग युद्ध, अथवा अन्य किसी कारण से अत्यन्त दरिद्र हो जाये एवं अपने अन्य सहयोगियों से सम्पत्ति के पुनः विभाजन की माँग कर बैठे। कुलीनतन्त्र का सबसे घातक शत्रु, अरस्तू इस विधान में उपस्थित धनिकतन्त्र के तत्वों को मानता है।

राजतन्त्र में क्रान्ति राजतन्त्र को अरस्तू उन विधानों में मानता है जिनको बाह्य कारण सहसा नष्ट नहीं कर सकते एवं जिनकी आन्तरिक कमजोरियाँ ही उनके

उन्मूलन का कारण बनती हैं। राजतन्त्र में राज परिवार में आन्तरिक कलह होने पर अथवा राजा के निरंकुश बनने के प्रयास करने पर ही विद्रोह की परिस्थिति पैदा होती है। राजा द्वारा किये जाने वाले अन्यायपूर्ण अपमान एवं अन्य लोगों को पहुंचायी जाने वाली क्षति भी राजतन्त्र को नुकसान पहुँचा देती है।

निरंकुशतन्त्र में क्रान्ति- निरंकुशतन्त्र में क्रांति व्यक्तिगत स्वार्थों की असीमित रूप में पूर्ति के

उद्देश्य को लेकर होती है। इसमें विद्रोह का कारण अन्यायपूर्ण उत्पीड़न, आतंक, अत्यधिक तिरस्कार आदि होते हैं। असह्य अपमान, सम्पत्ति का अपहरण आदि कुछ प्रमुख प्रकार के अन्यायपूर्ण उत्पीड़न कहे जा सकते हैं। अपने प्रियजनों, सम्बन्धियों आदि के साथ किया जाने वाला यौन सम्बन्धी अपमानजनक व्यवहार निरंकुशतन्त्र विधानों के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार अत्यधिक भय अथवा तिरस्कार की भावना भी निरंकुशतन्त्र विधानों के हित में नहीं होती। आन्तरिक कलह तथा विग्रह भी निरंकुशतन्त्र को नष्ट कर देता है। अरस्तू के अनुसार घृणा तथा तिरस्कार प्रमुख रूप से निरंकुश तन्त्र के लिए घातक प्रमाणित होते हैं, अत्याचारी शासक शीघ्र ही अपने विरुद्ध घृणा का वातावरण तैयार कर लेते हैं। उनका भोगविलासमय जीवन अन्य लोगों में घृणा तथा तिरस्कार के भाव भर देता है जिसके परिणामस्वरूप निरंकुश शासक का समय पाकर पतन होता है।

11.14 क्रान्तियों को रोकने के उपाय

अरस्तू ने क्रान्तियों के कारणों का ही विश्लेषण नहीं किया है अपितु एक चिकित्सक की भाँति उनके निदान के उपाय भी बताये हैं। डनिंग के अनुसार, "अरस्तू क्रान्तियों को उत्पन्न करने वाले कारणों की विस्तृत सूची देने के पश्चात उसके समान ही प्रभावोत्पादक उनको रोकने वाले उपायों की सूची भी देता है।" मैक्सी का कथन है कि आधुनिक राजनीतिक विचारक शायद ही क्रान्ति को रोकने का अरस्तू के उपायों के अतिरिक्त कोई अन्य ठोस उपाय बता सकें। अरस्तू द्वारा क्रान्तियों से बचने के उपाय निम्नलिखित हैं :

1. **संविधान के प्रति आस्था**- अरस्तू के अनुसार संविधान के प्रति आस्था रखना क्रान्ति से बचने का महत्वपूर्ण उपाय है। शासक वर्ग इस बात का हर सम्भव उपाय करे कि जनता द्वारा कानून की आज्ञाओं का पालन हो। कानून उल्लंघन करने की छोटी-छोटी घटनाएँ भी महत्वपूर्ण है, अतः उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

2. **शासक वर्ग एवं शासितों** में सद्भाव अरस्तू यह आवश्यक मानता है कि शासक शासितों के बीच निरन्तर सद्भाव बना रहे, शासक शासितों को शासन के समक्ष आने वाली समस्याओं से अवगत कराये एवं शासित अपनी समस्याएँ शासकों के समक्ष रख सकें। इस प्रकार का सम्वाद व सद्भाव की विभिन्न प्रक्रियाओं का बना रहना ही क्रान्ति को दूर करने का प्रबल उपाय है।

3. **विधि का शासन**- अरस्तू जिस बात पर बल देता है, वह है विधि का शासन। व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि का शासन सदा अच्छा होता है क्योंकि इसमें विधि द्वारा शासक की महत्वाकांक्षाओं पर नियन्त्रण हो सकता है।

4. **समानता का व्यवहार**- विषमता क्रान्ति की जननी है अतः शासन का लक्ष्य सदैव समानता का व्यवहार होना चाहिए। अरस्तू का यह मत है कि शासन के पदों की अवधि छह मास होनी चाहिए ताकि अधिक से अधिक व्यक्ति शासक बन सकें, थोड़े समय के लिए शासनारूढ़ व्यक्ति अन्याय नहीं कर सकते ।

5. **मध्यम वर्ग की प्रधानता** अरस्तू की मान्यता है कि मध्यम वर्ग सदा मर्यादा तथा स्वामित्व का हामी रहा है, इसलिए इसकी प्रधानता का होना क्रान्ति को रोकने का सबल उपाय है।

6. **आर्थिक समानता**- समाज में अत्यधिक आर्थिक असमानता क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण कारण है। इस कारण के निवारण के लिए अरस्तू का मत है कि राज्य की ओर से यह प्रयत्न होना चाहिए कि समाज में आर्थिक असमानता कम से कम हो। धन का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि न तो कोई वर्ग अत्यन्त धनवान बन जाए और न दूसरा वर्ग अत्यन्त निर्धन ।

7. **समुचित शिक्षा पद्धति** किसी शासन प्रणाली की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा पद्धति आदर्श हो। बच्चों को शुरू से उस प्रणाली के

ढाँचे में ऐसा प्रशिक्षित करना चाहिए कि वे उस व्यवस्था को आदर्श मानते हुए अपना जीवन उसी के अनुसार ढालने का प्रयल करें।

8. **विदेशी समस्याओं की तरफ जनता का ध्यान केन्द्रित करना** शासकों को चाहिए कि वे राज्य की जनता का ध्यान देश की आन्तरिक समस्याओं की ओर से हटाकर विदेशी मामलों की ओर केन्द्रित करें। राज्य में विदेशी आक्रमण का भय दिखा कर वह जनता में देश प्रेम की भावना को सदा जाग्रत रखें। अरस्तू के शब्दों में, "शासक राज्य की चिन्ता करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे नये खतरों का अन्वेषण करें, दूर के भय को समीप लाएँ ताकि जनता पहरेदार की भाँति अपनी रक्षा के लिए सदा सचेत और तत्पर रहे।"

9. **राजकीय पदों एवं सम्मानों का न्यायोचित वितरण**- अरस्तू के अनुसार राज्य में पदों और सम्मान का वितरण समान होना चाहिए। योग्य व्यक्तियों को उनका उचित मान और पद मिलना चाहिए। एक ही वर्ग के व्यक्तियों को अथवा राज्य के एक ही भाग में व्यक्तियों को सारे पद नहीं दे देने चाहिए चाहिए कि कहीं अवांछनीय व्यक्तियों को राज्य के पद प्राप्त न हो जाएँ।

10. परिवर्तनों पर निगरानी -अन्यथा शेष वर्ग अथवा वर्गों में असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। साथ ही इस सम्बन्ध में सचेत भी रहना क्रान्ति शासन व्यवस्था और संविधान में परिवर्तन करती है। अतः अरस्तू ने कहा है कि राज्य को क्रान्ति से बचाने के लिए परिवर्तनों पर निगरानी रखनी चाहिए। जो परिवर्तन क्रान्ति की आर अग्रसर होने वाले हों, उन पर तुरन्त रोक लगानी चाहिए। इस प्रकार क्रान्ति की रक्षा हो सकेगी।

11. **धनार्जन पर नियन्त्रण** - क्रान्ति को रोकने के लिए अरस्तू ने शासकों के धनार्जन पर नियन्त्रण रखने की बात कही है।

12. **शासकों में परस्पर सद्भाव** -अरस्तू शासक वर्ग के बीच सद्भाव व तालमेल बनाये रखने पर भी जोर देता है।

संक्षेप में, क्रान्ति को रोकने के लिए अरस्तू मध्य वर्ग पर आधारित मिश्रित संविधान और शिक्षा पर सबसे अधिक जोर देता है।

विशिष्ट शासन प्रणालियों में क्रान्ति को रोकने के विशिष्ट उपाय

राजतन्त्र - राजतन्त्र में क्रान्ति को रोकने के लिए अरस्तू ने संयताचार (Moderation) को अनिवार्य माना है। जो शासक संयत व्यवहार करता है एवं जितनी मात्रा में संयत व्यवहार करता है उसका शासन उतना ही स्थायी हो जाता है क्योंकि जनता में उस शासन के प्रति द्वेष की भावना का अभाव होता है।

निरंकुशतन्त्र- निरंकुशतन्त्र में क्रान्ति को रोकने के लिए अरस्तू ने निम्न सुझाव दिये है:

(1) शासन की समस्त बागडोर अपने हाथ में रखते हुए भी निरंकुश इस प्रकार का सफल अभिनय करे कि वह राजा है निरंकुश नहीं। (2) उसे सार्वजनिक आय के प्रति सजग रहना चाहिए तथा सार्वजनिक धन का उपहार आदि देने के अपव्यय नहीं करना चाहिए। (3) कर आदि लगाने एवं उगाहने में भी इस प्रकार दर्शाना चाहिए कि यह कर जन साधारण के हित में खर्च करने के लिए वसूल किया जा रहा है। (4) निरंकुश का व्यक्तित्व गम्भीर होना चाहिए जिससे उसके सम्पर्क में आने वाले लोगों में उसके प्रति श्रद्धा का मिश्रित डर रहे किन्तु आतंक पैदा न हो।

प्रजातन्त्र - प्रजातन्त्र विधान में क्रान्ति को रोकने के लिए अरस्तू ने सुझाया है कि सम्पन्न लोगों के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया जाये एवं उनकी सम्पत्ति को किसी प्रकार नुकसान न पहुँचाया जाये। इसी प्रकार लोगों को खर्चीले किन्तु अनुपयोगी लोक सेवा कार्य भी नहीं करने देना चाहिए।

धनिकतन्त्र- धनिकतन्त्र में क्रान्ति को रोकने के लिए गरीबी की ओर पूरा ध्यान रखना उचित होगा। उनको उचित मात्रा में शासन में सहयोग करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। धनिक द्वारा किसी गरीब के साथ दुर्व्यवहार किये जाने पर उस धनिक को कठोर दण्ड दिया जाना उपयुक्त होगा। धनिकतन्त्र के हित में एक बात यह भी है कि यथासम्भव सम्पत्ति एवं जागीरों की समानता हो और उनका अधिक लोगों में बँटवारा हो सके, इसके लिए अरस्तू ने यह सुझाव दिया है कि सम्पत्ति का उत्तराधिकारी दान के आधार पर न होकर

सन्तति क्रम के आधार पर हो तथा किसी भी व्यक्ति को एक से अधिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त न हो सके।

11.15 अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों की विशेषताएँ

अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: प्रथम, अरस्तू के क्रान्ति 'शब्द' का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। न केवल राज्य में एवं विधान में होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों को ही उसने क्रान्ति माना है, अपितु विधान के स्वरूप में किंचित मात्र होने वाले परिवर्तन को भी वह क्रान्ति की संज्ञा देता है। द्वितीय अरस्तू ने जहाँ क्रान्तियों की विशद विवेचना की है वहाँ सैद्धान्तिक रूप में इस विषय पर विचार व्यक्त नहीं किया कि प्रजा को क्रान्ति करने का अधिकार है अथवा नहीं। उसने हर प्रमुख प्रकार के विधान में क्रान्तियों के होने के कारणों का उल्लेख किया है एवं उनके निदान का मार्ग सुझाया है किन्तु क्रान्तियों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर कोई मत व्यक्त नहीं किया। तृतीय अरस्तू के क्रान्ति विषयक विचारों से एक तथ्य हमें यह स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि क्रान्तियाँ शासक वर्ग एवं शासित वर्ग में पाये जाने वाले विरोध का अवश्यम्भावी परिणाम है। चतुर्थ अरस्तू के विवेचन से यह भी स्पष्टहोता है कि आर्थिक विषमताएँ भी क्रान्तियों का सृजन करती हैं। पंचम, अरस्तू क्रान्तियों को कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं मानता था। कुल मिलाकर वह यही वांछनीय समझता था कि हर प्रकार के विधान में स्थायित्व कायम रहे।

11.16सार संक्षेप

अरस्तू (384-322 ईसा पूर्व) एक प्रमुख ग्रीक दार्शनिक थे, जिन्होंने पश्चिमी दार्शनिकता पर गहरा प्रभाव डाला। उनका कार्य विभिन्न विषयों में फैला हुआ है, जैसे कि तर्कशास्त्र, नैतिकता, राजनीति, विज्ञान और साहित्य। अरस्तू ने ज्ञान की चार श्रेणियाँ स्थापित कीं:

1. **थ्योरीटिकल (Theoretical)** - यह ज्ञान का निरपेक्ष अध्ययन है, जैसे कि गणित और प्राकृतिक विज्ञान।

2. **प्रैक्टिकल (Practical)** - यह नैतिकता और राजनीति जैसे कार्यात्मक ज्ञान को संदर्भित करता है।
3. **प्रौडक्टिव (Productive)** - यह कला और साहित्य जैसे रचनात्मक क्षेत्रों को दर्शाता है।

अरस्तू ने 'चिंतन' (thinking) और 'विवेक' (reason) पर जोर दिया। उनके अनुसार, सही ज्ञान की प्राप्ति तर्क और अनुभव के माध्यम से होती है। उनकी 'नैतिकता' और 'राजनीतिक सिद्धांत' में न्याय, अच्छाई और आदर्श समाज की परिकल्पना की गई है।

11.17स्व - प्रगति परिक्षण प्रश्न

1 मैक्सी ने किस विचारक को प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक कहा है-

(अ) प्लेटो

(ब) मेकियावेली

(स) अरस्तू

(द) कार्ल मार्क्स

2. मेसीडोनिया के राजा फिलिप ने किसको सिकन्दर का शिक्षक नियुक्त किया-

(अ) प्लेटो

(ब) हॉब्स

(स) सुकरात

(द) अरस्तू

3. लिसीयम की स्थापना किस विचारक ने की-

(अ) प्लेटो

(ब) अरस्तू

(स) कार्ल मार्क्स

(द) जॉन लॉक

4. लिसीयम में अरस्तू ने किसके अध्ययन पर जोर दिया-

(अ) गणित

(ब) संगीत

(स) ज्यामिति

(द) जीव विज्ञान

5. अरस्तू की प्रसिद्ध कृति है-

(अ) प्रिन्स

(ब) पॉलिटिक्स

(स) जॉज

(द) स्टेट्समैन

6. अरस्तू द्वारा अपनायी गयी पद्धति है-

(अ) निगमनात्मक

(ब) दार्शनिक

(स) उद्गमनात्मक

(द) व्यवहारवादी

7. संविधानों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाला विचारक है-

(अ) अरस्तू

(ब) बेन्थम

(स) मेकियावेली

(द) जे.एस. मिल

8 "समय की दृष्टि से परिवार पहले है, परन्तु प्रकृति की दृष्टि से राज्य पहले है।" यह कथन किसका है-

(अ) प्लेटो

(ब) अरस्तू

(स) जॉन लॉक

(द) मेकियावेली

9 अरस्तू के द्वारा राज्य का कौनसा लक्षण बतलाया गया है-

(अ) राज्य शोषण का यंत्र है

(ब) राज्य सर्वोच्च समुदाय है।

(स) राज्य एक स्वाभाविक संस्था है

(द) राज्य विविधता में एकता है

10. "राज्य का उद्देश्य केवल जीवन व्यतीत करने के लिए नहीं वरन् उत्तम जीवन के लिए है।" यह कथन किसका है-

(अ) कार्ल मार्क्स

(ब) अरस्तू

(स) रूसो

(द) मेकियावेली

11.18 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (ब), 2. (द), 3. (स), 4. (द), 5. (स), 6. (ब), 7. (अ), 8. (स), 9. (अ), 10. (स)

11.19 मुख्य शब्द

 दर्शनशास्त्र (Philosophy): जीवन और अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों का अध्ययन।

- **तर्कशास्त्र (Logic)**: उचित तर्क और निष्कर्ष निकालने की विधि।
- **नैतिकता (Ethics)**: सही और गलत के बारे में अध्ययन।
- **राजनीति (Politics)**: राज्य, सरकार और समाज का अध्ययन।
- **प्रकृति (Nature)**: भौतिक संसार और उसके नियम।
- **अच्छाई (Virtue)**: नैतिकता का आदर्श रूप।

11.20 संदर्भ सूची

- शर्मा, आर. एस. (2018). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सिंह, उपिंदर. (2019). *प्राचीन भारत में राजनीति और शासन*. नई दिल्ली: पेंगुइन रैंडम हाउस.
- ठाकुर, विनय. (2020). *भारतीय राजनीतिक विचार: प्राचीन से आधुनिक तक*. नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशंस.
- मिश्रा, सुधीर कुमार. (2021). *प्राचीन भारतीय राज्यcraft और प्रशासन*. वाराणसी: ज्ञान भारती प्रकाशन.
- वर्मा, अरुण कुमार. (2022). *भारत का राजनीतिक दर्शन: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य*. जयपुर: साहित्य सदन.
- चौधरी, प्रीति. (2023). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएं और उनके सिद्धांत*. पटना: विद्या विहार पब्लिकेशंस.
- दास, मनीषा. (2024). *भारतीय राजनीतिक विचारकों का योगदान*. कोलकाता: यूनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता प्रेस.

11.21 अभ्यास प्रश्न

1. मैक्सी अरस्तू को प्रथम राजनैतिक वैज्ञानिक क्यों मानता है?

2. अरस्तू के राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति एवं उद्देश्य के बारे में विचार स्पष्ट कीजिए।

3. अरस्तू द्वारा किये गये संविधानों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिये।

4. अरस्तू के दासता संबंधी विचारों की समीक्षा कीजिए।

5. अरस्तू के क्रांति संबंधी विचारों का परीक्षण कीजिए।

6. अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्यों के वर्गीकरण का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। क्या वह आज की परिस्थितियों के लिए उपयुक्त है?

टिप्पणी लिखिए

1. अरस्तू की पॉलिटिक्स ।

2 क्रान्तियों के प्रकार।

3. दासता के प्रकार ।

4. संविधान में चक्रीय परिवर्तन।

इकाई 12

पाश्चात्य मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की मुख्य विशेषताएँ

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाले तत्व

12.4 मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन: विशेषताएँ

12.5 राजदर्शन को मध्ययुग की देन

12.6 क्या मध्य युग अराजनीतिक था

12.7 सार संक्षेप

12.8 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

12.9 स्व - प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

12.10 मुख्य शब्द

12.11 संदर्भ सूची

12.12 अभ्यास प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य मध्यकालीन राजनीतिक चिंतन यूरोप के लगभग 5वीं से 15वीं शताब्दी के बीच का दर्शन है। यह युग धार्मिक संस्थाओं, विशेष रूप से ईसाई चर्च और धर्मशास्त्र (Theology) के प्रभुत्व वाला था। राजनीति और धर्म का गहरा संबंध था, और इस काल के राजनीतिक चिंतन में ईश्वर और चर्च की सर्वोच्चता को केंद्र में रखा गया। यह युग सामंती व्यवस्था, धर्म-राज्य संघर्ष, और चर्च के सामाजिक-राजनीतिक प्रभाव की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

1. भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना और उसके उद्देश्यों को समझ सकें।
2. विभिन्न क्षेत्रों में संसाधनों के वितरण और विकास की दिशा तय कर सकें।
3. आर्थिक स्थिरता और वैश्विक प्रतिस्पर्धा को बढ़ाने के उपायों का विश्लेषण कर सकें।

12.3 मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाले तत्व FIER (Factors Influencing the Political Thinking of Middle Ages)

मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व निम्नलिखित है-

1. ट्यूटन (जर्मन) जातियों के राजनीतिक विचार।
2. सामन्तवाद।
3.रोमन चर्च।
4. पवित्र रोमन साम्राज्य।
5. राष्ट्रीयता की भावना।

12.4 मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन : विशेषताएँ (Salient Features of the Medieval Political Thought)

मध्ययुग धर्म प्रधान था, अतः राजनीतिक चिन्तन पर धार्मिक विश्वासों का प्रभाव रहना स्वाभाविक है। इस काल के राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

(1) **सार्वभौमवाद का विचार या सम्पूर्ण मानव समाज को एक इकाई समझना (Universalism)-** मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन की एक प्रमुख विशेषता ईसाइयत के सिद्धान्तों का पालन करने वाले सार्वभौम समाज (Universal Society) की कल्पना थी। गीर्के ने मध्यकालीन सार्वभौम समाज का चित्रण करते हुए लिखा है: "मध्ययुग की सभी शताब्दियों में ईसाई जनता को मानव जाति से अभिन्न एक सार्वभौम समाज के रूप में माना जाता रहा। इसकी स्थापना और शासन भगवान द्वारा होता है। मानव जाति एक रहस्यात्मक शरीर रखती है, यह एक है। सब मनुष्यों को अपने में सम्मिलित करने वाला यह निगम या निकाय (Corporation) धार्मिक तथा लौकिक सार्वभौम साम्राज्य का निर्माण करता है। इसे सार्वभौम चर्च (Ecclesia Universalis) तथा मानव जाति का राज्य (Respublica genetis humani) कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य पूर्ण करने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें एक कानून (Lex) तथा एक ही सरकार (Unicus Principatus) हो।"

इस प्रकार इस युग के सभी ईसाई विचारकों की मान्यता थी कि सम्पूर्ण मानव जाति एक परिवार के समान है और सभी मनुष्य भाई-भाई है तथा सब मिलकर एक सार्वभौम ईसाई समाज की रचना करते हैं। वे सब एक 'रेसपब्लिका क्रिश्चियाना' (Respublica Christiana) या सार्वभौम ईसाई राज्य के सदस्य हैं जो धार्मिक और राजनीतिक दोनों प्रकार का है। उनके मत में राज्य की नागरिकता और सदस्यता एक ही वस्तु के दो पहलू थे। इस तरह ईसाई सार्वभौम समाज की दो आधारभूत विशेषताएँ थीं- एक धर्म और दूसरा राज्य। इन दोनों की उत्पत्ति का मूल स्रोत ईश्वर था। लेकिन चर्च की स्थिति राज्य की अपेक्षा उच्चतर थी। चर्च की सदस्यता प्राप्त करके ही एक व्यक्ति राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली सुविधाओं का उपभोग करने का अधिकारी बन सकता था।

इस दृष्टि से देखा जाये तो सार्वभौम ईसाई समाज धर्म और राजनीति का एक सम्मिश्रण था जो एक धर्मतंत्र की स्थापना करता था, अर्थात् एक ऐसे राज्य की स्थापना करना था जो कि धर्म के अनुसार संचालित किया जाता

(2**) चर्च की सर्वोच्चता (Superiority of the Church)-** मध्य युग में चर्च सर्वोच्च सत्ता का केन्द्र था। राज्य की सत्ता भी उसके अधीन और नियंत्रण में

थी। पोप की शक्ति की सर्वोच्चता के समर्थक उसे दो आधारों पर सर्वोपरि सिद्ध करते थे- पहला आधार था 'दो तलवारों का सिद्धान्त' और दूसरा आधार था 'सम्राट कान्सटेण्टाइन का दान पत्र।'

'दो तलवारों के सिद्धान्त' के आधार पर पोप की सत्ता की सर्वोच्चता के समर्थकों का कहना था कि ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा के प्रमुख शिष्य और रोम की चर्च के संस्थापक सन्त पीटर ने रोमन चर्च के प्रधान पोप को दो तलवारों से सम्पन्न किया था। इन दो तलवारों में से एक तलवार थी धार्मिक सत्ता और दूसरी तलवार थी राजसत्ता की। पोप ने धर्मसत्ता की तलवार अपने प्रयोग के लिए रख ली और राजसत्ता की तलवार जनहित में प्रयोग करने के लिए राजाओं को प्रदान कर दी। अतः वह दोनों सत्ताओं का स्वामी है और उसका स्थान सर्वोपरि और प्रमुख है तथा सब उसकी सत्ता के अधीन हैं। पोप की सर्वोच्च सत्ता के सम्बन्ध में उनका दूसरा तर्क यह था कि सम्म्राट कान्सटेण्टाइन ने जब रोम के स्थान पर कुस्तुनतुनिया में अपनी राजधानी को स्थानान्तरित किया तो उसने अपने पश्चिमी साम्राज्य का दान तत्कालीन पोप सेल-वेस्टर तथा उसके उत्तराधिकारियों को कर दिया था। फलस्वरूप पोप को उसकी सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता भी प्राप्त हो गयी थी। इस दान के कारण पोप राजनीतिक क्षेत्र में भी सर्वोच्च है। इस प्रकार अनेक तर्कों के आधार पर ईसाई धर्माचार्यों के द्वारा पोप की शक्ति को सर्वोच्च बनाने का प्रयास किया गया, जिसके फलस्वरूप धार्मिक और लौकिक दोनों ही क्षेत्रों में पोप की सत्ता सर्वोच्च रूप से स्थापित हो गयी। किन्तु यह स्थिति बराबर बनी नहीं रही। 13वीं शताब्दी में इस स्थिति में परिवर्तन होने लगा और राजसत्ता की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में आवाज उठने लगी।

(3) **राजतंत्र की प्रधानता (**Pre-eminance of Monarchy) मध्ययुग में एकत्व का सिद्धान्त बड़ा महत्वपूर्ण था और इसलिए शासन की दृष्टि से राजतंत्र की प्रणाली को सर्वोत्तम समझा जाता था। मध्ययुगीन दार्शनिकों का विचार था कि समाज एक शरीर के रूप में है और जिस तरह हर शरीर में सत्ता एक जगह केन्द्रित होती है। उसी तरह समाज रूपी शरीर में भी सत्ता एक स्थान पर केन्द्रित होनी चाहिए।

(4) **सीमित राजसत्ता का विचार (Concept of Limited Monarchy)** -ईश्वर का प्रतिनिधि माने जाने के बावजूद शासक की सत्ता निरंकुश थी। उस पर पहली मर्यादा राजा द्वारा राज्याभिषेक के समय ली जाने वाली प्रतिज्ञा थी। दूसरी मर्यादा की मान्यता थी कि राजा को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त नहीं है, उसे सिर्फ उनकी घोषणा करने का अधिकार है। वह समाज द्वारा रीति-रिवाजों के रूप में निर्मित कानूनों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। राजसत्ता पर इन सब मर्यादाओं के कारण मध्ययुग में उसका अधिकार क्षेत्र बहुत सीमित था जिसे ध्यान में रखते हुए मैकिलवेन का कथन है कि, "मध्ययुगीन राजा यद्यपि पूर्ण सत्ता का स्वामी और अधिकारी था और उसके प्रयोग के लिए किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं था, फिर भी उसके अधिकार सीमित थे।"

(5) **प्रतिनिध्यात्मक शासन का सिद्धान्त (Concept of Representative Government)** - मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का प्रवाह यद्यपि राजतंत्र के समर्थन की ओर था किन्तु उसमें प्रतिनिध्यात्मक शासन प्रणाली के बीज भी विद्यमान थे। धार्मिक और राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में वे उपलब्ध थे। धार्मिक क्षेत्र में यद्यपि पोप सर्वोच्च था किन्तु वह निरंकुश नहीं था। उसकी सत्ता पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध थे। पहला प्रतिबन्ध पोप के निर्वाचन के सम्बन्ध में था। उसका निर्वाचन रोम के विभिन्न चर्चों के कार्डिनलों के मण्डल के द्वारा किया जाता था जो शासक के निर्वाचन सम्बन्धी प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त के अनुकूल था। दूसरा प्रतिबन्ध उसकी सत्ता पर यह था कि वह अपनी सत्ता का प्रयोग चर्च के पादरियों की परिषद की इच्छानुसार ही कर सकता था। इस प्रकार धार्मिक मामलों में उसे अन्तिम निर्णय करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। इसी तरह प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त को राजनीतिक क्षेत्र पर भी लागू करने का प्रयत्न किया गया। इसके अनुसार सम्म्राट का निर्वाचन करने वाले प्रतिनिधि जनता से सम्बन्धित थे। ट्यूटन जातियों के राजनीतिक विचारों से प्रतिनिधि शासन के इस सिद्धान्त को बल मिला। पेडुआ के मार्सिलियो, कूसावासी निकोलस और ओकमवासी विलियम आदि विद्वानों के द्वारा भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया गया।

(6) जन प्रभुसत्ता का विचार (Concept of Popular Sovereignty) मध्ययुग में एक ओर राजा के दैविक अधिकारों का समर्थन किया गया, वहाँ दूसरी ओर जनता के अधिकारों का भी प्रतिपादन किया गया जिससे जन प्रभुसत्ता या लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विचार का उदय हुआ। इसके आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होने का अधिकार दैवी होने पर भी राजा की अन्ततः शक्ति से जनता से ही प्राप्त होती है। अतः राजा को सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। मार्सिलियो और निकोलस दोनों ने जन-प्रभुसत्ता के इस सिद्धान्त का समर्थन किया था। मार्सिलियो का कथन था कि राजा को जनता के निर्देशों के अनुसार कार्य करना चाहिए, प्रतिनिधि सभा का सम्मान करना चाहिए और उनके निर्णयों का कानून के समान पालन करना चाहिए। इस प्रकार मध्ययुग में राजनीतिक चिन्तन की एक विशेषता उसकी जनशक्ति की परिकल्पना थी जिसे उसने आधुनिक युग को प्रदान किया।

(7) **सामूहिक जीवन (Concept of Collective Life)-** मध्ययुग के सामाजिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता सामूहिक जीवन-यापन की प्रवृत्ति थी। आज की तरह उस समय व्यक्ति को किसी तरह के वैयक्तिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। अतः उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले समुदायों में सम्मिलित होना पड़ता था। ये समुदाय विभिन्न प्रकार के थे जिनमें ईसाई मठ, परिव्राजक संघ, आर्थिक श्रेणियाँ, कम्यून आदि प्रमुख थे। सामुदायिक जीवन की अनिवार्यता के कारण इस युग में व्यक्ति के अधिकार उपेक्षित और महत्वहीन थे।

(8) **निगम विषयक सिद्धान्त (Theory of Corporation)**- मध्युयग में सामूहिक जीवन की प्रधानता के कारण निगम विषयक सिद्धान्त का जन्म हुआ। उस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का मुख्य उद्देश्य कुछ विशिष्ट संस्थाओं के विशेष महत्व को स्थापित करना था। इस सिद्धान्त के समर्थकों का विचार था कि जो संस्थापक समाज के आध्यात्मिक एवं लौकिक जीवन की उन्नति के लिए आवश्यक हैं, उन्हें अपना कार्य उचित रूप से संचालित करने के लिए इतना सशक्त बना दिया जाना चाहिए कि उनके कार्यों में कोई बाहरी

शक्ति हस्तक्षेप न कर सके और वे राजनीतिक झगड़ों से दूर रहकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निर्विघ्न रूप से कार्य कर सकें। इन निगमों में मुख्य थे- ईसाई संघ, विश्वविद्यालय, नगर, कम्यून आदि।

इस प्रकार मध्ययुग के दार्शनिकों के समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्यरत विभिन्न संस्थाओं को निगम के रूप में स्वीकार किया और निरंकुश राजतंत्र का खण्डन करके उसके विरुद्ध इसकी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए निगम तंत्र की स्थापना के विचार का समर्थन किया। आधुनिक युग में उत्पन्न 'बहुलवाद' (Pluralism) की विचारधारा इसी मध्ययुगीन निगमवाद के सिद्धान्त पर आधारित है।

12.5 राजदर्शन को मध्ययुग की देन (Contribution of Medieval Age to the Political Thought)

राजदर्शन की दृष्टि से सुषुप्त अवस्था में होने के कारण इतिहासकारों ने मध्ययुग को 'अन्धयुग' के नाम से पुकारा है। डनिंग ने इसे 'अराजनीतिक युग' की संज्ञा दी है। इस युग को 'अराजनीतिक' पुकारे जाने का तात्पर्य है कि इस युग में स्वतंत्र राजनीतिक चिन्तन का अभाव था क्योंकि धर्म समाज एवं राज्य पर इतनी गहराई से छाया हुआ था कि समाज का कोई भी अंग उससे अछूता नहीं था। इस युग में क्रमबद्ध राजनीतिक चिन्तन का यह तार टूट गया जो यूनानी और रोमन सभ्यताओं के द्वारा इसे प्रदान किया गया था। बार्कर जैसा विद्वान भी इस युग के विचारकों को राजनीतिक चिन्तकों की श्रेणी में नहीं गिनता क्योंकि वे अपने युग की वास्तविकताओं से दूर रहकर उनके प्रति पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान का ही प्रदर्शन करते रहे। उनके चिन्तन का कोई क्रमबद्ध विषय नहीं था। कुछ चिन्तक 'बाइबिल' को तो कुछ अरस्तू की पुस्तक 'पॉलिटिक्स' को अपना प्रेरणा स्रोत मानकर उनके आधार पर अपने सिद्धान्तों की रचना करते रहे। फलतः राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में किसी तरह की स्पष्टता और मौलिकता विद्यमान नहीं थी और इसलिए राजनीतिक चिन्तन को देन की दृष्टि से मध्ययुग की कोई विशेषता नहीं है।

यह सच है कि इस युग में एकताबद्ध और सुसंगठित राजनीतिक चिन्तर का अभाव था, परन्तु वह पूर्णतः नष्ट हो गया हो ऐसी बात नहीं थी। इस युग में भी कतिपय ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है जिनकी वजह से धर्म में सुधार हुआ, दास प्रथा को समाप्त किया गया और अनेक राजनीतिक संस्थाओं का विकास हुआ जिन्होंने आधुनिक युग के राजनीतिक चिन्तन एवं शासन व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डाला। वस्तुतः यह युग राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से बिल्कुल शून्य नहीं था, किन्तु इस युग में उस तरह की मौलिकता का अभाव था जिसका दर्शन हमें यूनानी और रोमन राजनीतिक चिन्तन में होता है।

राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से मध्ययुग का अनुदान इस प्रकार है-

(1) **विश्ववाद**- मध्ययुग में 'विश्ववाद' की अवधारणा को बल मिला, प्रोत्साहित किया गया। ईसाई धर्म की मानवीय समानता, एकता एवं विश्वबन्धुत्व की मान्यता के आधार पर सम्पूर्ण ईसाई जगत को एक सार्वभौम ईसाई समाज के रूप में माना जाता था। ईसाई विचारकों की कल्पना थी कि सारी मानव जाति एक बिरादरी है और सब मनुष्य परस्पर भाई-भाई हैं। इस भावना का उदय स्टोइक विचारधारा में पहले ही हो चुका था। सन्त आगस्टाइन ने विश्ववाद के इस विचार को और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि सब मनुष्य एक ही नस्ल के है और ईसाई चर्च सब मनुष्यों के लिए है।

(2) **जन प्रभुसत्ता का विचार**- मध्ययुग में रोमन इम्पीरियम की धारणा, जो जन प्रभुसत्ता की धारणा थी, प्रचलित रही जिसके अनुसार यह माना जाता था कि सम्राट की शक्ति का स्रोत जनता है। उसे अपने अधिकार जनसाधारण से प्राप्त होते हैं। इस धारणा का सन्त टॉमस एक्वीनास, मार्सीलियो आदि के द्वारा समर्थन किया गया।

(3) **प्रतिनिध्यात्मक शासन की धारणा**- मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में 'परिषदीय आन्दोलन' के उत्थान के साथ प्रतिनिध्यात्मक शासन की अवधारणा ने जोर पकड़ा जिसे मार्सिलियो और विलियम ऑफ ओकम जैसे विचारकों से पुरजोर समर्थन प्राप्त हुआ।

(4) **निगम विषयक सिद्धान्त**- मध्ययुग के विचारकों द्वारा निगम सम्बन्धी धारणा का प्रतिपादन किया गया। प्रत्येक निगम की स्वायत्तता का समर्थन करके उन्होंने उस सिद्धान्त की नींव डाली जो आज हमें 'बहुलवाद' (Pluralism) के रूप में उपलब्ध है।

(5) **सीमित राजतंत्र** - मध्ययुगीन दार्शनिकों का विचार था कि सावयवी सत्ता का एक केन्द्र होता है और चूँकि समाज एक सावयव है, अतः अवश्य ही इस सत्ता का केन्द्र होना चाहिए। इस सिद्धान्त के आधार पर जहाँ कतिपय विचारकों ने सत्ता का केन्द्रीकरण पोप के हाथों सौंपा वहाँ दूसरों ने राज्य की सत्ता के केन्द्रीकरण का समर्थन किया। सत्ता के केन्द्रीकरण पर विचारकों के जो भी विचार हों, वस्तुस्थिति यही थी कि उस समय प्रवृत्ति राजतंत्रात्मक सरकार की ही थी। किन्तु राजसत्ता निरंकुश नहीं थी, उस पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध थे। राजा ईश्वरीय विधि के अधीन था, वह परम्पराओं और रीति-रिवाजों का उल्लंघन नहीं कर सकता था, वह राज्याभिषेक के समय ली गई शपथ को निभाने के लिए बाध्य था। इस प्रकार मध्ययुग का राजा निरंकुश नहीं था। आगे चलकर इसी धारणा से उत्तरदायी शासन की संकल्पना विकसित हुई।

12.6 क्या मध्य युग अराजनीतिक था (Was the Middle Age Unpolitical)

डनिंग के अनुसार "मध्ययुग अराजनीतिक था।" यह युग अनिवार्यतः इन अर्थों में अराजनीतिक था कि उसमें राजनीतिशास्त्र और राज्यदर्शन को शोध का अलग-अलग विषय नहीं माना जाता था। इसका मुख्य कारण यह था कि राजसत्ता मुख्यतः धर्मसत्ता के अधीन थी।

मध्ययुग में धर्मसत्ता ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं कि राजनीति के अध्ययन के क्षेत्र में किसी प्रकार की प्रगति होना सम्भव नहीं रह गया। राजनीति के सम्बन्ध में जो भी विचार प्रकट किये गये, उन सब में धर्म का स्थान प्रधान और राजनीति का स्थान गौण था।

मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों को प्रभुसत्ता और कानून की सर्वोच्चता जैसी किसी अवधारणा का रंचमात्र भी ज्ञान नहीं था। यदि सम्प्रभुता और कानून की श्रेष्ठता का ज्ञान होता तो राजसत्ता धर्मसत्ता के अधीन नहीं रखी जा सकती थी।

मध्ययुग का अपना कोई विशेष राजदर्शन न था। इस युग में राजनीति दर्शन का अन्वेषण होना तो दूर रहा बल्कि राजनीतिक अराजकता ही अधिक छायी रही। लेखकों के दर्शन का स्रोत एक तत्व पर आधारित न होकर अनेक तत्वों पर आधारित था। कुछ लोगों ने बाइबिल को आधार बनाया, कुछ ने रोमन कानून पर विचार किया तो शेष लोगों ने अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' को साधन बनाया। यह युग धार्मिक अन्ध-विश्वास में अधिकाधिक डूबता गया और राजनैतिक तत्व इस युग में गौण होते चले गये। इसके अतिरिक्त समाज पर दोहरा शासन और वह भी अस्त-व्यस्त व अत्यन्त अशांति के रूप में चलता रहा। एक शासन राज्य का रहा तो दूसरा चर्च का। इस शासन के कारण राज्य चर्च हो गया और चर्च राज्य बन गया। इसमें चर्च, राज्य का नियंत्रक रहा क्योंकि चर्च को आत्मा, तो राज्य को शरीर की संज्ञा दी गयी। राज्यसत्ता एक प्रकार से धर्मसत्ता का शान्ति रखने वाला विभाग बन गया। ऐसी परिस्थिति में न तो स्वतंत्र राजनीतिक चिन्तन ही हो सका और न राजदर्शन ही पनप सका।

मध्ययुग में धर्मसत्ता की असहिष्णु नीति तथा अन्ध-विश्वास ने राजनीतिशास्त्र और सिद्धान्तों के स्वतंत्र अध्ययन में बड़ा बड़ा रोड़ा अटकाया। ईसाई धर्मग्रन्थों का अन्ध-विश्वास भोली-भाली जनता में इस तरह जम गया था कि उसके विरुद्ध न तो कोई बात कही जा सकती थी और न सोची जा सकती थी। ईसाई धर्मग्रन्थों के विरुद्ध वैज्ञानिक सत्यों की अभिव्यक्ति अक्षम्य अपराध था। इसी भय से कॉपरनिकस ने 25 वर्ष तक अपने इस वैज्ञानिक सत्य को प्रकट नहीं किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। वह जानता था कि उसका सत्य ईसाई धर्म की मान्यता के विरुद्ध था। गैलीलियो को अपने वैज्ञानिक सत्य को प्रकट करने का दुस्साहस करने के कारण कारागार की यातनाएँ भोगनी पड़ीं और ब्रूनो को जीवित ही जला दिया गया। उनका अपराध केवल यह था कि उन्होंने पृथ्वी के घूमने के वैज्ञानिक सत्य को प्रकट किया था। इस प्रकार उन सत्यों को अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध था जो ईसाई धर्म ग्रन्थों और 'बाइबिल' के

कथनों के विपरीत थे। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक विषय का वैज्ञानिक अध्ययन स्थगित हो जाना स्वाभाविक था। राजनीतिशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। राजनीति के सम्बन्ध में जो भी विचार व्यक्त किये गये उन सब में धर्म का स्थान प्रधान और राजनीति का स्थान गौण था।

मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों ने निरीक्षणात्मक पद्धति का प्रयोग नहीं किया। अतः समस्याओं का हल धार्मिक आदर्शों के अनुसार निकाला जाता था, उनकी पुष्टि के लिए इतिहास से उदाहरण लिए जाते थे और धर्मान्धता के आगे व्यावहारिकता को ताक पर उठाकर रख दिया जाता था। गैटेल के अनुसार, "मध्यकाल के विचारक अन्धविश्वासों पर आधारित कुछ सामान्य सिद्धान्तों को मानकर चलते थे और उनके आधार पर निगमन रीति से तर्क करते थे और निष्कर्ष निकालते थे। निरीक्षण, अनुसन्धान और प्रयोग द्वारा आगमन रीति से विवेचना करना उनको नहीं आता था।

12.7सार संक्षेप

संक्षेप में, मध्ययुग के विचारकों की अध्ययन पद्धति अवैज्ञानिक और अनिरीक्षणात्मक थी, उनके विचारों के स्रोत बाइबिल और ईसाई पादरियों के लेख थे। अतः इस युग में सुसंगत और क्रमबद्ध राजनीतिक सिद्धान्त नहीं बन सका। इसीलिए डनिंग ने कहा है कि 'मध्ययुग अराजनीतिक (The Middle age was unpolitical) था। पाश्चात्य मध्यकालीन राजनीतिक चिंतन धर्म और राजनीति के गहरे अंतर्संबंधों को दर्शाता है। यह युग एक ऐसे समय का प्रतिबिंब है जहां राजनीतिक विचारधारा पूरी तरह धर्म के प्रभाव में थी, लेकिन इसके भीतर कुछ ऐसे तत्व भी हैं, जिन्होंने आधुनिक राजनीतिक चिंतन की नींव रखी।

12.8स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

(अ) सेबाइन

(ब) डनिंग

(स) बार्कर

(द) विल डरां

2. कौन-सा मध्ययुगीन राजनीतिक विचार नहीं है-

(अ) दो तलवारों का सिद्धान्त

(ब) निगम विषयक सिद्धान्त

(स) राज्य की सम्प्रभुता सिद्धान्त

(द) राजतंत्र की प्रधानता

12.9स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (ब), 2. (स)

12.10 मुख्य शब्द

1. **Divine Right (दैवीय अधिकार)**: राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानना।

2. **Theocracy (धर्मतंत्र):** शासन का आधार धर्म होना।

3. **Natural Law (प्राकृतिक कानून):** ईश्वर द्वारा बनाए गए सार्वभौमिक नैतिक नियम।

4. **Feudalism (सामंतवाद):** भूमि आधारित राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था।

5. Ecclesiastical Authority (चर्च का अधिकार): चर्च की कानूनी और नैतिक शक्ति।

12.11संदर्भ सूची

- शर्मा, आर. एस. (2018). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा.* नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

- सिंह, उपिंदर. (2019). *प्राचीन भारत में राजनीति और शासन*. नई दिल्ली: पेंगुइन रैंडम हाउस.
- ठाकुर, विनय. (2020). *भारतीय राजनीतिक विचार: प्राचीन से आधुनिक तक*. नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशंस.
- मिश्रा, सुधीर कुमार. (2021). *प्राचीन भारतीय राज्यcraft और प्रशासन*. वाराणसी: ज्ञान भारती प्रकाशन.
- वर्मा, अरुण कुमार. (2022). *भारत का राजनीतिक दर्शन: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य*. जयपुर: साहित्य सदन.
- चौधरी, प्रीति. (2023). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएं और उनके सिद्धांत*. पटना: विद्या विहार पब्लिकेशंस.
- दास, मनीषा. (2024). *भारतीय राजनीतिक विचारकों का योगदान*. कोलकाता: यूनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता प्रेस.

12.12 अभ्यास प्रश्न

1. मध्ययुग के राजनीतिक दर्शन की प्रमुख प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

2. मध्ययुग की प्रमुख विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालिए। आप डनिंग के इस कथन से कहाँ तक सहमत है कि 'मध्ययुग अराजनीतिक था' ?

टिप्पणी लिखिए

1. राजनीतिक दर्शन को मध्ययुग की देन बताइये।

2. सामंतवाद पर एक टिप्पणी लिखिए।

ब्लॉक - IV

इकाई 13

मेकियावेली

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 मेकियावेली का जीवन परिचय

13.4 मेकियावेली की रचनाएँ

13.5 मेकियावेली की अध्ययन पद्धति

13.6 मेकियावेली: युग-शिशु के रूप में पुनर्जागरण का प्रतिनिधि

13.7 मेकियावेली के प्रमुख राजनीतिक विचार

13.8 मेकियावेली: राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथक्करण

13.9 मेकियावेली के राज्य सम्बन्धी विचार

13.10 मेकियावेली: आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का जनक

13.11 मेकियावेली के विचारों की आलोचना

13.12 राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मेकियावेली का स्थान

13.13 सार संक्षेप

13.14 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

13.15 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

13.16 मुख्य शब्द

13.17 संदर्भ ग्रंथ

13.18 अभ्यास प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

मैक्यावली (Niccolò Machiavelli) पुनर्जागरण काल के एक प्रमुख राजनीतिक चिंतक थे, जिन्हें आधुनिक राजनीतिक विज्ञान का जनक माना जाता है। उनका मुख्य ग्रंथ "द प्रिंस" (Il Principe) राजनीति और सत्ता के यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतीक है। उन्होंने राजनीति को नैतिकता और धर्म से अलग कर स्वतंत्र रूप से विश्लेषित किया।

मैक्यावली का राजनीतिक दर्शन 15वीं और 16वीं शताब्दी के इटली की राजनीतिक अस्थिरता और संघर्षों की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ। इस युग में इटली छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था, जहां सत्ता संघर्ष, षड्यंत्र और बाहरी आक्रमण आम थे। मैक्यावली ने अपनी कृति "द प्रिंस" में शासकों को व्यावहारिक और यथार्थवादी राजनीति का मार्गदर्शन दिया। उनके विचार पारंपरिक नैतिक और धार्मिक मूल्यों के विपरीत सत्ता प्राप्ति और उसे बनाए रखने पर केंद्रित थे।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को सट्टा सट्टा शासक राज्य की स्थापना के अध्ययन के बारे में बताना है

1. शासकों को व्यावहारिक राजनीति का ज्ञान देना।
2. सत्ता को बनाए रखने के लिए नैतिकता और धर्म से परे दृष्टिकोण अपनाना।
3. एक सशक्त और एकीकृत राज्य की स्थापना करना।
4. राजनीति को यथार्थ और अनुभव आधारित बनाना।
5. राजनीतिक सत्ता की प्रकृति और उपयोग की व्याख्या करना।

13.3मेकियावेली का जीवन परिचय (Life History ot Machiavelli)

मेकियावेली का जन्म इटली के पुनर्जागरण आन्दोलन के नगर फ्लोरेन्स के एक सामान्य कुल में सन् 1469 में हुआ। उसको कोई बहुत उच्च शिक्षा तो नहीं मिल सकी तथापि उसे लेटिन भाषा का अच्छा ज्ञान था। उसमें योग्यता, चतुराई और बुद्धिमत्ता इतनी अधिक थी कि फ्लोरेन्स के गणराज्य में उसे गृह एवं विदेश कार्यालय में क्लर्की प्राप्त हो गई। चार वर्ष में ही वह उन्नति करते हुए चांसरी के द्वितीय सचिव के उच्च पद तक पहुँचा और 1512 ई. तक इस पद पर बना रहा। इस कालावधि (1498-1512) में उसकी योग्यता से प्रभावित होकर उसे फ्लोरेन्स का दूत बनाकर विदेशी कार्य के लिए विशेष राज्यों में भेजा गया। वह विभिन्न यूरोपियन देशों में 23 बार दूत नियुक्त हुआ। अपने इसी कार्य में 1502 ई. में उसे पोप एलेक्जेंडर षष्ठम के अवैध किन्तु सैनिक दृष्टि से योग्य बेटे, नैतिकता के नियमों की परवाह न करते हुए अत्याचारों के माध्यम से इटली का शासन करने वाले ड्यूक सीजर बोर्गिया के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। मेकियावेली सीजर बोर्जिया से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसे अपना आदर्श महापुरुष मान लिया और अपनी महान रचना 'प्रिन्स' (The Prince) के नायक के रूप में चित्रित किया।

1512 ई. में फ्लोरेन्स के गणराज्य में राजनीतिक परिवर्तन के साथ मेकियावेली के भाग्य ने पलटा खाया। रेवेना की जंग में स्पेन के मुकाबले फ्रांस की पराजय हुई। इसकी भीषण प्रतिक्रिया फ्लोरेन्स में हुई। स्पेन के समर्थकों ने जो फ्लोरेन्स में सत्तारूढ़ हुए मेकियावेली को अन्य व्यक्तियों के साथ देश से निकाला दे दिया। तब से उसके जो दिन बिगड़े तो वे फिर कभी न फिरे। मेकियावेली को मेदिची परिवार के शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र के सन्देह में जेल में डाल दिया। मित्रों के प्रयत्नों से उसे जेल से छुटकारा तो मिल गया, किन्तु इस शर्त पर कि वह सार्वजनिक जीवन में भाग नहीं लेगा। जीवन के शेष 15 वर्ष उसने अपने सैन कैशियानो नामक गाँव में समाजसेवा और लेखन कार्य करते हुए व्यतीत किये। उसने फ्लोरेन्स का इतिहास लिखने का कार्य भी नाममात्र के वेतन पर प्रारम्भ किया। उसकी समस्त कृक्तियाँ इसी अवधि में लिखी गई हैं। इस समय इटली की दशा बड़ी अस्थिर और असंगठित थी। सन्

1527 में 58 वर्ष की आयु में संगठित इटली का स्वप्न देखने वाले इस महान इटालियन की एक साधारण व्यक्ति की तरह मृत्यु हो गई।

13.4 मेकियावेली की रचनाएँ (The Works of Machiavelli)

मेकियावेली न केवल एक अनुभवी कूटनीतिज्ञ एवं प्रशासक था, अपितु इतिहास और राजनीति का महान लेखक भी था। यद्यपि नगर राज्यों की अस्थिर राजनीति ने उसके कूटनीतिक भविष्य को अस्त-व्यस्त कर दिया था तथापि उसकी लेखनी ने उसे महानतम राजनयिक लेखकों की श्रेणी में प्रस्थापित कर दिया। उसकी अधिकांश रचनाएँ (प्रिन्स तथा डिस्कोर्सेज समेत) उसके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हुई थीं।

'दी प्रिन्स' (The Prince) उसकी महानतम कृति है। यह ग्रन्थ 1531 ई. में लिखा गया था, किन्तु इसका प्रकाशन उसके निधन के पाँच वर्ष बाद अर्थात् सन् 1532 ई. में हुआ था। इस ग्रन्थ में उल्लिखित विचारों की प्रेरणा उसे सीजर बोर्जिया के सम्पर्क में प्राप्त हुई थी। बोर्जिया ने अपने कौशल, निरंकुशता और कूटनीतिक चालबाजियों के द्वारा बहुत सफलता प्राप्त की थी। इससे वह मेकियावेली के लिए आदर्श शासक बन गया जिसकी प्रशंसा करने में मेकियावेली कभी न थकते थे और 'प्रिन्स' में, बोर्जिया को उन्होंने अपना चरित्र नायक बना लिया था। इस ग्रन्थ में मध्यकालीन विचार प्रक्रिया के ढंग को त्यागकर विचार और चिन्तन की नई शैली को अपनाया गया। यह ग्रन्थ कुल 26 अध्यायों में विभक्त है जिन्हें तीन भागों में बाँटा गया है। मेकियावेली ने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में राजतन्त्र की, दूसरे भाग में भाड़े की सेनाओं और राष्ट्रीय सेनाओं की तथा अन्तिम भाग में अपने राजनीतिक विचारों की व्याख्या की हैं। मेकियावेली ने फ्लोरेन्स के लिए एक नया विचार दिया कि राज्य को अपनी सेना का स्वयं निर्माण करना चाहिये। ऐसा भी कहा जाता है कि प्रिन्स लिखने का उद्देश्य मेदिची नरेश को अपने पक्ष में करना था, परन्तु उसके इस उद्देश्य की पूर्ति न हो सकी। फिर भी यह ग्रन्थ मेकियावेली की सम्पूर्ण प्रतिभा का सार है। पीटर सैदिगैयर के शब्दों में, "वह प्लेटो और हॉब्स तो नहीं था तथापि उसकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार उसकी लघुक्ति 'दी प्रिन्स' है।"

अपने निष्कासन काल में मेकियावेली ने प्राचीन रोमन ग्रन्थों का अनुशीलन करते हुए इतिहासविद लिवी द्वारा लिखी गयी रोमन इतिहास की पुस्तक पर इतिहास की दस पुस्तकों पर व्याख्याएँ (Discourses on the First Ten Books on Livy) नामक ग्रन्थ लिखना शुरू किया। इसमें उनका उद्देश्य यह था कि जिस प्रकार उन दिनों प्राचीन साहित्य, कानून और चिकित्साशास्त्र का पुनरुद्धार हो रहा था, वैसे ही प्राचीनकाल के शासन और राजनीति के सिद्धान्तों का अध्ययन और वर्तमान राजनीति में उसका उपयोग होना चाहिये। उसने अपने अनुभव और विचारों को पुष्ट करने वाले प्रमाणों को प्राचीन साहित्य से ढूँढ़ कर अपना लेखन कार्य प्रारम्भ किया। पीटर सैविगैयर के अनुसार 'डिस्कोर्सेज ऑन लिवी' रोमन गणराज्य की संस्थाओं के उद्भव और विकास पर एक टीका है।

13.5 मेकियावेली की अध्ययन पद्धति(Machiavelli's Methodology)

मेकियवेली से पूर्व मध्ययुगीन विचारकों ने जो अध्ययन पद्धति अपनायी वह धर्म से प्रभावित थी। इसी कारण वे धार्मिक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों से मुक्त नहीं हो पाये। मेकियावेली ने ऐसी पद्धति को स्वीकार नहीं किया। उसको पोप एवं सम्राट के सम्बन्धों की समस्या से कोई लगाव नहीं था और इसी कारण उसकी रचनाओं में मध्ययुगीन पादरियों और दार्शनिकों का, दो तलवार के सिद्धान्त का और इसी की भाँति अन्य विषय सामग्री का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसने अमूर्त सिद्धान्त पर आधारित मध्यकाल की निगमनात्मक पद्धति का अन्त कर दिया और अपनी गवेषणा के लिए अनुभूति प्रधान अथवा ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया।

मेकियावेली ने वैज्ञानिक तटस्थता कि पद्धति अपनाते हुए समकालीन परिस्थितियों तथा अपने युग की समस्याओं को समझा और फिर अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया। इस तरह उसने अपनी राजनीतिक पद्धति में अनुभववाद और इतिहासवाद का समन्वय किया। उसकी यह पद्धति अरस्तू माण्टेस्क्यू और हीगल आदि के समान है। सेबाइन के अनुसार, अरस्तू के बाद

राजनीतिक गवेषणा के क्षेत्र में अनुभूतिमूलक पद्धति अपनाने वाला वह प्रथम विचारक था।

मेकियावेली एक देशभक्त कूटनीतिज्ञ था जिसके सामने मुख्य समस्या यह थी कि निर्धन और अस्त-व्यस्त इटली को एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की छत्रछाया में संगठित कर किस प्रकार शक्तिशाली बनाया जाए। इस समस्या का समाधान खोजने के लिए वह इतिहास, विशेष रूप से रोमन इतिहास की ओर आकर्षित हुआ। मेकियावेली का विश्वास था कि भूतकाल के गम्भीर अनुशीलन से हम सफलता के कारणों का पता लगा सकते हैं और भविष्य का मार्ग निर्धारित कर सकते हैं।

संक्षेप में मेकियावेली की अध्ययन पद्धति ऐतिहासिक, परिवेक्षणात्मक, यथार्थवादी और वैज्ञानिक विशेषताओं से युक्त थी। लेकिन, आलोचकों का कहना है कि उसने इतिहास का उपयोग अपने पूर्व कल्पित निष्कर्षों की पुष्टि में किया है। डनिंग के शब्दों में, "मेकियावेली की पद्धति ऊपर से जितनी ऐतिहासिक लगती है, यथार्थ में उतनी ऐतिहासिक नहीं है।"

इन आलोचनाओं के बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि राजनीतिक समस्याओं के पति मेकियावेली का दृष्टिकोण अनुभव प्रधान था एवं उसकी भावना ऐतिहासिक थी। रोम के इतिहास की उसे अच्छा ज्ञान था। उसने यह प्रयत्न किया कि राजनीति धार्मिक उपदेशों या दृष्टान्तों का प्रकरण मात्र बनकर न रह जाए।

13.6 मेकियावेली : युग-शिशु के रूप में पुनर्जागरण का प्रतिनिधि (Machiavelli as the child of his Age: Representative of Renaissance)

साधारणतया प्रत्येक दार्शनिक एवं विद्वान अपने युग का शिशु होता है क्योंकि उसके चिंतन पर समकालीन परिस्थितियों, घटनाओं एवं प्रचलित विचारधाराओं का प्रभाव पड़ता ही है और वह अपने देश और काल के रंग में रंगा होता है। परन्तु फिर भी राजनीतिक विचारों के इतिहास में मेकियावेली को ही 'अपने युग

के शिशु' की संज्ञा दी जाती है। इसका कारण यह है कि मेकियावेली पर अपने समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक विचारों की छाप सबसे अधिक सुस्पष्ट रूप से अंकित है। वह अपने युग का एक ऐसा व्यक्ति, पर्यवेक्षक दार्शनिक या विचारक है जिसने समकालीन परिस्थितियों का सही और यथार्थ पर्यवेक्षण किया, राजनीतिक व सामाजिक दोषों को आँका तथा अपनी रचनाओं में उनके समाधान भी प्रस्तुत किये। मेकियावेली पर अपने युग का रंग कुछ विशेष गहरा चढ़ा हुआ है, इसलिए उसे यह श्रेय दिया जाता है।

मेकियावेली का युग पुनर्जागरण का था और इस कारण उसे पुनर्जागरण का प्रतिनिधि भी कहा जाता है। मेकियावेली अपने युग से जितना प्रभावित हुआ उतना बहुत ही कम लेखक अपने युग से प्रभावित होते हैं। उसे छोड़ कर शायद ही कोई दूसरा राजनीतिक विचारक हुआ हो जिसने अपना सम्पूर्ण लेखन कार्य समकालीन परिस्थितियों के आधार पर किया हो। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि वह भिन्न परिस्थितियों में रहता तो उसके विचार भी भिन्न होते और यह भी सच है कि यदि मेकियावेली इटली में 15वीं शताब्दी में पैदा होता तो उसे राजदर्शन के इतिहास में वह स्थान प्राप्त न होता, जो उसे आज प्राप्त है।

प्लेटो, अरस्तू आदि भी अपने काल के शिशु थे। उनका ध्यान भी अपने युग की समस्याओं की ओर आकृष्ट हुआ था। वे भी किसी न किसी रूप में अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित हुए थे। लेकिन मेकियावेली इन सब बातों में उनसे कहीं अधिक बढ़ा हुआ था। वह न केवल अपनी समकालीन परिस्थितियों से विशेषतः प्रभावित हुआ बल्कि उसने परिस्थितियों के दोषों को स्पष्ट किया और उसके समाधान भी सुझाए। उसके प्रत्येक विचार अथवा सिद्धान्त में हमें इटली की तत्कालीन परिस्थितियों की झलक मिलती है।

मेकियावेली की सभी प्रमुख रचनाएँ- 'दी प्रिन्स', 'डिस्कोर्सेज आन लिवी' आदि समकालीन परिस्थितियों के विश्लेषण से परिपूर्ण है। इसी कारण प्रो. डनिंग का कथन अक्षरशः लागू होता है कि, "यह प्रतिभा सम्पन्न फ्लोरेंस वासी वास्तविक अर्थों में अपने युग का शिशु था।" सेबाइन ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि, "इटली को जितना अधिक मेकियावेली जानता था उतना अधिक और कोई

नहीं जानता था।" जोन्स का मत है कि, "मेकियावेली फ्लोरेंस और पुनर्जागरण का शिशु था।"

वे तत्व जिन्होंने मेकियावेली पर सबसे गहरा प्रभाव डाला, उसके राजनीतिक दर्शन का मार्गदर्शन किया और जिनके प्रभाव से वह अपने युग का शिशु कहलाया, निम्नलिखित हैं:

1. पुनर्जागरण आन्दोलन (Renaissance)- मेकियावेली का जन्म ज्ञान और बुद्धि के पुनरोदय के काल में हुआ था और उसकी रचनाओं में पुनर्जागरण की आत्मा स्पष्ट रूप से झलकती है। मेकियावेली का नगर फ्लोरेंस पुनर्जागरण आन्दोलन का प्रमुख केन्द्र था। इस आन्दोलन के द्वारा दी गई प्रेरणा के फलस्वरूप साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति एवं विज्ञान के क्षेत्र में मध्य युग के आदर्शों का अन्त हो रहा था एवं यूनान तथा रोम के प्राचीन आदर्शों में लोगों की आस्था बढ़ रही थी। राजनीतिक क्षेत्र में सामन्तवाद का अन्त होकर राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हो रही थी तथा राजनीतिक क्षेत्र में धर्म और नैतिकता, चर्च और बाइबिलवाद के प्रभाव को समाप्त किया जा रहा था। पोप की मध्यकालीन निरंकुश धार्मिक सत्ता तथा नैतिकता से लोगों का विश्वास उठ गया था और उसका स्थान बुद्धि, विवेक तथा तार्किकता ने ग्रहण कर लिया था। जनता का दृष्टिकोण धार्मिक दृष्टि से उदार और वैज्ञानिक होता जा रहा था। परलोक चिन्तन के स्थान पर इहलोक चिन्तन प्रमुख होता जा रहा था। इस काल में व्यापार और छापाखाने की कला तथा यातायात के साधनों के विकास ने नये जीवन, नई चेतना, नये दृष्टिकोण, स्वतन्त्रता की नई भावना और जीवन के नवीन मूल्यों को जन्म दिया था।

इस तरह पुनर्जागरण आन्दोलन की मुख्य विशेषता यह थी कि वह मध्ययुग के प्रभाव से पूर्णतः मुक्ति के उद्देश्य से प्रेरित था। फ्लोरेंसवासी होने के कारण मेकियावेली पर भी इसका प्रभाव पड़ा और उसने उससे प्रेरित होकर मध्ययुगीन धार्मिक और नैतिक मान्यताओं से मुक्त होकर प्राचीन इतिहास के अपने अध्ययन के आधार पर राजनीति के क्षेत्र में सर्वथा नवीन विचारों का प्रतिपादन किया। ऐसे विचार जो सिर्फ नए ही नहीं वरन् चौंकाने वाले और नई दिशा दिखाने वाले भी थे। इस ओर संकेत करते हुए जोन्स का कथन है कि, "उसकी

कृतियों में उसके युग की वास्तविक स्थिति के दर्शन होते हैं। व्यक्ति का महत्व और उसका सौन्दर्य, बौद्धिक तर्कवाद और सांसारिक मर्यादा का निरूपण, उद्गमनात्मक पद्धति का अनुसरण, राष्ट्रीयता की भावना का नेतृत्व तथा पारलौकिक के स्थान पर लौकिक उद्देश्यों की उपलब्धि का औचित्य आदि इतने सारे तथ्य है जिनका समर्थन मेकियावेली ने अपने विचारों और कृक्तियों में किया है।" ये सारे सिद्धान्त पुनर्जागरण युग की देन हैं। अतः उसे अपने युग का तो माना ही जायेगा। उसने राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए जो सुझाव दिए, उनमें पुनर्जागरण की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

2. शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्रों की स्थापना पुनर्जागरण काल भारी राजनीतिक परिवर्तनों का काल था। जब मेकियावेली का आविर्भाव हुआ तो परिषदीय आन्दोलन समाप्त हो चुका था। शक्तिशाली शासकों ने सामन्तों व उनकी प्रतिनिधि संस्थाओं का दमन करके निरंकुश राजतन्त्र स्थापित कर लिये थे। पश्चिमी यूरोप के लगभग सभी राज्यों में सामन्तों के हाथ से शक्तियाँ छीनकर राजाओं के हाथों में केन्द्रित हो गई थीं। यह युग और चर्च दोनों में वीर पुरुषों की निरंकुश सत्ता का युग था।

इंग्लैण्ड में हेनरी सप्तम, फ्रांस में लुई एकादश, चार्ल्स अष्टम् व लुई द्वादश ने और स्पेन में फर्डिनेण्ड ने निरंकुश राजतन्त्रों की स्थापना कर ली थी। ये राज्य शासकों के नेतृत्व में दिन-प्रतिदिन शक्तिशाली व समृद्धिशाली हो रहे थे। वास्तव में यह युग सबल राजतन्त्र का युग था। मेकियावेली की रचनाओं में इस आदर्श का पर्याप्त प्रमाण मिलता है। उसने इटली के लिए एक ऐसे शासन की कल्पना की थी जिसमें इटली की समस्त राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीयकरण हो तथा जो इटली में एकता स्थापित कर सबल राजतन्त्र की स्थापना कर सके। उसकी आकांक्षा थी कि इटली में भी ऐसे राजा (प्रिन्स) का उदय हो जो सम्पूर्ण जनता को राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बाँध सके। इस प्रकार राजतन्त्रों के पुनर्स्थापन की घटनाओं का भी मेकियावली पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उसने अपने 'प्रिन्स' और 'डिस्कोर्सेज' में इसी विचार को निरन्तर अभिव्यक्त किया है।

3. इटली का राजनीतिक विभाजन और उसकी दुर्दशा- इस समय तक जहाँ पश्चिमी यूरोप के राज्य जैसे इंग्लैण्ड, फ्रांस, तथा स्पेन में राष्ट्रीय एकीकरण की

प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी थी और इन राष्ट्रों के निवासियों ने स्वयं में एकता की भावना अपना ली थी, वहीं इन शक्तिशाली राज्यों की तुलना में इटली पाँच राज्यों में बँटा हुआ था- नेपल्स राज्य, मिलान का राज्य, रोमन चर्च का क्षेत्र, वेनिस गणराज्य और फ्लोरेंस का गणराज्य। ये राज्य परस्पर संघर्षरत थे। पोप उनके संघर्ष से लाभ उठाने का प्रयत्न करते थे और वे कभी फ्रांस व कभी स्पेन को, इटालियन राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। इस प्रकार इटली में फूट-गृहयुद्ध, और विदेशी व्यक्तियों का शासन चल रहा था। इटली के इस राजनैतिक विभाजन और राज्यों के पारस्परिक संघर्ष ने देश को बहुत दुर्बल बना दिया था और वह आसानी से शक्तिशाली पड़ोसियों की महत्वाकांक्षाओं का शिकार बनने लगा था। फ्रांस और स्पेन की आँखें तो सदैव ही इन राज्यों पर लगी रहती थीं कि कब मौका मिले और कब इन्हें डस लिया जाये

मेकियावेली एक सच्चा देशभक्त था और इस सम्बन्ध में उसे फ्रांस का प्रत्यक्ष अनुभव था। अतः वह फ्रांस की भाँति एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राजा की अध्यक्षता में इन राज्यों का एकीकरण करना चाहता था ताकि एक तरफ तो देश की अराजक व अशान्त स्थिति पर काबू पाया जा सके और दूसरी ओर विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा हो सके। इसी उद्देश्य से उसने 'प्रिन्स' की रचना की।

प्रिन्स' के अन्तिम अध्याय में उसने इटली की दुर्दशा पर दुख प्रकट करते हुए मैदिची घराने के गुई लिआनो से यह आशा प्रकट की है कि वह इटली का एकीकरण करे और मूसा की भाँति उसे विदेशी बर्बरों की दासता से मुक्त करे, किन्तु उसकी यह इच्छा 350 वर्ष बाद 19वीं सदी के अन्तिम वर्षों में कावूर और गेरीबाल्डी ने ही पूरी की। मेकियावेली की सभी रचनाएँ इटली की फूट, गृहयुद्ध और विदेशी शासकों के हस्तक्षेप की परिस्थितियों तथा इटली के एकीकरण की इच्छा से ओतप्रोत हैं।

4. इटली के समाज की दुर्दशा- मेकियावेली के समय इटली के समाज की दशा सोचनीय थी। तत्कालीन इटलीवासियों में नीति परायणता, ईमानदारी और देशभक्ति का अभाव था। भ्रष्टाचार, दलबन्दी और स्वार्थपरता ने उन्हें डस रखा

था। यद्यपि बौद्धिक प्रतिभा से परिपूर्ण चरित्र अपवित्रता की सीमा लाँघने लग गया था। साधारण नागरिक पैसा लेकर अनुचित काम भी करने को तैयार हो जाते थे।

इस तरह मेकियावेली के सामने मानव स्वभाव की दानवता और दुष्टता साकार रूप ग्रहण किये हुए थी। इस सामाजिक दुर्दशा का उसके मानस पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। देश के एकीकरण के लिए वह शक्ति का पुजारी बना और उसने राष्ट्रीय सेना की स्थापना को आवश्यक बताया। उसने गणतन्त्रीय शासन प्रणाली की सिफारिश न करते हुए इटलीवासियों के लिए एक निरंकुश राजा की आवश्यकता महसूस की। उसने व्यावहारिक राजनीति को स्थान देते हुए यह व्यक्त किया कि राजा का एकमात्र उद्देश्य देश को सबल बनाना और उसे संगठित करना है। अपने इस महान और पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजा उचित अनुचित सभी प्रकार के साधन अपना सकता है। उसने अपने युग की सामाजिक दुर्दशा पर काबू पाने के लिए ही राज्य की महत्ता का आधार भौतिक शक्ति एवं छल-कपट दोनों को समझा और इस बात पर बल दिया कि शासक जनता पर प्रेम की अपेक्षा शक्ति से शासन करे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इटली की सोचनीय अवस्था को देखकर और ज्ञान के पुनरुत्थान की शक्ति से प्रभावित होकर ही मेकियावेली ने इटली के एकीकरण एवं स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना का स्वप्न देखा और इस स्वप्न को प्रत्यक्ष रूप में परिवर्तन करने के लिए बुद्धि और बल के उचित समन्वय पर जोर दिया।

5. धर्म और नैतिकता 14वीं सदी में पोप के विश्व साम्राज्य का स्वप्न नष्ट हो चुका था। पोप के विलासमय जीवन एवं कुकर्मों ने लोगों के हृदय में धर्म के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा समाप्त कर दी। पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ का उदाहरण देते हुए मेकियावेली ने लिखा है कि उसने जीवन भर धोखा देने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं किया। उसी स्थिति में सेवानोराला जैसे सन्त ने चर्च के सुधार की माँग की तथा नैतिक बल से आध्यात्मिक पथ प्रदर्शन का प्रयत्न किया। उसकी शिक्षाओं का लोगों पर प्रभाव भी पड़ा, किन्तु जब फ्रांस ने फ्लोरेंस पर अधिकार कर लिया तो पोप को प्रसन्न करने के लिए सेवानोराला को बन्दी बना लिया तथा उसे जीवित जला दिया गया। राजाओं ने नैतिक

आदर्शों को तिलांजलि दे दी थी और साधारण नागरिक भी नैतिकता के नियमों के अनुसार आचरण नहीं करते थे। मेकियावेली पर अपने युग की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा और तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ही उसने नरेश को सलाह दी कि राज्य के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आचार तथा धर्म के सिद्धान्तों की चिन्ता नहीं की जानी चाहिए और लोक कल्याण के लिए इन सिद्धान्तों की अवहेलना करने को तत्पर रहना चाहिए। धर्म और नैतिकता विरोधी मेकियावेली की यह विचारधारा अपने युग के नितान्त अनुरूप थी क्यों कि यूरोप के राष्ट्रीय राज्य धर्म और नैतिकता से उदासीन होकर अपने स्वार्थों की सिद्धि कर रहे थे।

6. मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा मेकियावेली ने अपने समय में, विशेषतः इटली में शासक, धर्माधिकारी, सरकारी कर्मचारी और साधारण नागरिक सभी को भ्रष्ट आचरण में लिप्त देखा था। शासक और पोप के संघर्षों, पोप के षड्यन्त्रों और साधारण नागरिकों के पतित तथा स्वार्थी आचरण ने उस पर मानव स्वभाव की बहुत बुरी छाप छोड़ी और उसने यह विचार व्यक्त किया कि न तो मनुष्य में ईश्वरीय गुण है और न वह नैतिक प्राणी है। वह एक जानवर है और जानवरों की चालाकी तथा खूंखार प्रवृत्ति ही उसमें दिखायी देती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मेकियावेली का चिन्तन उसके युग में विद्यमान परिस्थितियों से बहुत गहरे रूप से प्रभावित था और इसलिए डनिंग ने उसे 'युग का शिशु' (Child of his times) की संज्ञा दी है।

13.7 मेकियावेली के प्रमुख राजनीतिक विचार(Main political ideas of Machiavelli)

यद्यपि मेकियावेली एक राजनीतिक सिद्धान्तशास्त्री नहीं है तथापि उसने अपनी व्यावहारिक राजनीति को पुष्ट करने के लिए सिद्धान्तों का सहारा लिया है। अतः उनके माध्यम से हम उसके राजनीतिक विचारों का परिचय पाते हैं। उसके प्रमुख राजनीतिक विचार अग्रलिखित हैं-

मानव स्वाभाव सम्बन्धी विचार (Ideas about Human Nature)

मेकियावेली की नैतिकता, धर्म तथा राजनीति की पारस्परिक सम्बन्ध विषयक धारणाएँ और शासन के स्वरूप का उसका समस्त ढाँचा मानव स्वभाव सम्बन्धी उसकी समझ पर ही आधारित है। वस्तुतः मानव स्वभाव सम्बन्धी उसका विश्लेषण उसके समस्त राजनीतिक दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। यद्यपि उसने हॉब्स की भाँति मानव स्वभाव सम्बन्धी अपने विचार कतिपय तत्वों एवं परिस्थितियों के अवलोकन के पश्चात स्थिर किए। ये तत्व और परिस्थितियाँ थीं तत्कालीन इटालियन समाज की दुर्दशा, सन्त समान पवित्र सेवानोराला की हत्या, अनैतिक साधनों का प्रयोग करने वाले सीजर बोर्जिया की सफलता, पोप जैसे उच्च पदस्थ धर्माचार्यों का चारित्रिक पतन आदि। ये सभी तत्व ऐसे थे जिन्होंने मेकियावेली के समक्ष मानव स्वभाव का घृणित एवं बुरा पक्ष ही प्रस्तुत किया।

मेकियावेली इस धारणा को लेकर चला है कि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी, घोर दानवी प्रवृत्तियों वाला और दुष्ट होता है। उसकी धारणा थी कि मनुष्य जन्म से बुरा होता है और उसमें अच्छाई नहीं होती। वह अपनी स्वभावगत दुष्टता के कारण ही अधोगति को प्राप्त होता है। उसके मतानुसार मनुष्य की सभी सामाजिक और राजनीतिक क्रियाओं का मूल स्रोत उसका घोर स्वार्थवाद ही होता है। मनुष्य विभिन्न कमजोरियों से ग्रस्त है और सद्‌गुण तथा परोपकार जैसी बातों से अपरिचित है।

प्रिन्स के 17वें अध्याय में उसने लिखा, "सामान्य रूप से मनुष्यों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे कृतघ्न, चंचल, झूठे, कायर और लोभी होते हैं। वे तभी तक आपके बने रहते हैं जब तक सफलता आपके पास है। वे तभी तक आपके लिए जीवन, रक्त, सम्पत्ति और बच्चों का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहेंगे जब तक वास्तव में ऐसे बलिदानों की आवश्यकता दूर रहती है, लेकिन जैसे ही यह आवश्यकता निकट आती है, वे आपके विरुद्‌ध हो जाते हैं मनुष्य किसी से तभी प्रेम करते हैं जब तक कि उनका स्वार्थ सिद्‌ध होता है।"

मेकियावेली का कहना था कि कार्य करने की प्रेरणा और उत्तेजना मनुष्य को स्वार्थपरता के बल पर ही मिलती है। मनुष्य एक पशु के समान है जिसमें अन्तर्निहित अच्छाई नाम मात्र को भी नहीं है। भय, शक्ति और अभिमान उसकी प्रेरक शक्तियाँ हैं। 'प्रिन्स' में वह लिखता है कि - "लोग न केवल डरपोक

और अज्ञानी होते हैं, वरन् स्वभाव से ही दुराचारी होते हैं। वे आवश्यकता पड़ने पर ही सच्चरित्र दिखाई पड़ते हैं। लोग अपनी वासनाओं के दास और प्रथम श्रेणी के स्वार्थी होते है।"

डिस्कोर्सेज में मानवीय स्वभाव की भर्त्सना करते हुए वह लिखता है कि, "व्यक्ति स्वभाव से ईर्ष्यालु और महत्वाकांक्षी होता है। व्यक्ति अपने व्यवहार में दो तत्वों से परिचालित होता है-प्रेम और भय। इन दोषों के अतिरिक्त धनोपार्जन की प्रवृत्ति तीसरी प्रमुख शक्ति है।"

मेकियावेली मनुष्य की लोभी व स्वार्थी प्रवृत्ति को इंगित करते हुए लिखता है- "अपनी सम्पत्ति छीनने वाले की अपेक्षा, एक व्यक्ति अपने पिता के हत्यारे को अधिक सुगमता से क्षमा कर देता है।"2

हॉब्स के समान मेकियावेली यह मानता है कि मनुष्य में इच्छा तत्व की प्रधानता होती है। ये इच्छाएँ असीम और अनन्त होती हैं और मनुष्य अपने सभी कार्य इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही करता है। उसकी एक बड़ी इच्छा सम्पत्ति की होती है। सम्पत्ति की आकांक्षा मनुष्य के कार्यों की शक्तिशाली प्रेरक है। उसके शब्दों में, "मनुष्य अपनी आशाओं की अपरिमितता के कारण ही अपराध कर बैठते हैं।" 'कुछ प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा की सदैव ही पूर्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि संसार की सर्वोत्तम वस्तु उसी के जीवन के लिए हो। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वह निरन्तर प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष में लगा रहता है।'

मेकियावेली लिखता है कि प्रेम और भय ही दो शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा मानव से कुछ काम लिया जा सकता है तथा उन्हें वश में किया जा सकता है लेकिन शासकों को 'प्रेम' के स्थान पर 'भय' का सहारा लेना चाहिए क्योंकि उससे (भय से) वह जनसाधारण में आज्ञाकारिता की अपेक्षा कर सकता है।

मनुष्य में वह सद्भावना, सामाजिक और अच्छे गुण भी देखता है, क्योंकि वह लिखता है कि जर्मनी और स्विट्ज़रलैण्ड के नागरिकों में समाज के प्रति निष्ठा है इसलिए वहाँ गणतन्त्र स्थापित हो सके किन्तु मनुष्य की सामाजिकता और

सद्भावना की चर्चा उसने केवल प्रसंगवश ही की है। अधिकतर उसने मनुष्य के बुरे स्वभाव पर ही बल दिया है।

मेकियावेली की राज्य शासन सम्बन्धी विचारधारा मानव स्वभाव पर आधारित - मेकियावेली की राज्य और शासन सम्बन्धी विचारधारा उसकी मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा पर ही आधारित है। मानव स्वभाव से दुष्ट और धोखेबाज होता है इसलिए उसका साथ निभाने के लिए सरकार भी उतनी ही निरंकुश और शक्तिशाली होनी चाहिए। मानव जीवन में भय के तत्व की प्रधानता को दृष्टि में रखते हुए वह नरेश को सुझाव देता है कि उसे प्रजा-वत्सल ही नहीं वरन् ऐसा होना चाहिए कि लोग उससे डरते रहें। एक कुशल शासक मानवीय प्रकृति की दुर्बलताओं को दृष्टि में रखकर छल-बल का प्रयोग करके एक अच्छे शासक की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति के स्वभाव में सम्पत्ति के अर्जन की प्रबल इच्छा को दृष्टि में रखते हुए वह कहता है कि, "बुद्धिमान शासक व्यक्ति की हत्या भले ही कर दे, पर उसकी सम्पत्ति को न लूटे।"

मानवीय स्वभाव की दुर्बलताओं को दृष्टि में रखते हुए ही वह इस बात का प्रतिपादन करता है कि "राजा में शेर का साहस और लोमड़ी की चालाकी दोनों ही होने चाहिए।"

शासक के प्रकार के सम्बन्ध में मेकियावेली की विचारधारा मानवीय जीवन के तत्वों पर आधारित है। मेकियावेली का विचार है कि जिस राज्य के नागरिकों में मानवीय सद्गुण हों, वहाँ पर गणतन्त्रीय व्यवस्था ठीक प्रकार से कार्य कर सकती है। लेकिन, जिन देशों के नागरिकों में मानवीय गुणों का अभाव है, उन देशों के लिए निरंकुश राजतन्त्र ही उपयुक्त हो सकता है। इटली के तत्कालीन नागरिकों में मानवीय गुणों का अभाव है, उन देशों के लिए निरंकुश राजतन्त्र ही उपयुक्त हो सकता है। इटली के तत्कालीन नागरिकों में मानवीय सद्गुणों का नितान्त अभाव होने के कारण ही उसने इटली के लिए निरंकुश राजतन्त्र को अपनाने का सुझाव दिया है।

मानव प्रकृति सम्बन्धी मेकियावेली के विचारों से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं:

1. **राज्य एक स्वाभाविक संस्था नहीं-** जहाँ प्लेटो व अरस्तू के लिए राज्य एक स्वाभाविक संस्था है और वे राज्य का जन्म मनुष्य के स्वभाव में देखते हैं वहाँ मेकियावेली के लिए राज्य का उद्‌भव आकस्मिक (Change) है और इसकी आवश्यकता मनुष्यों की सुरक्षा की माँग है।

2. **शासन की सफलता उसकी शक्ति और सुदृढ़ता है, नैतिकता व परोपकार नहीं-** मेकियावेली के अनुसार एक बुद्‌धिमान शासक को यदि जनता पर सफलातपूर्वक शासन करना है तो उसे यह मानकर चलना चाहिए कि मनुष्य की प्रेरक शक्तियाँ अहं व स्वार्थपूर्ण हैं, वे नैतिक और परमार्थपूर्ण नहीं है। अतः शासक को सदैव इतना अधिक शक्तिशाली बनना चाहिए कि वह प्रजा को सुरक्षा प्रदान कर सके। शासक को अपनी नीतियों पर नैतिकता व आदर्शवादिता का मुलम्मा चढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं।

3. **राजनीति और नैतिकता का पृथक्करण-** राजनीति और नैतिकता का गठबन्धन मेकियावेली की दृष्टि में अव्यावहारिक था। उसका कहना था कि मनुष्य जन्म से ही स्वार्थी, बुरे व भ्रष्ट होते हैं और हित या बाध्यता के आधार पर ही अच्छाई करने के लिए तैयार होते हैं। अतः शासक को मनुष्य के नैतिक, धार्मिक या सामाजिक सद्‌गुण रूपी बहुरूपियेपन पर विश्वास नहीं करना चाहिए। उसने स्पष्ट लिखा है-राजनीति के खेल को, कूटनीतिक सम्बन्धों को, राज्य की सुरक्षा और व्यवस्था को नैतिकता के सिद्‌धान्तों पर खेला नहीं जा सकता। अतः यही श्रेयस्कर है कि शासक मनुष्यों को शक्ति द्‌वारा नियन्त्रित करता रहे। (सम्भवतः किसी भी लेखक ने राज्य के सिद्‌धान्तों में धर्म और नैतिकता को इतना नगण्य स्थान नहीं दिया जितना कि मेकियावेली ने)।

4. **मानव का स्वभाव अपरिवर्तनीय होता है**- जहाँ प्लेटो, अरस्तू व अन्य लेखकों की धारणा है कि शिक्षा द्‌वारा मानव की निष्कृट एवं स्वार्थी प्रवृत्तियों को प्रशिक्षित किया जा सकता है वहाँ मेकियावेली की धारणा है कि मानव आचरण का स्वार्थ, लोभ और कपट युगों-युगों से अपरिवर्तनीय रहा है। ये ऐसी अन्तर्निहित बुराइयाँ हैं जिन्हें शिक्षा द्‌वारा सुधारा नहीं जा सकता। इन कुप्रवृत्तियों पर नियंत्रण का केवल एक ही प्रमुख साधन है और वह है शक्ति या दमन।

मेकियावेली के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों की- आलोचना आलोचकों के अनुसार मेकियावेली की मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारधारा में अग्रलिखित त्रुटियाँ हैं:

(i) मेकियावेली की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा एकांगी है। वह केवल मानवीय कमजोरियों को ही देखता है, उसकी अच्छाइयों को नहीं। किन्तु, वस्तुतः मानवीय स्वभाव में ये दोनों ही पहलू पाए जाते हैं। उसमें प्रबल स्वार्थ भी होता और परोपकार की भावना भी।

(ii) मानव स्वभाव सम्बन्धी मेकियावेली की धारणा इटली निवासियों तथा राजनीतिज्ञों के व्यवहारों के पर्यवेक्षण पर आधारित है, जो कि सार्वभौम सत्य नहीं हो सकती। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि क्योंकि इटली निवासी स्वभाव से बुरे हैं, इसलिए विश्व के समस्त नागरिक बुरे हैं। मेकियावेली की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा पूर्ण रूप से देश और काल पर आधारित तथा अत्यन्त ही सीमित और संकुचित है। वह इटली को भ्रष्ट समाज का सजीव उदाहरण मानता है, किन्तु इटली के दायरे से बाहर निकल कर मानव स्वभाव का अध्ययन नहीं करता।

(iii) मेकियावेली की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा अतार्किक और अवैज्ञानिक भी है। उसने मानव स्वभाव सम्बन्धी दोषों को हॉब्स की भाँति मनोवैज्ञानिक व तार्किक आधार पर सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया। वस्तुतः वह मानव स्वभाव का कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं करता है और इसी कारण वह यह नहीं बताता कि मनुष्य कैसे अच्छा बन सकता है।(iv) मेकियावेली की यह धारणा भी अतिशयोक्तिपूर्ण है कि प्रशिक्षण द्वारा मानव स्वभाव में परिवर्तन या सुधार नहीं लाया जा सकता। यदि प्रशिक्षण द्वारा मानव की स्वार्थी प्रवृत्तियों को पूर्णतया परिवर्तित नहीं किया जा सकता तो कम से कम उन्हें थोड़ा-बहुत सुधारा तो अवश्य जा सकता है।

यद्यपि मेकियावेली का मानव स्वभाव सम्बन्धी विवेचन ऐसा लगता है जैसे किसी निराशावादी सनकी ने अपने विचार संकलित करके रख दिए हों। लेकिन फिर यह भी तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि खुले रूप में जिन सिद्धान्तों के

कारण मेकियावेली की आलोचना की जाती है उन्हीं नीतियों और सिद्धान्तों का गुप्त रूप से राजनीतिज्ञ और शासन अनुसरण करते हैं।

13.8 मेकियावेली : राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथक्करण (Machiavelli: Separation of Politics from religion and Morality)

राजनीतिशास्त्र में सबसे पहले और स्पष्ट रूप से राजनीति से धर्म और नैतिकता को पृथक करने वाले सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का श्रेय मेकियावेली को प्राप्त है। मेकियोवली से पहले यूनानी तथा मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों की विचारधाराएँ नैतिकता तथा धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित थीं। प्लेटो राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र का ही एक अंग मानता था और अरस्तू भी राज्य को नीतिशास्त्र के लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक साधन मानता था। यद्यपि राज सिद्धान्त के धर्मनिरपेक्ष विचारों में मार्सीलियो, मेकियावेली के विचारों के निकट है क्योंकि उसने राजनीति के क्षेत्र में सर्वप्रथम इस विचारधारा का प्रतिपादन किया था। किन्तु वह धर्म को राज्य से अलग न करने के कारण मेकियावेली की सीमा तक नहीं पहुँच सका। अन्य मध्ययुगीन विचारकों ने भी किसी न किसी रूप में धर्म व राजनीति को संयुक्त माना है। अतः उन्हें सबसे पहले पूर्णतः सुविचारित आधार पर पृथक करने वाला मेकियावेली ही है।

मेकियावेली ने न तो ईसाई धर्म की मान्यताओं और न दैवी कानूनों के अस्तित्व को स्वीकार किया। मेकियावेली ने इस बात से इन्कार कर दिया कि मानव का कोई पारलौकिक (Other World) उद्देश्य है। वह सन्त एक्वीनास के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता कि भावी जीवन में आनन्द प्राप्त करने के लिए मनुष्य को ईश्वरीय कानून के निर्देश की आवश्यकता है। मेकियावेली कहता है कि मानव का केवल एक ही लक्ष्य हो सकता है और वह है, इस जीवन में सुख और आनन्द की प्राप्ति।

राज्य सिद्धान्त में मेकियावेली ईसाइयत के उन सब सिद्धान्तों को अस्वीकार करता है जो शासक को नम्रता, विनीतता आदि का पाठ पढ़ाते हैं। वह अपने

'प्रिन्स' को किसी प्रकार की नैतिक सीमाओं में नहीं बांधता। मेकियावेली के अनुसार राज्य के उद्देश्यों को प्राप्त करने, उसे एकीकृत व शक्तिशाली बनाने के लिए राजा द्वारा आवश्यकतानुसार सभी प्रकार के अर्थात् नैतिक, अनैतिक, अच्छे-बुरे, वैध-अवैध साधन अपनाए जा सकते हैं। मेकियावेली 'प्रिन्स' को छल, कपट जालसाजी, धोखाधड़ी, विश्वासघात, हिंसा, दमन सभी प्रकार के अनैतिक साधनों के प्रयोग की आज्ञा देता है। मेकियावेली की धारणा है कि राज्य की सुरक्षा और कल्याण के मार्ग में नैतिक विचारों को बाधित नहीं होने दिया जाना चाहिए। वह लिखता है-

"प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि राजा के लिए अपने वचन का पालन करना और नीतिपूर्वक आचरण करना कितना प्रशंसनीय है तथापि हमारी आँखों के समक्ष जो कुछ भी घट रहा है, उसमें हम देखते हैं कि केवल उन्हीं राजाओं ने महान कार्य किये हैं जिन्होंने चालाकी में दूसरों को पीछे छोड़ दिया।"

मेकियावेली किसी कार्य की अच्छाई बुराई से चिन्तित नहीं था जितना कि वह उसके 'प्रभाव' से चिन्तित था। वह लिखता है- "राजा को राज्य की सुरक्षा की चिन्ता रहनी चाहिए, साधन तो सदैव आदरणीय ही माने जाएँगे और सामान्यतया उनकी प्रशंसा ही की जायेगी।"

एक स्थान पर मेकियावेली लिखता है, "न तो कोई प्राकृक्तिक कानून है और न ही सार्वभौम रूप में स्वीकृत कोई अधिकार। राजनीति को नैतिकता से पूर्णतया पृथक करना चाहिए। साध्य ही साधनों का औचित्य है।"

उसने नैतिकता को व्यक्तिगत नैतिकता (Private Morality) एवं जन नैतिकता (Public Morality) इन दो वर्गों में बाँटा है। व्यक्तिगत नैतिकता के अन्तर्गत राजा अथवा शासक के बारे में उसने कहा किजनता का कल्याण इसी में है कि वह अपने शासक की आज्ञाओं का पालन करे। उसके अनुसार शासक स्वतन्त्र है, उस पर कोई नियंत्रण नहीं है और न ही वह नैतिकता के किसी बन्धन में बंधा है। अपनी शक्ति और प्रभाव के विस्तार में जो उपयुक्त हो, सहायक हो, वह सब न्याय और नैतिक है। मेकियावेली द्वारा चित्रित आदर्श नरेश का यही दृष्टिकोण होता है कि न कोई चीज अच्छी है और न कोई बुरी। जरूरत पर

काम आए वही चीज सबसे अच्छी है। उसका कथन है कि राज सत्ता को बनाए रखने के लिए शासन साम, दाम, दण्ड, भेद, बेईमानी, हत्या, प्रवंचना, आदि किसी भी उपाय का प्रयोग कर सकता है।

इसी दृष्टि से मेकियावेली लिखता है कि राजा को ऊपर से दयालु, विश्वासी, धार्मिक और सच्चा होने का ढोंग करते हुए आवश्यकता पड़ने पर निर्दय, विश्वासघाती और अधार्मिक बनने को तत्पर रहना चाहिए। वह धोखा और ढोंग राजा के लिए जरूरी समझता है और कहता है छल कपट को जानने के लिए राजा को लोमड़ी तथा भेड़िये को डराने के लिए शेर होना चाहिए।"

मेकियावेली ने नैतिकता (आचारशास्त्र) को राजनीति (राजनीतिशास्त्र) से बिल्कुल अलग कर दिया। उसका कहना है कि राजनीति का आचार या नैतिकता से कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं हो सकता। राजनीति का विषय राज्य है और व्यक्ति का विषय नैतिकता और सदाचार है, पर व्यक्ति राज्य के अधीन है इसलिए नैतिकता और सदाचार राज्य के आधीन हैं और उनकी परिभाषा राजनीति के लिए उसकी आवश्यकता के अनुसार बदली जा सकती है।

डनिंग के अनुसार "मेकियावेली राजनीति में अनैतिक नहीं है बल्कि धर्म व नैतिकता से उदासीन है।" धर्म के बारे में मेकियावेली का दृष्टिकोण नैतिकता की तरह ही है। वह धर्म विरुद्ध नहीं है बल्कि धर्मविहीन है। उसके अनुसार यदि राज्य की जनता धार्मिक हो तो यह राज्य के लिए बहुत अच्छा है क्योंकि धार्मिक प्रजा आत्मनियंत्रित होती है पर वह धर्म को किसी आवश्यक गुण के रूप में मान्यता नहीं देता। धर्म तभी तक उसके लिए अच्छा है जब तक की वह राज्य के संचालन के लिए साधन बन सके। धर्म राज्य की अधीनता में है, उसके ऊपर या बराबर नहीं। मेकियावेली का सुझाव है कि राजा ऐसे गुणों से विभूषित होना चाहिए जो कि अच्छे मनुष्य के लक्षण माने जाते हैं। उसके द्वारा धर्म को धारण करने का प्रपंच अवश्य ही रचा जाना चाहिए।

इस प्रकार मेकियावेली की नैतिकता सम्बन्धी धारणा दोहरे मानकों को स्वीकार करती है- एक राजा के लिए और दूसरी प्रजा के लिए। जहाँ मेकियावेली राजा को राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नैतिक और अनैतिक दोनों प्रकार के

साधनों के प्रयोग की आज्ञा देता है वहाँ नागरिकों में सद्‌गुण उत्पन्न करने के लिए धर्म का सहारा लेता है। वह कहता है कि बुद्‌धिमान शासक को देखना चाहिए की निजी नैतिकता के मानकों का पतन न हो।

राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथक्करण के कारण -मेकियावेली के द्‌वारा राजनीति का धर्म और नैतिकता से जो पृथक्करण किया गया, उसके निम्न कारण दिये जा सकते हैं-

(i) मैकियावेली यूनानी दार्शनिकों की भाँति राज्य को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च संगठन मानता है और उसका विचार है कि राज्य के हित व्यक्तिगत हितों से उच्च और महत्वपूर्ण होते हैं। इसीलिए उसने लिखा है "जब राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो उस पर नैतिकता के वे नियम लागू नहीं होने चाहिए जो नागरिकों के व्यवहार को विनियमित करते हैं।"

(ii) मेकियावेली का उस समय पोप के पापमय आचरण व ईसाइयत में सिखाए जाने वाले सिद्‌धान्तों को देखकर यह विश्वास बन गया था कि धार्मिक सत्ता मनुष्यों को अन्धविश्वासी व अकर्मण्य बनाती है जिसके कारण वे परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ हो जाते हैं। अतः वह बिल्कुल नहीं चाहता था कि मनुष्य को दुर्बल बनाने वाली धार्मिक सत्ता का राजनीति में लेशमात्र भी अस्तित्व हो।

(iii) एक अन्य कारण उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण है। शासन कार्य में प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होने के कारण उसने स्वयं यह देखा था कि शासकगण आन्तरिक प्रशासन और वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में सदैव ही नैतिक अनैतिक सभी साधनों को अपनाते रहे हैं। अतः उसने राजनीति में नैतिकता का उपदेश देना व्यर्थ समझा। őng (iv) चौथा कारण, मेकियावेली द्‌वारा शक्ति को असाधारण महत्व देना था। अतः शक्ति प्राप्त करने के लिए उसने किसी भी उपाय के प्रयोग को उचित बताया। उसके इस दृष्टिकोण के कारण धार्मिक व नैतिक प्रभाव से पूर्णतया मुक्त राजनीति का जन्म हुआ।

इसके अतिरिक्त सीजर बोर्जिया के सम्पर्क में रहकर मेकियावेली ने यह भी सीखा कि इस निरंकुश शासक ने ऐसे साधनों से, जिन्हें पूर्णरूपेण नैतिक नहीं

कहा जा सकता, इटली के एक बड़े भाग में समृद्ध और शक्तिशाली शासन की स्थापना की। साथ ही मेकियावेली ने कई वर्षों तक कूटनीतिक कार्य किया था, उससे प्राप्त अनुभव द्वारा उसे दृढ़ विश्वास हो गया था कि मनुष्य की स्वार्थी और आक्रमणकारी प्रवृत्तियों पर नैतिकता व धार्मिकता से विजय नहीं पाई जा सकती।

आलोचनात्मक मूल्यांकन- आलोचकों के अनुसार मेकियावेली ने अपने राजनीतिक दर्शन में धर्म और नीति की घोर उपेक्षा की है। इटली की तत्कालीन परिस्थितियों में उसकी दृष्टि इतनी सीमित और मर्यादित हो चुकी है कि वह मानव समाज में इनका सही महत्व आँकने में सर्वथा असमर्थ था। इस संबंध में सेबाइन ने लिखा है- "यह निश्चित है कि 16 वीं सदी के प्रारंभ में मेकियावेली ने यूरोपीय विचारधारा को बिल्कुल गलत रूप में चित्रित किया। उसके द्वारा दो पुस्तकें लिखी जाने के 10 वर्ष के भीतर ही प्रोटेस्टेण्ट धार्मिक सुधार आन्दोलन के कारण राजनीति और राजनीतिक चिन्तन मध्ययुग की अपेक्षा धर्म से अधिक सम्बद्ध हो गया।" डॉ. मुरे के शब्दों में "मेकियावेली स्पष्टदर्शी थे पर दूरदर्शी नहीं थे। उन्होंने चालाकी को राजनीति की कला मान लेने की भूल की है।"

फिर भी मेकियावैली पर यह आरोप नहीं लगाया जाना चाहिए कि उसने राजनीति का धर्म और नैतिकता से सम्बन्ध विच्छेद कर उसे भ्रष्ट कर दिया। राजनीति तो उससे पूर्व ही भष्ट हो चुकी थी और व्यावहारिक रूप में उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रयोग अनादिकाल से ही हो रहा है, मेकियावेली ने तो इसे अपनी यथार्थवादी दृष्टि के अनुरूप नग्न सत्य के रूप में घोषित करने का ही कार्य किया है। डनिग ने ठीक ही लिखा है "वह अनैतिक नहीं, नैतिकता विरोधी था और अधार्मिक नहीं, धर्म निरपेक्ष था।"। फ्रेडरिक पोलक ने उसके विचारों को 'वैज्ञानिक तटस्थता' की संज्ञा दी है। वस्तुतः उसने 'धर्म निरपेक्ष राजनीति' की नींव डाली। मैक्सी के शब्दों में, "राजनीति का नैतिकता से विच्छेद मेकियावेली की राजनीति विज्ञान के प्रति एक अत्यन्त मूल्यवान सेवा थी।"

13.9 मेकियावेली के राज्य सम्बन्धी विचार (Machiavelli's Views on State)

मेकियावेली ने राज्य का कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया है। न उसने राज्य की कोई परिभाषा दी है, न उसकी उत्पत्ति या विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और न ही उसके तत्वों आदि का विश्लेषण अथवा उन पर विचार किया है। उसने जो कुछ भी कहा है वह तो क्षमतापूर्वक राज्य को तात्कालिक परिस्थितियों में चलाने की युक्तियाँ हैं। ये युक्तियाँ या 'राज्य कला' (State Craft) ही उसके राजनीतिक विचार बन गये हैं।

(अ) राज्य की उत्पत्ति व प्रकृति यद्यपि मेकियावेली ने राज्य की उत्पत्ति पर स्पष्ट रूप से अपने विचार व्यक्त नहीं किये हैं, परन्तु फिर भी यत्र-तत्र इस विषय में उसके कुछ विचार पढ़ने को मिलते हैं।

मेकियावेली राज्य की उत्पत्ति का कारण मनुष्य स्वभाव की आसुरी और स्वार्थी प्रवृत्ति को मानता है। वह अरस्तू की तरह राज्य को एक प्राकृतिक संस्था नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि मनुष्य ने अपनी दुविधाओं को दूर करने के लिए राज्य की स्थापना की है अतः वह एक मानवकृत और कृत्रिम संस्था है। इस तरह मेकियावेली हॉब्स की भाँति राज्य की उत्पत्ति में संविदा सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

राज्य की प्रकृति या स्वरूप दशति हुए मेकियावेली राज्य को अन्य सभी संगठनों से उच्च और श्रेष्ठ मानता है। समाज के अन्य सभी संगठन उसके अधीन और उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं, किन्तु राज्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि राज्य ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके माध्यम से मानवकल्याण के सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते हैं। अतः व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने आप को राज्य की सेवा में समर्पित कर दे।

(ब) राज्य के विस्तार की आवश्यकता राज्य के निरन्तर विस्तृत होते रहने की आवश्यकता बताते हुए मेकियावेली ने एक बार पुनः मानव स्वभाव की चर्चा की है। वह कहता है मनुष्य का स्वभाव पारे की भाँति की भाँति होता है, व वह निरन्तर बढ़ते रहना चाहता है। उसी प्रकार वैभव और राज व्यवस्था है और

राज्य को बढ़ते रहना चाहिए। जो राज्य इस सिद्धान्त का पालन नहीं करता, वह स्थिर नहीं रह सकता है। इसी आधार पर वह राज्य को दो भागों में बाँटता है- (1) स्वस्थ राज्य, (2) अस्वस्थ राज्य । उसके अनुसार स्वस्थ राज्य युद्धशील होता है और निरंतर संघर्ष में लगा रहता है। इस सम्बन्ध में वह रोमन साम्राज्य के पतन का उदाहरण देते हुए बताता है कि उसके पतन का एक कारण उसका सदैव एक समान बने रहना था, रोमन साम्राज्य के शासकों ने उसके विस्तार की चेष्टा नहीं की।

अतः प्रिन्स' व 'डिस्कोर्सेज' में वह इस बात पर बल देता है कि राज्य के अधिकृत प्रदेश को निरंतर बढ़ते रहने की आवश्यकता है। वस्तुतः मेकियावेली का इटली के एकीकरण का जो लक्ष्य था, उसे दृष्टि में रखते हुए ही उसके द्वारा इस प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं।

(स) राज्यों का वर्गीकरण और विभिन्न शासन प्रणालियाँ- मेकियावेली ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्स' में यत्र-तत्र फ्रान्स, स्पेन तथा इंग्लैण्ड के सुदृढ़ राजतन्त्रों की प्रशंसा की है और यह इच्छा व्यक्त की है कि इटली में भी सुदृढ़ राजतन्त्र स्थापित हो, जिसके द्वारा सभी नैतिक बन्धनों से ऊपर उठकर इटली की एकता स्थापित करने और उसे शक्तिशाली बनाने का कार्य किया जा सके। लेकिन, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मेकियावेली राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन मानता था। उसने इटली के लिए राजतन्त्र को आदर्श शासन के कारण नहीं, वरन् तत्कालीन परिस्थितियों के कारण अपनाने का पक्ष ग्रहण किया है। गणतन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र को ही इटली के लिए उपयुक्त मानने के उसने तीन कारण दिये हैं। ये इस प्रकार हैं: (1) लोगों का भ्रष्ट चरित्र, (2) राज्यों में सम्पत्ति की असमानता, और (3) इटली की तत्कालीन व्यवस्था।

वास्तव में वह राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन व्यवस्था नहीं मानता, यह बात डिस्कोर्सेज में उसके द्वारा किये गये राज्यों के वर्गीकरण तथा उसके गुण दोषों के विवेचन से स्पष्ट हो जाती है।

एथेन्स और रोमन गणराज्य की प्रशंसा करते हुए मेकियावेली ने कहा है कि एथेन्स का गणराज्य सैकड़ों वर्षों तक उन्नति के चरम शिखर पर रहा और

उससे भी अधिक रोमन साम्राज्य ने सम्राटों से मुक्त होकर अपना उत्थान किया। वस्तुतः राज्य को महान व्यक्ति का स्वार्थ नहीं अपितु कल्याण की भावना बनाती है और यह सार्वजनिक सुख केवल गणतन्त्रों में ही प्राप्त हो सकता है। गणतन्त्र और राजतन्त्र की तुलना करते हुए डिस्कोर्सेज में निम्नलिखित कारणों से गणतन्त्र को अधिक उपयोगी बताया है- (i) गणतन्त्र में शासन की बागडोर सामान्य जनता के हाथ में होती है और सामान्य जनता एक व्यक्तिगत राजा की अपेक्षा अधिक समझदार होती है; (ii) राज्य के पदाधिकारियों का चयन करने में जनता का निर्णय किसी एक राजा की अपेक्षा अधिक सही होता है; (iii) राजतन्त्र राज्य की प्रकृति समयानुकूल परिवर्तित नहीं होती पर जनतन्त्र में राज्य का स्वरूप और प्रकृति आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित होती रहती है; (iv) राजा राज्य के निर्णय के लिए उत्तम है पर राज्य को कायम करने के लिए गणतन्त्र ही अधिक उपयुक्त होता है; (v) सामान्य जनता उतनी कृतघ्न नहीं हो सकती जितना कि एक राजा हो सकता है।

शासनतन्त्रों अथवा सरकारों का वर्गीकरण मेकियावेली ने इस उद्देश्य से किया है कि आदर्श शासन कायम किया जा सके। उसके लिए आदर्श शासन वही है जो पूर्णतया सफल हो और जिसकी सत्ता मजबूत हो। इस क्षेत्र में अरस्तू के पथ का अनुसरण करते हुए उसने सरकारों को उनके शुद्ध व विकृत रूप मानकर 6 भागों में विभक्त किया है। संख्या के आधार पर वह भी शासन का वर्गीकरण शुद्ध और विकृत रूपों में करता है-

शासन के शुद्ध रूप-

(1) राजतन्त्र (Monarchy) (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

(3) वैध प्रजातन्त्र (Constitutional Democracy)

शासन के तीन विकृत रूप निम्न हैं-

(1) तानाशाही (Tyranny) (2) धनिकतन्त्र (Oligarchy)

(3) प्रजातन्त्र (Democracy)

मेकियावेली ने यद्यपि पोलिबियस और सिसरो के इस विचार से सहमति प्रकट की है कि मिश्रित सरकार सर्वश्रेष्ठ होती है क्योंकि उसमें प्रत्येक शासनतन्त्र के अच्छे गुणों का समावेश होता है और समुचित शक्ति सन्तुलन तथा नियंत्रण बना रहता है तथापि उसने केवल दो प्रकार की सरकारों का ही विस्तार से वर्णन किया है और वे हैं- राजतन्त्र तथा गणतन्त्र। मेकियावेली मानता है कि राजतन्त्र या गणतन्त्र इसमें से कोई भी शासन व्यवस्था सभी परिस्थितियों के लिए ठीक नहीं है। वह आदर्श शासन व्यवस्था गणतन्त्र को ही मानता है और कहता है कि सामान्य स्थिति में राजा मूर्ख होते हैं जबकि लोगों में निर्णय लेने और न्याय करने की क्षमता अधिक होती है। किन्तु चूँकि मानव स्वभाव के कारण सभी परिस्थितियों में गणतन्त्र को अपनाना सम्भव नहीं है, इसलिए वह राजतन्त्र की ओर झुक जाता है। वह कुलीनतन्त्र की कठोर आलोचना करता है और सामन्तवाद का भी विरोधी है। उसके अनुसार सामन्त वर्ग आलसी और निठल्ला होता है और दूसरों के श्रम की चोरी द्वारा अपना जीवन बिताता है।

संक्षेप में, सामान्य परिस्थितियों में उसका झुकाव गणतन्त्र की ओर है किन्तु तत्कालीन इटली में विद्यमान अव्यवस्था जैसी स्थिति या संकटकाल के लिए वह राजतन्त्र को ही उपयुक्त समझता है।

(द) **सम्प्रभुता (Sovereignty) सम्बन्धी विचार**- मेकियावेली ने स्पष्ट रूप से 'सम्प्रभुता' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। किन्तु, उसने राजा की शक्तियों के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा है उससे हमें सम्प्रभुता का आभास अवश्य होता है। वह शासक की आंतरिक इच्छा तथा विजेता की भावना को अविभाज्य मानता है। उसके अनुसार शासक किसी भी आंतरिक अथवा बाह्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और न ही वह किसी भी प्रकार के कर्तव्य अनुबन्ध से प्रभावित होता है। उसे किसी भी प्रकार की आंतरिक या बाह्य विधियाँ मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। मेकियावेली स्वयं परिवर्तनवादी था और इसलिए उसने स्थायी तथा अखण्ड सम्प्रभुता की बात नहीं की है। वह सम्प्रभुता की अन्य विशेषताओं-जैसे उसकी शाश्वतता, अदेयता, संवैधानिकता आदि के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखता । उसकी सम्प्रभुता एकात्मक, लौकिक, धर्म

निरपेक्ष और स्वतन्त्र चेतना से युक्त है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में मेकियावेली सीमित सम्प्रभुता की आवश्यकता को स्वीकार करता है।

(य) **विधि (Law) और विधि निर्माता सम्बन्धी विचार**- विधि के सम्बन्ध में मेकियावेली के विचार अत्यन्त ही संकुचित हैं। वह मध्यकालीन विचारकों की तरह प्राकृक्तिक अथवा दैवी विधियों में विश्वास नहीं करता, वह केवल नागरिक विधियों की कल्पना करता है जो शासक के द्वारा बनाई जाती हैं। उसके अनुसार राज्य की स्थापना के पूर्व कोई कानून अथवा व्यवस्था का अस्तित्व नहीं था। नागरिक विधियों द्वारा ही प्राकृक्तिक अराजक व्यवस्था का अन्त हुआ एवं समाज को एकता के सूत्र में बाँधा गया है। मेकियावेली के अनुसार विधि का स्त्रोत शासन ही है और इस प्रकार उसकी विधि सम्बन्धी धारणा संकुचित, किन्तु निश्चित रूप से अधिक यथार्थवादी है।

मेकियावेली का दूसरा सामान्य सिद्धान्त जिस पर उसने बार-बार बल दिया है, यह है कि समाज में विधायक अथवा कानून निर्माता (Legislature) का सबसे अधिक महत्व रहता है। उसका विश्वास है कि एक नवीन राज्य की स्थापना में एक बुद्धिमान विधि निर्माता की अत्यन्त आवश्यकता होती है, चाहे वह एक व्यक्ति हो या संस्था। उसके द्वारा निर्मित नियम नागरिकों के जीवन को नियमित कर उसमें नैतिक गुणों का विकास और राष्ट्रीय चरित्र का उत्थान करते हैं। पतनोन्मुखी समाज का उद्धार एक बुद्धिमान विधि निर्माता के द्वारा ही हो सकता है। विधियां राजनीतिक ढाँचे को ही निर्धारित नहीं करतींवरन् सम्पूर्ण सामाजिक एवं नैतिक, आर्थिक ढाँचे को भी प्रभावित करती हैं। मेकियावेली के शब्दों में "विधिकार न केवल राज्य का वरन् समाज का भी निर्माता होता है, जिसमें उसके समस्त नैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक संस्थान सम्मिलित है।"

(२) राजा (प्रिंस) के आचरण के सिद्धान्त या शासक के कर्तव्य 'प्रिंस' के 18 वें अध्याय में मेकियावेली ने उन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर राजा को अपना आचरण करना चाहिये। इस विषय में उसकी शिक्षाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) अधिकाधिक शक्ति का अर्जन- मेकियावेली 'शक्ति ही सत्य' (Might is Right) में विश्वास करता है और शक्ति मेकियावेली की समस्त राजनीतिक विचारधारा का केन्द्रीय तत्व है। अतः मेकियावेली अपने शासक को अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने, उसे बनाए रखने और उसका विस्तार करने के लिए निर्देश देता है। इस सम्बन्ध में मेकियावेली का विचार है कि शासक का मूल कर्तव्य बाहरी आक्रमण से सुरक्षा और आन्तरिक सुरक्षा और आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखना है और यह कार्य शक्ति के आधार पर ही संभव है।

(2) साम, दाम, दण्ड और भेद को अपनाकर मेकियावेली के द्वारा अपने 'प्रिस' को साम, दाम, दण्ड और भेद का आवश्यकतानुसार प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है। राजा को जनता के सामने मानवोचित गुणों का प्रदर्शन करना चाहिए जिससे लोग समझें की राजा बहुत सद्गुणी है, परन्तु उसे सद्गुणों का दास नहीं हो जाना चाहिए। राजा के द्वारा अपने राज्य के नागरिकों और अन्य राजाओं के शासकों को जो वचन दिये गए हैं, उनका महत्व है; लेकिन उनका पालन तभी तक किया जाना चाहिए, जब तक ऐसा करना राज्य के हित में हो।

(3) शेर और लोमड़ी के गुणों को धारण करना- मेकियावेली के अनुसार राजा में शेर और लोमड़ी दोनों के ही गुण होने चाहिए। शेर अपने को जाल में फँसने से नहीं बचा पाता और लोमड़ी भेड़िये से अपनी रक्षा नहीं कर पाती। अतः कहा जाता है इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसमें लोमड़ी की चाल भी होनी चाहिए और भेड़िये को कैसे डराया जाये यह जानने के लिए उसमें शेर की तरह शक्ति चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर अपने वचन भंग करने के लिए लोमड़ी की चाल से काम लेना चाहिए। पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ का उदाहरण देते हुए मेकियावेली कहता है कि उसने लोगों को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। ऐसा शायद ही कोई समकालीन राजनीतिज्ञ रहा हो, जिसने उसकी तरह धोखा देने की कला सीखी हो और इतनी दृढ़ता के साथ वायदा कर के भी मुकर गया हो। इतने पर भी वह हर बार सफल हुआ।

(4) क्रूरता का एक साथ प्रदर्शन- मेकियावेली के अनुसार जब प्रिंस किसी राज्य पर अधिकार कर लेता है तो विजेता को सभी अत्याचार व क्रूरता का प्रयोग एक साथ कर लेना चाहिए। यह क्रूरता का सदुपयोग है। राज्य की प्राप्ति के लिए

बड़े से बड़ा विश्वासघात किया जाना चाहिए बशर्ते कि ऐसा विश्वासघात बार-बार न किया जाए क्योंकि बार-बार ऐसा करना क्रूरता का दुरुपयोग है।

(5) राष्ट्रीय सेना का गठन नरेश को राज्य की रक्षा के लिए एक शक्तिशाली राष्ट्रीय सेना का गठन करना चाहिए। उसे किराये की सेना पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

(6) कानूनों का कठोरतापूर्वक पालन कानूनों का पालन नितान्त आवश्यक है अतः राजा के द्वारा सामाजिक मामलों में किसी प्रकार की निर्बलता नहीं दिखाई जानी चाहिए। कठोरतम दण्ड व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कानून भंग करने वालों को सदैव ही भय बना रहे।

(7) सैनिक शक्ति का विस्तार और युद्ध की स्थिति बनाए रखना मेकियावेली की मान्यता है कि सैनिक शक्ति का विस्तार किया जाना चाहिए और युद्ध की स्थिति को बनाए रखा जाना चाहिए। राज्य का हमेशा विस्तार किया जाना चाहिए।' विस्तार करो या नष्ट हो जाओ' की कहावत सही है। ग्रीक नगर-राज्य स्थायी होने के कारण ही नष्ट हुए। युद्ध की स्थिति से न केवल सैनिकों में वरन् साधारण नागरिकों में भी अनुशासन, देशभक्ति, एकता और कठोर जीवन की आदत का विकास होता है। मेकियावेली के अनुसार शासक के लिए युद्ध में वीरता और शौर्य का प्रदर्शन करने से अधिक सम्मानजनक बात और कुछ भी नहीं है।

(8) आचरण भययुक्त हो लेकिन घृणित नहीं- राजा को ऐसा होना चाहिए की लोग उससे प्रेम भी करें और भयभीत भी रहें। लेकिन यदि ये दोनों गुण एक साथ ही उसमें न हों और एक को छोड़ना ही पड़े तो यह अधिक अच्छा होगा कि लोग उससे प्रेम करने के बजाय उससे डरें। प्रेम तभी तक ही रहता है जब तक कि स्वार्थ होता है लेकिन भय दण्ड के बिना उत्पन्न किया जाता है। इसलिए उसका प्रभाव स्थायी होता है, इसलिए डरना प्रेम करने की अपेक्षा कहीं अच्छा है।

(9) सम्मानपूर्ण आचरण- प्रत्येक राजा को दयालु होते हुए भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी क्षमाशीलता का लाभ न उठाए। राजा को

सदैव कीर्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह प्रजा की घृणा का पात्र न बने। इससे बचने के लिए उसे अपने राज्य के नागरिकों की सम्पत्ति नहीं छीननी चाहिए, स्त्रियों का सतीत्व भंग नहीं करना चाहिए। इन दोनों कार्यों के न होने पर अधिकांश जनता सुखी और सन्तुष्ट रहती है।

(10) व्यापार और वाणिज्य का विकास राजा को व्यापार और वाणिज्य की उन्नति में रुचि लेनी चाहिए, किन्तु स्वयं इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। उसके लिए यह उचित है कि वह इनके और कृषि के विकास को यथासम्भव प्रोत्साहन देता रहे। यदि राजा वाणिज्य, व्यवसाय, कृषि आदि की ओर उपेक्षा का व्यवहार करेगा तो देश निर्धन और अशक्त हो जायेगा।

(11) मितव्ययिता के साथ उदारता एक अच्छे राजा को मितव्ययी होना चाहिए। राज्य के धन को भोग-विलास और अनाप-शनाप खर्च नहीं करना चाहिए। लड़ाई में प्राप्त लूट का माल चुपचाप अपने कोष में न रखकर उदारतापूर्वक प्रजा और सैनिकों में बाँटना चाहिए।

(12) कला और साहित्य में रुचि राजा को साहित्य और संगीत का संरक्षक, कलाकारों का सम्मान करने वाला, गुण ग्राहक होना चाहिये।

(13) चापलूसों से दूर रहना- राजा को अपने सलाहकार और मन्त्रियों के चयन में सावधान रहना चाहिये। शासक को सदैव चापलूसों से बचकर रहना चाहिए। चापलूस लोग राज्य और राजा के लिए कोई भी संकट उत्पन्न कर सकते हैं।

(14) निपुणता और योग्यता को प्रोत्साहन निपुणता और योग्यता को प्रोत्साहित करने के लिए राजा के द्वारा पुरस्कार, उपाधियाँ और पद प्रदान किये जाने चाहिये। पुरस्कार, उपाधियाँ और पद प्रदान करने के कार्य राजा के द्वारा स्वयं किये जाने चाहिए ताकि वह जनता में अधिक लोकप्रिय हो। राजा को दण्ड आदि के अप्रिय कार्यों का पालन अपने अफसरों द्वारा कराना चाहिए क्योंकि इनसे होने वाली बदनामी उन अफसरों के सिर पर पड़ेगी और यदि इनमें कुछ पीछे हटना पड़ा तो वह दोष अफसरों के सिर पर मढ़कर आसानी से बच सकता है।

(15) शक्ति सन्तुलन बनाए रखना- मेकियावेली के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राजा की नीति शक्ति सन्तुलन बनाए रखने की होनी चाहिए। उसे हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि अपने पड़ोसी राज्यों को आपस में सन्धि में न बंधने दे। उसे पड़ोसी राज्यों के आन्तरिक मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप की नीति अपनानी चाहिए और पड़ोसी राज्यों को प्रलोभन अथवा शक्तिबल द्वारा अपना मित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

मेकियावेली ने राजा को नैतिक-अनैतिक, उचित अनुचित, धार्मिक अधार्मिक सभी उपायों के प्रयोग की अनुमति देते हुए इस बात पर बल दिया कि राजा का अन्तिम उद्देश्य राज्य की प्रगति एवं समृद्धि है तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति में प्रयुक्त किए जाने वाले सभी उपाय एवं साधन न्यायसंगत एवं सम्माननीय हैं।"

मेकियावेली द्वारा प्रतिपादित राजा के आचरण और कर्तव्य की धारणाओं को देखने से ऐसा लगता है कि वह यथार्थवादी विचारक है। उसके ये कथन कितने यथार्थवादी है- "राजा में शेर की शूरता और लोमड़ी की चालाकी होनी चाहिए"; "यदि सम्भव हो तो राजा को एक ही समय में अपना सौम्य एवं रौद्र रूप प्रदर्शित करना चाहिए।"

13.10 मेकियावेली : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का जनक (Machiavelli: Father of Modern Political Thought)

अधिकांश विद्वान मेकियावेली को 'आधुनिक युग का जनक' मानते हैं। एक ओर उसे मध्ययुग का अन्तिम विचारक कहा जा सकता है तो दूसरी ओर आधुनिक युग में प्रथम। डनिंग के शब्दों में "यह कहना कि वह आधुनिक युग का प्रारम्भ करता है, उसी प्रकार सही है जैसा यह कहना कि वह मध्ययुग को समाप्त करता है।" मेकियावेली को आधुनिक युग का जनक कहने का तात्पर्य यही है कि आधुनिक युग मेकियावेली से प्रारंभ होता है और इस युग के प्रारंभ होने के साथ-साथ मध्ययुग का अन्त हो जाता है। प्रो. जोन्स के अनुसार "इसके उपरान्त कि मेकियावेली मुश्किल से एक राजनीतिक सिद्धान्तवादी है, वह किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों का पिता है।"

मेकियावेली ने मध्ययुगीन मान्यताओं और परम्पराओं की न केवल उपेक्षा की, अपितु उनका खण्डन कर राजनीति को नवीन यथार्थवादी रूप प्रदान किया। वह धार्मिक आधार पर राजनीतिक साम्राज्य का विरोधी था। उसके दर्शन व विचार मध्ययुगीन मान्यताओं जैसे सामन्तवाद, पोपतन्त्र, पवित्र रोमन साम्राज्य, दैवी कानून, परलोक की महत्ता, नैतिकता, ईश्वरीय शक्ति आदि को खण्डित कर उन पर सर्वथा नवीन विचारों को प्रतिष्ठापित करना है। उसने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए धार्मिक दृष्टान्तों का नहीं वरन् ऐतिहासिक उदाहरणों का सहारा लिया। आधुनिक युग की राजनीतिक मान्यताओं को सरलता से उसके ग्रन्थों में देखा जा सकता है। यही कारण है कि मेकियावेली राजनीतिक विचारों के इतिहास में एक अमर स्थान रखता है; वह ऐसा विचारक था जो मध्ययुगीन और आधुनिक युग दोनों की सीमाओं पर उत्पन्न हुआ था और जिसने मध्ययुग के साथ सम्बन्ध विच्छेद करके आधुनिक युग को सम्भव बनाया।

यद्यपि कुछ विचारकों का कहना है कि आधुनिक युग के पिता का स्थान बोदां को प्राप्त होना चाहिए क्योंकि बोदां ने ही सर्वप्रथम आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों की मूल विशेषता 'संप्रभुता' को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया। परन्तु मेकियावेली को आधुनिक युग का प्रर्वतक मानने का सबसे बड़ा कारण यह है कि वही प्रथम व्यक्ति था जिसने व्यावहारिक राजनीति पर जो विचार प्रकट किए, उनका पालन आज लगभग सभी राजनीतिज्ञों द्वारा किया जा रहा है, जबकि बोदां वह पहला राजनीतिक विचार था, जिसने राज्य का आधुनिक रूप में सैद्धान्तिक विवेचन किया। इसके अतिरिक्त बोदां स्वयं को मध्ययुगीन प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं कर पाया था।

मेकियावेली ही वह प्रथम लेखक है जिसने राजनीति को नैतिकता और धर्म से पूर्ण पृथक किया और धर्म निरपेक्ष विचारों को जन्म दिया जो आधुनिक युग की विशेषता है। मेकियावेली ने मध्ययुगीन दैवी कानूनों, प्राकृतिक कानूनों और सामन्तवाद को अस्वीकार कर राज्य के सकारात्मक कानूनों को जन्म दिया जो आधुनिक युग की विशेषता है। मेकियावेली ने ही राज्य की श्रेष्ठता, शक्ति की राजनीति और वैज्ञानिक अध्ययन पर बल दिया। सेबाइन ने भी कहा है कि

"मेकियावेली ने राज्य को वह अर्थ प्रदान किया जो आधुनिक राजनीतिक व्यवहार में राज्य के साथ जुड़ा हुआ है।"

कोकर ने मेकियावेली को आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के जनक के रूप में माने जाने के मुख्यतः दो कारण बताए हैं: प्रथम, मेकियावेली ने जो कुछ भी लिखा उसकी पुष्टि के लिए प्रमाण उसने धार्मिक ग्रन्थों से जुटाने के बजाय इतिहास से जुटाए; द्वितीय, उसने राजनीतिक प्रश्नों का परीक्षण धार्मिक आध्यात्मिक और सामाजिक आचार-विचार से मुक्त होकर किया। ि

अब हम आधुनिक युग की कतिपय उन विशेषताओं का उल्लेख करेंगे जिनकी हमें सर्वप्रथम झलक मेकियावेली के विचारों में दिखलायी देती है और जिनके आधार पर उसे 'आधुनिक युग का जनक' कहा जाता है:

1. **मध्ययुगीन विचारधारा पर प्रहार-** मेकियावेली के विचार प्राचीन व मध्यकालीन विचारों की परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं। उसने अपनी रचनाओं द्वारा निम्नलिखित मध्यकालीन विचारों पर प्रहार किया।(a) दैविक कानून मध्ययुग में राज्य के कानून की अपेक्षा दैविक कानून को अधिक महत्व प्राप्त था। जनता को दण्ड देकर परलोक प्राप्ति के योग्य बनाया जाता था और राज्य को एक तुच्छ संस्था समझा जाता था, जिसका जन्म मानव के पतन के कारण हुआ। मेकियावेली ने इस विचार का घोर विरोध किया और राज्य को सर्वोच्च संस्था बताया।

(b**) पोप का प्रभुत्व**- मध्ययुग में राज्य की समस्त शक्ति वास्तव में पोप के हाथों में निहित थी और वह ईश्वर का पुत्र तथा उत्तराधिकारी माना जाता था। उसकी निरंकुशता चरम सीमा पर पहुँच गयी। परिणाम स्वरूप चर्च के पदाधिकारी अनैतिक व चरित्रहीन हो गये थे। उनकी अनैतिकता और पतन से देश में भारी अव्यवस्था फैल गई थी 'डिस्कोर्सेज' में इसका वर्णन करते हुए वह कहता है कि "चर्च ने न केवल हमको अधार्मिक और भ्रष्ट बनाया है अपितु उसने हमारे देश को टुकड़े-टुकड़े कर बर्बाद कर दिया है और अब भी कर रहा है।" मेकियावेली एक सच्चा देशभक्त था; उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि उसका देश एकता के सूत्र में बंध जाए। इसलिए उसने निरंकुश पोपतन्त्र की कटु

आलोचना की और राज्य को प्रभुत्व सम्पन्न व चर्च को उसका अनुगामी बताया।

(c) **सामन्तवाद**- मध्य युग में राज्यों की एकता के लिए सामन्तवाद पर्याप्त बाधक सिद्ध हुआ। एक राज्य में सम्राट के अधीन कई बड़े-बड़े सामन्त हुआ करते थे जिनका अधिकार क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता था। ये सामन्त लोग अपने क्षेत्र में सेना, न्याय आदि की व्यवस्था करते थे। उन दिनों आवागमन के पर्याप्त साधनों के अभाव में सम्राट का इन सामन्तों पर उचित नियंत्रण नहीं रख पाता था, इसलिए राज्यों में अव्यवस्था फैली रहती थी। मेकियावेली ने इटली की अर्थव्यवस्था के लिए सामन्तवाद को भी दोषी ठहराया।

2. **प्रथम राजनीति वैज्ञानिक** -केटलिन के अनुसार "मेकियावेली प्रथम राजनीति वैज्ञानिक था।" अरस्तू की अपेक्षा कैटलिन यदि मेकियावेली को पहला राजनीति वैज्ञानिक मानता है तो इसलिए कि अरस्तू ने राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष को वैज्ञानिक रूप दिया है और मेकियावेली ने व्यावहारिक पक्ष को। मेकियावेली तो राज्य के लिए काल्पनिक व आध्यात्मिक साध्यों में विश्वास नहीं रखता था। वह व्यावहारिक राजनीति में उपयोगी साधनों का समर्थक था। वह राजनीति दार्शनिक नहीं, राजनीति यथार्थवादी था।

3. **ऐतिहासिक पद्धति**- मध्ययुग में धार्मिक और राजनीतिक सभी प्रकार की समस्याओं का चिन्तन स्कालेस्टिक पद्धति के आधार पर किया जाता था, इसमें पूर्व पक्ष के रूप में विरोधी पक्ष की सभी युक्तियों को देने के बाद अन्तर पक्ष के रूप में उनका खण्डन प्रबल तर्कों के आधार पर किया जाता था। मेकियावेली ने इस पद्धति का परित्याग करते हुए अनुभूति प्रदान (Empirical) अथवा ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति (Historical Method) को अपनाया है। अर्थात मेकियावेली ने अपने विचारों तक पहुँचने के लिए इतिहास और तर्क का सहारा लिया, जिसके परिणामस्वरूप उसने राजनीति विज्ञान का आधार ही परिवर्तित कर दिया। वुर्ड के शब्दों में- " दि प्रिन्स' वह सर्वप्रथम महानकृक्ति थी, जिसमें ईश्वरीय तत्व तथा मानवीय तत्व में स्पष्ट संघर्ष दिखाई देता था और जिसमें पूर्वजों द्वारा अपनायी प्राचीन सूक्तियों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से पथ भ्रष्ट करने वाली समझ कर छोड़ दिया।" मेकियावेली के

पश्चात् तो प्रायः अधिकांश विचारकों ने ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। यद्यपि स्वयं मेकियावेली की पद्धति दोष रहित न थी तथापि उससे एक नूतन मार्ग का निर्देशन तो हुआ।

4. **राज्य की आधुनिक स्थिति का निरूपण** -आधुनिक युग का प्रमुख लक्षण राज्य को प्राप्त अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति है और अरस्तू के बाद सबसे पहले राजनीतिक विचारक हैं जिन्होंने राज्य की महत्वपूर्ण स्थिति का निरूपण किया है। मेकियावेली ने इस बात पर सबसे अधिक जोर दिया है कि मानव जीवन की पूर्णता के लिए सुदृढ़ संगठित राज्य की परम आवश्यकता है। राज्य को उन्होंने साध्य माना है। सेबाइन के शब्दों में किसी भी अन्य विचारक की अपेक्षा मेकियावेली ने आधुनिक राजनीति के अर्थ में राज्य की सबसे सही परिभाषा दी है।5. राज्य की सम्प्रभुता का पोषक सम्प्रभुता की धारणा को आधुनिक युग की प्रतीक धारणा कहा जा सकता है और यद्यपि मेकियावेली ने कहीं भी बोदां, ग्रोशियस, हॉब्स या ऑस्टिन की भांति राज्य की सम्प्रभुता पर विचार नहीं किया है और न उसकी कोई परिभाषा दी है; पर राज्य को उसने सर्वोपरि संस्था माना जिसकी अधीनता में सभी व्यक्ति और संस्थाएं रहती हैं। सेबाइन के अनुसार 'राज्य' एक सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के रूप में मेकियावेली की लेखनी से ही पहली बार अभिव्यक्त हुआ और तब से उसे संप्रभु कहा जाने लगा और बाद में संप्रभुता का सिद्धान्त ही प्रतिपादित कर दिया गया जो आधुनिक राज्य का एक महत्वपूर्ण तत्व है। मेकियावेली ने यह प्रतिपादित किया कि राज्य एक ऐसी संगठन शक्ति है जो अपनी सीमा के अन्दर सर्वोच्च है तथा अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते समय वह अपनी इस स्थिति के प्रति सचेतन है।

6. **राष्ट्र राज्य की धारणा का सन्देशवाहक**- आधुनिक युग राष्ट्र राज्यों का युग है। मेकियावेली ने अपने चिन्तन के माध्यम से राष्ट्रीयता का समर्थन किया। राष्ट्रीयता के प्रति उसकी आस्था का मुख्य कारण इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि राज्यों की तरह से छोटे-छोटे राज्यों में बंटे इटली का एक राष्ट्रीय राज्य में संगठन करना था। मेकियावेली के समय में राष्ट्रीय राज्य शक्ति के प्रतीक और विकास के लिए अधिक उपयुक्त थे। अतः वह यह भी चाहता था कि इटली का

राष्ट्रीयता के आधार पर एकीकरण हो और वह एक शक्तिशाली और विकसित राष्ट्र का आकार ग्रहण करे। उसने इस हेतु प्रादेशिकता के आधार पर इटली के एकीकरण का समर्थन किया। इस तरह इटली के राष्ट्रीय एकीकरण का समर्थन करके उसने आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। डॉयल के शब्दों में, "मेकियावेली प्रथम विचारक था जिसने राष्ट्रीय राज्य के लक्षणों की विवेचना और विश्लेषण किया और इस राजनीतिक सावयव की धारणा को जन्म देने की चेष्टा की।"

7. **राजनीति का धर्म और नैतिकता से पृथकत्व**- मेकियावेली के विचारों की एक प्रमुख विशेषता राजनीति को धर्म और नैतिकता के प्रभाव से सर्वथा मुक्त और पृथक करना है। इस दृष्टि से वह मध्यकालीन विचारकों से सर्वथा भिन्न था। मध्ययुग के समस्त राजनीतिक दर्शन में धर्म राजनीति पर हावी रहा और नैतिकता तथा धर्म की दुहाई देते हुए राजनीतिक संस्थाओं का विकास अवरुद्ध किया गया। मध्य युग के अन्त में राजनीति को धर्म से पृथक करने की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी लेकिन किसी ने भी इस सम्बन्ध में आवश्यक साहस का परिचय नहीं दिया। मेकियावेली ने ही सर्वप्रथम निडरता के साथ घोषणा की कि राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उचित अनुचित, नैतिक-अनैतिक सभी प्रकार के साधन अपनाये जा सकते हैं। वह धोखा और ढोंग राजा के लिए जरूरी समझता था और कहता है कि राजा में जहाँ एक ओर शेर का साहस होना चाहिए, वहाँ दूसरी ओर लोमड़ी की चालाकी भी आवश्यक है। वह स्पष्ट कहता है, "राजा को राज्य को सुस्थिर बनाए रखने पर ध्यान देना चाहिए और यदि वह अपने इस लक्ष्य में सफल रहा तो उसका हर साधन सम्मानपूर्ण और प्रशंसनीय समझा जाएगा।" डिस्कोर्सेज में उसने लिखा है कि, "मैं यह विश्वास करता हूँ कि जब राज्य का जीवन संकट में हो तो राजाओं और गणराज्यों को रक्षा के लिए विश्वासघात और कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए।"

मेकियावेली ने इस धारणा का प्रतिपादन किया कि धर्म और नैतिकता का स्वतन्त्र अस्तित्व व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र में तो हो ही सकता है; सार्वजनिक क्षेत्र में तो उन्हें राजनीति का सूत्रधार ही होना चाहिए। कोकर ने ठीक ही लिखा

है कि, "मेकियावेली को प्रथम आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तकार कहकर पुकारने का कारण धर्म और नैतिकता के प्रति उसकी उदासीनता और उसके द्वारा केवल लौकिक और मानवीय विवेक को की गई अपील है।"

8. शक्ति और सत्ता के राजनीति में प्रयोग का सूत्रधार आधुनिक युग शक्ति राजनीति का युग है। राजनीति में शक्ति का प्रयोग इतना अधिक होता है कि आज राजनीति को 'शक्ति के लिए संघर्ष' (Struggle for Power) कहा जाता। इस शक्तिवादी राजनीति को वस्तुतः मेकियावेली ने ही प्रारम्भ किया है। सम्भवतः वह प्रथम विचारक है जिसने स्पष्ट शब्दों में बल प्रयोग को राज्य का आधार बताया। वह मनुष्य को स्वभाव से अनैतिक, कपटी, स्वार्थी और क्रूर समझता है अतः उसके नियंत्रण के लिए राज्य में बल प्रयोग को अनिवार्य रूप से निहित मानता है। मेकियावेली ने अपने दर्शन में एक केन्द्रीय राजसत्ता की स्थापना पर जोर दिया और शक्ति की सर्वोच्चता की पूजा की। मैक्सी के अनुसार, इस सम्बन्ध में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने वाला वह प्रथम विचारक है। शक्ति प्राप्त करने के लिए वह किसी भी उपाय का अवलम्बन करना उचित समझता था।

9. संघ राज्य का प्रथम उद्घोषक मेकियावेली संघ राज्य के विचार का प्रथम उद्घोषक है। उसने इटली के लिए एक ऐसे कामनवेल्थ का सपना देखा जिसका कि आधार संघात्मक व्यवस्था होगी। आधुनिक युग में बड़े राज्यों के लिए संघीय व्यवस्था ही उपयुक्त मानी जाती है जिसका सपना मेकियावेली ने 15वीं शताब्दी में देखा था।

इस प्रकार, मेकियावेली के द्वारा प्रस्तुत राज्यों की रूपरेखा आधुनिक राज्यों की रूपरेखाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उसने इटली राज्य के सम्बन्ध में जो चित्र प्रस्तुत किया वह बहुत कुछ आधुनिक राज्यों के समान है। आधुनिक राज्य प्रभुसत्ता सम्पत्र, धर्मनिरपेक्ष, स्वतन्त्र अस्तित्ववान और राष्ट्रीय राज्य है। कुछ राज्यों में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति गम्भीर रूप से विद्यमान है। मेकियावेली ने स्पष्ट कहा था कि शक्ति संवर्धन राज्य तथा प्रभुत्व विस्तार राजा के लिए आवश्यक है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि राज्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रख कर ही उन्नति कर सकता है।

गैटिल का मत है कि, "वह प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक था जिसने एक प्रभुतासम्पन्न, संगठित, धर्मनिरपेक्ष, राष्ट्रीय एवं स्वतन्त्र अस्तित्ववादी राज्य की कल्पना की थी। वह प्रथम आधुनिक यथार्थवादी था जिसने बताया था कि राज्य को स्वयं के लिए जीवित रहना चाहिए तथा उसको अपने संरक्षण और हित उद्देश्य रखना चाहिए।"

13.11मेकियावेली के विचारों की आलोचना(Criticism ot Machiavelli's political thinking)

मेकियावेली को अपने युग का शिशु और आधुनिक युग के पिता की संज्ञा दी जाती है। किन्तु राजनीतिक चिन्तन के विकास के इतिहास में उसका इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी इसकी विचारधारा में अव्यवस्था, अस्पष्टता और जटिलता के दोष तो हैं ही, उसके कुछ विचार भी त्रुटिपूर्ण हैं उनमें असंगतियाँ भी है, जो इस प्रकार है-

1. अध्ययन पद्धति त्रुटिपूर्ण मेकियावेली की अध्ययन पद्धति दोषपूर्ण है। उसने ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग किया है। उसने अतीत इतिहास के निष्पक्ष और र तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने मन्तव्य और सिद्धान्त निश्चित नहीं किये, किन्तु अपने अनुभवों से कुछ धारणाएँ बना ली और इतिहास में से इन्हें पुष्ट करने के उदाहरण ढूँढ़े।

2. मानव स्वभाव सम्बन्धी एकाकी दृष्टिकोण उसने मनुष्य को केवल निकृष्ट और स्वार्थी ही माना है, परन्तु वह यह भूल गया प्रतीत होता है कि मनुष्य में दिव्यता भी है। उसने दानवीय अंश को प्रधानता देते हुए मानव में विद्यमान दैवी अंश की उपेक्षा की है।

3. राजनीति में नैतिकता की उपेक्षा- मेकियावेली ने राजनीति में धर्म और नैतिकता की घोर उपेक्षा की है। वह उन्हें साध्य समझने के बजाय राज्य के हित साधने वाले साधन के रूप में प्रस्तुत करता है। इस तरह उसने राजनीति के भ्रष्ट होने का मार्ग खोल दिया। फोक्स की यह उक्ति "नैतिक रूप से जो गलत है, वह राजनीतिक रूप से कभी सही नहीं हो सकता।" मेकियावेली के सिद्धान्त की अपेक्षा सत्य के कहीं अधिक निकट है।

4. राजनीति विज्ञान के मौलिक प्रश्नों की उपेक्षा मेकियावेली ने राजनीति विज्ञान के मूलभूत

प्रश्नों की उपेक्षा की है। उसने अपने ग्रन्थों में राज्य के स्वरूप, सम्प्रभुता, उद्देश्य, शासन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों पर कोई प्रकाश नहीं डाला। गैटिल ने ठीक लिखा है कि उसका सिद्धान्त राज्य के संरक्षण का सिद्धान्त है, न कि राज्य का प्रतिपादन करने वाला सिद्धान्त ।5. अवसरवादी राजनीति का प्रणेता- मेकियावेली अवसरवादी राजनीति का प्रणेता है। उसने राजा को अवसरवादी बनाकर अपना काम निकालने की बार-बार सलाह दी।

संक्षेप में, आलोचकों के अनुसार मेकियावेली एक राजनीतिक दार्शनिक नहीं अपितु पक्का अवसरवादी राजनीतिज्ञ था। यथार्थ में उसने कोई राजनीतिक दर्शन नहीं दिया। 'प्रिन्स' के विचार वे चाटुकारिताएँ हैं जिनके द्वारा वे राजाओं से अपने लिए राजनीतिक पद की भीख माँग रहे थे। सेबाइन ने उसे राजनीतिक विचारक की अपेक्षा कूटनीतिज्ञ ही अधिक माना है।

13.12 राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मेकियावेली का स्थान

मेकियावेली की चाहे कितनी आलोचनाएँ की जाए तथापि उसे राष्ट्रीय, सर्वशक्तिमान और धर्मनिरपेक्ष राज्य की कल्पना करने वाला पहला विचारक माना जाता है। मैक्सी के अनुसार वह यथार्थवादी और वैज्ञानिक विचारक हैं जिन्होंने सारी बातें मुँह पर कहीं हैं जिन्हें दूसरों ने लुक छिपकर कहा है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने तात्कालिक राजनीतिक जीवन का यथार्थवादी दृष्टिकोण से सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए शासकों के उन कृत्यों को खोलकर रख दिया, जिन पर अब तक पर्दा पड़ा हुआ था, इसीलिए गैटल ने उसे पहला यथार्थवादी राजनीतिक विचारक कहा है। मूरे ने लिखा है, "उसने वस्तुओं को उसी रूप में नहीं देखा जिस रूप में उन्हें होना चाहिए किन्तु उसने यथार्थ रूप में देखा।"यथार्थ में मेकियावेली के पहले और बाद में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जहाँ शासकों ने उन्हीं सिद्धान्तों के द्वारा सफलता प्राप्त की जो मेकियावेली ने साहस के साथ अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित किए। ऐसा कहा जाता है कि

हिटलर 'प्रिन्स' का पाठ करता था और मुसोलिनी उसे अपने सिरहाने रखकर सोता था। मेकियावेली के राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्थान की चर्चा करते हुए मैक्सी ने उसे युग पुरुष की संज्ञा दी है। उसने राजनीति की नैतिकता को भ्रष्ट नहीं किया ऐसा तो सदियों पूर्व से हो चुका था, किन्तु उसने निर्ममता-पूर्वक उन पवित्र षड्यंत्रों का पर्दाफाश अवश्य किया जो धार्मिक मन्त्रोच्चार द्वारा बड़े-बड़े स्थानों में रचे जाते थे। उसे सच्चे और पक्के देशभक्त होने और आधुनिक राष्ट्रवाद का नेता होने का श्रेय भी दिया जाना चाहिए। जोन्स के अनुसार "विभिन्न राज्य आपस में एक-दूसरे के साथ उसी प्रकार व्यवहार करते हैं जैसा मेकियावेली ने वर्णन किया है नेवाइल चेम्बरलेन का अध्ययन कर हिटलर को समझने में काफी सहायता मिलती है और यदि राष्ट्रपति विलसन ने 'दि प्रिन्स' का अध्ययन किया होता तो वर्साई की दुर्घटना न होती ।"

13.13 सार संक्षेप

निकोलो मैक्यावली (1469-1527) को आधुनिक राजनीतिक विज्ञान का जनक माना जाता है। उन्होंने राजनीति को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखा और नैतिकता, धर्म या आदर्शवाद से परे व्यावहारिक राजनीति पर बल दिया। उनकी मुख्य कृति "द प्रिंस" (Il Principe) है, जिसमें उन्होंने सत्ता प्राप्ति और उसे बनाए रखने के लिए व्यवहारिक सुझाव दिए हैं।

13.14 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

1. आधुनिक राज दर्शन का जनक किसे माना जाता है-

(अ) प्लेटो

(ब) एक्वीनास

(स) अरस्तू

(द) मेकियावेली

2. मेकियावेली की महानतम कृति का नाम-

(अ) रिपब्लिक

(ब) दि प्रिन्स(स

) पॉलिटिक्स

(द) लेवियाथन

3. मेकियावेली की अध्ययन पद्धति की विशेषता है-

(अ) व्यवहारवाद और उत्तर व्यवहारवाद

(ब) विवेक एवं विश्वास

(स) अनुभववाद और इतिहासवाद

(द) निगमनात्मक एवं आगमनात्मक

4. किस विचारक को अपने युग का शिशु कहा जाता है-

(अ) मेकियावेली

(ब) बेन्थम

(स) हॉब्स

(द) कार्ल मार्क्स

5. "अपनी सम्पत्ति छीनने वाले की अपेक्षा एक व्यक्ति अपने पिता के हत्यारे को अधिक सुगमता से क्षमा कर देता है।" यह कथन किसका है-

(अ) रूसो

(ब) मेकियावेली

(स) अरस्तू

(द) कार्ल मार्क्स

13.15 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (द), 2. (स), 3. (ब), 4. (अ), 5. (स),

13.16 मुख्य शब्द

1. Virtù: शासक की योग्यता और कौशल।
2. Fortuna: भाग्य या परिस्थितियों की भूमिका।
3. Realpolitik: यथार्थवादी और व्यावहारिक राजनीति।
4. Statecraft: शासन की कला।
5. Power Dynamics: सत्ता के संतुलन का सिद्धांत।
6. Machiavellianism: सत्ता के लिए छल-कपट और व्यावहारिकता का उपयोग।

13.17 संदर्भ ग्रंथ

- शर्मा, आर. एस. (2018). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सिंह, उपिंदर. (2019). *प्राचीन भारत में राजनीति और शासन*. नई दिल्ली: पेंगुइन रैंडम हाउस.
- ठाकुर, विनय. (2020). *भारतीय राजनीतिक विचार: प्राचीन से आधुनिक तक*. नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशंस.
- मिश्रा, सुधीर कुमार. (2021). *प्राचीन भारतीय राज्यcraft और प्रशासन*. वाराणसी: ज्ञान भारती प्रकाशन.
- वर्मा, अरुण कुमार. (2022). *भारत का राजनीतिक दर्शन: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य*. जयपुर: साहित्य सदन.
- चौधरी, प्रीति. (2023). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएं और उनके सिद्धांत*. पटना: विद्या विहार पब्लिकेशंस.
- दास, मनीषा. (2024). *भारतीय राजनीतिक विचारकों का योगदान*. कोलकाता: यूनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता प्रेस.

13.18 अभ्यास प्रश्न

1. "प्रथमतः मेकियावेली यथार्थवादी था।" विवेचना कीजिए।
2. 'राजनीति में नैतिकता' विषयक मेकियावेली के विचारों का परीक्षण कीजिए।
3. मेकियावेली के प्रमुख राजनीतिक दर्शन की समीक्षा कीजिए।
4. राजनीति विज्ञान के लिए मेकियावेली के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
5. "मेकियावेली आधुनिक युग का सृष्टा है।" व्याख्या कीजिए।
6. मेकियावेली के धर्म तथा नैतिकता संबंधी विचारों का विश्लेषण कीजिए।
7. "मेकियावेली अपने युग का शिशु था।" स्पष्ट कीजिए।
8. "राजा को लोमड़ी की तरह चालाक और शेर की तरह बहादुर होना चाहिए।" विवेचना कीजिए।

इकाई 14

बेन्थम

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 बेन्थम : जीवन परिचय

14.4 बेन्थम की कृतियाँ

14.5 बेन्थम का उपयोगितावाद

14.6 बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त की आलोचना

14.7 राजनीति दर्शन में बेंथम के उपयोगिता सिद्धान्त का महत्व

14.8 बेन्थम : एक राजनीतिक दार्शनिक

14.9 बेन्थम : एक महान् सुधारक

14.10 दण्ड-व्यवस्था एवं जेल सुधार

14.11 राजनीति दर्शन के इतिहास में बेन्थम का योगदान

14.12 बेन्थम के विचारों का प्रभाव

14.13 सार-संक्षेप

14.14 मुख्य शब्द

14.15 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

14.16 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

14.17 संदर्भ ग्रंथ

14.18 अभ्यास प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

बेन्थम न केवल उपयोगितावाद का जनक था अपितु वह एक क्रियात्मक सुधारक भी था। उसने अपने समय की सामाजिक बुराइयों की ओर ध्यान खींचा, जनता के हित के लिए विभिन्न प्रकार के सुधारों के लिए प्रबल आंदोलन किया और अनेक क्षेत्रों में सुधारों का सूत्रपात किया। हेनरीमेन ने लिखा है कि "बेन्थम के समय के बाद जितने भी कानूनी सुधार किये गये हैं उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसमें बेन्थम का प्रभाव न हो।" प्रो. डायसी ने उसे विधि का प्रथम और महानतम् दार्शनिक कहकर पुकारा है।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों को नैतिकता, नीतियों , जनता के कल्याण ,प्रगतिशील समाज के निर्माण के बारे में बताना है

1.उपयोगितावाद को परिभाषित करना: नैतिकता और नीतियों को सुख और दुख के आधार पर मापने का सिद्धांत।

2. सामाजिक सुधार: कानून और संस्थानों को जनता के कल्याण के अनुसार सुधारना।

3. नैतिकता को व्यावहारिक बनाना: सुख और दुख को नैतिकता का मानक बनाना।

4. प्रगतिशील समाज का निर्माण: सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता, और समानता को बढ़ावा देना।

5. व्यक्तिगत और सामूहिक हितों का समन्वय: समाज में संतुलन स्थापित करना।

14.3 बेन्थम : जीवन परिचय

जेरेमी बेन्थम का जन्म 1748 ई. में लन्दन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ था। उसके पिता और पितामह उस समय के श्रेष्ठ कानूनविद् थे। उसके पिता जिरमिह बेन्थम की आकांक्षा थी कि उनका पुत्र भी एक नामी वकील बने। चूँकि बेन्थम अलौकिक प्रतिभा का धनी बालक था इसलिए वह तीन वर्ष की

आयु में लैटिन तथा चार वर्ष की आयु में फ्रेन्च पढ़ने लग गया। उसने तेरह वर्ष की आयु में मैट्रिक तथा पन्द्रह वर्ष की आयु में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा पास कर ली। इसके बाद उसने 'लिकन्स इन' में कानूनशास्त्र का अध्ययन करने के लिए प्रवेश लिया। सन 1768 में उसे किताबों की एक दुकान में प्रीस्टले की एक पुस्तिका 'शासन पर निबन्ध' मिली जिसमें उसे एक पृष्ठ पर हचेसन की पुस्तिका से उद्धृत वाक्यांश 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' मिला। इसे पढ़कर वह आनन्द विभोर हो उठा, मानो उसे कोई मणि मिल गई हो। "बेन्थम खुशी से नाच उठा, मानो उसे ईश्वर का सन्देश मिल गया या उसने कोई महान खोज कर ली। इस वाक्यांश में जो अर्थ छिपा था वह बेन्थम की सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा का आधार एवं आदर्श बना।"

लिकन्स इन में बेन्थम ने अपना अधिकांश समय विधिशास्त्र के ग्रन्थों के अध्ययन में लगाया। इन्हीं दिनों वह कींग्स बैंच के प्रधान न्यायाधीश लार्ड मैन्सफील्ड के न्यायालय में विधि का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने जाया करता था। इसी दौरान उसे प्रचलित कानूनों की दुर्बोधता, अपूर्णता और अनिश्चितता का पता लगा। उसने देखा कि प्रचलित कानून बड़ा क्रूर और पाशविक था। कानून भंग करने वाले दण्ड पाने से बच जाते थे और निरपराध दण्ड पाते थे। बेन्थम को प्रचलित कानून के खोखलेपन का जितना अधिक ज्ञान हुआ वह उतनी ही अधिक दृढ़ता से इनके सुधार के लिए संकल्प करने लगा। वकालत करने की अपेक्षा उसने विधियों में संशोधन करने का बीड़ा उठा लिया। जब इंग्लैण्ड के विधि शास्त्री ब्लेकस्टोन ने इंग्लिश कानून की, टीकाएँ प्रकाशित कीं तो ब्लेकस्टोन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाते हुए सन् 1776 में बेन्थम ने 'शासन पर कुछ विचार' (Fragments on Government) ग्रन्थ प्रकाशित किया जिस पर लेखक का नाम मुद्रित नहीं था। बेनाम प्रकाशित बेन्थम की इस रचना ने विधि शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान ब्लेकस्टोन की आलोचना कर के न्यायिक क्षेत्र में हलचल मचा दी। यह कल्पना की जाने लगी कि शायद यह आलोचनात्मक कृति डनिंग, मैन्सफील्ड अथवा लार्ड कैम्डन में से किसी की हो सकती है जो उस समय विधिशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे; जैसे मैक्सी के शब्दों में, "इंग्लैण्ड की राजनीति का शक्तिशाली व्यक्ति लार्ड शैलबर्न

बेन्थम की फ्रेगमेन्ट ऑन गवर्नमेन्ट से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने बेन्थम का संरक्षण स्वीकार कर लिया और उसे बार-बार अपने यहाँ मेहमान के रूप में आमंत्रित किया और समाज के अभिजात्य वर्ग से उसका परिचय करवाया।" इस पुस्तक का प्रकाशन बिना लेखकीय नाम के हुआ था परन्तु इस पुस्तक की ख्याति के कारण बेन्थम का पिता अपने आप को रोक नहीं सका और उसने घूम-घूम कर बड़े गर्व के साथ इस सत्य का प्रचार किया कि यह पुस्तक उसके पुत्र द्वारा लिखी गयी थी।

बेन्थम के पिता को अपने पुत्र के अगाध कानूनी ज्ञान पर गर्व हुआ और उन्होंने यह समझ लिया कि पुत्र को वकालत के पेशे से बाँधना व्यर्थ है। उन्होंने उसके लिए एक सौ पौण्ड की वार्षिक आय की व्यवस्था कर दी ताकि वह आजीविका की चिन्ता से मुक्त होकर चिन्तन, सुधार और लेखन के कार्यों में अपने आप को लगा सके।

बेन्थम प्रतिदिन नियमित रूप से लिखने वाला असाधारण व्यक्ति था और ज्ञान विज्ञान के सभी क्षेत्रों में उसकी निर्बाध गति थी। उसके लेखों की पाण्डुलिपियाँ जो 148 सन्दूकों में बन्द हैं, लन्दन विश्वविद्यालय और ब्रिटिश म्यूजियम में आज भी सुरक्षित रूप से रखी हुई हैं। उसके लेखन का क्षेत्र बड़ा व्यापक था किन्तु लेखन के प्रति वह बड़ा लापरवाह भी था। उसने नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों पर ग्रन्थों की रचना की। सन् 1789 में उसकी प्रसिद्ध कृति "नैतिकता और विधान निर्माण के सिद्धान्त" (Principles of Morals and Legislation) का प्रकाशन हुआ। इसमें प्रकट विचारों के कारण वह अलौकिक बुद्धि सम्पन्न विधान निर्माता समझा जाने लगा। उसकी कृक्तियों और सेवाओं से प्रभावित होकर सन् 1792 में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा द्वारा उसे 'फ्रेन्च नागरिक' की सम्मानजनक उपाधि से विभूषित किया गया। किन्तु इंग्लैण्ड ने उनके विचारों को कोई महत्व प्रदान नहीं किया। फलतः प्रतिक्रियास्वरूप वह उग्र सुधारवादी बन गया और राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए वह अपने सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्न करने लगा। 6 जून, 1832 को 84 वर्ष की आयु में लन्दन में उसका निधन हो गया। डॉयल के शब्दों में, "अपनी मृत्यु के पश्चात एक (उसने) शिष्य समूह के

द्वारा वह एक पितामह और आध्यात्मिक नेता के रूप में सम्मानित किया गया। उसकी प्रतिष्ठा एक देवता की भाँति की गयी जिसका सेण्ट पाल (शिष्य) था जेम्स मिल।"

14.4बेन्थम की कृतियाँ(Works of Benthem)

बेन्थम अपने समय का महानतम लेखक था। उसमें नियमित रूप से लिखने की असाधारण प्रतिभा थी। उसके द्वारा लिखे गये पृष्ठों की संख्या एक लाख से भी अधिक है। उसने कानून, तर्कशास्त्र, दण्डशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि विविध विषयों पर लिखा किन्तु एक भी ग्रन्थ पूरा नहीं किया। वह एक विषय पर लिखना शुरू कर देता था किन्तु उससे उठने वाली जिज्ञासा को शांत करने के लिए पहली पुस्तक अधूरी छोड़कर दूसरी पुस्तक लिखना शुरू कर देता था। अतः बेन्थम की अधिकांश कृक्तियाँ स्फुट विचार मात्र थे जिन्हें बोरिंग नामक निष्ठावान शिष्य ने ग्यारह खण्डों में प्रकाशित किया। बेन्थम की प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित है-

1.फ्रेगमेण्ट्स ऑन गवर्नमेन्ट, 1776

[Fragments on Government, 1776]

2.एन इनट्रोडक्शन टू दी प्रिन्सीपल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड लेजिस्लेशन, 1789
[An Introduction to the Principles of Moral and Legislation, 1789]

3. एमिनसिपेट योर कॉलोनीज, 1783

[Emancipate your Colonies, 1783]

4. प्रिन्सिपल्स ऑफ इनटरनेशनल लॉ

[Principles of International Law]

5. डिसर्कोसेज आन सिविल एण्ड पेनल लेजिस्लेशन, 18

[Discourses on Civil and Penal Legislation, 1802]

6.ए थ्योरी ऑफ पनिशमेण्ट एण्ड रिवार्डस, 1811

[A Theory of Punishment and Rewards, 1811]

7. केसिज्म ऑफ पार्लियामेन्टरी रिफार्म्स, 1809]

[Catechism of Parliamentary Reforms, 1809]

उपयोगितावादी चिन्तन की सामान्य रूपरेखा उसकी प्रारंभिक रचना 'फ्रेगमेण्ट्स ऑन गवर्नमेण्ट' में मिलती है। उसमें ब्लेकस्टोन की 'कमेंट्रीज' की आलोचना की गयी है और इस आलोचना के माध्यम से सम्पूर्ण विधिक व्यवसाय तथा इंग्लैण्ड के शासन के सम्बन्ध में ह्निग विचारधारा की आलोचना की गयी है।

'फ्रेगमेण्टस ऑन गवर्नमेन्ट' ग्रन्थ मुख्य रूप से आलोचनात्मक था लेकिन बेन्थम ने एक अन्य प्रमुख ग्रन्थ 'इण्ट्रोडक्शन टु दि प्रिंसिपल्स ऑफ मोरल्स एण्ड लेजिस्लेशन' में में पुनर्निर्माण की भी कोशिश की है। इस ग्रन्थ में हैल्वेटियस द्वारा प्रतिपादित शैली पर मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और न्यायशास्त्र के लिए आवश्यक मूल्य का मानक प्रदान करते हैं बल्कि वे मानव आचरण के उन कारणों को भी निर्धारित करते हैं जिनके द्वारा कुशल विधायक मानवी व्यवहार पर नियंत्रण रख सकता है और उसे दिशा दे सकता है।

14.5बेन्थम का उपयोगितावाद (Benthem's Concept ot Utilitarianism)

उपयोगितावाद बेन्थम की समूची विचारधारा तथा चिन्तन की आधारशिला है। यह सुखवाद पर आधारित एक मनोवैज्ञानिक तथा सुधारवादी विचारधारा है जिसका प्रमुख केन्द्र इंग्लैण्ड था।

बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों को निम्नलिखित शीर्षकों में समझा जा सकता है:

उपयोगिता का अर्थ- बेन्थम के अनुसार उपयोगिता के सिद्धान्त का अर्थ उस सिद्धान्त से है जो प्रत्येक कार्यवाही को, चाहे वह जो भी क्यों न हो ऐसी

धारणा के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार करता है जिससे ऐसा लगता है कि वैचारिक पक्ष के हित में या तो अभिवृद्धि कर रहा है या हास कर रहा है। इसको दूसरे शब्दों में सुख की अभिवृद्धि या ह्रास का सिद्धान्त कह सकते हैं। यह प्रत्येक कृत्य पर लागू होता है, केवल व्यक्ति के निजी कृत्यों पर ही नहीं सरकार के क्रियाकलापों पर भी सामान्य रूप से लागू होता है।

उपयोगिता की परिभाषा करते हुए बेन्थम ने लिखा है- "उपयोगिता किसी वस्तु का वह गुण है जिसके द्वारा वह किसी ऐसे प्रत्यक्ष पक्ष के लिए लाभ, सुविधा, सुख, अच्छाई या कल्याण का सृजन करती है अथवा ऐसे पक्ष के विरुद्ध होने वाले छल, पीड़ा, बुराई या अहित को रोकने का कार्य करती है जिसके हित के बारे में विचार किया जा रहा है।" यहाँ यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि यदि पक्ष कोई व्यक्ति है तो उपयोगिता का सम्बन्ध व्यक्तिगत होगा और यदि वह कोई समुदाय है तो उपयोगिता सामुदायिक हित से सम्बन्धित होगी।

नैतिकता की परम्परागत धारणाओं का खण्डन- बेन्थम ने तत्कालीन समय में प्रचलित नैतिकता की सभी धारणाओं का खण्डन किया और उपयोगिता को नैतिकता तथा मानवीय जीवन का आधार बनाया। बेन्थम के समय में नैतिकता के विषय में विभिन्न विचार प्रचलित थे। प्रायः लोग ईश्वर की इच्छा को नैतिकता का आधार मानते थे और उनका कहना यह था कि धर्मशास्त्रों से ईश्वर की इच्छा का ज्ञान होता है। इसलिए उनका कहना था कि जो कुछ ईश्वर के अर्थात धर्मशास्त्रों के अनुकूल है, वह नैतिक है और जो कुछ उसके विपरीत है, वह अनैतिक और पापमूलक है। इसके अतिरिक्त के सम्बन्ध में प्राकृतिक विधि की धारणा प्रचलित थी और दार्शनिक मनुष्य के अन्तःकरण को नैतिकता का स्रोत मानते थे। बेन्थम इन सभी को अस्वीकार करते हुए कहता है कि "ईश्वरीय इच्छा, प्राकृक्तिक विधि और अन्तःकरण ये सब कुछ वैयक्तिक या आत्मगत (Subjective) कल्पनाएँ मात्र हैं और मनुष्य को जो कुछ अच्छा लगता है, उसी को ईश्वरीय इच्छा, प्राकृक्तिक विधि या अन्तरात्मा के अनुकूल कह देता है। ईश्वरीय इच्छा या प्राकृक्तिक विधि के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से हमारे द्वारा कुछ भी नहीं कहा जा सकता, इसलिए ये धारणाएँ निरर्थक हैं।" नैतिकता की इन परम्परागत धारणाओं के स्थान पर बेन्थम सुखवाद

(Hedonism) में विश्वास करता है और यह मानता है कि सुख तथा दुःख अथवा प्रसन्नता और पीड़ा मनुष्य के दो सार्वभौम शासक है।

प्रकृक्ति ने मनुष्य को दो सत्ताधारी स्वामियों के अधीन रखा है- बेन्थम के अनुसार प्रकृति ने मनुष्य को आनन्द और पीड़ा नामक दो सवर्वोच्च प्रभुओं के शासन में रखा है। हम जो कुछ भी करते हैं,

जो कुछ भी कहते हैं और जो कुछ भी सोचते हैं सबमें हम इनके अधीन हैं। बेन्थम के शब्दों में, "प्रकृक्ति ने मानव समाज को दो सर्वाधिकार सम्पन्न स्वामियों-सुख और दुःख के आधिपत्य में रख दिया है। इन स्वामियों का ही यह कर्तव्य है कि वे हमें बताएँ कि हमें क्या करना चाहिए तथा निर्णय करें कि हम क्या कर सकते हैं।"

उपयोगिता का सिद्धान्त सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण का सिद्धान्त है- बेन्थम के उपयोगितावाद की आधारशिला सुख और दुःख की मात्रा के ऊपर है। बेन्थम के मत में जो वस्तु सुख की अनुभूति देती है वह अच्छी है, ठीक और उपयोगी है। जिस कार्य में मानव सुख में वृद्धि होती है वही कार्य उपयोगी और उचित है और जिस कार्य से मानव को दुःख प्राप्त होता है वह कार्य अनुपयोगी और अनुचित है। मानव के समस्त कार्यों की कसौटी उपयोगिता है। बेन्थम के शब्दों में, " उपयोगिता के सिद्धान्त से हमारा आशय उस सिद्धान्त से है जिससे सम्बन्धित व्यक्ति की प्रसन्नता में वृद्धि या कमी होती है और जिसके आधार पर वह कार्य को या तो उचित ठहराता है या अनुचित या दूसरे शब्दों में जिससे सुख मिलता है या सुख नष्ट होता है। मैं यह बात हर कार्य के लिए कहता हूँ और इसलिए मेरी यह बात किसी एक व्यक्ति पर नहीं बल्कि हर सरकारी कार्य पर लागू होती है।" इस प्रकार बेन्थम के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता का एकमात्र मापदण्ड है कि वह कहां तक सुख की वृद्धि करता है और कहाँ तक दुःख को कम करता है।

सुख- दुःख का वर्गीकरण- सुख-दुःख के स्वरूप को समझाने के लिए बेन्थम उन्हें दो भागों- सामान्य और जटिल में विभाजित करता है। उसने सामान्य सुख के 14 और सामान्य दुःख के 12 भेद बताये हैं, जो इस प्रकार है-

सामान्य सुख- 1. इन्द्रिय सुख, 2. वैभव सुख, 3. कौशल का सुख, 4. मित्रता का सुख, 5. यश का सुख, 6. शक्ति या सत्ता का सुख, 7. कल्पना का सुख, 8. धार्मिक सुख, 9. दया का सुख, 10. निर्दयता का सुख, 11. स्मृति का सुख, 12. आशा का सुख, 13. सम्पर्क या मिलन का सुख व 14. सहायता का सुख ।

सामान्य दुःख- 1. दरिद्रता, 2. भावना, 3. हिचकिचाहट, 4. शत्रुता, 5. अपयश, 6. धार्मिकता, 7. दया, 8. निर्दयता, 9. स्मृति 10. कल्पना, 11. आशा व 12. सम्पर्क ।

सामान्य सुख-दुःख के इस वर्गीकरण को प्रस्तुत करने के पश्चात् बेन्थम यह भी कहता है कि इनके सम्मिश्रण से विविध प्रकार के जटिल सुख-दुःख पैदा होते हैं।

सुख-दुःख के निर्धारक तत्व -बेन्थम के अनुसार मनुष्य एक भावनात्मक प्राणी होता है। अतः प्रत्येक मनुष्य की भावना जितनी सघन होती है उतनी ही सुख या दुःख को ग्रहण तथा अनुभव करने की उसकी क्षमता होती है अर्थात हर मनुष्य की सुख-दुःख अनुभव करने की सामर्थ्य भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। वस्तुतः किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा अनुभव की जाने वाली सुख-दुःख की मात्रा इनके ग्रहण करने या अनुभव करने की सामर्थ्य को निश्चित करने वाले तत्वों पर निर्भर है। ये 32 तत्व है, इनमें प्रमुख हैं- स्व प्रगति , शक्ति, कठोरता, शारीरिक कमजोरी, मन की चंचलता, मनोवृत्ति, अनुभव ग्रहण करने की शक्ति, नैतिक पक्षपात, धार्मिक पक्षपात, लिंग, शिक्षा, जलवायु, वंश आदि। बेन्थम के अनुसार सुख-दुःख की मात्रा की गणना करते हुए इन्हें ध्यान में रखना चाहिए।

सुख-दुःख के स्रोत- बेन्थम सुख-दुःख प्राप्ति के चार स्रोत बतलाता है। ये चार स्रोत है- भौतिक, नैतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक। प्रकृति से प्राप्त होने वाले सुख भौतिक सुख कहलाते है। जब कोई सुख या दुःख नैतिक दृष्टि से अच्छा या बुरा काम करने पर होता है तो उसे नैतिक सुख या दुःख कहते हैं। । जब कोई सुख या दुःख राज्य के सम्पर्क में अथवा कानून के कारण मिलता है तो यह राजनीतिक सुख-दुःख कहलाता है। धार्मिक मान्यताओं के अनुसार या

विरुद्ध काम करने पर जो सुख-दुःख मिलता है उसका स्रोत धर्म होता है। सुख-दुःख के इन चार स्त्रोतों को मकान का उदाहरण देते हुए बेन्थम इस प्रकार समझाता है- "अगर किसी मनुष्य का मकान अपनी असावधानी से जलता है तो यह उसे प्रकृक्ति द्वारा दिया गया दण्ड है। यदि दण्डनायक की आज्ञा से जलाया जाता है तो वह राजनीतिक दण्ड है।

अगर वह आग लगने पर सहायता न देने वाले साथियों और पड़ोसियों की दुर्भावना से जलता है तो यह जनमत का दण्ड है और अगर वह किसी दैवी प्रकोप से भस्म हुआ है तो इसे धार्मिक दण्ड माना जायेगा।" सुख की गणना सुखवादी मापक यंत्र (Hedonistic Calculus) उपयोगिता का निर्धारण करने में बेन्थम सुख-दुःख की मात्रा पर बल देता है। यदि एक कार्य से सुख की अधिक मात्रा उत्पन्न होती है तो वह अधिक अच्छा सुख है, किन्तु समस्या यह है कि सुख-दुःख का निश्चय कैसे किया जाये ? इनकी मात्रा का निर्धारण करने के लिए बेन्थम ने 'सुखवादी मापक यन्त्र' (Hedonistic Calculus) का आविष्कार किया जिसके अनुसार सुखों और दुःखों को तुलनात्मक ढंग से कुछ कसौटियों पर कसा जाता है और उसकी कल्पना को नापा जाता है। इसके आधार पर विभिन्न प्रकार के कार्यों या वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सुखों का मूल्य ज्ञात किया जा सकता है। इसके निमित्त बेन्थम ने किसी कार्य के सम्बन्ध में अनेक परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर सुख या दुःख के कम या अधिक होने का ज्ञान किया जा सकता है। ये कसौटियाँ 7 है- 1. तीव्रता (intensity), 2. स्थिरता (Duration), 3. निश्चितता (Certainty), 4. निकटता अथवा दूरता (Propinquity or Remoteness), 5. जनन- शक्ति (Fecundity), 6. विशुद्धता (Purity) तथा 7. विस्तार (Extent)। बेन्थम के विचारों को स्पष्ट करते हुए वेपर ने लिखा है, "जब हम सुखों की गणना करते हैं तो हमें उनकी तीव्रता और स्थिरता को ध्यान में रखना चाहिए; हमें उनकी निश्चितता और अनिश्चितता का ध्यान रखना चाहिए क्योकि वह सुख जो अधिक निश्चित होता है उस सुख की तुलना में अधिक होता है जो सुख कम निश्चित होता है। उसकी निकटता एवं दूरी भी हमारी गणना में आनी चाहिए, वह सुख जो अधिक निकट होता है अथवा अधिक सरलता से प्राप्त होता है उस

सुख से अधिक होता है जो दूर होता है और जिसे पाने में अधिक कठिनाई होती है। हमें उनकी जनन-शक्ति और उनकी विशुद्धता पर भी विचार करना चाहिए क्योंकि ऐसा सुख अधिक आनन्ददायक होता है जिसके पीछे उसी प्रकार के अन्य सुख जुड़े हों।

बेन्थम के अनुसार, सुखवादी मापक यंत्र से किसी प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले सुखों और दुःखों का मूल्यांकन करते हुए उन्हें दो पलड़ों में तोलें। यदि इनमें से सुखों वाला पलड़ा भारी हो तो वह प्रवृत्ति उपयोगी है और यदि दुःखों वाला पलड़ा भारी हो तो वह प्रवृत्ति अनुपयोगी होगी। बेन्थम के शब्दों में, "समस्त सुखों के समस्त मूल्यों को एक ओर तथा समस्त दुःखों के समस्त मूल्यों को दूसरी और एकत्रित कर लेना चाहिए। यदि एक को दूसरे में से घटाकर सुख शेष रह जाता है तो अमुक कार्य ठीक है; लेकिन यदि शेष दुःख रहे तो यह समझ लेना चाहिए कि अमुक कार्य ठीक नहीं है।"

सुख की मात्रा समान हो तो बच्चों का खेल हो या कविता, एक ही बात है- बेन्थम दो सुखों में केवल संख्यात्मक (मात्रात्मक) श्रेष्ठता का विधान करता है अर्थात गुण की दृष्टि से सभी सुख समान हैं। यदि उनमें कोई अन्तर है तो वह अधिक और कम का अन्तर है। उसके अनुसार, गणना करने से जो भी सुख मात्रा में अधिक हो, उसे अपनाना चाहिए। सुखों की मात्रा समान होती है; खेलने, पढ़ने और मनोरंजन के समान सुख मिलते हैं। बेन्थम के शब्दों में, "सुख की मात्रा समान होने पर पुशपिन (बच्चों का खेल) और कविता का रसास्वादन दोनों एक ही कोटि के आनन्द हैं।" (Quality of pleasure being equal Pushpin is as good as poetry), दुःखों में भी बेन्थम गुणात्मक भेद नहीं करता है। उसी के शब्दों में, " एक कील के चुभने से उतनी ही पीड़ा होती है जितनी की एक कर्कश कविता सुनने से ।" (There is no difference between a purpush and a piece of poetry.) वह यह भी कहता है, "अधिकतम सुख की गणना करने में प्रत्येक व्यक्ति को एक माना जायेगा और किसी को भी एक से अधिक नहीं माना जायेगा।"

राज्य का उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख बेन्थम के अनुसार राज्य के आदेशों का पालन इसलिए होता है कि यह उपयोगी है तथा सामान्य

हित तथा सुख को बढ़ाने वाला है। राज्य के नियमों के आज्ञा-पालन होने वाले लाभ आज्ञा भंग के दुष्परिणामों से अधिक हैं। बेन्थम की दृष्टि से राज्य का आधार उपयोगिता से उत्पन्न होने वाली आज्ञा पालन की आदत है। इस प्रकार राजनीति | के क्षेत्र में उपयोगिता का सिद्धान्त कानून प्रदान करने वालों का तथा शासन का मार्गदर्शन करता है।

कानून का ध्येय अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख वेन्थम के अनुसार, शासन और कानून की उत्पत्ति और अस्तित्व उनकी सामान्य उपयोगिता पर निर्भर है और उनका पालन भी लोग इसीलिए करते हैं कि वे उपयोगी है। अतः वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कानून निर्माण भी उपयोगिता सिद्धान्त के अनुकूल होना चाहिए। यदि राज्य के कानून उपयोगिता की कसौटी पर खरे न उतरें तो उन्हें बदल देना चाहिए। अच्छा कानून वही है जिससे अधिकतम व्यक्तियों की अधिकतम भलाई होती हो। बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त के निष्कर्ष

बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त से अग्रलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं-

1. **सुख ही एकमात्र इच्छित वस्तु**- बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त का निष्कर्ष है कि मनुष्य के लिए सुख ही एकमात्र अच्छी और इच्छित वस्तु है। धन, पद, स्व प्रगति और यहाँ तक कि सद्गुण भी मानव जीवन में द्वितीय स्थान पर आते हैं और ये सब मनुष्य के अन्तिम उद्देश्य और सुख प्राप्ति के साधन मात्र है। CE

2. **सुख-दुःख का गणितीय मापन-** बेन्थम का विश्वास है कि सुखों और दुःखों को तुलनात्मक आधार पर मापा जा सकता है। इस प्रकार सुख-दुःख मापने की पद्धति को वह सुखवादी गणना पद्धति के नाम से पुकारता है।

3. **सुख का आलिंगन और दुःख का बहिष्कार-** बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सुख का आलिंगन करता है और दुःख का बहिष्कार करता है।

4. **सार्वभौम सिद्धान्त**- बेन्थम के अनुसार उपयोगिता का सिद्धान्त सार्वभौम रूप से लागू होने वाला सिद्धान्त है। मानव के समस्त व्यापारों में यह लागू

होता है। यहाँ तक कि तपस्वियों के सम्बन्ध में भी यह लागू होता है। तपस्वियों को जिस रूप में सुख की अनुभूति होती है वह सुख का ही विकृत रूप है क्योंकि तपस्या भौतिक सुख भले ही न दे तथापि उसका परिणाम भी तपस्वी के लिए सुख का ही द्योतक है जो आत्मिक सुख है।

5. **राज्य का उद्देश्य** -अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख बेन्थम की सबसे महत्वपूर्ण धारणा यह है कि वह राज्य को एक ऐसा समूह समझता है जिसे मनुष्यों ने अपनी सुख-वृद्धि के लिए संगठित किया है। राज्य की आज्ञा का पालन हम इसलिए करते हैं क्योंकि ऐसा करना हमारे लिए लाभदायक एवं उपयोगी है। कोई भी सरकार तभी तक कायम रहती है और नागरिकों की निष्ठा की हकदार होती है जब तक कि वह समाज के सामान्य सुख का ध्यान रखती है।

6. **कानून का मूल्यांकन** -उपयोगिता बेन्थम ने उपयोगिता के सिद्धान्त का सबसे अधिक

प्रयोग कानून निर्माण में करना चाहा और उसका मत था कि विधायक के हाथ में 'अधिकतम लोगों का अधिकतम हित' जैसा यन्त्र पकड़ा देने से कानून की सही आत्मा का निर्माण किया जा सकता है।

14.6बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त की आलोचना

बेन्थम को उपयोगितावाद का जनक कहा जाता है किन्तु उसके उपयोगितावादी विचार विरोधाभास एवं भ्रम का पिटारा है। उसके उपयोगितावादी विचारों की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है-

1. **सुखवादी मान्यता**- सुखवादी मान्यता, जो कि बेन्थम के विचारों का आधार है, उसके दर्शन की सबसे बड़ी कमजोरी है। यह धारणा कि सुख तथा दुःख हमारे सम्पूर्ण आचार तथा विचार को निर्धारित करते हैं, भ्रमपूर्ण है। यह तो जीवन की एक बहुत ही अधूरी व्याख्या है और उन जटिल प्रेरणाओं की, जो कि हमारे आचरण को प्रभावित करती है, अवहेलना करना है। सुख और दुःख को यदि हम प्रेरक तत्व मान लें, जैसा कि बेन्थम चाहता है, तो समाज का या तो विकास अवरुद्ध हो जायेगा या फिर समाज में सुख प्राप्ति की ऐसी होड़ लग

जायेगी कि एक प्रकार के सामाजिक संघर्ष से विप्लव आने की समस्या हो जायेगी। वास्तव में मानव जीवन आदर्शों पर आधारित है। उसकी कुछ मान्यताएँ हैं और उन्हीं मान्यताओं को आधार मानकर मनुष्य आगे बढ़ता है चाहे उसे उसमें कितने ही कष्ट क्यों न सहन करने पड़ें।

2. **अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख असंगत**- बेन्थम के अनुसार उपयोगिता का अर्थ है अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख। किन्तु यह अव्यावहारिक और असंगत है। मान लीजिए 'अ' कार्य से तथा 'ब'कार्य से यह तय करना है कि कौन-सा कार्य करें तो निर्णय लेना कठिन हो जायेगा। क्योंकि 'अ 'कार्य से दस व्यक्तियों का भला होता है और 'ब' कार्य से सौ व्यक्तियों का लाभ होता है; जबकि 'अ 'और 'ब' कार्य के सुख की मात्रा समान है। बेन्थम अधिकतम सुख + अधिकतम संख्या दोनों को चाहता है परन्तु यह स्पष्ट करने में असफल रहा है कि इनका निर्धारण कैसे किया जाये। अधिकतम सुख पर बल दिया जाये अथवा अधिकतम संख्या पर। असली समस्या यह है कि दोनों में सन्तुलन कैसे स्थापित किया जाये ?

3. **सुख भौतिक न होकर मानसिक होता है**- बेन्थम सुख का आधार भौतिकता मानता है जबकि देशभक्ति, त्याग, सेवा, परोपकार, आदि गतिविधियों में दुःख उठाकर भी लोगों को मानसिक सुख मिलता है और जो भौतिक सुख से आकृष्ट होता है। भगवान महावीर और गौतम बुद्ध को भौतिक सुख ही प्राप्त करना होता तो राजसी ठाठ-बाट त्यागकर भीषण कष्ट उठाते हुए जंगलों में न भटकते। देशभक्त क्रान्तिकारी भगतसिंह जैसे व्यक्ति फाँसी के तख्ते पर झूलने में अपूर्व आनन्द और गर्व अनुभव करते हैं। सुभाष बोस को भौतिक सुख ही प्राप्त करना होता तो आई. सी. एस. से त्यागपत्र न देते। वस्तुतः देशभक्ति हेतु कष्ट उठाकर भी उन्हें आनन्द मिल रहा था।

4. **सुखों के गुणात्मक भेद की उपेक्षा**- बेन्थम सुख को मात्रात्मक मानता है जबकि असली सुख गुणात्मक होता है। हमें स्वादिष्ट भोजन करने तथा काव्य का रसास्वादन करने में जो आनन्द मिलता है, वह एक जैसा नहीं है। सुखों में मात्रा तथा गुण की दृष्टि से अन्तर होता है। कुछ सुख की मात्रा कम होने पर भी गुणों की दृष्टि से ऊँचे होते हैं। जैसा की सोर्ले ने लिखा है, यदि विभिन्न

सुखों में गुणात्मक भेद को स्वीकार कर लिया जाये तो उसकी सारी विचार प्रणाली अस्त-व्यस्त हो जायेगी।

5. **सुखों को मापा नहीं जा सकता**- बेन्थम ने सुखवादी मापक यन्त्र द्वारा सुख-दुःख को मापने की व्यवस्था की है, किन्तु व्यवहार में सुख-दुःख को मापा नहीं जा सकता। हमारे पास ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है जिसके द्वारा हम किसी भावना की तीव्रता की निश्चित मात्रा की किसी अन्य भावना की तीव्रता से तुलना कर सकें। तीव्रता को महत्व दिया जाये या अवधि को बेन्थम इस बारे में कुछ नहीं बताता । डेविडसन के अनुसार आठ दुःखों में से चार सुखों को घटाने की बात मूर्खता के सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकती। मेक्कून भी इस सन्दर्भ में आलोचना करते हुए लिखता है कि राजनीति में गणित वैसे ही सहायक नहीं हो सकती जैसे गणित में राजनीति सहायक नहीं हो सकती

6. **नैतिकता की उपेक्षा** -बेन्थम के दर्शन का एक बहुत बड़ा दोष नैतिकता की उपेक्षा करना है।बेन्थम भारतीय चारवाक विचारों की भाँति आनन्द को ही जीवन का एक चरम लक्ष्य मान बैठा है और उसकी दृष्टि में धर्म, नैतिकता और अन्तःकरण का कोई स्थान नहीं है। बेन्थमवादी दर्शन को स्वीकार करने का परिणाम यह होगा कि व्यक्ति अत्यंन्त अवांछनीय और हानिकर प्रवृत्तियां अपना लेंगे जिसके परिणामस्वरूप समाज में घोर अव्यवस्था और अनैतिकता उत्पन्न हो जायेगी। इस सम्बन्ध में मुरे ने लिखा है, "यदि बेन्थम के मतानुसार हम अन्तःकरण को स्वीकार नहीं करते तो नैतिक और अनैतिक कार्य का कोई भेद नहीं रहेगा, केवल उपयोगी और अनुपयोगी कार्य ही रहेंगे।"

7. **व्यक्ति और समाज की उपयोगिता के बीच सामंजस्य का अभाव** -आलोचकों के अनुसार बेन्थम अपने उपयोगिता सिद्धान्त द्वारा व्यक्ति और समाज की उपयोगिता के बीच सामंजस्य प्रस्तुत नहीं कर पाये। बेन्थम यह नहीं समझ सके कि व्यक्ति और राज्य के हितों के बीच भी संघर्ष हो सकता है। बेन्थम ने यद्यपि यह माना है कि अलग-अलग व्यक्तियों के योग से राज्य या समाज के हितों का योग प्राप्त किया जा सकता है पर यथार्थता यह है कि राज्य का हित अक्सर व्यक्ति के हित का विरोधी होता है और वह व्यक्तिगत हितों का कुल योग कभी नहीं होता। यदि व्यक्तिगत हितों को प्रधानता दी जायेगी तो वह

सत्तारूढ़मत के ही सुखों को अल्पमत पर लादना होगा। मैक्सी के अनुसार बेन्थम ने, जहाँ कहीं

मान्यताओं को आधार मानकर मनुष्य आगे बढ़ता है चाहे उसे उसमें कितने ही कष्ट क्यों न सहन करने पड़े।

8. **बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहन** -बेन्थम प्रत्येक मनुष्य के सुख पर नहीं वरन् अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख पर ध्यान देता है। इसका अप्रत्यक्ष अर्थ है कि समाज की बहुसंख्या को अल्पसंख्यक को कुचलने तथा उन पर अत्याचार करने का अधिकार है। इसका मतलब हुआ बहुसंख्यक जैसा चाहे वैसा करें। यदि इस बात को मान लिया जाये तो अत्याचारी शासक को प्रजा पर तब तक अन्याय और अत्याचार करने का अधिकार मिल जायेगा जब तक वह अपने इस कार्य की बहुसंख्या को अधिकतम आनन्द देने वाला सिद्ध कर सके। हैलोवेल के अनुसार बेन्थम का सिद्धान्त बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहित करने वाला सिद्धान्त है।

9. **साध्य से साधन का मूल्यांकन-** करने वाला सिद्धान्त बेन्थम का उपयोगिता सिद्धान्त साधन की पूर्ण उपेक्षा करता है, वह सुख रूपी साध्य (end) की ओर दौड़ता है चाहे वह कैसे ही क्यों न प्राप्त हो। प्रो. मुरै के अनुसार यदि परिणाम लाभदायक हुआ तो बेन्थमवादी सिद्धान्त के आधार पर साधनों को भी उपयोगी कहा जायेगा, जबकि घटिया साधनों से उत्तम साध्य कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता।

10. **अमनोवैज्ञानिक सिद्धान्त**- बेन्थम का सिद्धान्त मनोविज्ञान की भान्त धारणा पर आधारित है। बेन्थम मानव प्रकृति को कोरा सुखवादी मानते हुए उसकी दुर्बोध मानसिक रचना का सही रूप प्रस्तुत नहीं करता। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी तथा केवल अपने सुख के लिए प्रयत्न करने वाला मानता है। किन्तु मनुष्य स्वार्थी ही नहीं है अपितु परोपकारी भी है वह दूसरों के लिए बड़े-से-बड़े त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। एक कवि भूखा रहकर कविता का निर्माण क्यों करता है? एक मां स्वयं भूखी रहकर बच्चे को क्यों खिलाती है? सुकरात

विषपान के लिए क्यों तैयार हो गया? राम राजसी वैभव छोड़कर वन में क्यों चले गये ?

11. **मानव प्रकृक्ति का अत्यधिक सरलीकरण** -मानव प्रकृक्ति को बेन्थम ने इतना सरल कर दिया है कि वह उसको गणितीय संख्या जोड़, बाकी, गुणा और भाग द्वारा परखने का प्रयत्न करता है। वह हित, लाभ, सुख, अच्छा और प्रसन्नता शब्दों को पर्यायवाची मान लेता है; जबकि मानव प्रकृक्ति इतनी सरल नहीं है।

12. **उपयोगिता सिद्धान्त राजनीति दर्शन न होकर शासन का दर्शन है-** बेन्थम का उपयोगिता सिद्धान्त राजनीति का दर्शन न होकर शासन का दर्शन है। उपयोगिता सिद्धान्त के आधार पर उसके द्वारा जिस दर्शन का प्रतिपादन किया गया है वह शासन के कार्यों का मार्ग निर्देशन करता है लेकिन राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन नहीं करता।

13. **मौलिकता का अभाव** -आलोचकों का कहना है कि बेन्थम का उपयोगिता सिद्धान्त मौलिक नहीं था। वह फ्रांसिस हचेसन, कम्बरलैण्ड और प्रीस्टले के विचारों को अपने सांचे में ढालने का प्रयत्न करता है। यहाँ तक कि उसके दर्शन का आधार वाक्य 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' भी फ्रांसिस हचेसन से ग्रहण किया गया था। वेपर के शब्दों में, "वह अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों को पूरी तरह गले के नीचे उतार तो गया था, परन्तु उसको पचा नहीं पाया। उसने अपने ज्ञान का सिद्धान्त लॉक तथा ह्यूम से, सुख-दुःख का सिद्धान्त लवेटिस से, सहानुभूति तथा विरोध का विचार अनेक दूसरे विद्वानों से उधार लिया, अतः उसमें मौलिकता का अभाव है।"

14.7 राजनीति दर्शन में बेंथम के उपयोगिता सिद्धान्त का महत्व स (Significance of Benthem's Utilitarian Theory in Political Philosophy)

आलोचकों ने बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त को बड़ा अस्पष्ट, भान्ति उत्पन्न करने वाला तथा अभौतिक तक बतलाया है। उसके सुखवादी मापक यंत्र

को दोषपूर्ण तथा सुखवाद की मान्यता को नैतिकता की उपेक्षा करने वाला बतलाया है। कुछ आलोचकों ने तो यहां तक कह डाला है कि बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त से बहुमत को अल्पमत पर अत्याचार करने की छूट मिल जाती है; इससे व्यक्ति स्वार्थी हो जाता है और समाज का विकास अवरुद्ध हो जाता है। किन्तु ये सारी आलोचनाएँ तर्कसंगत नहीं हैं। सच्चाई यह है कि उसका सिद्धान्त बड़ा स्पष्ट लोकतान्त्रिक और कल्याणकारी राज्य की उदात्त भावना से अभिप्रेरित है। आधुनिक लोकतन्त्र प्रणाली वस्तुतः व्यवहार में बहुसंख्यकों का शासन होता है और फिर यदि बेन्थम ने 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' कह भी दिया तो कौन सी गलती कर दी। हारमोन ने ठीक ही लिखा है, "प्रत्येक लोकतान्त्रिक सरकार बेन्थम के अधिकतम व्यक्तियों के सुख की वृद्धि और दुःख के निवारण के विचार को अस्वीकार नहीं कर सकती।"

बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त के महत्व का प्रतिपादन करते हुए मैक्सी ने लिखा है, "इस सिद्धान्त ने समस्त माने हुए सिद्धान्तों को जड़ों से हिला दिया। अपने तर्क द्वारा बेन्थम ने रूढ़िवादी विचारों की प्राचीन धारणाओं को एकदम काट दिया।" मुरै के शब्दों में, "राजनीतिक सुधारक के लिए इतना सरल प्रयोग करने वाला और इतनी सत्य बातों को साथ लेने वाला अन्य कोई सिद्धान्त नहीं है।" डनिंग के शब्दों में, "समस्त संस्थाएं, परिपाटियां, रीतिरिवाज और उत्सव चाहे कितने ही अच्छे, सम्मानित और प्राचीनता पर आधारित क्यों न हों, यदि वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख की वृद्धि नहीं करते तो बेकार हैं।" विलियम एबेन्सटीन के अनुसार," उपयोगिता सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा जा सकता है कि वह मात्र मशीनी है और प्रेरणा एवं कल्पनाविहीन है इस आलोचना के बावजूद भी बेन्थम ने 18 वीं शताब्दी के किसी भी अन्य व्यक्ति से अधिक अंग्रेजी संस्थाओं के स्वरूप को बदलने का कार्य किया।" जोन्स के शब्दों में, "हम कई दृष्टियों से आज भी बेन्थम के अधिक निकट हैं।" हारमोन के अनुसार, "उपयोगितावादी विचारों के कारण ही उसे (बेन्थम) सर्वोच्च बुद्धिवाला व्यक्ति स्वीकारा जाने लगा और विश्व के विभिन्न देशों के राजनेताओं और राजाओं द्वारा उससे सलाह ली जाने लगी।"

14.8 बेन्थम : एक राजनीतिक दार्शनिक (Benthem as a Political Philosopher)

यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि बेन्थम एक राजनीतिक दार्शनिक (Political Philosopher) था। उसका प्रमुख ध्येय राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन न होकर वैधानिक एवं राजनीतिक सुधारों पर विचार प्रकट करना था। एक महान् राजनीतिक दार्शनिक की अपेक्षा उसे एक व्यावहारिक शासन-सुधारक कहना अधिक उपयुक्त है। फिर भी अपने सुधार सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करने के लिए उसने राज्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण मुद्दों पर कुछ स्फुट दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं जिनसे उसके राजनीतिक चिन्तन की झलक मिलती है। बेन्थम के राजनीतिक विचार उसकी प्रमुख कृति 'फेगमेण्ट्स ऑन गवर्नमेण्ट' में मिलते हैं। अपने विद्यार्थी जीवन में उसने ब्लैकस्टोन के व्याख्यानों के खिलाफ विद्रोह किया था और जब वे व्याख्यान प्रकाशित हुए तो उसने उनकी कटु आलोचना की। ब्लैकस्टोन ने इंग्लैण्ड के संविधान की गरिमा और इंग्लैण्ड की विधि के सम्बन्ध में जो सामान्यीकरण प्रस्तुत किये थे उन पर बेन्थम ने भयंकर प्रहार किया और इंग्लैण्ड की परिस्थितियों के सम्बन्ध में ब्लैकस्टोन ने जो भावुकतापूर्ण आशावाद जगाया था उनकी धज्जियाँ उड़ायीं। ब्लैकस्टोन के सिद्धान्तों को ध्वस्त करते हुए बेन्थम ने जिस राजदर्शन का प्रतिपादन किया उसे निम्नलिखित शीर्षकों में देखा जा सकता है:

राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी बेन्थम के विचार (Views on Origin of the State) -

उत्पत्ति के बारे में बेन्थम ने विचार किया था। बेन्थम से पूर्व राज्य की उत्पत्ति के बारे में सामाजिक संविदा सिद्धान्त का बोलबाला था। बेन्थम ने संविदा सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए उसका उग्र विरोध किया। उसने कहा कि ऐसा कोई भी संविदा (Contract) नहीं हुआ था और यदि ऐसा हुआ भी हो तो वर्तमान पीढ़ी उसे मानने के लिए बाध्य नहीं की जा सकती। संविदा सिद्धान्त से अलविदा मांगते हुए स्वयं बेन्थम ने लिखा है, "मैंने प्राथमिक संविदा छोड़ दी है और इस मिथ्या प्रलाप को आवश्यकता वाले उन व्यक्तियों के मनोरंजन के

लिए छोड़ दिया है।" इस प्रकार उसने ब्लैकस्टोन के इस सिद्धान्त को ध्वस्त कर दिया कि विधि का मूल स्रोत सामाजिक संविदा है।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में संविदा सिद्धान्त का खण्डन करने के बाद बेन्थम ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? बेन्थम आदर्शवादियों के इस मत से भी सहमत नहीं है कि हम राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि राज्य नैतिक एवं श्रेष्ठतम संस्था है तथा राज्य के आदेशों का पालन करना हम अपना नैतिक कर्तव्य मानते हैं अथवा ऐसा करने से हमारा नैतिक विकास होता है। बेन्थम के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का कारण संविदा नहीं, अपितु आज्ञा पालन की आदत है। लोगों में आज्ञा पालन की आदत इसलिए आती है क्योंकि वह उपयोगी है और सामान्य सुख तथा हित को बढ़ाने वाली है। बेन्थम के शब्दों में, "राज्य की आज्ञा-पालन से होने वाली हानि अवज्ञा से होने वाली हानि से कम है।"

इस प्रकार बेन्थम का उपयोगिता सिद्धान्त ही उसके राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों का आधार है। जब व्यक्तियों की एक संख्या आदतन एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह की आज्ञा का पालन करती है तो वे व्यक्ति राजनीतिक समाज (राज्य) की रचना करते हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य व्यक्तियों का एक योगमात्र है और उसका हित उसके घटकों के हितों के योग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। संक्षेप में, बेन्थम के लिए राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए है। राज्य व्यक्तियों के हित साधन के लिए एक साधन मात्र है। राज्य का कोई भी ऐसा हित नहीं हो सकता जो उसके घटकों (व्यक्तियों) के हितों के ऊपर हो।

गेटेल के शब्दों में, "इस सिद्धान्त ने आदर्शवादियों और प्रतिक्रियावादियों के उस रहस्यात्मक सिद्धान्त के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी जिसके अनुसार उन्होंने राज्य को अधिपुरुष का पद देने का प्रयत्न किया था।"

सम्प्रभुता सम्बन्धी बेन्थम के विचार (Views on Sovereignty)- बेन्थम राज्य की सम्प्रभुता का समर्थक है। चूँकि कानून आदेश होता है, अतः यह सर्वोच्च शक्ति का ही आदेश हो सकता है। बेन्थम की धारणा है कि राज्य का अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा का पालन लोग

स्वभावतः करते हैं। विधिक दृष्टि से बेन्थम का सम्प्रभु निरपेक्ष एवं असीमित होता है। राज्य की सम्प्रभुता पर प्राकृतिक कानून एवं प्राकृतिक अधिकार द्वारा कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता। तथापि बेन्थम का सम्प्रभु निरंकुश नहीं है। बेन्थम के अनुसार व्यक्ति उसी सीमा तक सम्प्रभु की आज्ञा का पालन और कानून की आज्ञा का पालन कर सकते हैं जिस सीमा तक वैसा करना उनके हित में लाभदायक और उपयोगी होता है। यदि सम्प्रभु के आदेश व्यक्तियों के लिए उपयोगी न हों तो उनका यह दायित्व हो जाता है कि वे उसका प्रतिरोध करें। बेन्थम के शब्दों में, "यदि अवज्ञा के सम्भावित अनिष्ट अभीष्ट से कम हों तो व्यक्ति सम्प्रभु का प्रतिरोध कर सकता है।"

बेन्थम द्वारा प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन (Benthem Rejects Theory of Natural Rights)- जिस समय बेन्थम एक विचारक के रूप में उभर रहे थे उस समय प्राकृतिक अधिकार (नैसर्गिक अधिकार) सिद्धान्त का बोलबाला था। थामस पेन तथा गॉडविन जैसे विचारकों ने प्राकृतिक अधिकारों पर बहुत बल दिया था। यह कहा जाता था कि मनुष्य को स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार प्रकृति के नियम से मिले हुए हैं। बेन्थम ने इस धारणा की खिल्ली उड़ाई। स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों की खिल्ली उड़ाते हुए उसने लिखा था, "पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से असम्भव है- पूर्ण स्वतन्त्रता प्रत्येक प्रकार की सरकार की सत्ता की प्रत्यक्ष विरोधी है। क्या सब सब मनुष्य स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं- एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है इसके विपरीत सब मनुष्य पराधीन पैदा होते हैं।" प्राकृतिक अधिकारों को उसने केवल एक प्रलाप और मूर्खता का नंगा नाच बताया। उसका कहना था कि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का विचार सामाजिक जीवन में अराजकता को, राज्य सत्ता के प्रतिरोध को स्थान दिलाता है। बेन्थम के शब्दों में, "प्राकृतिक अधिकार बकवास मात्र है, प्राकृतिक और अहस्तान्तरणीय अधिकार आलंकारिक बकवास है शब्दाडम्बरों के ऊपर की बकवास है।"

प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन करते हुए बेन्थम ने अधिकारों के सम्बन्ध में अत्यन्त सरल मान्यता का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार अधिकारों का निर्माण सामाजिक परिस्थितियों से होता है। वे ही अधिकार मान्य एवं उचित हैं

जो समाज के अधिकाधिक व्यक्ति को अधिकाधिक सुख उपलब्ध करायें । बेन्थम के शब्दों में, "अधिकार मानव के सुखमय जीवन के नियम हैं जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है।"अधिकारों के प्राकृतिक स्वरूप को अस्वीकार करते हुए बेन्थम ने उनके सामाजिक और वैधानिक स्वरूप पर बल दिया। उसने अधिकारों के दो प्रकार बतलाये (1) कानूनी अधिकार और (2) नैतिक अधिकार । कानूनी अधिकार मानव के बाह्य आचरण को और नैतिक अधिकार उसके आन्तरिक आचरण को नियन्त्रित करते हैं।

बेन्थम सिर्फ अधिकारों की ही चर्चा नहीं करता, वह कर्तव्यों पर भी बल देता है। क्योंकि बेन्थम के अनुसार कर्तव्य रहित अधिकार निष्याण और महत्वहीन हैं।

बेन्यम के शासन सम्बन्धी विचार (Views on Government) बेन्थम राज्य और शासन (सरकार) के मध्य अन्तर करता है। उसके अनुसार राज्य सम्पूर्ण जन समुदाय है, राज्य की सत्ता कानून निर्माण की अन्तिम शक्ति रखती है। सरकार राज्य के अन्तर्गत वह छोटा-सा संगठन है जो राज्य की इच्छा (कानून) तथा उद्देश्य (अधिकतुम सुख) को कार्यान्वित करता है।

बेन्थम शासन प्रणाली के प्रकार के सम्बन्ध में विशेष चिन्तित नहीं है। उसका विचार है कि शासन का कोई भी प्रकार हो, उसका आधार सिद्धान्त 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' होना चाहिए। उसने उपयोगिता की कसौटी पर विभिन्न शासन प्रणालियों की जाँच करते हुए गणतन्त्रीय शासन प्रणाली का समर्थन किया। उसके अनुसार राजतन्त्र शक्तिशाली शासन है, किन्तु उसमें राजा का हित सर्वोपरि हो जाता है कुलीनतन्त्र गुणी और अनुभवी लोगों का शासन तो है, किन्तु इसमें भी 'सर्वाधिक व्यक्तियों के सर्वाधिक सुख' के सिद्धान्त की पालना नहीं होती। गणतन्त्र में ही 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का सिद्धान्त साकार हो सकता है। अतः वह 'इस कुटिल संसार को गणतन्त्रों का जाल बिछाकर' अच्छा बनाने की आशा करता था। उसके अनुसार गणतन्त्रीय व्यवस्था इसलिए अच्छी है क्योंकि वह कुशलता, मितव्ययता और जनता की महत्ता की पोषक है। गणतन्त्र व्यवस्था में कानून बनाने का अधिकार जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में होता है, किसी एक वर्ग के हाथ में नहीं, अतः कानून

जनता के हित में बनते हैं। उसके विचार में न तो पूर्ण राजतन्त्र और न सीमित राजतन्त्र ही जनता को सर्वाधिक सुख प्रदान कर सकता है। "जब लोकतन्त्रात्मक (गणतन्त्र) शासन होता है तभी शासक और शासितों के हित एक हो जाते हैं क्योंकि तब अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख ही चरम लक्ष्य होता है।"

बेन्थम के अनुसार राज्य के कार्य (Functions of the State) बेन्थम राज्य को सामान्य सुख की वृद्धि का माध्यम समझता है तथापि उसका राज्य एक नकारात्मक (Negative) राज्य है। वह नकारात्मक इसलिए है क्योंकि यह लोगों को दण्ड-विधान द्वारा ही समाज विरोधी कार्य करने से रोकता है, जनता के नैतिक चरित्र को ऊंचा उठाना इसका कोई उद्देश्य व्यक्ति के श्रेष्ठतम गुणों का विकास करना नहीं है। दूसरे शब्दों में, बेन्थम राज्य को सकारात्मक कार्य नहीं सौंपता अतः उसका राज्य व्यक्तिवादी है। इसीलिए केटलिन उसके दर्शन को व्यक्तिवादी और लेसेज-फेरे (Laissez-faire) का सिद्धान्त कहकर पुकारता है।

कानून तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार (Views on Law and Liberty) बेन्थम के अनुसार

राज्य एक विधि निर्माता निकाय है और कानून सम्प्रभु के आदेश हैं। सम्प्रभु की इच्छा कानून के रूप में प्रकट होती है इसलिए उसका पालन होता है। वह यह भी कहता है कि कानूनों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है क्योंकि इस आज्ञा-पालन में ही उसकी और सबकी भलाई (हित) निहित है।

कानून की परिभाषा करते हुए बेन्थम कहता है, "कानून सम्प्रभु की इच्छा के आदेशों की तरह अभिव्यक्तिकरण है जिसके राजनीतिक समाज के सदस्य उसका स्वाभाविक पालन करते हैं।" प्राकृतिक कानूनों को अस्वीकार करते हुए उसने कानूनों के दो प्रकार बतलाये है- दैवी तथा मानवी। दैवी कानून रहस्यमय और ज्ञानातीत होते हैं, उनका स्वरूप भी निश्चित नहीं है। अतः मानवी कानूनों का निश्चित रूप राज्य के लिए आवश्यक है। उसने यह भी प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक कानून का आधार उपयोगिता है। यदि कोई कानून समाज का हित साधन करने में असफल रहता है तो वह कानून नहीं रहता। बेन्थम के शब्दों में,

"किसी कानून को समाप्त करने से समाज का लाभ हो और फिर भी उसे समाप्त नहीं किया गया हो तो वह कानून नहीं रह जाता।"

बेन्थम ने अपने उपयोगिता के सिद्धान्त को विधि निर्माण के लिए प्रयोग करने की सलाह दी। उसने कहा कि प्रत्येक विधि अथवा कानून को 'अधिकतम लोगों के अधिकतम हित' के उद्देश्य से ही बनाना चाहिए। उसने राजसत्ता द्वारा बनायी गयी प्रत्येक विधि की कसौटी उपयोगिता को माना है।

उसने यह भी मत प्रकट किया कि लोकतन्त्रात्मक राज्यों में विधि या कानून को सरल होना चाहिए ताकि लोग उसे समझ सकें। उसके मत में कानून का सर्वप्रमुख एवं महान् कार्य है सर्वहित की भावना, विधायक को हमेशा अपने हित की तरह राज्य हित को देखना चाहिए। इसके लिए उसे विधि निर्माण में चारों बातों पर ध्यान देना चाहिए- (1) आजीविका (Subsistence) (2) पर्याप्तता (Abundance), (3) समानता (Equality) और (4) सुरक्षा (Security)। इन चारों में संघर्ष की अवस्था में यह निर्णय करना विधायक का काम है कि प्रधानता किसे दी जाये। बेन्थम ने श्रेष्ठ कानून के छह लक्षण बतलाये है- (1) कानून जनता की आशा-आकांक्षा या विवेक बुद्ध के अनुकूल हों; (2) कानूनों का जनता को ज्ञान-इसके लिए प्रचार, जनमत निर्माण, आदि का आश्रय लेना चाहिए; (3) कानून विरोधाभासी न हों; (4) कानून सरल, स्पष्ट एवं सुबोध हों (5) कानून व्यावहारिक हों; तथा (6) कानूनों का पूर्ण रीति से पालन हो और कानून भंग के लिए दण्ड की व्यवस्था हो।

बेन्थम के अनुसार कानून सम्प्रभु के आदेश हैं, एक प्रतिबन्ध है इसलिए यह स्वतन्त्रता का विरोधी है। उसका विचार था कि व्यक्ति सुरक्षा चाहते हैं, स्वतन्त्रता नहीं। सुरक्षा के लिए कानून की आवश्यकता और कानून सम्प्रभु के आदेश हैं। "यदि स्वतंत्रता और सुरक्षा के मध्य हमें अस्प्ष्टता को मिटाना है तो स्वतन्त्रता को सुरक्षा की एक शाखा ही स्वीकार कर लेना चाहिए।"

बेन्थम फेन्च क्रान्तिकारियों द्वारा प्रतिपादित 'स्वतन्त्रता, समानता और भातृत्व' के नारे को भ्रामक मानता था। उसका स्पष्ट मत था, "सुख ही अन्तिम उद्देश्य है और स्वतन्त्रता को उसी कसौटी पर कसा जाना चाहिए। राज्य का ध्येय

अधिकतम सुख है न कि अधिकतम स्वतन्त्रता।" संक्षेप में, बेन्थम स्वतन्त्रता की अपेक्षा सुख को अधिकतम महत्व देता था। राज्य का उद्देश्य अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करना है न कि अधिकतम स्वतन्त्रता की ।

14.9 बेन्थम : एक महान् सुधारक (Benthem as a Reformer)

बेन्थम एक महान् सुधारवादी विचारक था। वह एक विधि-सुधारक था न कि राजनीतिक दार्शनिक । पोलक के अनुसार 19वीं शताब्दी में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैधानिक जितने भी सुधार हुए, उनमें से शायद ही ऐसा कोई सुधार हो जिस पर बेन्थम का प्रभाव न पड़ा हो। बेन्थम ने बहुत सारे सुधारों की सिफारिश की थी। डेविडसन के अनुसार उन सुधारों में से मुख्य ये है भ्रष्ट और सीमित संसदीय पद्धति का सुधार, नगरपालिकाओं का व्यापक सुधार, तत्कालीन अत्यन्त कठोर दण्ड विधि को नरम करना, जेल और जेल प्रबन्ध में सुधार, ऋण के लिए कारावास दण्ड का अन्त, सूदखोरी सम्बन्धी कानूनों की समाप्ति, धार्मिक परीक्षण का अन्त, दरिद्र रक्षा विधि में सुधार, स्वस्थ भिखमंगों की भिक्षावृत्ति को रोकना, राष्ट्रीय शिक्षा की एक व्यापक योजना बनाना, स्थानीय न्यायालयों को प्रोत्साहन देना, गरीबों के लिए सरकारी अधिवक्ताओं और वकीलों की नियुक्ति करना, वंशानुगत अधिकारों का व्यापक संशोधन और जन-पदाधिकारियों का प्रत्यावर्तन (Recall)। मैक्सी के शब्दों में, "यह कहने की जरूरत नहीं है कि जिन सुधारों का बेन्थम ने इतनी तत्परता और लगन के साथ समर्थन किया था उनमें से अनेक सुधार आज विभिन्न देशों में विधि का रूप पा चुके है।" केटलिन के अनुसार, "उपयोगितावाद एक राजनीतिक विचारधारा ही नहीं है प्रत्युत् यह प्रधानतः एक सुधारवादी विचारधारा है। इसके प्रतिपादक बेन्थम को एक राजनीतिक दार्शनिक मानने की अपेक्षा एक समाज-सुधारक मानना अधिक उपयुक्त होगा।"

बेन्थम द्वारा प्रतिपादित प्रमुख सुधार निम्नलिखित हैं:

शासन प्रणाली में सुधार (Reform in Governmental System) -राजनीतिक विचारों की दृष्टि से बेन्थम जनतन्त्रवादी था। उपयोगिता के सिद्धान्तानुसार

लोकसत्ता और जनतन्त्र ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। जनतन्त्र में ही सबकी स्वार्थ सिद्धि का सिद्धान्त लागू हो सकता है, राजतन्त्र इस दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुसार अल्पतन्त्र भी ठीक नहीं बैठता। वास्तव में जनतन्त्र ही 'अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख' का साधन बन सकता है। अपने समकालीन विचारकों की भाँति ब्रिटिश शासन प्रणाली की अत्यधिक प्रशंसा करने के बजाय बेन्थम ने दृढ़ता और ईमानदारी के साथ उसकी आलोचना की। उसने जनतन्त्र की सफलता के लिए सार्वभौम वयस्क मताधिकार, वार्षिक संसद, एक सदनीय व्यवस्थापिका और गुप्त मतदान पर विशेष बल दिया।

बेन्थम ने सार्वभौमिक पुरुष मताधिकार का पुरजोर समर्थन किया। इसके लिए उसने केवल यह शर्त रखी कि मताधिकार का प्रयोग करने वाला थोड़ा पढ़ा-लिखा (साक्षर) हो। उसने महिला मताधिकार पर इसलिए जोर नहीं दिया क्योंकि उसकी दृष्टि में अभी इंग्लैण्ड में इस अधिकार के उपभोग का समय नहीं आया था।

उसने कॉमन सभा के वार्षिक चुनाव आयोजित करने पर जोर दिया। उसका यह भी मत था कि संसद के सत्र अल्पकालीन हों ताकि सदस्यों को अधिक समय तक अपने निर्वाचन क्षेत्रों में रहने तथा मतदाताओं से सम्पर्क स्थापित करने में सुविधा हो सके। उसका आरोप था कि प्रचलित व्यवस्था के अन्तर्गत एक बार निर्वाचन हो जाने के बाद सांसदों का अपने निवाचन क्षेत्र से सम्पर्क टूट जाता है और तब सांसद जनता का प्रतिनिधित्व न करे अपनी न्यस्त स्वार्थों के प्रतिनिधि बन जाते हैं।

बेन्थम के युग में मतदाता स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मत का प्रयोग करने से डरते थे क्योंकि हाथ उठाकर खुले मतदान की व्यवस्था प्रचलित थी। अतः बेन्थम गुप्त मतदान के पक्ष में था। इसके अतिरिक्त लॉर्ड सभा को जो सार्वजनिक हितों के प्रति उदासीन सदन था, भंग कर देने का सुझाव भी बेन्थम ने दिया। वस्तुतः वह लार्ड सभा का समर्थक नहीं था। इसे वह धनिक वर्ग की संस्था मानता था। वह राजपद के भी विरुद्ध था और अपने समय के अंग्रेजी संविधान को धनिक वर्ग द्वारा प्रभावित राजतन्त्र (Aristocracy ridden monarchy)

कहा करता था। उसने स्वतन्त्र प्रेस की अवधारणा का भी समर्थन किया। उसके मत में बिना प्रेस की स्वतन्त्रता के सच्चे लोकमत की अभिव्यक्ति असम्भव थी।

संक्षेप में, बेन्थम का स्पष्ट मत था कि वयस्क मताधिकार द्वारा प्रतिनिधियों के ऊपर अधिकाधिक जन नियन्त्रण बना रहेगा और वार्षिक संसदीय चुनावों की व्यवस्था द्वारा नियन्त्रण और अधिक प्रभावी होगा, साथ ही प्रतिनिधियों में जनहित के निमित्त कार्य करने की प्रेरणा उत्पन्न होगी। उसके सभी सुधारों का उद्देश्य जनता का वास्तविक और प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्व कायम करना और राजनीतिक भ्रष्टाचार को रोकना था। इंगलैण्ड की शासन व्यवस्था में संसद के वार्षिक चुनावों के अतिरिक्त उक्त सभी सुधार लागू हो चुके हैं और अधिकांश लोकतन्त्रात्मक देशों में भी उनका क्रियान्वयन किया जा रहा है। लॉर्ड सभा का भले ही विघटन नहीं किया गया है तथापि आज लॉर्ड सभा की स्थिति ऐसी हो चुकी है कि उसे द्वितीय श्रेणी (गौण) का सदन ही माना जा सकता है।

विधि निर्माण के क्षेत्र में सुधार (Law Reform) बेन्थम एक महान् विधि सुधारक थे। अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड लेजिस्लेशन' (Principle of Morals and Legislation) के प्रकाशित होने पर वह विधि निर्माण एवं विधि सुधार के नये पैगम्बर बन गये। संसार के विभिन्न देशों के राजनेता व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन के लिए उनकी ओर देखने लगे।

ब्लैकस्टोन ने अंग्रेजी संविधान को दैवी इच्छा के अनुसार एक क्रमिक स्वाभाविक विकास बताते हुए इसकी बड़ी प्रशंसा की थी। बेन्थम ने सिद्ध किया कि "अंग्रेजी विधि व्यवस्था केवल दुर्बल और गरीबों को सताने वाली एक निर्लज्ज निरंकुशता थी। यह शिक्षित और शक्ति सम्पन्न लोगों को सहायता देने की व्यापक योजना थी ताकि ये लोग अज्ञानी और दलित लोगों को दबाये रख सकें।"

बेन्थम के अनुसार विधि निर्माण का उद्देश्य है- आजीविका, पर्याप्तता, समानता और सुरक्षा। सामान्य अर्थों में जनता का हित संवर्द्धन ही विधि का उद्देश्य है। बेन्थम का कथन है कि यदि विधियों का पालन कराना है तो यह

आवश्यक है कि विधि को जनता का समर्थन प्राप्त हो। बलपूर्वक कानून मनवाने और सार्वजनिक असन्तोष का परिणाम अन्ततोगत्वा क्रान्ति ही होता है। इसलिए यदि हम चाहते है कि जनता प्रसन्नतापूर्वक कानूनों का पालन करे तो जनता को विधि निर्माण की आवश्यकता सरल और स्पष्ट शब्दों में समझायी जानी चाहिए।

बेन्थम ने यह अनुभव किया कि तत्कालीन विधियाँ बहुत अस्त-व्यस्त अवस्था में थीं, अतः उनका संहिताकरण (Codification) किया जाना चाहिए। विधियों के संहिताबद्ध करने के अलावा उसने अपना ध्यान उनके स्वरूप संगठन की ओर भी दिया। बेन्थम उस अनावश्यक पारिभाषिकता और प्राविधिकता (Technicality), व्यर्थ के शब्दजाल और अप्रचलित मुख्य शब्द से चिढ़ते थे जो विधि निर्माताओं को बहुत प्रिय थी। उनका कहना था कि विधियों को सीधे-सादे, आसानी से समझ में आने वाले छोटे-छोटे वाक्यों में व्यक्त किया जाना चाहिए। विधियाँ उन लोगों के लिए सुलभ और सुगम होनी चाहिए, जिन पर उनके पालन करने का उत्तरदायित्व है।

संक्षेप में, बेन्थम ने तत्कालीन विधियों की और उन विधियों को लागू करने वाली व्यवस्था की आलोचना की, परन्तु वह केवल विध्वंसक आलोचक नहीं थे। उनका उद्देश्य मौलिक रूप से रचनात्मक था और आलोचना तो इन लक्ष्य की प्राप्ति का साधन थी। उन्होंने न केवल विभिन्न यूरोपीय देशों की विधियों की बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की भी विवेचना की और बड़े महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये । उसने अमेरिका, फ्रांस तथा भारत, आदि के लिए विधि संहिताओं के संकलन सम्बन्धी सुझाव दिये। उसने रूस के लिए भी एक विधि संग्रह तैयार किया जिससे प्रसन्न होकर जार अलेक्जेण्डर ने उसे एक हीरा भेंट किया था। सर हेनरीमेन ने उनके योगदान की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "बेन्थम के समय से लेकर आज तक ऐसा कोई भी विधि सुधार मेरी दृष्टि में नहीं आता जिस पर उनका प्रभाव न हो।"

न्याय व्यवस्था में सुधार (Reform in Judicial System) इंग्लैण्ड की तत्कालीन न्याय व्यवस्था भी अत्यन्त दोषपूर्ण थी जिसकी बेन्थम ने कटु आलोचना की। उसके अनुसार वहाँ की न्याय व्यवस्था अत्यन्त जटिल एवं

अनिश्चित थी। उसने पाया कि न्यायाधीश जिन विलम्बकारी तरीकों का उपयोग करते हैं, उनसे मुकदमों से सम्बन्धित पक्षों का खर्च अनावश्यक रूप से बढ़ जाता है और कानून की प्राविधिकता के कारण न्याय ही नहीं हो पाता है। न्याय व्यवस्था में होने वाले अनावश्यक खर्च, असाधारण देरी, अव्यवस्था और दुश्चिन्ता के कारण बेन्थम ने अंग्रेजी न्याय प्रणाली के बारे में लिखा कि "इस देश में न्याय बेचा जाता है, बहुत महँगा बेचा जाता है और वह व्यक्ति जो इसका दाम नहीं चुका सकता न्याय से वंचित रह जाता है।" न्यायाधीशों के प्रति बेन्थम के हृदय में बहुत कम श्रद्धा थी और उनकी निरंकुशता की रोकथाम के लिए वह जूरियों का बहुत समर्थन करता था। जनमत की अभिव्यक्ति हेतु न्यायिक प्रक्रिया के प्रेक्षक नियुक्त करने का प्रस्ताव भी बेन्थम ने रखा। उन्होंने ऐसा कानून स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा, जिससे न्यायिक कार्यवाही के दौरान निश्चित संख्या में नागरिकों की उपिस्थिति अनिवार्य हो। इससे इस कार्यवाही की सार्वजनिकता प्रत्याभूत होती, जबकि न्यायाधीश आवश्यक समझने पर इन नागरिकों को जिरह में तथा प्रमाणों की जाँच में भाग लेने की अनमुति देता। उसकी यह भी मान्यता थी कि विवादों का निर्णय अनेक जजों के बजाय एक जज द्वारा किया जाना चाहिए, क्योंकि इससे जज में उत्तरदायित्व की भावना पनपती है तथा न्याय के सम्मान की रक्षा की जा सकती है।

बेन्थम वकीलों की भी आलोचना करता था। उसका मत था कि वकीलों में प्रायः सत् असत् को पहचानने का ज्ञान नहीं होता तथा ये लोग अपने स्वार्थ के लिए अपने पक्षकारों का शोषण करते हैं और जनता को न्याय दिलाने की अपेक्षा उसे मूर्ख बनाते रहते हैं। वह कहता था कि ये लोग आलसी, सत् असत् का भेद करने में असमर्थ, अदूरदर्शी, जिद्दी, सार्वजनिक उपयोगिता के सिद्धान्त की परवाह न करने वाले, स्वार्थी तथा अधिकारियों के इशारों पर नाचने वाले होते हैं। अतः बेन्थम सरल, सुस्पष्ट एवं व्यावहारिक कानूनों के निर्माण किये जाने के पक्ष में था जिससे कि जनता उन्हें सरलता से समझ सके तथा वकील एवं न्यायाधीशों की निरंकुशता एवं स्वार्थपरता से अपनी रक्षा कर सकें। विचारक

14.10 दण्ड-व्यवस्था एवं जेल सुधार (Punishment and Prison Reforms)

बेन्थम के काल में फौजदारी कानून अत्यन्त कठोर था। छोटे-छोटे अपराधों के लिए मृत्यु दण्ड की सजा दी जाती थी। बेन्थम ने इसका विरोध किया। उसने कहा कि फौजदारी कानून मनुष्योचित हो तथा अपराध से अधिक कभी भी दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। अपराध का निर्णय आनन्द और पीड़ा के मापदण्ड से करना चाहिए। उसका कहना था कि दण्ड स्वयं एक बुराई है और पीड़ा का कारण है। दण्ड केवल उसी समय देना चाहिए जबकि उससे भी अधिक बड़े कष्ट का निवारण करना हो। अधिक दण्ड देने से लाभ के बदले हानि होती है। उसने दण्ड के 12 नियम और 12 ही लक्षण बतलाए ।

बेन्थम के अनुसार दण्ड देते समय चार बातों का ध्यान रखना चाहिए:

1. अपराध किस प्रकार का है? 2. परिस्थितियाँ जिनमें अपराध किया गया है।

3. अपराधी का उद्देश्य क्या है? 4.अपराध से किस प्रकार के व्यक्ति को हानि पहुँची है ?

बेन्थम के मतानुसार दण्ड निष्पक्ष होना चाहिए तथा उसके द्वारा अपराधियों को चेतावनी मिलनी चाहिए अर्थात् दण्ड को सार्वजनिक रूप से दिया जाना चाहिए। वह क्षमा के विरुद्ध था।

बेन्थम का मत था कि दण्ड से होने वाले परिणामों का अन्दाज लगाते समय अपराधी के सुधार का भी ध्यान रखना चाहिए। उसका विश्वास था कि दण्ड-व्यवस्था उचित होने पर अपराधी को सुधारा जा सकता है और उसे पुनः समाज का उपयोगी एवं सम्मानित सदस्य बनाया जा सकता है। इसी आधार पर बेन्धम ने अपराधियों के पुनर्वास के लिए अनेक महत्वपूर्ण सुधारों का समर्थन किया था, जैसे कारावास में अपराधियों को औद्योगिक शिक्षा देना। अपराधियों के दैनिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए भी बेन्थम ने एक योजना बनायी जिसको उसने "पैनोप्किन" (Panoptican) नाम दिया था। इस योजना के अनुसार कारागार की इमारतें अर्द्ध-चन्द्राकार बनाई जायें जिससे कि जेल का

अधिकारी अपने निवास स्थान से जेल की सभी कोठरियों पर भली-भाँति दृष्टि रख सके। इस योजना की मुख्य बातें थीं- सावधानीपूर्वक निरीक्षण, सहानुभूतिपूर्वक अनुशासन तथा उन्नत वातावरण। जेल के समय अपराधियों को प्रारम्भिक शिक्षा के साथ-साथ लाभप्रद व्यवसाय की भी शिक्षा देनी चाहिए। साथ ही अपराधियों के सुधार हेतु उन्हें नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए। इस प्रकार उनमें अच्छे चरित्र का निर्माण हो सकेगा और जेल से छूटने के पश्चात् वे पुनः समाज के स्वस्थ नागरिक बन सकेंगे। योजना के अनुसार कारावास से छूटने पर अपराधियों को कम-से-कम तब तक के लिए काम भी दिया जाना चाहिए जब तक कि वे जनता का पुनः विश्वास प्राप्त न कर लें।

यद्यपि बेन्थम द्वारा दिये गये सभी सुझावों को उनके जीवनकाल में कार्यान्वित नहीं किया जा सका फिर भी उनके समय से अब तक जो भी कारागारों तथा अनुतापालयों (Penitentiaries) में व्यापक सुधार किये गये और औद्योगिक विद्यालयों तथा सुधारशालाओं (Reformatories) की जो स्थापना हुई है उन सबकी प्रेरणा उन्हीं से प्राप्त हुई और उन सबका आधार वे ही सिद्धान्त है जिनको बेन्थम ने प्रतिष्ठित किया था।

14.11 राजनीति दर्शन के इतिहास में बेन्थम का योगदान (Contribution of Benthem in the History of Political Philosophy)

राजनीति दर्शन के इतिहास में बेन्थम का विशिष्ट स्थान है। उसके दर्शन की मौलिकता के बारे में सन्देह किया जा सकता है, किन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसने अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त एवं सुधारवादी योजनाओं के माध्यम से अपने युग की राजनीति को नई दिशा प्रदान की। राजनीति दर्शन की दृष्टि से बेन्थम का प्रमुख योगदान इस प्रकार है:

1. उपयोगितावादी सिद्धान्त को दार्शनिक आधार प्रदान करना उपयोगितावादी सिद्धान्त को दार्शनिक सांचे में ढालकर उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का श्रेय बेन्थम को ही है। यद्यपि बेन्थम ने उपयोगितावाद के मूल सिद्धान्त ह्यूम, हचेसन और प्रीस्टले, आदि से ग्रहण किये, किन्तु इसे व्यवस्थित रूप देने का

और राजनीतिक क्षेत्र में लागू करने का श्रेय बेन्थम को ही है। सी.एल. वेपर के अनुसार, "उपयोगितावाद का जन्मदाता डेविड ह्यूम था। प्रीस्टले, हचेसन तथा पाले ने उसकी व्याख्या की और हेल्वेटियस तथा बेकेरिया के विचारों ने उसका पोषण किया, लेकिन यह केवल बेन्थम ही था जिसने उपयोगितावादी सिद्धान्त को परिष्कृत किया तथा जिसके विचारों को लेकर एक संस्था (सम्प्रदाय) का निर्माण किया गया।"

2. राज्य एवं शासन के कल्याणकारी लक्ष्य की घोषणा बेन्थम के राज दर्शन का मूल सूत्र था

'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख।' इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए उसने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि राज्य को प्रत्येक कार्य इसी आधार को ध्यान में रखकर करना चाहिए। राज्य एवं शासन के कार्यों की यही सिद्धान्त एकमात्र कसौटी है। इसके अतिरिक्त राज्य का और कोई भिन्न नैतिक आदर्श नहीं। उसका कहना था कि राज्य एक कल्याणकारी संस्था है तथा राज्य को अपने सभी कानून व्यक्तियों के सुख को ध्यान में रखकर बनाने चाहिए। मैक्सी के शब्दों में, "बेन्थम द्वारा प्रतिपादित सुख-दुःख की कसौटी को अस्वीकार करने वाले तथा उसकी मजाक उड़ाने वाले व्यक्ति भी उसके इस सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं कर सकते कि शासन का औचित्य केवल इसी बात में है कि वह जनता को कितना प्रत्यक्ष और स्पष्ट सुख पहुँचा रहा है और उसकी कितनी सेवा कर रहा है।"

3. शासन एवं संवैधानिक व्यवस्था में सुधार बेन्थम ने शासितों के सम्मुख शासकों को उत्तरदायी बनाने के लिए कई सुधार प्रस्तावित किये, जैसे, सार्वभौमिक मताधिकार (कुछ प्रतिबन्धों के साथ), प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का अधिकार, अधिकारियों-कर्मचारियों की न्यायिक उत्तरदायिता, संसद का वार्षिक पुनर्चुनाव, आदि।

4. रूढ़िवादी संकल्पनाओं पर प्रहार करना रूढ़िवादी संवैधानिक विधिक संकल्पनाओं पर भी बेन्थम ने उतना ही तीव्र प्रहार किया जितना कि आमूल जनवादी विचारों पर। उन्होंने सामाजिक संविदा और प्राकृतिक अधिकार की

ब्लैकस्टोन द्वारा प्रस्तुत रूढ़िवादी परिभाषा की, सत्ताओं के पृथक्करण सिद्धान्त के ब्रिटिश रूपान्तर तथा 'मिश्रित' पद्धति के नाते ब्रिटिश शासन पद्धति के धर्मशास्त्रीय औचित्यकरण की आलोचना की।

5. न्यायिक प्रक्रिया में सुधार का मार्ग प्रशस्त करना ब्रिटिश न्यायिक प्रक्रिया की कटु आलोचना करते हुए बेन्थम ने न्यायिक सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। ठोस तथ्यों के आधार पर उसने यह दिखाया कि वास्तव में न्याय केवल अमीर ही पा सकते हैं, गरीबों के लिए यह पहुँच के बाहर है। बेन्थम ने 'प्राकृतिक न्यायिक कार्यविधि' की, न्यायिक कार्यवाहियों को सरल और सस्ता बनाने, न्यायालयों में राज्य द्वारा गरीबों की सहायता तथा न्यायाधीशों के कार्य पर सार्वजनिक नियन्त्रण स्थापित किये जाने सम्बन्धी योजनाएँ पेश कीं ।

6. कानूनों का संहिताकरण कानूनों के संहिताकरण पर बेन्थम द्वारा बल दिये जाने के कारण 19वीं शताब्दी में अनेक देशों में कानूनी संहिताएँ बनायी गयीं। बेन्थम ने अनेक देशों की कानूनी संहिताओं के संशोधन में योग दिया। कुछ देशों ने तो उससे इस कार्य में सहायता देने के लिए प्रार्थना की, किन्तु अनेक बार तो उसने बिना प्रार्थना के ही अपनी सेवाओं से उन्हें अनुग्रहित किया। 1811 में उसने संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए एक वैज्ञानिक विधि संहिता तैयार करने के हेतु राष्ट्रपति मैडीसन के समक्ष औपचारिक रूप से एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। आगे चलकर उसने रूस के जार और पैनसिलवेनिया के राज्यपाल के समक्ष भी ऐसा प्रस्ताव रखा। 1822 में उसने उदार विचारों की दुहाई देने वाले सभी राष्ट्रों से इस प्रकार की अपील की। उसे अपनी विधि निर्माण सम्बन्धी योग्यता में अपरिमित विश्वास था और समझता था कि मैं एक ऐसी व्यवस्था की रचना कर सकता हूँ जिससे अधिकतम संख्या का अधिकतम कल्याण निश्चित हो सके।

7. राजनीति विज्ञान में अनुसन्धान और शोध की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन राजनीति दर्शन के इतिहास में बेन्थम सम्भवतः प्रथम चिन्तक है, जिसने तथ्य, निरीक्षण, अनुसन्धान और प्रमाण पर आधारित आगमनात्मक, अनुभवात्मक, विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक पद्धति को अपनाया। उसने इस बात पर जोर दिया कि शासन संचालन के सिद्धान्त और नियम पुरानी परम्पराओं,

कल्पनावादी सिद्धान्तों और अन्तःकरण प्रेरित आदर्शों के आधार पर निर्धारित नहीं किये जाने चाहिए वरन् सोच-विचारकर एवं विषय पर उपलब्ध सारी सामग्री एकत्र कर शोध एवं अनुसन्धान के माध्यम से ही निश्चित किये जाने चाहिए। बेन्थम की इस पद्धति को आगे चलकर फेबियन चिन्तक, मार्क्स और व्यवहारवादी विचारकों ने भी अपनाया ।

8. सामाजिक विधिशास्त्र का जन्मदाता डब्ल्यू फ्रीडमैन लिखते हैं कि "बेन्थम ने विधिशास्त्र में एक नई प्रवृत्ति की नींव रखी जिसका नाम आगे चलकर समाज वैज्ञानिक विधिशास्त्र पड़ा और जो विधि का नाता निश्चित सामाजिक ध्येयों से जोड़ती है।" फ्रीडमैन बेन्थम को सीधे येरिंग से जोड़ते हैं और अन्तोक्त विधि के समाज वैज्ञानिक सम्प्रदायों से, जो पाउण्ड, जेनी, एलिख, इत्यादि के नामों से जुड़े हुए हैं।

9. लोकतन्त्र के आधार स्तम्भ को सुदृढ़ करना बेन्थम ने प्रेस की स्वतन्त्रता, गुप्त मतदान, वयस्क मताधिकार, धार्मिक सहिष्णुता, धर्म की स्वतन्त्रता, आदि का समर्थन करते हुए लोकतन्त्र को बल प्रदान किया।

14.12 बेन्थम के विचारों का प्रभाव (Impact of Benthem's Political Ideas)

बेन्थम के विचारों की कई आधारों पर आलोचना की जाती है। आलोचकों के अनुसार उसके विचारों में मौलिकता का अभाव है, उसका सुखवादी मापक यन्त्र त्रुटिपूर्ण है, वह मूलतः राजनीतिक चिन्तक न होकर सुधारक है, उसने स्वतन्त्रता और समानता को उचित महत्व नहीं दिया। वेपर ने तो यहाँ तक कहा है कि "बेन्थम एक महान् दार्शनिक नहीं था, यद्यपि यह एक विडम्बना है कि वह दर्शन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।" कार्लायल ने बेन्थम के सुखदायी दर्शन को 'सुअरों का दर्शन' कहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि सुख तथा आनन्द के मध्य बेन्थम स्पष्ट भेद नहीं कर पाया।

वेपर के अनुसार बेन्थमवाद ने राजनीतिक दर्शन को मध्ययुगीन राजनीतिक मुख्य शब्द से मुक्त किया है। मैक्सी के अनुसार, "अपने निर्भय तर्क द्वारा बेन्थम ने रूढ़िवादी विचार की प्राचीन धारणाओं को विचलित कर दिया।" विधिशास्त्र पर बेन्थम के प्रभाव की तुलना आर्थिक चिन्तन पर एडम स्मिथ के प्रभाव से की जाती है और उन्हें विधिशास्त्र का 'न्यूटन' कहा जाता है। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के शब्दों में, बेन्थम के बहुत से विचार सर्वमान्य चिन्तन का अंश बन गये। हालेवी के अनुसार, "बेन्थम ने उपयोगिता के सिद्धान्त में एक वैज्ञानिक नियम, एक क्रियाशील प्रशासक, वास्तविकता और औचित्य की खोज की।" उसने राजनीतिक कल्पनावाद के स्थान पर राजनीतिक यथार्थवाद की परम्पराओं को पुष्ट किया तथा राज्य विज्ञान को अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख सिद्धि का उद्देश्य लेकर कार्य करने वाली उपयोगितावाद की व्यावहारिक विचारधारा प्रदान की। बेन्थम के विचारों का प्रभाव शीघ्र ही ब्रिटिश राष्ट्र की सीमाओं से बाहर फैलने लगा। अपने समय के बौद्धिक दिग्गजों पर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ा। जेम्स मिल, जॉन ऑस्टिन, जॉन स्टुअर्ट मिल उसकी ही बौद्धिक विरासत हैं। "इंग्लैण्ड में प्रत्यक्षवादी विश्लेषणात्मक न्यायशास्त्र के प्रवर्तक जॉन ऑस्टिन अपने नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोणों में बेन्थम के अनुयायी थे। "फेंच क्रान्ति में उसने सक्रिय दिलचस्पी दिखलायी और उसकी विधान सम्बन्धी रचनाओं का 1802 में मिराबू के सचिव एतीमीद्यूमों ने फेंच भाषा में अनुवाद किया। फ्रान्सीसी सभा की प्रक्रिया बहुत कुछ बेन्थम द्वारा तैयार की गयी रूपरेखा पर आधारित थी। मिराब ने अपने भाषणों में उसके अनेक राजनीतिक और विधिक प्रस्तावों को प्रस्तुत किया और 1792 में पेन के साथ-साथ बेन्थम को भी 'फ्रान्स का नागरिक' बना दिया गया। बेन्थम के विचारों का रूस, पुर्तगाल, स्पेन और दक्षिणी अमेरिका के देशों में व्यापक प्रचार हुआ। सुप्रसिद्ध भारतीय गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैटिंक बेन्थम का परम प्रशंसक था। गवर्नर जनरल पद पर जब उसकी नियुक्ति हुई तो उसने बेन्थम को लिखा था, "वास्तव में भारत का गवर्नर जनरल बनकर मैं नहीं जा रहा हूँ, किन्तु आप जा रहे हैं।" आगे चलकर बैंटिक ने ही भारत में सती प्रथा के उन्मूलन, कानूनों के संहिताकरण, आदि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण

सुधार किये। बेन्थम के प्रभावों का वर्णन करते हुए हैजलिट् ने बड़ा ही सुन्दर लिखा है, "उसका नाम इंग्लैण्ड में बहुत ही कम व्यक्ति जानते हैं, योरोप में इससे अधिक व्यक्ति जानते हैं किन्तु चिली के मैदानों में और मैक्सिको की खानों में उसका नाम सबसे अधिक लोग जानते हैं।"

14.13 सार-संक्षेप

बेन्थम का उपयोगितावाद इस विचार पर आधारित है कि "अच्छाई" और "बुराई" को सुख और दुख की मात्रा से मापा जा सकता है। उन्होंने नैतिकता को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा और तर्क दिया कि समाज के लिए वे नीतियां और कार्य सबसे उपयोगी हैं, जो अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख लाती हैं। बेन्थम का उपयोगितावाद नैतिकता और राजनीति में एक व्यावहारिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उनका दर्शन समाज में अधिकतम सुख और न्यूनतम दुख सुनिश्चित करने पर केंद्रित है। उनके विचार आधुनिक विधिक और सामाजिक सुधारों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने।

14.14 मुख्य शब्द

1. **Utilitarianism (उपयोगितावाद):** नैतिकता और नीतियों का मूल्यांकन उनके परिणामस्वरूप होने वाले सुख और दुख के आधार पर करना।

2. **Hedonic Calculus (सुख गणना):** सुख और दुख को मापने का वैज्ञानिक तरीका।

3. **Greatest Happiness Principle:** अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख सुनिश्चित करना।

4. **Utility (उपयोगिता):** किसी नीति या कार्य का वह गुण जो सुख को बढ़ाए या दुख को घटाए।

14.15स्व - प्रगति परिक्षण प्रश्न

उपयोगितावाद का जनक किसे माना जाता है-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(अ) जे.एस. मिल

(ब) बेन्थम

(स) जेम्स मिल

(द) जॉन लॉक

2. सुखवादी मापक यंत्र की चर्चा करने वाला विचारक-

(अ) जे.एस. मिल

(ब) मेकियावेली

(स) बेन्थम

(द) रूसो

3. "सुख की मात्रा समान होने पर पुशपिन और कविता का रसास्वादन दोनों एक ही कोटि के आनन्द हैं।" यह कथन किसका है-

(अ) बेन्थम

(ब) टी.एच. ग्रीन

(स) जे.एस. मिल

(द) रूसो

4. 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' किसका विचार है-

(अ) अरस्तू

(ब) कार्ल मार्क्स

(स) लॉक

(द) बेन्थम

5. बेन्थम के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का कारण है-

(अ) संविदा

(ब) शक्ति सिद्धान्त

(स) आज्ञा पालन की आदत

(द) पाप

6. किस विचारक के प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन किया है-

(ब) लॉक

(अ) बेन्थम

(स) हॉब्स

(द) उपर्युक्त सभी ।

14.16 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

1. (स), 2. (ब), 3. (अ), 4. (द), 5. (ब), 6. (अ),

14.17संदर्भ ग्रंथ

- शर्मा, आर. एस. (2018). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सिंह, उपिंदर. (2019). *प्राचीन भारत में राजनीति और शासन*. नई दिल्ली: पेंगुइन रैंडम हाउस.
- ठाकुर, विनय. (2020). *भारतीय राजनीतिक विचार: प्राचीन से आधुनिक तक*. नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशंस.
- मिश्रा, सुधीर कुमार. (2021). *प्राचीन भारतीय राज्यcraft और प्रशासन*. वाराणसी: ज्ञान भारती प्रकाशन.

- वर्मा, अरुण कुमार. (2022). *भारत का राजनीतिक दर्शन: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य*. जयपुर: साहित्य सदन.
- चौधरी, प्रीति. (2023). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएं और उनके सिद्धांत*. पटना: विद्या विहार पब्लिकेशंस.
- दास, मनीषा. (2024). *भारतीय राजनीतिक विचारकों का योगदान*. कोलकाता: यूनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता प्रेस.

14.18 अभ्यास प्रश्न

1. बेन्थम के उपयोगितावाद के आधारभूत सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिए।

2. "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण वह धुरी है जिसके चारों ओर बेन्थम के राजनीतिक विचार चक्कर काटते हैं।" विवेचना कीजिए।

3. राजनीतिक चिंतन के इतिहास में बेन्थम के योगदान का विवेचन कीजिए।

इकाई 15

जे.एस. मिल

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 जे. एस. मिलः जीवन परिचय

15.4 जॉन स्टुअर्ट मिल की कृतियाँ

15.5 मिल का उपयोगितावाद बेन्थम का संशोधित संस्करण

15.6 मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

15.8 मिल की प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी अवधारणा

15.9 मिल के प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी विचारों की आलोचना

15.10 सार संक्षेप

15.11 मुख्य शब्द

15.12 संदर्भ सूची

15.13 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

15.14 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

15.15 अभ्यास प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

जे. एस. मिल उपयोगितावाद का अन्तिम समर्थक और व्यक्तिवाद के अग्रणी विचारकों में से था। उसने उपयोगितावादी दर्शन को एक नयी दिशा प्रदान की। यह सच है कि राजनीति दर्शन के इतिहास में जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) की गणना अग्रिम पंक्ति के विचारकों में नहीं होती, फिर भी उसके विचारों के अध्ययन के बिना राजनीति दर्शन का हमारा ज्ञान अधूरा है। चाहे विद्वानों की आकाश गंगा में मिल का नाम हाशिये पर आता हो लेकिन विख्यात कृति 'ऑन

लिबर्टी' (स्वतन्त्रता पर निबंध) ने उसको विश्व के स्वतन्त्रता पसन्द करोड़ों लोगों के हृदय का सम्राट बना दिया है। वेपर के अनुसार विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लिखे इस अद्‌वितीय एवं ओजस्वी निबन्ध ने मिल को दुनिया के लोकतन्त्र समर्थकों के बीच सम्माननीय स्थान प्रदान कर दिया है।

15.2उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के द्‌वारा विद्‌यार्थियों को समाज ,व्यक्ति ,अभिव्यक्ति ,स्वतंत्रता के बारे में बताया जाएगा

1.व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन: समाज में व्यक्तियों की अभिव्यक्ति और स्वतंत्रता की रक्षा करना।

2. सामाजिक सुधार: महिलाओं की समानता और मताधिकार के अधिकार के लिए लड़ाई।

3. उपयोगितावाद को उन्नत करना: इसे अधिक मानवीय और उदार दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करन

4. नैतिकता और स्वतंत्रता का समन्वय: व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समाज के कल्याण में संतुलन स्थापित करना।

5. लोकतंत्र और शिक्षा का प्रसार: लोकतांत्रिक मूल्यों और व्यापक शिक्षा को बढ़ावा देना।

15.3 जे. एस. मिल: जीवन परिचय

जॉन स्टुअर्ट मिल उपयोगितावाद का अन्तिम समर्थक और व्यक्तिवाद के अग्रणी समर्थकों में से था। उसका जन्म लन्दन में 20 मई, सन् 1806 को हुआ था। उसके पिता जेम्स मिल एक प्रसिद्‌ध इतिहासकार एवं उपयोगितावादी विचारक थे। अपने बच्चों की शिक्षा के बारे में उनके विचार कुछ विलक्षण ही थे।

जॉन को उसके पिता घर पर ही कठोर क्रिन्तु शुष्क वातावरण में पढ़ाया करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि तीन वर्ष की अवस्था में ही उसे ग्रीक भाषा

की शिक्षा दी गयी और आठ वर्ष की आयु में उसे गणित और अंग्रेजी की उच्च शिक्षा मिलने लगी। बचपन में जब खेलने-कूदने के दिन होते हैं, मिल ने प्लेटो, हेरोडोटस, जेनोफन और ल्यूशियन का अध्ययन पूरा कर लिया था। साथ ही साथ उसने लेटिन भाषा भी सीख ली। जॉन के पिता अपने पुत्र को एक तेजस्वी विद्वान बनाना चाहते थे। एकान्त प्रिय मिल अध्ययन में इस तरह निमग्न रहता था कि यदि कोई उससे मिलने आता तो वह उसे या तो अपना शत्रु समझता या अपिरिचित। उसका मन बहलाने के लिए उसके पिता ने उसे फ्रांस भेज दिया जहाँ वह जेरेमी बेन्थम के भाई सर सेमुअल बेन्थम के पास रहा। फ्रांस में मिल नदियों के किनारों, सागर के तटों और पहाड़ों की वादियों में घूमता रहा। पहली बार उसने जीवन में प्राकृक्तिक सौन्दर्य की छटा को निहारा, उसे वनस्पति शास्त्र और प्राणी शास्त्र के अध्ययन में गहरी दिलचस्पी उत्पन्न हुई। फ्रांस केि प्राकृक्तिक सौन्दर्य और ताजी हवा के झोकों ने उसके रुग्ण मन में एक नई मस्ती बिखेर दी। इंग्लैण्ड वापस लौटने पर मिल फिर किताबों की दुनिया में खो गया। उसे इन्हीं दिनों बेन्थम की पुस्तक 'कानून के सिद्धान्त' पढ़ने को मिली। उसने इस पुस्तक के बारे में अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है, "इस पुस्तक के अध्ययन से मेरे जीवन में और मानसिक विकास में नवयुग का श्रीगणेश हुआ।" सोलह वर्ष की उम्र में मिल एक प्रौढ़ विद्वान बन चुका था। सन् 1830 में मिल का परिचय एक अत्यन्त प्रतिभाशालिनी एवं मेधावी श्रीमती हेरियट टेलर नामक उच्च वर्गीय महिला से हुआ। श्रीमती टेलर के सम्पर्क से मिल के बौद्धिक संकट का अन्त हो गया। उसने टेलर से विवाह कर लिया। श्रीमती टेलर के कारण ही मिल के विचारों में मानवीयता की संवेदनशीलता प्रस्फुटित होने लगी। वह उसे स्वयं से बड़ी विचारक और कार्लाइल से महान् कवियित्री जान पड़ी। अपनी पुस्तक 'स्वतन्त्रता' पत्नी को समर्पित करते हुए मिल ने लिखा है, "मेरे विचारों में जो सर्वोत्तम है, वह उसकी प्रेरक है तथा आंशिक रूप में उसकी लेखिका भी।" सन् 1852 में श्रीमती टेलर का निधन हो गया जो मिल के लिए बहुत बड़ा आघात था। वह पुनः किताबों की दुनिया में खो गया। एक विद्वान और विचारक के रूप में उसे अब अपूर्व यश प्राप्त हो चुका था। उसकी लोकप्रियता का लाभ उठाने में राजनीतिक दल भी पीछे नहीं

थे। सन् 1866 में वेस्टमिनिस्टर क्षेत्र से उसे कॉमन सभा का चुनाव लड़ाया गया। उसने संसद में महिला मताधिकार, अल्पमत प्रतिनिधित्व तथा खुले मतदान का प्रबल समर्थन किया। उसके भाषणों को सुन कर प्रधानमन्त्री ग्लेडस्टन ने कहा था, "जॉन मिल जब भाषण दे रहे थे, तो मेरे मन में बार-बार यह भावना जाग्रत हो रही थी, जैसे मैं किसी सन्त की बातें सुन रहा हूँ।" रूढ़िवादी अंग्रेजों को उसके प्रगतिशील विचार पसन्द नहीं आये और जब तीन वर्ष बाद कॉमन सभा के पुनः चुनाव हुए तो वह हार गया। सन् 1873 में मिल का निधन हो गया।

15.4 जॉन स्टुअर्ट मिल की कृतियाँ (Works of John Stuart Mill)

जॉन स्टुअर्ट मिल के जीवन की कहानी अध्ययन, चिन्तन और लेखन की कहानी है। 1834 से 1840 तक वह 'लन्दन रिव्यू' का सम्पादक रहा। इस पत्रिका का नाम बाद में 'लन्दन एण्ड वेस्टमिनिस्टर रिव्यू' कर दिया गया। मिल ने इस पत्रिका के सम्पादन में अपनी विद्वता एवं लेखन प्रतिभा का परिचय दिया। उसने अनेक महत्वपूर्ण लेख लिखे, जिसके कारण एक तर्कशील विद्वान के रूप में उसे बहुत प्रसिद्धि मिली।

उसकी पुस्तकों का प्रकाशन क्रम सन् 1843 से प्रारम्भ हुआ जो 1873 में उसकी मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष तक चलता रहा। उसकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित है-

1. सिस्टम ऑफ लॉजिक

[System of Logic]

2.दी प्रिन्सिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी

[The Principles of Political Economy]

3. ऑन लिबर्टी

[On Liberty]

4 कन्सीडेरेशन ऑफ रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट

[Consideration of Representative Government]

5. यूटिलिटेरियानिज्म

[Utilitarianism]

6. थाट्स ऑन पॉर्लियामेन्टरी रिफार्म्स

[Thoughts on Parliamentary Reforms]

7. दि सबजेक्शन ऑफ विमैन

[The Subjection of Women]

8. ऑटोबायोग्राफी

[Autobiography]

एसेज ऑन रिलिजन

[Essays on Religion]

15.5 मिल का उपयोगितावाद बेन्थम का संशोधित संस्करण (Mills Utilitarianism: Revised Edition of Benthemism)

जे. एस. मिल ने राजनीति दर्शन की शिक्षा बेन्थम से ही पायी थी। उसका पिता बेन्थम का परम भक्त था। जब मिल पहली बार एक बालक के रूप में बेन्थम से मिला तो उसके पिता ने बेन्थम का परिचय कराते हुए कहा था, "यह बालक बड़ा होकर आपके विचारों को आगे बढ़ाएगा।" यह भविष्यवाणी सही

निकली और जॉन मिल बेन्थम के उपयोगिता सिद्धान्त का अनुयायी बन गया। उसने स्पष्ट स्वीकार किया कि "मुझे उपयोगितावाद में एक धर्म, एक दर्शन, एक विश्वास मिला है।"

वस्तुतः मिल ने अपना चिन्तन एक बेन्थमवादी के रूप में आरम्भ किया था। बेन्थम के सिद्धान्त में भावनात्मक (ऐन्द्रिय) और तर्क बुद्धि संगत संज्ञान के अनुपात से असन्तुष्ट मिल 1826-1827 में एक नैतिक संकट से गुजरे और

इसके साथ ही बेन्थमवाद से उनका अन्तर आरम्भ हुआ। मिल उपयोगितावाद का परम्परावादी समर्थक न रह सका और वह उसका संशोधक बन गया। मुख्यतः इसके दो कारण थे प्रथम कारण उसका मानसिक संकट था। बीस वर्ष की आयु में उसने बेन्थम के ग्रन्थ 'साक्ष्य की उत्पत्ति '(Rationale of Evidence) का सम्पादन किया था। इस कार्य में उसे इतना अधिक मानसिक परिश्रम करना पड़ा कि उसके शरीर की स्नायु व्यवस्था निष्क्रिय सी हो गयी। इस बीमारी से उसे बेन्थम के सुखवाद के इस विरोधाभास का ज्ञान प्राप्त हुआ कि यदि सुख को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने का प्रयास किया जाये तो वह प्राप्त नहीं होता, किन्तु यदि अन्य वस्तुओं की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाये तो परोक्ष रूप से सुख हमें प्राप्त हो जाता है। साथ ही उसे यह भी आभास हुआ कि बुद्धि के पीछे दौड़ने से उसके व्यक्तित्व का रागात्मक (भावनात्मक) पक्ष प्रायः सूखा रह गया है। वर्डसवर्थ की कविताओं तथा कॉलरिज के विचारों से मिल को इस सम्बन्ध में बड़ी सांत्वना प्राप्त हुई। कालान्तर में मिल ने तार्किक क्रियाओं के परिणामों के सत्यापन का मापदण्ड भावना को ही बनाया। दूसरा कारण था मिल का सन् 1830 में श्रीमति हेरियट टेलर से परिचय होना जो बाद में उसकी पत्नी बन गयी। इस प्रेम सम्बन्ध ने मिल की रागात्मक प्रवृत्ति को खूब पोषित किया तथा श्रीमती मिल ने उसके संशोधित उपयोगितावाद के निर्धारण में पूर्ण सहयोग दिया। बेन्थमवाद से विच्छेद का कारण बताते हुए मिल ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा: "निस्सन्देह यह मेरा विश्वास कभी विचलित नहीं हुआ कि सुख ही आचार-व्यवहार के सभी नियमों का मापदण्ड तथा जीवन का ध्येय है। किन्तु, अब मैं सोचता था कि इस ध्येय की प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि इसे सीधा ध्येय न बनाया जाये। मैं सोचता था कि वही लोग सुखी है जिन्होंने अपने सुख को नहीं बल्कि किसी अन्य वस्तु को अपने जीवन का ध्येय बनाया है, जैसे कि दूसरों के सुख को, मानव जाति के कल्याण को, किसी कार्य अथवा हेतु को, जिसे वे साधन नहीं, बल्कि अपने आप में एक आदर्श ध्येय मानते है।

मिल के समय में उपयोगिता को केवल भौतिक सुखवाद का दर्शन मानकर कार्लायल जैसे अनेक विद्वान उस पर तीव्र प्रहार करने लगे थे। अतः मिल ने

यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उपयोगितावाद केवल भौतिक सुखवाद का समर्थन नहीं करता। उसने कुछ अन्य सुखों को उच्च कोटि का और कुछ को निम्न कोटि का सिद्ध किया। आलोचकों के अनुसार इस प्रकार जे. एस. मिल ने उपयोगितावाद के ढाँचे हेतु नवीन क्षेत्र प्रदान किया और आधार को दुर्बल बना दिया।"

मैक्सी के शब्दों में, "मिल की उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा में बेन्थम की धारणाओं का बहुत कम अंश रह गया।" वेपर ने लिखा है कि "मिल उपयोगितावाद की, की गयी निन्दाओं से उसके बचाव करने के प्रयल में सम्पूर्ण उपयोगितावादी स्थिति के विपरीत चला गया।"

मिल द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में किये गये संशोधन- जे.एस मिल ने अपनी पुस्तक 'यूटिलिटेरियानिज्म' (Utilitarianism) में उपयोगितावाद का संशोधित विचार दर्शन प्रस्तुत किया है। यह उसके नवचिन्तन का परिणाम है जिसमें वह सुखों के गुणात्मक अन्तर की विवेचना करता है। मिल के अनुसार कुछ सुख दूसरे सुखों से श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए कुछ विशिष्ट प्रकार के सुखों की, दूसरे सुखों की अपेक्षा, इच्छा करना उचित है। मिल भौतिक सुखों के साथ-साथ नैतिक सुखों पर भी बल देता है। मिल के अपने शब्दों में, "इस तथ्य को स्वीकार करना उपयोगितावाद के सिद्धान्त के अनुरूप है कि अन्य सुखों की अपेक्षा कुछ सुख अधिक वांछनीय एवं महत्वपूर्ण होते हैं जबकि अन्य वस्तुओं का मूल्यांकन करने में मात्रा के साथ-साथ गुण का भी विचार किया जाता है तो केवल मात्रा को ही सुखों के मूल्यांकन का आधार मानना निरी मूर्खता है।"

इस प्रकार मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त में संशोधन कर दिया जिससे मूल दर्शन में ही आधारभूत परिवर्तन हो गया। जे. एस. मिल ने उपयोगितावाद में जो संशोधन किया, उस सम्बन्ध में प्रो. आशीर्वादम् ने लिखा है कि "उसने बेन्थम की कठोर नैतिक मान्यताओं को नम्र बना दिया परन्तु ऐसा करके उसने उपयोगितावाद को अधिक मानवीय परन्तु साथ-साथ ही कम स्थिर और कम दृढ़ बना दिया।" मिल ने स्वयं कहा, "मैं पीटर हूँ जो अपने स्वामी को स्वीकार नहीं करता।" मिल द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में निम्नलिखित संशोधन किये गये-

1. **सुखों में गुणात्मक भेद -** बेन्थम सुखों में मात्रात्मक भेद मानता था किन्तु मिल ने उनमें गुणात्मक अन्तर भी माना। बेन्थम के अनुसार, "सब सुख समान हैं अतः खेलने में उतना ही आनन्द आता है जितना काव्य पाठन में ।" (Quality of pleasure being equal, Pushpin is as good as poetry)। मिल ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि सुख में केवल मात्रा का ही नहीं वरन् गुण का भी भेद होता है। इसके पक्ष में उसने बताया कि जिन लोगों को उच्चस्तरीय और निम्नस्तरीय दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव है, वे उच्चस्तरीय सुखों को निम्नस्तरीय सुखों की अपेक्षा अधिक चाहते हैं। मिल के अनुसार, शारीरिक आनन्द से बौद्धिक आनन्द उत्कृष्ट हैं, इससे मानसिक शान्ति मिलती है तथा ये अधिक स्थायी एवं सुरक्षित होते हैं।

इस प्रकार मिल ने सुख को गुण की दृष्टि से उच्च तथा निम्न बतलाया। सुसंस्कृत लोगों को जिन बातों से सुख मिलता है वह मूढ़ लोगों के सुख से उच्च है। यदि विद्वान असन्तुष्ट है तो वह सन्तुष्ट मूढ़ से कहीं अधिक अच्छा है। मिल के शब्दों में "एक सन्तुष्ट सूअर होने की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मनुष्य होना अधिक अच्छा है। और एक सन्तुष्ट मूर्ख बनने की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात (बुद्धिमान सुकरात) होना अधिक श्रेष्ठ है, और यदि उस मूर्ख या सूअर की राय इससे भिन्न है तो वह इसलिए कि वह प्रश्न के केवल एक पहलू अपने पहलू को ही देखता है।"

मिल ने यद्यपि सुखों में गुणात्मक अन्तर बताकर उपयोगितावाद को निरा भौतिक सुखवाद मानकर उसकी आलोचना करने वालों का मुँह बन्द कर दिया, किन्तु ऐसा करने में मिल उपयोगितावाद के केन्द्रीय विचार से काफी दूर चला गया। उपयोगितावाद के अनुसार, मनुष्य के जीवन का सर्वोपरि उद्देश्य सुख प्राप्त करना है, अत: मिल के अनुसार सुखों में गुणात्मक अन्तर मान लेने का अर्थ होगा कि मानव जीवन का उद्देश्य उपयोगिता नहीं वरन कोई अन्य तत्व है। इस प्रकार मिल ने सुखवाद के आधार मात्रात्मक की अपेक्षा गुणात्मक बतलाकर बेन्थमवाद को खण्डित किया है।

2. **सुखों को मापा नहीं जा सकता** - सुखों में गुणात्मक अन्तर बताकर मिल ने यह भी स्वीकार किया है कि सुखों की नाप-तौल नहीं की जा सकती। सुखों की

मात्रात्मक नापतौल असम्भव है, क्योंकि दो सुखों अथवा दुःखों में कौनसा सुख अथवा दुःख तीक्ष्ण अथवा रोचक है इसका निर्णय उन्हीं लोगों द्वारा किया जा सकता है जिन्होंने दोनों ही प्रकार के सुखों एवं दुःखों का अनुभव किया है। मिल के अनुसार सुख की श्रेष्ठता या उपयोगिता को जाँचने का तरीका केवल विद्वानों की सम्मति हो सकती है। ज्ञानी व्यक्ति जिन्हें विभिन्न सुखों की अनुभूतियों का ज्ञान है, वही सुखों की श्रेष्ठता अथवा उपयोगिता तथा उनकी निम्नता के सम्बन्ध में निर्णय दे सकते हैं। विद्वानों के निर्णय को ही सुखों के अच्छे-बुरे होने का एकमात्र प्रमाण मानना चाहिए। इस प्रकार मिल बेन्थम द्वारा प्रतिपादित सुख-दुःख की माप-तौल (Felicific calculus) को गलत सिद्ध करता है।

3. **उपयोगितावाद का आधार नैतिकता** -बेन्थम के उपयोगितावादी दर्शन में नैतिक चेतना, कर्तव्य की भावना, नैतिक बन्धन आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। उसके अनुसार व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य भौतिक आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वह सभी चीजों को केवल भौतिक सुख की प्राप्ति में सहायक या बाधक के रूप में देखकर उन्हें अच्छा या बुरा बताता है, नैतिक आधार पर वह चीजों को नहीं देखता। मैक्सी ने इसीलिए कहा था कि "बेन्थम ने राजनीति को नीतिशास्त्र से उसी प्रकार पूरी तरह अलग कर दिया जिस प्रकार मेकियावेली ने किया था।" किन्तु मिल का विश्वास था कि मनुष्य की चेतना के निर्माण में प्रेम, सहानुभूति, धार्मिक भावना तथा आत्मोत्सर्ग की प्रवृत्ति आदि का भी योग रहता है। उसकी यह भी मान्यता थी कि कर्तव्य की भावना वैयक्तिक अधिकारों तथा निजी स्वार्थों से व्युत्पन्न नहीं हो सकती। वस्तुतः मिल ने अन्तःकरण से उद्भूत कर्तव्य भावना को जीवन में प्रधान मानकर उपयोगिता को नैतिकता पर आधारित करने का प्रयास किया। अन्तःकरण का प्रधान गुण है अन्य लोगों

के सुखों की वृद्धि तथा उनके दुखों का ह्रास वाहना। इस सिद्धान्त द्वारा मिल ने बेन्थमीय उपयोगितावादी दर्शन को नैतिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया। मिल के हाथों में उपयोगितावादी दर्शन पूर्णतः व्यक्तिगत आचार का दर्शन बन गया। मिल के शब्दों में, "नजारथ के जीसस (ईसा मसीह) के स्वर्णिम नियम में हमें उपयोगिता के आचार-शास्त्र की पूर्ण आत्मा के दर्शन

होते हैं। दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ करें और अपने पड़ौसी से उसी भाँति प्यार करो जैसा कि तुम स्वयं से करते हो ये नियम उपयोगितावादी नैतिकता के आदर्श की, पूर्ण पराकाष्ठा है।" इस प्रकार मिल उपयोगितावाद के भौतिक एवं राजनीतिक पहलुओं से हटकर व्यक्तिगत सदाचार के क्षेत्र में प्रवेश कर गया है। मैक्सी लिखता है कि "बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त भेड़ियों के समाज में भेड़ियेपन को प्रतिष्ठित करेगा, सन्तों के समाज में सन्तपन को महत्व प्रदान करेगा। मिल इस बात पर दृढ़ था कि समाज चाहे जैसा हो सन्तपन ही उपयोगिता को कसौटी होना चाहिए।"

4. व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक हित मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में एक अन्य संशोधन किया। बेन्थम ने व्यक्तिगत एवं सामाजिक हित में सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से दण्ड भय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसका मत था कि दण्ड भय के कारण व्यक्ति को बुरे एवं सामाजिक कार्य करने से रोका जा सकता है। उसने चार प्रकार के दण्डों भौतिक दण्ड, राजनीतिक दण्ड, नैतिक दण्ड, धार्मिक दण्ड का उल्लेख भी किया। निश्चय ही इन चारों प्रकार के दण्डों के भय से व्यक्ति अच्छे आचरण करने के लिए बाध्य किया जा सकता है किन्तु मिल इन्हें केवल बाह्य बन्धन मानता है। स्वार्थ और सार्वजनिक सुख के अन्तर को कम करने में मिल की मान्यताएँ बेन्थम से भिन्न हैं। मिल कहते हैं कि 'उपयोगिवादी मानदण्ड व्यक्ति का अधिकतम सुख न होकर अधिकतम सामूहिक सुख है।' बेन्थम द्वारा प्रतिपादित चारों बाह्य भयों अथवा अनुशास्तियों (External Sanctions) को मिल, व्यक्तियों में एकता स्थापित करने की दृष्टि से कृत्रिम एवं अस्थायी मानता था। मिल का स्पष्ट मत था कि बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार की अनुशास्तियों द्वारा ही व्यक्ति को सार्वजनिक सुख की वृद्धि के लिए विवश किया जा सकता है। वास्तव में, मिल आन्तरिक दण्ड भय को, जिसे उसने अन्तःकरण के नाम से सम्बोधित किया है, अधिक स्वाभाविक एवं शक्तिशाली मानता था। उसके मतानुसार, प्रत्येक व्यक्ति में 'मानव जाति के सुख की भावना रहती है और इसलिए उसे सार्वजनिक सुख के लिए उत्सुक होना चाहिए और उसे बढ़ाना चाहिए। उसका तर्क था कि 'चूँकि'

'अ' सुख कल्याणकारी है, 'ब', 'स' आदि का भी सुख कल्याणकारी है, अतः इन सब सुखों का योग भी अवश्य ही कल्याणकारी होगा।' इस प्रकार मिल ने, व्यक्ति को श्रेष्ठ एवं नैतिक प्राणी बताकर तथा उसे समाज के प्रति कर्तव्योन्मुख रहने के लिए प्रेरित करके, स्वार्थ और सार्वजनिक सुख के अन्तर को कम करने का प्रयास किया।

5. स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में अन्तर वेन्थम के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त को भी मिल नेसंशोधित किया। बेन्थम के अनुसार स्वतन्त्रता उपयोगिता सिद्धान्त की अनुगामिनी होती है अग्रगामिनी नहीं। उसने स्वतन्त्रता को सुरक्षा से अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना। परन्तु मिल के अनुसार स्वतन्त्रता का अपना महत्व होता है और वह स्वयं अपने में एक साध्य है। उपयोगिता की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्रता साधन नहीं होती ।

6. सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में भिन्नता- यह विचित्र बात है कि बेन्थम राज्य को कानूनी

रूप से उच्च संस्था मानने तथा समाज कल्याण में राज्य के कार्यों एवं हस्तक्षेप का समर्थन करने के बाद भी व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार को महत्व देता है तथा आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन नहीं करता है; इसके विपरीत मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता का महान् पोषक और राज्य के सीमित कार्यों का समर्थक होने के बाद भी सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करना चाहता है तथा आर्थिक क्षेत्र में मजदूरों, बच्चों एवं स्त्रियों के कल्याण के लिए आवश्यक कानून, संरक्षण एवं राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक मानता है। व्यक्तिवादी होते हुए भी यहाँ मिल गरीब एवं शोषित वर्ग के हित में राज्य के आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप और नियंत्रण के अधिकार का समाजवादियों के समान समर्थन करता है। एबेन्स्टीन ने लिखा है कि "मिल ने अपने जीवन का प्रारम्भ उपयोगितावादी के रूप में तथा अन्त समाजवादी के रूप में किया।"

निष्कर्षत: मिल ने उपयोगितावाद की आधारशिला ही बदल दी तथा उसे नैतिक आवरण में रखकर नया रूप प्रदान कर दिया। ऐसा करते समय यद्यपि वह बेन्थमीय उपयोगितावाद से काफी दूर हट गया है किन्तु उपयोगितावाद को जो

उसने नवीन रूप प्रदान किया है वह काफी आकर्षक एवं प्रभावशाली है। मिल के हाथों में व्यक्ति केवल अपना सुख चाहने वाला नहीं रह गया है अपितु वह दूसरों का सुख चाहने वाला श्रेष्ठ नैतिक प्राणी बन गया है। मिल के व्यक्तिगत आचार के दर्शन को यदि राज्य पर लागू किया जाये, तो उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य व्यक्ति को केवल भौतिक सुख प्रदान करने वाली संस्था न होकर एक नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य भी नैतिक है। इस सम्बन्ध में वेपर का कथन है कि "मिल ने राज्य को नैतिक उद्देश्य से युक्त नैतिक संस्था बना दिया जिसका उद्देश्य उपयोगिता न होकर व्यक्ति में सद्गुण की वृद्धि करना होना चाहिए। इस प्रकार मिल ने उपयोगितावाद की रक्षा अवश्य की, किन्तु समस्त उपयोगितावादी दर्शन का त्याग करके।" वस्तुतः बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा किये गये संशोधन बड़ी सद्भावना के प्रतीक थे। मिल बड़ी ईमानदारी से बेन्थम के उपयोगितावाद को उसके आलोचकों के प्रहारों से बचाना चाहता था। वह उसे अधिक तर्कसंगत, अधिक उदार, अधिक उदात्त, अधिक नैतिक, अधिक मानवीय बनाना चाहता था, परन्तु उसका परिश्रम व्यर्थ गया। उपयोगितावाद को संवारते-संवारते, उसने अनजाने में ही उपयोगितावाद को जो रूप प्रदान किया, वह बेन्थम की मूल कल्पना से सर्वथा भित्र था।

15.6 मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार(J. S. Mill on Liberty)

जॉन स्टुअर्ट मिल का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक चिन्तन 'आन लिबर्टी' (1859) नामक ग्रन्थ में निहित है। राजनीति दर्शन को यह ग्रन्थ उसकी अनुपम देन है। मिल का स्वतन्त्रता सम्बन्धी ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में स्वतन्त्रता के समर्थन में लिखा गया, सबसे महत्वपूर्ण वक्तव्य माना जाता है। इसकी तुलना में मिल्टन के ऐरियोपेजेटिका ग्रन्थ को ही रखा जा सकता है। मैक्सी के शब्दों में, "मिल के विचारों तथा वाद-विवादों की स्वतन्त्रता के विषयों में निबन्ध राजनीतिक साहित्य में बहुत उच्च कोटि का अध्याय है। यह अध्याय मिल की गणना मिल्टन, स्पिनोजा, वाल्टेयर, रूसो, पेन, जेफर्सन तथा स्वतन्त्रता के अन्य महारथियों से करता है।"

स्वतन्त्रता सम्बन्धी इस निबन्ध के कारण मिल की गणना स्वतन्त्रता के महानतम् पुजारियों में की जाती है। स्वतन्त्रता की अवधारणा को पूरी तरह समर्पित अपनी तरह की यह पहली रचना है। इसमें स्वतन्त्रता का प्रतिपादन विश्लेषण एवं चित्रण धाराप्रवाह भाषा में और तार्किक शैली में किया गया। इसके बारे में कहा जाता है कि यह सभी तरह के निरंकुशवाद के विरुद्ध एक घोषणा-पत्र है। यह पुस्तक सामाजिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता पर सर्वाधिक तार्किक एवं मुखर रचना है, इसीलिए मिल की 'लिबर्टी' को विश्व के राजनीतिक साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में से माना जाता है।

'आन लिबर्टी' पुस्तक ने उपयोगितावाद के साहित्य में एक नये स्वर को जन्म दिया। मिल ने स्वयं कहा कि उसके पिता की पीढ़ी उपयोगितावादी शासन को इसलिए पसन्द नहीं करते थे कि उससे स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, बल्कि इसलिए पसन्द करते थे कि वह एक सक्षम शासन होगा। जब बेन्थम ने प्रबुद्ध निरंकुशता को छोड़कर उदारवाद को अपनाया तब उसने विवरण की कुछ बातों को छोड़कर और कुछ नहीं बदला था। मिल के लिए विचार और अनुसंधान की स्वतन्त्रता, विवेचन की स्वतन्त्रता और स्वनियंत्रित नैतिक निर्णय तथा कार्य की स्वतन्त्रता अपने आप में अच्छी चीजें थीं। इन आदर्शों ने उसके हृदय में ऐसा उत्साह और चैतन्य जाग्रत किया जो उसकी अन्य रचनाओं में नहीं दिखायी देता। इन गुणों के कारण ही मिल का स्वतन्त्रता सम्बन्धी ग्रन्थ स्वतन्त्रता पर लिखा गया सर्वाधिक लोकप्रिय एवं चर्चित ग्रन्थ माना गया। एक सौ पैंतालीस वर्ष पूर्व उसने जिस तार्किक एवं सशक्त शैली में विचार एवं अभिव्यक्ति की आजादी का प्रतिपादन किया, उसकी अनुगूँज आज उन देशों में भी सुनाई देने लगी है, जो जाने-अनजाने में मिल का अपमान एवं तिरस्कार करने में मजा लेते थे।स्वतन्त्रता क्यों आवश्यक ? (Why Liberty?)- जॉन स्टुअर्ट मिल के युग में राजनीतिक और

आर्थिक परिस्थितियों में काफी परिवर्तन आ गया था। राज्य की शक्तियां और कार्यक्षेत्र निरन्तर बढ़ रहा था। बेन्थम के विचारों से प्रभावित राज्य जीवन के विविध क्षेत्रों में अधिकाधिक विधियों का निर्माण करने लगे थे। जनहित के नाम पर शासन जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के नियमन हेतु विधि निर्माण करने लग

गये थे। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने बाल श्रम सम्बन्धी विधियों की रचना की थी जिनसे बालकों की अपनी आजीविका कमाने की स्वतन्त्रता और माता-पिता की उन्हें काम पर भेजने की स्वतन्त्रता सीमित हो गई थी। बेन्थमवाद के परिणामस्वरूप राज्य का कार्य क्षेत्र बढ़ा, सरकारी सेवाओं के विस्तार से सरकार के आकार में वृद्धि हुई और विधियों की बढ़ी हुई संख्या से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर कई प्रतिबन्ध लगने लगे। इंग्लैण्ड में एक बहस चल पड़ी-व्यक्ति या राज्य-कौन साध्य है, कौन साधन है? फिर विधि निर्माण के क्षेत्र में संसद सर्वोच्च थी, बहुमत की इच्छाओं के योग का प्रतिनिधित्व करने वाले उसके कार्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते थे।

मिल को डर था कि स्वतन्त्रता के लिए सबसे बड़ा खतरा सरकार की ओर से नहीं आता बल्कि ऐसे बहुमत की ओर से आता है जो नये विचारों के प्रति असहिष्णु होता है, जो विरोधी अल्पसंख्यकों को सन्देह की दृष्टि से देखता है और जो अपने बहुमत के जोर से उनको दबा देना चाहता है। यह एक ऐसी सम्भावना थी जिसके बारे में पुरानी पीढ़ी के उदारवादियों ने कभी विचार नहीं किया था। उनकी मुख्य समस्या यह रही थी कि सत्तारूढ़ अल्पसंख्यक वर्ग के हाथों से शासन सूत्र अपने हाथों में लेने से सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा। जेम्स मिल (बड़े मिल) का विचार था कि प्रतिनिधित्व के सुधार, मताधिकार के विस्तार और थोड़ी-सी सार्वजनिक शिक्षा द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता की समस्त गम्भीर समस्याएँ सुलझ जायेंगी। 1859 तक यह बात स्पष्ट हो गई थी कि इन समस्त सुधारों के हो जाने के बाद भी वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। राजनीतिक संगठन के चक्रव्यूह में स्वतन्त्रता के अभिमन्यु की रक्षा करना बहुत बड़ी समस्या बना हुआ था। पुराने उदारवादी इस बात को नहीं समझ सके थे। लेकिन जे. एस. मिल ने इस बात को पूरी तरह से समझ लिया था कि उदारवादी शासन के पीछे उदारवादी समाज भी होना चाहिए।

संक्षेप में, राज्य एवं शासन के बढ़ते हुए कार्यों, प्रजातन्त्र के नाम पर बहुमत द्वारा अल्पमत पर मनचाहे प्रतिबन्ध लगाने की प्रवृत्ति अथवा जनमत के नाम पर अनावश्यक कानूनों को थोपने की प्रवृत्ति के विरुद्ध मिल ने व्यक्तिगत

स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए उपयोगिता सिद्धान्त को नकारते हुए स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी प्रतिमान का समर्थन किया।

स्वतन्त्रता के दार्शनिक आधार (Philosophical Bases of the concept of Liberty)- मिल ने स्वतन्त्रता की अवधारणा का समर्थन दो प्रकार के दार्शनिक आधारों पर किया-पहला, व्यक्ति की दृष्टि से और दूसरा, समाज की दृष्टि से। मिल के अनुसार व्यक्ति का मूल उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है और यह विकास स्वतन्त्रता के उन्मुक्त वातावरण में ही निर्बाध गति से हो सकता है। समाज के विकास की दृष्टि से भी मिल स्वतन्त्रता के पर्यावरण को अपरिहार्य मानता है। उसकी दृष्टि में समाज का विकास कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों से होता है। ये व्यक्ति कला, विज्ञान, साहित्य और अन्य क्षेत्रों में नवाचार लाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। परन्तु समाज का ढाँचा रूढ़िवादी होता है और अधिकांश नासमझ व्यक्ति रूढ़िवादियों के छलावे में आकर सामाजिक परिवर्तन लाने वाले व्यक्तियों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। इससे समाज में सहज उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अतः समाज के उन्नयन एवं विकास हेतु यह आवश्यक है कि उसके समस्त घटकों को स्वतन्त्रता प्रदान की जाये।

संक्षेप में, मिल ने जोरदार शब्दों में घोषणा की है कि स्वतन्त्रता व्यक्ति और समाज दोनों के विकास के लिए अपरिहार्य है।

स्वतन्त्रता के लक्षण (Characteristics of Liberty) मिल ने स्वतन्त्रता के दो लक्षण बतलाये है - पहला, व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी होता है अर्थात् व्यक्ति अपने ऊपर सर्वोच्च सत्ता रखता है। मिल के अनुसार व्यक्ति अपने शरीर तथा मस्तिष्क का स्वामी है और इसलिए उसे अपने से सम्बन्धित प्रत्येक कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस क्षेत्र में समाज को व्यक्ति के आचरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। उसे 'स्व' से संम्बन्धित समस्त कार्य करने की तब तक पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए जब तक वह दूसरों को हानि नहीं पहुंचाता। व्यक्ति को उस सीमा तक अपनी छड़ी घुमाने की स्वतन्त्रता है, जिस सीमा तक वह दूसरे व्यक्ति की नाक से या सिर से न टकराये। स्वतन्त्रता का दूसरा लक्षण है - "अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता" (Liberty

consists in doing what one desires) और ऐसी स्वतन्त्रता को नियंत्रित किया जा सकता है। मिल कहता है कि यदि कोई व्यक्ति ऐसे पुल पर से गुजर रहा है जिसके टूट जाने का भय है तो उसे ऐसे पुल पर जाने से रोका जा सकता है, क्योंकि नदी में गिरने की किसी व्यक्ति की इच्छा नहीं हो सकती है। उसकी इच्छा पुल पार करने की है, किन्तु इसका नियंत्रण करना इसलिए उचित है कि उसकी इससे भी बड़ी जीवित रहने की इच्छा को संरक्षण मिलता है।

स्वतन्त्रता के प्रकार (Kinds of Liberty) मिल ने स्वतन्त्रता को दो भागों में बाँटा है-

I विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, तथा [Freedom of Thought and Expression]

II. कार्य करने की स्वतन्त्रता

[Freedom of Action]

1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression)

मिल के अनुसार मानव समाज की उन्नति और प्रगति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। मिल का विश्वास है कि बौद्धिक अथवा वैचारिक स्वतन्त्रता न केवल उस समाज के लिए ही हितकर है जो उसकी स्वीकृति देता है, बल्कि उस व्यक्ति के लिए भी हितकर है जो उसका उपभोग करता है। समाज और राज्य को कोई ऐसा अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाये। मिल के मत में यदि सम्पूर्ण समाज एक ओर हो और यदि एक व्यक्ति अकेला दूसरी ओर हो तो भी उस व्यक्ति को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए। मिल के शब्दों में, "यदि एक व्यक्ति को छोड़ कर सम्पूर्ण मानव जाति का मत एक हो तो भी मानव जाति को उस एक व्यक्ति को बलपूर्वक चुप कराने का कोई अधिकार नहीं है। जैसे कि यदि उस व्यक्ति के पास शक्ति होती, तो उसे मानव जाति को चुप कराने का अधिकार नहीं होता ।"

मिल ने अग्रलिखित तकों के आधार पर विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन किया

1. सत्य के दमन का भय मिल के अनुसार विचारों पर प्रतिबंध लगाने का अर्थ सत्य पर प्रतिबंध लगाना है और सत्य पर प्रतिबंध का अर्थ समाज की उपयोगिता का दमन करना है। वस्तुतः प्रत्येक विचार या मत में सत्य का अंश विद्यमान रहता है।

2. सत्य के विभिन्न पहलू होते हैं सत्य का विराट रूप है और उसके विविध पक्ष हैं। सत्य

की खोज में मनुष्य की स्थिति अंधों जैसी है। हम सच्चाई के समग्र रूप का दर्शन नहीं कर पाते किन्तु अपने अनुभव के आधार पर आंशिक सत्य को ही पूर्ण समझने का आग्रह करते हैं। सत्य एवं वास्तविक रूप को समझने के लिए उसे विविध दृष्टिकोणों से समझना आवश्यक है और इसके लिए व्यक्ति को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

3. वादे वादे जायते तत्व बोधा: वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श द्वारा सत्य की खोज की जा सकती है। विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क एवं वाद-विवाद से विचारों का स्पष्टीकरण होता है, विश्वास सुदृढ़ होता है, बुद्धि अनुप्रमाणित होती है एवं सत्य की झलक मिलती है।

4. समाज के नैतिक उत्थान के लिए मिल के अनुसार सामान्यतः समाज परम्परावादी एवं

रूढ़िवादी होता है। वह नये विचार सुनना पसन्द ही नहीं करता, जबकि समाज सुधारक समाज में प्रचलित रूढ़िवादी विचारों, रीति-रिवाजों और परम्पराओं को बदल देना चाहते हैं। यह परिवर्तन मात्र विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से ही आ सकता है।5. उच्च स्तर के नैतिक चरित्र का विकास विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से उच्च स्तर के नैतिक चरित्र का जन्म एवं विकास होता है। सार्वजनिक प्रश्नों पर उन्मुक्त चर्चा होने से एवं राजनीतिक निर्णयों में जनसमुदाय का हाथ होने से लोगों में उनके प्रति नैतिक विश्वास की भावना जाग्रत होती है।

6. इतिहास द्वारा समर्थन मिल का कहना है कि इतिहास भी स्वतन्त्रता के पक्ष में अपना समर्थन प्रदान करता है। मिल, सुकरात, ईसा मसीह और मार्टिन लूथर का उदाहरण देकर अपने तर्क की पुष्टि करता है। मिल के शब्दों में," मानव जाति को बार-बार यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि वह किसी जमाने में यूनान में सुकरात नाम का एक व्यक्ति हुआ था, जिसके विचार समाज में अधिकांश व्यक्तियों के विचारों से भिन्न थे और समाज के ठेकेदारों ने सुकरात को उसके भिन्न विचारों के कारण विषपान का दण्ड दिया था, जबकि सच्चाई यह है कि उन व्यक्तियों के विचार गलत और सुकरात के विचार सही थे।' मिल ने धाराप्रवाह भाषा में इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहा, "मानव जाति को बार-बार यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि येरूशलम में जीसस क्राइस्ट को समाज ने सूली पर चढ़ा दिया था, क्योंकि वह समाज द्वारा मान्य विचारों के विरुद्ध विचार व्यक्त करता था, परन्तु इतिहास साक्षी है कि उस व्यक्ति जीसस के विचार उसे सूली पर चढ़ाने वाले लोगों के विचारों से अच्छे थे।"

इसीलिए मिल ने आग्रह किया: "विचार अभिव्यक्ति को रोकने का एक विलक्षण दोष यह है कि ऐसा करना मानव जाति को आने वाली तथा वर्तमान नस्लों को लूटना है।" कई बार समाज कुछ नवीन एवं विलक्षण विचार रखने वाले मनुष्यों को झक्की या सनकी समझता है, उनके विचारों एवं व्यक्तित्व का तिरस्कार एवं अपमान करता है। जबकि सत्य यह है कि हर मौलिक चिन्तक, समाज सुधारक पहले जो नई बात कहता है उसे सुनकर समाज चौंकता ही है। हर चिन्तक एवं समाज सुधारक को पहले सनकी एवं खब्ती समझा जाता है, परन्तु सत्य यह है कि इन्हीं सनकियों एवं खब्तियों ने मानव जाति के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसलिए मिल कहता है कि इन तथाकथित सनकियों को भी उनके विचार व्यक्त करने दो। मिल के शब्दों में, "कोई भी समाज जिसमें सनकीपन मजाक एवं तिरस्कार का विषय हो, पूर्ण समाज नहीं हो सकता।"

विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर मिल किसी प्रकार का अंकुश लगाने के पक्ष में नहीं है। उसकी स्पष्ट मान्यता है कि विचारों को खिलने दो, उन्हें

अभिव्यक्त होने दो, उन्हें जंजीरों में मत बाँधो । विचार मानव समाज के विकास, उसके उत्थान के आवश्यक प्रेरणा स्रोत हैं।

संक्षेप में, मिल ने समाज को एक प्रयोगशाला के रूप में कल्पित कर प्रत्येक प्रकार के विचारों एवं दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति का जोरदार समर्थन किया। बौद्धिक उत्कर्ष को इसमें उत्तेजना मिलती है और नैतिक व्यक्तिवाद पुष्ट होता है।

II. कार्य करने की स्वतन्त्रता

(Freedom of Action)

मिल के अनुसार स्वतन्त्रता का दूसरा पक्ष 'कार्यों की स्वतन्त्रता' है। मिल के शब्दों में, " विचारों की स्वतन्त्रता अपूर्ण है यदि उन विचारों को क्रियान्वित करने की स्वतन्त्रता न हो।" स्वतन्त्र कार्य के अभाव में स्वतन्त्र चिन्तन वैसा ही है कि पक्षी उड़ना तो चाहता है, पर पंख नहीं। पर विचारणीय मुद्दा यह है कि जिस तरह विचारों की स्वतन्त्रता पर कोई अंकुश नहीं होना चाहिए, उसी तरह क्या कार्यों की स्वतन्त्रता पर कोई बंधन नहीं होना चाहिए? क्या व्यक्ति के कार्यों पर शासन और समाज का कोई बंधन नहीं होना चाहिए ?

इन प्रश्नों का उत्तर खोजने की दृष्टि से मिल ने कार्यगत स्वतन्त्रता के दो रूप बताये- पहला ऐसे कार्य जिनका सम्बन्ध व्यक्ति 'स्व' के साथ होता है, इन्हें वह 'स्व सम्बन्धी कार्य' (Self regarding actions) कहता है तथा दूसरा, वे कार्य जिनका प्रभाव अन्य लोगों पर पड़ता है, इन्हें वह पर-सम्बन्धी कार्य (Other regarding actions) कहता है।

मिल के अनुसार 'स्व सम्बन्धी कार्य व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे अन्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। इन कार्यों का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के नितान्त वैयक्तिक कार्यों से होता है, जैसे-सिगरेट पीना, पान खाना, कपड़े पहनना, शराब पीना, जुआ खेलना आदि। वह सिगरेट पीये या पान खाये, शाकाहारी हो या मांसाहारी, आलू खाये या प्याज इससे समाज को कोई फर्क नहीं पड़ता। स्व सम्बन्धी ऐसे नितान्त निजी कार्यों को व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, इसमें राज्य को कोई प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिए। मिल

की मान्यता है कि जब तक कोई व्यक्ति ऐसा कार्य करता है जिसका प्रभाव केवल उसी पर पड़ता है, दूसरों पर नहीं, तब तक राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसा होने से ही व्यक्ति अपनी नैसर्गिक क्षमता का सर्वोत्तम विकास कर सकता है, अपने सुख और कल्याण की अभिवृद्धि कर सकता है।

मिल के अनुसार 'पर-सम्बन्धी कार्य' व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे समाज तथा अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं और ऐसे कार्य में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, शांति भंग करना, चोरी करना, सार्वजनिक स्थानों को गन्दा करना, आदि हमारे ऐसे कार्य है जिनका प्रभाव समाज के दूसरे व्यक्तियों पर पड़ता है। अतः दूसरों पर प्रभाव डालने वाले कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्ति को स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। 'निश्चय ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है किन्तु दूसरों की स्वतन्त्रता का बलिदान करके नहीं।' एक व्यक्ति को अपने घर में मदिरापान की स्वतन्त्रता है किन्तु यदि वह मदिरापान करके सड़क पर हुड़दंग मचाता है और पड़ोसियों की नींद हराम करता है तो उसे इस कार्य के लिए खुली छूट नहीं दी जा सकती।

स्वतन्त्रता की सीमाएँ: व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप की परिस्थितियाँ- मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता का महानतम् पुजारी था, परन्तु कुछ परिस्थितियों में स्वतन्त्रता पर प्रतिबंध लगाने में भी नहीं हिचका। जिन परिस्थितियों का उसने उल्लेख किया है, वे इस प्रकार है:

1. यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के खतरे में पड़ने की सम्भावना हो। इस सन्दर्भ में मिल ने गाड़ी चलाने के लाइसेन्स का उदारहण दिया है। वह एक अनाड़ी चालक की स्वतन्त्रता द्वारा सड़क पर गाड़ी चलाने वालों को मृत्यु का ग्रास नहीं बनाना चाहता। इसी प्रकार चोर-डकैतों को भी स्वतन्त्रता से वंचित करना चाहिए, क्योकि उनके कार्य समाज के अन्य नागरिकों की स्वतन्त्रता में बाधक होते हैं।

2. मिल के अनुसार जब समाज अथवा राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य पर बाह्य

आक्रमण के समय सभी नागरिकों से अनिवार्य सैनिक सेवा की आशा की जा सकती है।

3. तीसरी परिस्थिति वह है जब किसी व्यक्ति द्वारा अपनी स्वतन्त्रता का ऐसा दुरुपयोग हो जिससे उसके सामाजिक कर्तव्य के पालन में रुकावट आने की सम्भावना हो। उदाहरणार्थ, मिल यूँ तो मदिरापान को स्व सम्बन्धी कार्य मानता है, किन्तु पुलिस के सिपाही को ड्यूटी पर शराब पीने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता क्योंकि उसको यह आशंका है कि शराब पिया हुआ सिपाही शांति स्थापित करने के बजाय शांति भंग करने का कार्य करेगा।

4. चतुर्थ, वे व्यक्तिगत कार्य जिनके द्वारा व्यक्ति अपना पूर्ण अहित करता है, राज्य के द्वारा रोके जा सकते हैं; जैसे आत्महत्या करना। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति नदी पार करने के लिए एक ऐसे पुल से होकर जाना चाहता है जो टूटने की स्थिति में है तो ऐसी स्थिति में उसे पुल से होकर जाने से रोका जा सकता है क्योंकि व्यक्ति नदी पार तो करना चाहता है परन्तु नदी में गिरना नहीं चाहता। अतः उसकी पहली इच्छा (नदी पार करने की) की अपेक्षा दूसरी इच्छा (नदी में न गिरने की) गुरुतर इच्छा की पूर्ति के निमित्त सकारात्मक हस्तक्षेप किया जा सकता है।

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की आलोचना (Criticism of Mill's Theory of Liberty)

जोड ने मिल की स्वतंत्रता की अवधारणा को 19 वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद का आधार स्तम्भ माना। जोड के अभियान में मिल ने उन विधिशास्त्रियों, हीगलवादियों और विज्ञानवादियों के विरुद्ध अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिन्होंने राज्य को सार्वभौमिक सर्वोपरि तत्व मानकर व्यक्ति को केवल साधन बना दिया। जोड के शब्दों में मिल का स्वतन्त्रता पर लिखा गया निबन्ध विचारों की उन्मुक्ति का शायद सबसे सुन्दर दिग्दर्शन है और उन विचारों की सहिष्णुता का जिन्हें हम समझ नहीं पाते, समूचे साहित्य में सबसे शक्तिशाली तर्क है। सेबाइन के अनुसार राजनीति दर्शन को दी गई स्वतन्त्रता की भेंट अद्वितीय है। डनिंग के अनुसार मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी नियम ने

व्यक्तिवाद का मार्ग प्रशस्त किया। गैटेल के अनुसार मिल की स्वतन्त्रता की पुकार मानव व्यक्तित्व की रक्षा के लिए एक अमोघ अस्त्र प्रतीत होती है।

राजनीति दर्शन में स्वतन्त्रता सम्बन्धी मिल का सिद्धान्त अमूल्य देन होने के बावजूद अनेक दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण एवं असंगत माना जाता है। तार्किक दृष्टि से विश्लेषण करने पर इसमें निम्नलिखित त्रुटियाँ (दोष) दिखलाई देती हैं:

1. खोखली और नकारात्मक स्वतन्त्रता- प्रो. बार्कर के अनुसार, मिल एक खोखली स्वाधीनता

तथा काल्पनिक व्यक्ति का प्रतिपादन करने वाला पैगम्बर था। उसके पास अधिकारों के सम्बन्ध में कोई दर्शन नहीं था, इन्हीं अधिकारों से स्वतन्त्रता के विचार को एक ठोस अर्थ प्राप्त होता है।" चूँकि मिल बन्धनों के अभाव (Absence of restraints) को स्वतन्त्रता की संज्ञा देता है, अतः स्वतन्त्रता की यह परिभाषा पूर्णतः नकारात्मक है। औद्योगिक सभ्यता को, जो कानूनों पर आधारित होती है, निषेधात्मक स्वतन्त्रता की नहीं, सकारात्मक स्वतन्त्रता की आवश्यकता है।

2. समानता की उपेक्षा- मिल स्वतन्त्रता पर तो जोर देता है, किन्तु समानता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। वह स्वतन्त्रता को अपने आप में पूर्ण मानता है किन्तु स्वतन्त्रता की सार्थकता के लिए समानता भी आवश्यक है। स्वतन्त्रता समानता से अधिक उपयोगी हो सकती है, परन्तु समानता के अभाव में स्वयं स्वतन्त्रता भी अधिक दिनों टिक नहीं सकती।

3. सनकी और झक्कियों को स्वतन्त्रता देना हास्यास्पद मिल सनकी और झक्की व्यक्तियों को भी विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। उसको ऐसा लगता है कि इन सनकियों में से ही कोई सुकरात निकल आये जो समाज में क्रांति का सूत्रपात करके परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर दे। परन्तु डेविडसन का कथन है कि सनकीपन चरित्र की निर्बलता का द्योतक है न कि उसकी उत्कृष्टता का । इसको प्रोत्साहन देने के बजाय हतोत्साहित करना आवश्यक है।

4. कार्य स्वतन्त्रता का भ्रांतिपूर्ण विभाजन मिल द्वारा कार्य करने की स्वतन्त्रता को दो वर्गों में

स्व-सम्बन्धी और पर सम्बन्धी में बाँटना भ्रांतिपूर्ण है। वास्तव में व्यक्ति के कार्यों में ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। मिल के अनुसार शराब पीना स्व-सम्बन्धी कार्य है, यह तभी सामाजिक (पर सम्बन्धी) रूप धारण करता है जब शराब पीकर कोई व्यक्ति सड़क पर हुड़दंग मचाये। किन्तु ऐसे व्यक्ति का अपने घर में शराब पीना भी नितान्त स्व-सम्बन्धी कार्य नहीं है, इसका उसकी पत्नी और बच्चों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। शराबी के बच्चे उसकी देखा-देखी उस दुर्व्यसन में फंस सकते हैं और इससे समाज को हानि होगी। वस्तुतः व्यक्ति का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसका समाज पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव न पड़ता हो। यहाँ तक कि आत्महत्या को भी व्यक्तिगत कार्य नहीं माना जा सकता।

5. व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध गलत ढंग से प्रस्तुत करना लिंडसे के अनुसार मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों से दो तथ्य उभरते हैं- एक तो यह कि मिल अपनी इस पूर्व धारणा सै कभी मुक्त नहीं हो पाये कि राज्य व्यक्ति के हितों का सहायक न होकर एक बाधा है और उसका हस्तक्षेप वांछित कम है और अवांछित अधिक है। दूसरे वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य की कमी को स्वीकार नहीं कर सके कि समाज व्यक्तियों के एक स्वाभाविक और ऐच्छिक विकास का परिणाम है जहाँ लोग केवल एक दूसरे के साथ संघर्ष करने के लिए नहीं वरन् एक-दूसरे पर निर्भरता के लिए ही अधिक बसते हैं। मिल का राज्य एक ऐसा कृत्रिम राज्य है, जहाँ लिडसे के शब्दों में मानो व्यक्ति एक-दूसरे से बिल्कुल अलग रहकर सूनेपन का जीवन व्यतीत करते रहे हों और सर्वप्रथम ही राज्य में एकत्रित हुए हों। 6. अविकसित देशों के नागरिकों को स्वतन्त्रता से वंचित करना मिल स्वतन्त्रता केवल ऐसे लोगों के लिए ही उपयुक्त मानता है जो विकसित है। वह पिछड़े और अविकसित देशों के नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता का प्रावधान नहीं करता। उसके लिए वह निरंकुश शासन को ही उपयोगी मानता है। वस्तुतः स्वतन्त्रता संबंधी मिल के विचार जातिगत मिथ्याभिमान से परिपूर्ण हैं। वह इस मिथ्या धारणा का शिकार था कि संसार

में कुछ जातियाँ श्रेष्ठ होती है, बाकी सब हीन। वह कहता है कि पिछड़ी हुई एवं असभ्य जातियों को स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती।

7. अल्पमत को बहुमत से अधिक महत्व देना मिल बहुमत की स्वेच्छाचारिता के भय से आतंकित था और इसलिए उसने उसकी तुलना में अल्पमत को अधिक महत्व दिया। वस्तुतः बहुमत के स्वेच्छाचारी होने के सम्बन्ध में मिल की धारणा गलत मान्यताओं पर आधारित है। पहले तो यह नहीं माना जा सकता कि बहुमत सदा स्वेच्छाचारी होता है और दूसरा यदि वह स्वेच्छाचारी भी है तो आधुनिक लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के पास शासन संचालन का अन्य कोई अच्छा विकल्प नहीं है। वस्तुतः चिन्तन में अल्पमत सदा संघर्ष की मुद्रा बनाकर बहुमत के विरुद्ध खड़ा दिखायी देता है।

निष्कर्ष- मिल के स्वतन्त्रता संबंधी विचारों पर चारों ओर से प्रहार हुए। मिल पर यह आरोप भी लगाया गया कि वह व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं देता और इसकी भी आलोचना की गई कि वह व्यक्ति को बहुत अधिक स्वतन्त्रता देता है। यदि बार्कर उसे 'खोखली निरंकुश स्वतन्त्रता का पैगम्बर' कहकर व्यक्तिवादी बनाता है तो वेपर, मैक्सी, लिंडसे आदि विद्वान उसे निरंकुश स्वतन्त्रता का प्रतिपादक बतलाते हैं। सेबाइन के अनुसार मिल के स्वतन्त्रता सिद्धान्त का कुल प्रभाव कुछ अनिश्चित और सम्भवतः नकारात्मक है। वह स्वतन्त्रता के उस नैतिक मूल्य में विश्वास करता था जो आरम्भिक उदारवादी साहित्य में उपलब्ध नहीं था। तथापि उसने स्वतन्त्रता के आधार पर राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने की किसी नई नीति का निर्देश नहीं दिया। उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की उन समस्याओं का सामना नहीं किया जो औद्योगिक समाज के सामने विशेष रूप से आती हैं। उसने स्वतन्त्रता की उन समस्याओं को भी नहीं उठाया जो ऐसे समाज में मजदूरों के सामने आती हैं। यह सच है कि उसके स्वतन्त्रता संबंधी विचारों में विरोधाभास है फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसने स्वतन्त्रता का जो भावुकतापूर्ण एवं विवेकपूर्ण प्रतिपादन किया है, वह अपने आप में अनुपम है। मिल को चाहे बुर्जुआ विचारक कहकर उसका मजाक उड़ाया जाये किन्तु यह सच है कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, मिल की 'ऑन लिबर्टी' प्रतिष्ठा और महत्व में और महान् होती जाती है।

मिल के स्वतन्त्रता के दर्शन ने व्यक्तिवाद के विकास और उसकी उन्नति में गहरा योग दिया। उसने लोकतन्त्र की दृष्टि से यह विचार दिया कि बहुमत भी निरंकुश हो सकता है।

15.8 मिल की प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी अवधारणा (Mill's Conception of Representative Government)

अपने ग्रन्थों 'ऑन लिबर्टी' तथा 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) में मिल यद्यपि लोकतन्त्रात्मक शासन को संदेह की दृष्टि से देखता है तथापि वह एक लोकतान्त्रिक विचारक है और इंग्लैण्ड के लोकतन्त्र के समर्थक लेखकों में सबसे महान् लेखक है। यह सत्य है कि किसी अन्य ने मिल के समान इस बात पर जोर नहीं दिया कि लोकतन्त्र सभी देशों के लिए उपयोगी नहीं हो सकता, फिर भी मिल के समान किसी को भी इतना विश्वास नहीं था कि जहाँ लोकतन्त्र उपयुक्त हो सकता है वहाँ वह सर्वोत्तम शासन प्रणाली है।

लोकतन्त्र सर्वोत्तम शासन प्रणाली उपयोगितावादी होने के नाते, मिल विश्वास करता था कि मनुष्यों की स्वाभाविक स्वार्थ-प्रवृत्ति के रहते किसी मनुष्य के अधिकार और हित की सुरक्षा तभी संभव है जबकि वह स्वयं उनकी रक्षा करने के लिए तत्पर हो, और किसी भी व्यक्ति को यह सुअवसर लोकतन्त्र में ही प्राप्त हो सकता है। मिल ने काण्ट की भाँति, मानव व्यक्तित्व को मान्यता देकर भी लोकतन्त्र के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। उसका विश्वास था कि गुणी एवं सबल व्यक्ति से बना राज्य ही अच्छा राज्य हो सकता है। वह व्यक्तियों के चारित्रिक एवं बौद्धिक विकास पर अधिक बल देता था और उसका विश्वास था कि लोकतन्त्र में ही व्यक्तियों के बौद्धिक एवं नैतिक विकास की अधिक सम्भावना रहती है तथा उसका कल्याण संभव है। दूसरे शब्दों में सर्वोत्तम शासन वही है जो मनुष्य की बहुमुखी प्रगति में, उसके सर्वांगीण विकास में सहायक हो। ऐसा शासन न तो राजतन्त्र हो सकता है, न ही कुलीनतन्त्र। वह तो केवल लोकतन्त्र ही हो सकता है। मिल के शब्दों में

"आदर्श की दृष्टि से वही शासन सर्वोत्तम है जिसमें सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में केन्द्रित हो।"

प्रतिनिधि शासन क्यों ? लोकतन्त्र एक सर्वोत्तम शासन प्रणाली होने के उपरान्त भी मानवीय

विकृतियों के कारण कई दुर्बलताओं की शिकार हो सकती है, जिससे लोकतन्त्र में कई कमियाँ उभरने लगती हैं। इन कमियों को दूर करना आवश्यक है। मिल के शब्दों में, "मनुष्य द्वारा बनाई हुई अन्य सभी वस्तुओं की भांति लोकतन्त्र को अच्छा बनाया जा सकता है और बुरा भी। तो फिर क्यों न लोकतन्त्र को और अधिक अच्छा बनाया जाये ?" मिल का यह भी कहना था कि वर्तमान में राज्यों का आकार बहुत बड़ा होता जा रहा है और जनसंख्या भी बढ़ रही है। इसलिए प्रत्यक्ष लोकतन्त्र तो सम्भव नहीं है, अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था केवल 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' के रूप में ही कायम रह सकती है। इसीलिए लोकतन्त्र पर लिखी कृति को उसने 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) नाम दिया। मिल के अनुसार "प्रतिनिधि शासन वह व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण जन समुदाय या उसका अधिकांश भाग अपने को निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा अन्तिम नियंत्रक शक्ति का प्रयोग करता है।"

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर मिल की प्रतिनिधि शासन प्रणाली के तीन प्रमुख तत्व उभरते हैं:

(1) सम्पूर्ण या अधिकांश लोगों का सहयोग,

(2) सम्पूर्ण या अधिकांश लोगों के हाथ में नियंत्रण शक्ति तथा

(3) प्रतिनिधियों का नियतकालिक चुनाव ।

प्रतिनिधि सभा का संगठन एवं कार्य प्रतिनिधि सभा को मिल द्विसदनात्मक बनाना चाहता था। उसके मत में उच्च सदन निम्न सदन की निरंकुशता को हल्का करने के लिए आवश्यक है। वह दोनों सदनों में प्रतिनिधित्व का भिन्न आधार रखना चाहता था। उसकी मान्यता है कि यदि एक सदन साधारण लोगों का प्रतिनिधि सदन हो तो दूसरा सदन राजनीतिज्ञों और ऐसे व्यक्तियों का सदन हो जिन्होंने प्रशासकीय और राजनीतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किये हों।

मिल के शब्दों में "प्रतिनिधि सभा वह है जिसमें राष्ट्र की सामान्य राय के साथ उसके प्रत्येक अंग की राय का प्रतिनिधित्व हो। जहाँ तक हो राष्ट्र के प्रत्येक वरिष्ठ और योग्य व्यक्तियों के विचारों का भी प्रतिनिधित्व हो।"

प्रतिनिधि सभा के कार्यों की चर्चा करते हुए मिल कहता है कि निर्वाचित प्रतिनिधि सभा का कार्य शासन का नियन्त्रण तथा निरीक्षण मात्र है। सक्रिय रूप से कानून निर्माण या शासकीय कार्य इस परिषद् को नहीं करना चाहिए ।

प्रतिनिधि शासन का निर्माण निर्वाचकों द्वारा ही होता है, इसीलिए मिल ने निर्वाचन पद्धति के सुधार पर पर्याप्त ध्यान दिया। इस सम्बन्ध में उसके विचार निम्नलिखित है:

आनुपातिक प्रतिनिधित्व - मिल लोकतन्त्र में बहुमत की निरंकुशता को लेकर बहुत अधिक चिन्तित था। बहुमत की सरकार अल्पमत की उपेक्षा कर सकती है अतः जनता को बहुमत की निरंकुशता से बचाने के लिए तथा अल्पमत को शासन में प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता थी। मिल का विचार था कि बहुमत के निरंकुशवाद को समाप्त करने के लिए निर्वाचन प्रणाली में सुधार किया जाये और 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' के आधार पर निर्वाचन कराये जायें। इस प्रणाली में जिस दल को जितने प्रतिशत मत मिलते हैं, उसी के अनुपात में उस दल के प्रत्याशियों को प्रतिनिधित्व मिलता है। इस पद्धति का लाभ यह होगा कि छोटे दलों को भी तथा अल्पमतों को भी उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। अल्पमत भी सार्वजनिक संस्थाओं में अपनी आवाज बुलन्द करके अपनी बात कह सकेगा। बहुमत की निरंकुशता उसका गला नहीं घोंट पायेगी। जब प्रतिनिधि संस्थाओं में अल्पमतों को भी समुचित स्थान मिलेगा, तो उनकी आवाज को भी दबाया नहीं जा सकेगामतदाता के लिए शैक्षणिक सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताएँ मिल लोकतन्त्र की इस कमजोरी से भी चिन्तित था कि इसमें विधायिका के अधिकांश निर्वाचित सदस्य अशिक्षित, अनपढ़ राष्ट्रीय समस्याओं से अनभिज्ञ होते हैं। मिल के शब्दों में "विधायिका में बुद्धि का निम्न श्रेणी का होना तथा उस जनसमुदाय में बुद्धि की कमी होना, जो विधायिका का नियंत्रण करती है, किसी भी समाज के लिए एक खतरा है।" उसकी दृष्टि में लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि जनता शिक्षित, बुद्धिमान तथा राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया

जागरूक हो। अतः वह निरक्षर और अज्ञानी व्यक्तियों को मताधिकार प्रदान करने के पक्ष में नहीं था। केवल वयस्क हो जाने से ही कोई मत देने का अधिकारी नहीं हो सकता, वह लिखना-पढ़ना और गणित का सामान्य ज्ञान रखने वाले व्यक्ति को ही मताधिकार प्रदान करना चाहता था। उसके शब्दों में, "मैं इस बात को पूर्णरूप से अस्वीकार करता हूँ कि जो व्यक्ति पढ़ने-लिखने में और गणित के सामान्य सवाल निकालने में समर्थ नहीं है, उसे मतदान में भाग लेने दिया जाये।" उसके मत में मतदाता के लिए नाम दर्ज कराने से पहले मतदाता बनने के इच्छुक व्यक्ति को अपनी योग्यता का परिचय देने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना नाम मतदाता पंजीयक अधिकारी के सम्मुख अंग्रेजी पुस्तक से एक वाक्य की प्रतिलिपि करके तथा गणित का सवाल करके अपनी मतदाता बनने की योग्यता को प्रमाणित करे। मिल तो यहाँ तक कहता है कि उचित तो यह होगा कि लिखने-पढ़ने और साधारण गणित के ज्ञान के अतिरिक्त मतदाता को भूगोल, इतिहास और राजनीति का भी थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य हो।

शैक्षणिक योग्यता के अतिरिक्त मिल मतदाता के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता भी आवश्यक मानता था। उसकी मान्यता थी कि जिनके पास सम्पत्ति होती है वे उन लोगों की तुलना में अधिक उत्तरदायित्व की भावना से कार्य करते हैं जिनके पास सम्पत्ति का अभाव होता है। वह यह भी मानता था कि जिनके पास सम्पत्ति होती है और जो कर अदा करते हैं वे निर्धनों और कर न देने वालों से अधिक बुद्धिमान भी होते हैं और राष्ट्रीय वित्त का सही उपयोग भी मितव्ययिता के साथ कर सकते हैं। अतः मिल सम्पत्ति रखने वाले तथा कर देने वाले व्यक्तियों तक ही वोट का अधिकार सीमित रखना चाहता था।

सार्वजनिक एवं खुला मतदान बेन्थम और जेम्स मिल जैसे विचारकों ने गुप्त मतदान प्रणाली का समर्थन किया था किन्तु जॉन स्टुअर्ट मिल खुली मतदान प्रणाली का समर्थक था। उसके अनुसार मत देने का अधिकार एक पवित्र अधिकार है जिसका प्रयोग पूर्ण समझ और विवेक के साथ किया जाना चाहिए। बुद्धिमत्ता और विवेक से किये गये सार्वजनिक कर्तव्य के निर्वाह में गोपनीयता अवांछनीय है। मिल के शब्दों में, "मतदान का अधिकार सार्वजनिक कर्त्तव्य है,

इसे अन्य सार्वजनिक कर्तव्यों की भाँति जनता की देखरेख में और उसकी आलोचना को सहते हुए खुले रूप में करना चाहिए।" मिल की दृष्टि में गुप्त मतदान से मतदाता आसानी से धोखा दे सकता है। वह अपने वचन का पालन न करके चुपचाप अन्य व्यक्ति के प्रभाव में आकर उसके पक्ष में मतदान कर सकता है। वस्तुतः इस प्रणाली में भ्रष्टाचार, प्रलोभन और अनैतिक आचरण जैसे कृत्यों को प्रोत्साहन मिलता है।

बहुल मतदान मिल को लोकतन्त्र में एक बहुत बड़ी बुराई नजर आती थी कि शिक्षित एवं अशिक्षित, निर्धन एवं धनी, सामान्य एवं विशिष्ट योग्यता वाले (विशेषज्ञ) सभी व्यक्तियों को इसमें एक समान माना जाता है। इसका मतलब है ऐसा शासन स्थापित करना जो सबसे कम शिक्षित लोगों का तथा हाथ से काम करने वाले श्रमिकों का शासन होगा क्योंकि उनकी संख्या अधिक है। संख्या के आधार पर मत के अधिकार को वह लोकतन्त्र का एक बहुत बड़ा दोष मानता था। इसे वह झूठा लोकतन्त्र कहता था। जबकि सच्चे लोकतन्त्र में सब व्यक्तियों के मत बराबर नहीं, किन्तु उनकी योग्यता के आधार पर होते हैं। लोकतन्त्र की इस दुर्बलता को दूर करने के लिए मिल ने बहुल मतदान (Plural voting) की अवधारणा प्रस्तुत की। उसके अनुसार मूर्ख और अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना में शिक्षित और बुद्धिमान व्यक्तियों को अधिक संख्या (बहुल मतदान) में मत का अधिकार होना चाहिए। मिल तो यहाँ तक कहता है कि जिसके पास सम्पत्ति हो उसे भी बहुल मत का अधिकार होना चाहिए। मिल के अनुसार बहुल मत की योजना निर्धन व्यक्ति के लिए भी समान रूप से उपलब्ध है बशर्ते वह 'स्वेच्छापूर्वक दी जाने गली परीक्षाओं' के आधार पर अपनी योग्यता प्रमाणित कर दे। विधि आयोग मिल के अनुसार प्रतिनिधि सभा का कार्य शासन करना नहीं है क्योंकि शासन करने की उसमें योग्यता नहीं है। उसका प्रमुख कार्य सरकार का निरीक्षण और नियन्त्रण करना है। चूँकि वह विधि निर्माण की योग्यता नहीं रखती इसलिए विधि निर्माण कार्य एक विशिष्ट आयोग को करना चाहिए जिसके सदस्य लोकसेवा से सम्बन्धित व्यक्ति थे। विधि आयोग द्वारा निर्मित विधियों को पारित करने का कार्य प्रतिनिधि सभा

(संसद) को करना चाहिए। वस्तुतः इस सुझाव द्वारा मिल ने विधि निर्माण के कार्य में संख्या और योग्यता का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया था।

प्रतिनिधियों (सांसदों) की स्थिति मिल जन प्रतिनिधियों को मात्र जनता के अभिकर्ता नहीं

मानता। उसके अनुसार प्रतिनिधि तो एक स्वतन्त्र पथ-प्रदर्शक और शिक्षा देने वाली शक्ति होना चाहिए। वह इस बात का विरोधी था कि संसद सदस्य दलगत अनुशासन में बंधे रहें। उसके अनुसार संसद सदस्यों को वेतन नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि वेतन की व्यवस्था से वे व्यावसायिक राजनीतिज्ञों की भाँति हो जायेंगे।

15.9 मिल के प्रतिनिधि शासन सम्बन्धी विचारों की आलोचना (Criticism of Mill's Conception of Representative Government)

मिल लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली एवं प्रतिनिधि शासन का प्रबल समर्थक था, उसने शासन के दोषों को दूर करने के लिए कई सुझाव दिये, जैसे- मताधिकार का आधार शैक्षणिक योग्यता, योग्य व्यक्तियों को एक से अधिक मत देने का अधिकार हो, व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक हो, अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए आनुपातिक प्रणाली अपनायी जाये आदि। मिल के बहुत सारे सुझावों का क्रियान्वयन हुआ है, तथापि आलोचकों के अनुसार उसके समस्त विचारों का क्रियान्वयन कर दिया जाये तो लोकतन्त्र के नाम पर 'अभिजात्यतन्त्र' की स्थापना हो जायेगी। मिल के विचारों का विश्लेषण करने से ऐसा लगता है कि वह एक विरक्त लोकतान्त्रिक (Reluctant Democrate) है। उसने लोकतन्त्र में अविश्वास प्रकट किया है, उसे संदेह की दृष्टि से देखा है, लोकतन्त्र के प्रति अपनी निराशाओं और शंकाओं को व्यक्त किया है। मिल ने सर्वप्रथम व्यवस्थापिका के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया है। उसके अनुसार विधायिका को सिर्फ शासन पर नियंत्रण करना चाहिए; उसे न तो कर लगाना चाहिए, न आय-व्यय का प्रस्ताव पारित करना चाहिए, न विधि का निर्माण करना चाहिए। वह यह भी कहता है कि संसद सदस्यों को मतदाताओं की

भावनाओं के अनुसार नहीं अपितु अपने उच्च विवेक से स्वतन्त्र रूप से कार्य करना चाहिए। मिल द्वारा मतदाता की योग्यता का जो मापदण्ड प्रस्तुत किया गया है उसे यदि लागू किया जाये तो तीसरी दुनिया के देशों में मतदाताओं की संख्या गौण हो जायेगी। उसने 'प्रतिनिधि शासन' में असमानता के गीत गाते हुए कहा है कि धनी व्यक्तियों को अनेक मत का अधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार वह शिक्षितों को मूर्ख की अपेक्षा अधिक मतदान का अधिकारी बनाता है। वह भूल जाता है कि लोकतन्त्र का आधार ही समानता है और वह इसी पर कुठाराघात कर रहा है।

अतः आलोचकों के अनुसार लोकतन्त्र की दुर्बलताओं का पर्दाफाश करते हुए मिल ने लोकतन्त्र के लिए, सुधार के लिए जो सुझाव पेश किये हैं उनसे ऐसा लगता है कि वह एक विरक्त (अनिच्छुक) प्रजातान्त्रिक है।

वेपर के इस विचार से कि मिल एक विरक्त (असन्तुष्ट) लोकतान्त्रिक विचारक था, यह निष्कर्ष निकालना तर्कसंगत नहीं कि मिल लोकतन्त्र का विरोधी या शत्रु था। वस्तुतः मिल लोकतन्त्र का सशक्त समर्थक और वफादार सेवक था। लोकतन्त्र के ऊपर लिखने वाला वह एक महानतम् लेखक था। वह यह आग्रह जरूर करता था कि स्वतन्त्रता की भाँति लोकतन्त्र सभी लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है तथापि उनका विश्वास था कि जहां तक भी सम्भव हो सके वह शासन का श्रेष्ठतम रूप है। उसने प्रतिनिधियों के व्यक्तिगत चरित्र पर बल देकर प्रजातन्त्र को आध्यात्मिक आधार देने का प्रयास किया। शिक्षित एवं चरित्रवान प्रतिनिधियों द्वारा संचालित एवं मानव कल्याण की भावना पर आधारित प्रजातन्त्र को ही मिल सच्चे प्रजातन्त्र की संज्ञा प्रदान करता है। किन्तु मिल ने प्रजातन्त्र की सफलता के लिए जो अनूठे सुझाव दिये हैं तथा उसे जो आध्यात्मिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया है, वह सब अत्यंत आकर्षक एवं आदर्श होते हुए भी, आज भी नवीन परिस्थितियों में ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। वेपर लिखता है कि "निःसन्देह मिल एक प्रजातान्त्रिक होने का अधिकारी समझा जाता है किन्तु बीसवीं सदी की कसौटी पर वह एक विरक्त प्रजातान्त्रिक ही सिद्ध होता है।"

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मिल का योगदान एवं प्रभाव (Mill's Contribution and Influence in the History of Political philosophy)

राजनीति दर्शन के इतिहास में जॉन स्टुअर्ट मिल का अनूठा स्थान है। वह इतिहासकार, दार्शनिक, अर्थशास्त्री, नीतिशास्त्री और राजनीति विज्ञान का प्रकाण्ड विद्वान था। वह समाज सुधारक और प्रखर संसदवेत्ता भी था। सन् 1873 में लार्ड मार्ले ने लिखा कि लगभग बीसे वर्षों तक आक्सफोर्ड से निकलने वाला प्रत्येक बुद्धिजीवी मिल के उपदेशों से किसी न किसी रूप में प्रभावित रहा। लार्ड आक्सफोर्ड लिखते हैं कि "जब मैं 1870 में आक्सफोर्ड गया तो उसका प्रभाव चरम सीमा पर था" और प्रो. मार्शल के अनुसार, "1867 में मिल की कृति 'पॉलिटिकल इकॉनामी' को पढ़कर वे अर्थशास्त्र के गहन अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए क्योंकि इन दिनों मिल की ख्याति चरम सीमा पर थी।" मैकाले का तो यहां तक कहना था कि, "19 वीं शताब्दी के मध्य में पत्रकार अपने विचार मिल से ग्रहण करते थे।" मिल के योगदान के बारे में कहा जाता है कि वह राजनीति दर्शन में अकेला 'स्वतन्त्रता' का प्रकाश स्तम्भ है।

संक्षेप में मिल का विचार एवं दर्शन की दृष्टि से निम्नलिखित क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान रहा

है:

1. पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से पद्धति शास्त्र के क्षेत्र में मिल ने गहरा चिन्तन एवं अध्ययन किया। बेन्थम के अनुभववाद और जेम्स मिल के बुद्धिवाद के विपरीत ऐतिहासिक या प्रतिलोम निगमनात्मक पद्धति को प्रश्रय देकर पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान किया।

2. उपयोगितावाद की दृष्टि से मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में संशोधन किया। वस्तुतः मिल का उपयोगितावाद अपने आप में नवीन विचार है। वह उपयोगितावाद सार्वजनिक नैतिकता एवं सार्वजनिक आध्यात्मिकता पर आधारित है।

3. समाज सुधारक की दृष्टि से समाज सुधारक की दृष्टि से भी मिल का अपूर्व योगदान है। उसने महिला मुक्ति के सम्बन्ध में जोरदार आवाज उठाई।

आधुनिक युग का वह पहला विचारक था जिसने महिलाओं की समानता, शिक्षा और राजनीतिक अधिकारों का समर्थन किया।

4. लोकतन्त्र के उपचारक की दृष्टि से मिल ने लोकतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली बतलाया। उसने लोकतन्त्र की दुर्बलताओं को दूर करने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व, द्विसदनात्मक विधायिका, शैक्षणिक योग्यताएँ जैसे बहुमूल्य सुझाव दिये।

5. स्वतन्त्रता के प्रबल प्रवक्ता की दृष्टि से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दार्शनिक एवं नैतिक दृष्टि

से सम्बन्ध करने वालों में मिल का नाम अग्रगण्य है। मिल ने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्ष में जो कुछ भी लिखा वह सम्पूर्ण राजनीति दर्शन के साहित्य में अद्वितीय माना जाता है।

6. उदारवादी विचारक की दृष्टि से सेबाइन ने मिल को उदारवाद का प्रवक्ता माना है और उदारवादी दर्शन की दृष्टि से उसके योगदान को इस प्रकार रेखांकित किया है:

प्रथम, मिल ने उपयोगितावाद का महत्वपूर्ण संशोधन किया, उसका कहना था कि हमें मनुष्य के प्रति गौरव का भाव रखना चाहिए।

द्वितीय, मिल का मत था कि स्वतन्त्रता का महत्व इसलिए नहीं है कि वह किसी भौतिक स्वार्थ को सिद्ध करती है बल्कि उसका महत्व इसलिए है कि वह उत्तरदायी मनुष्य की तरह एक सहज और स्वाभाविक आस्था है। अपने ढंग से जीवन व्यतीत करना, अपनी सहज प्रतिभा का विकास करना, सुख को प्राप्त करने के लिए साधन नहीं है, वह खुद सुख का एक अंग है, इसलिए एक श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतन्त्रता की अनुमति देता है तथा विविध जीवन पद्धतियों के निर्वाह के उचित अवसर प्रदान करता है।

तृतीय, स्वतन्त्रता एक व्यक्तिगत हित नहीं है, वरन एक सामाजिक हित भी है। स्वतन्त्र विचार विनिमय के द्वारा समाज को भी लाभ पहुँचता है।

चतुर्थ, स्वतन्त्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक है। वह विधि निर्माण से विरत रहकर या यह मानकर कि चूँकि वैधिक प्रतिबन्धों को हटा दिया गया है इसलिए स्वतन्त्रता की अवस्थायें विद्यमान हैं, नागरिकों को स्वतन्त्र नहीं कर सकता। विधान के द्वारा अवसरों का निर्माण किया जा सकता है, उसका विकास किया जा सकता है और समानता की स्थापना की जा सकती है।

15.10 सार संक्षेप

राजनीति दर्शन के इतिहास में मिल का महत्व चिरस्थायी है। स्वतन्त्रता के पुजारी के रूप में उसे रूसो, वाल्टेयर और जेफरसन के साथ सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) एक प्रसिद्ध ब्रिटिश दार्शनिक, अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री थे। उन्हें विशेष रूप से उनके विचारों के लिए जाना जाता है जो स्वतंत्रता, मानवाधिकार, और समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महत्व पर केंद्रित हैं। उनके कुछ प्रमुख विचारों में "मिल का सिद्धांत" (Utilitarianism) और "स्वतंत्रता का सिद्धांत" (On Liberty) शामिल हैं।

1. **उपयोगितावाद (Utilitarianism)**: मिल ने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि किसी कार्य की नैतिकता का मूल्यांकन इसके परिणामों पर होना चाहिए, यानी, यदि कार्य का परिणाम अधिकतम सुख का उत्पादन करता है, तो वह कार्य सही है।
2. **स्वतंत्रता का सिद्धांत (On Liberty)**: मिल ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक स्वतंत्रता के बीच के संतुलन की बात की। उन्होंने तर्क किया कि समाज को व्यक्तिगत अधिकारों का सम्मान करना चाहिए और केवल तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब किसी व्यक्ति का कार्य दूसरों को हानि पहुंचाता हो।
3. **महिला अधिकारों पर विचार**: मिल ने महिलाओं के अधिकारों के लिए भी आवाज उठाई और "द सब्जेक्ट ऑफ़ दि वीमेन" (The Subjection of Women) में महिलाओं की समानता की आवश्यकता पर जोर दिया।

15.11मुख्य शब्द

- **उपयोगितावाद (Utilitarianism)**: नैतिकता का सिद्धांत जो अधिकतम खुशी या लाभ का उत्पादन करने वाले कार्यों को प्राथमिकता देता है।
- **स्वतंत्रता (Liberty)**: व्यक्तियों के अपने विचारों और कार्यों में स्वतंत्रता का अधिकार।
- **महिला अधिकार (Women's Rights)**: महिलाओं की समानता और उनके अधिकारों के लिए advocacy।
- **सामाजिक स्वतंत्रता (Social Freedom)**: समाज में व्यक्तियों की स्वतंत्रता और उनके अधिकारों की रक्षा।
- **नैतिकता (Ethics)**: सही और गलत का अध्ययन।

15.12 संदर्भ सूची

- शर्मा, आर. एस. (2018). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सिंह, उपिंदर. (2019). *प्राचीन भारत में राजनीति और शासन*. नई दिल्ली: पेंगुइन रैंडम हाउस.
- ठाकुर, विनय. (2020). *भारतीय राजनीतिक विचार: प्राचीन से आधुनिक तक*. नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशंस.
- मिश्रा, सुधीर कुमार. (2021). *प्राचीन भारतीय राज्यcraft और प्रशासन*. वाराणसी: ज्ञान भारती प्रकाशन.
- वर्मा, अरुण कुमार. (2022). *भारत का राजनीतिक दर्शन: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य*. जयपुर: साहित्य सदन.
- चौधरी, प्रीति. (2023). *प्राचीन भारतीय राजनीतिक संस्थाएं और उनके सिद्धांत*. पटना: विद्या विहार पब्लिकेशंस.
- दास, मनीषा. (2024). *भारतीय राजनीतिक विचारकों का योगदान*. कोलकाता: यूनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता प्रेस.

15.13 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

'ऑन लिबर्टी' ग्रन्थ किस विचारक का है-

(अ) हेराल्ड लास्की

(ब) जे.एस. मिल

(स) रूसो

(द) कार्ल मार्क्स

2. किसने उपयोगितावाद का संशोधित विचार दर्शन प्रस्तुत किया-

(अ) बेन्थम

(ब) जॉन लॉक

(स) कार्ल मार्क्स

(द) जे.एस. मिल

3. वह विचारक जो भौतिक सुखों के साथ-साथ नैतिक सुखों पर भी बल देता है-

(अ) बेन्थम

(ब) जॉन लॉक

(स) जे.एस. मिल

(द) टी.एच ग्रीन

4. "एक संतुष्ट सुअर होने की अपेक्षा असंतुष्ट मनुष्य होना अधिक अच्छा है।" यह वक्तव्य किसका है- क

(अ) कार्ल मार्क्स

(ब) बेन्थम

(स) जे.एस. मिल

(द) लास्की

5. कौनसा विचार जे.एस. मिल का नहीं है-

(अ) सुख में केवल मात्रा का ही नहीं गुण का भी भेद होता है

(ब) सुखों की मात्रात्मक नापतौल नहीं की जा सकती

(स) सब सुख समान हैं अतः खेलने में उतना ही आनन्द आता है जितना काव्य पाठन में (द) यदि विद्वान असंतुष्ट है तो वह संतुष्ट मूर्ख से कहीं अधिक अच्छा है

15. 14 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (स), 2. (द), 3. (ब), 4. (ब), 5. (स),

15.15 अभ्यास प्रश्न

1.बेन्थम के उपयोगितावाद में जे.एस. मिल द्वारा किये गये परिवर्तनों की परीक्षा कीजिए।

2.जे.एस. मिल के 'स्वतन्त्रता' सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।

3. 'प्रतिनिधि शासन' पर मिल के विचारों की विवेचना कीजिए।

4. "मिल खोखली स्वतन्त्रता और अमूर्त व्यक्ति के सिद्धान्त का पैगम्बर था।" (बार्कर) इस कथन की व्याख्या कीजिए।

टिप्पणी लिखिए

1. बहुल मतदान ।

2 'आन लिबर्टी' की विषय-वस्तु ।

3. कार्य करने की स्वतंत्रता ।

इकाई 16

जीन जेक्स रूसो

16.1 प्रस्तावना

16.2 उद्देश्य

16.3 रूसो का जीवन परिचय

16.4 रूसो की रचनाएँ

16.5 रूसो के विचारों पर प्रभाव

16.6 रूसो के प्रमुख राजनीतिक विचार

16.7 रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त

16.8 रूसो की प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा

16.9 रूसो की सामान्य इच्छा अथवा रूसो के राजदर्शन में निरंकुशतावाद के तत्व

16.10 रूसो के राजदर्शन की आलोचना

16.11 रूसो का महत्व और योगदान

16.12 सार संक्षेप

16.13 मुख्य शब्द

16.14 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

16.15 स्व - प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

16.16 संदर्भ सूची

16.17 अभ्यास प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रवर्तकों में हॉब्स तथा लॉक के साथ जीन जेक्स रूसो का नाम भी जुड़ा हुआ है किन्तु रूसो का दर्शन हॉब्स एवं लॉक से एकदम भिन्न है। जहाँ हॉब्स राज्य के निरंकुशतावादी स्वरूप का प्रतिपादन करता है और लॉक सीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त का, वहाँ रूसो का नाम लोकतन्त्रवादी चिन्तन के साथ जुड़ जाता है। उसके विचारों का ही प्रभाव था कि फ्रांस में क्रान्तिकारियों को प्रेरणा मिली और फ्रेन्च क्रान्ति के साथ रूसो का नाम अविच्छिन्न रूप से जुड़ जाता है।

रूसो की रचनाओं में 'सोशल कान्ट्रेक्ट' (Social Contract) उल्लेखनीय रचना है। इस अमर ग्रन्थ में उसके राजनीतिक विचारों का निचोड़ निहित है। इसी ग्रन्थ में वह 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। वस्तुतः रूसो के राजनीतिक चिन्तन में व्यक्तिवाद, समाजवाद, निरंकुशवाद और लोकतन्त्र सम्बन्धी विचार एक साथ दिखलाई देते हैं। बर्गसन के शब्दों में "देकार्त के बाद मानव मन पर सबसे अधिक प्रबल प्रभाव रूसो का है, उसने अपनी मौलिक प्रतिभा की छाप राजनीति, साहित्य, शिक्षा और धर्म सभी पर छोड़ी है।" वाहन के अनुसार " अरस्तू की पॉलिटिक्स के पश्चात् 'सोशल कान्ट्रेक्ट' राजदर्शन पर लिखी हुई सबसे मौलिक और विचारों की दौड़ में सबसे अधिक समृद्ध रचना है।" रूसो को स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का अग्रदूत कहा जाता है। राजनीतिक विचारों के इतिहास में समानता और सामान्य व्यक्ति में विकास की भावना से कोई विचारक इतना घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध नहीं है जितना कि रूसो। उसका अमर वाक्य "मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है और सर्वत्र वह जंजीरों से जकड़ा हुआ दिखाई देता है," आज भी स्वतन्त्रता का सिंहनाद है।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों के लिए जनेक्स रूसो के विचारों के द्वारा समाज में स्वतंत्रता, समानता, और मानवता के मूल सिद्धांतों को स्थापित करना था।

1.रूसो ने राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक विचारों के माध्यम से व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामूहिक स्वायत्तता पर जोर दिया।

2.उनके कार्यों ने आधुनिक राजनीतिक विचारधारा और मानवाधिकारों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

16.3 रूसो का जीवन परिचय(Life History of Rousseau)

जीन जैक्स रूसो का जन्म 28 जून, 1712 को जिनेवा में हुआ। उसके पिता का नाम आइजक रूसो था जो धार्मिक अत्याचारों के कारण फ्रांस से भागकर जिनेवा चला गया था। रूसो के जन्म के समय उसकी माता का देहान्त हो गया। उसका पिता एक घड़ीसाज था पर नृत्य में उसकी रुचि थी। वह चरित्रहीन, अशिक्षित एवं चंचल मनोवृत्ति का था जो अपने बेटे को उचित शिक्षा न दे सका।

जब रूसो केवल दस वर्ष का था तब उसके पिता जिनेवा छोड़कर भाग गये। उसकी शिक्षा बाईसी नगर एवं जिनेवा में हुई।

सन् 1750 ई. में रूसो के जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसने रूसो के जीवन में क्रान्तिकारी मोड़ उपस्थित कर दिया। प्रसिद्ध दार्शनिक दिदरो से मिलने के लिए एक दिन जब रूसो सड़क पर जा रहा था तो रास्ते में उसे अखबार का एक पृष्ठ पड़ा मिला। इसमें पेरिस की सबसे बड़ी साहित्यिक संस्था डी जान एकेडमी (Academy of De Jon) की ओर से निबन्ध प्रतियोगिता का एक विज्ञापन था। इस निबन्ध प्रतियोगिता का विषय था- "विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को भ्रष्ट करने में योग दिया है अथवा उसे विशुद्ध करने में।" इस विज्ञापन को पढ़ते ही रूसो के मन में सैकड़ों विचारों का स्त्रोत फूट पड़ा। रूसो के शब्दों में "उसका मस्तिष्क हजारों प्रकाश की किरणों से चकाचौंध हो गया। समाज के प्रति उसके क्रान्तिकारी विचारों का एकाएक स्रोत फूट निकला।" रूसो ने क्रान्तिकारी विचारों से ओतप्रोत निबन्ध लिखा। उसने यह सिद्ध किया कि विज्ञान और कला ने मनुष्य का पतन किया है। मानव समाज की प्रारंभिक अवस्था में सब मनुष्य सरल और निष्पाप जीवन बिताते हुए

आनन्दपूर्वक रहते थे। वर्तमान समाज की सब बुराइयों का मूल सभ्यता की उन्नति, ज्ञान का प्रेम और सभ्य समाज का कृत्रिम जीवन है। रूसो को प्रथम पुरस्कार मिला और इस पुरस्कार ने उसे विश्वविख्यात बना दिया। रूसो की भेंट तात्कालिक प्रमुख विचारक दिदरो तथा वाल्टेयर से होती है और दिदरो के साथ फ्रेन्च विश्व ज्ञान कोष में उसने लिखना आरम्भ किया। 1754 ई. में उसने एक दूसरी निबन्ध प्रतियोगिता के लिए निबन्ध लिखा जिसका शीर्षक था- "मनुष्यों में विषमता उत्पन्न होने का क्या कारण है: क्या प्राकृतिक कानून इसका समर्थन करता है।" इस निबन्ध में उसने निजी सम्पत्ति तथा आर्थिक विषमता उत्पन्न होने के कारणों पर प्रकाश डाला है। चूंकि अकादमी के निर्णायकों के विचार रूसो के विचार से मेल नहीं खाते थे इसीलिये उसका निबन्ध पुरस्कृत नहीं हो सका। बाद में यही निबन्ध 'Discourses on the Origin of Inequality' के नाम से सन् 1755 में प्रकाशित हुआ, जिसने फ्रांस की जनता में एक हलचल सी पैदा कर दी। यही ग्रन्थ बाद में फ्रांस के क्रान्तिकारियों की बाईबिल बन गया। रूसो ने अब कलम अपने हाथ में थाम ली और अनेक ग्रन्थों की रचना की। सन् 1762 में राजनीति पर उनकी प्रसिद्ध रचना सोशल कॉन्ट्रेक्ट (The Social Contract) तथा शिक्षा सम्बन्धी पुस्तक (The Emile) का प्रकाशन हुआ। उसके क्रान्तिकारी विचारों से शासकगण क्रुद्ध और विक्षुब्ध हो उठे। इमाइल में व्यक्त विचारों से पादरी लोग उससे नाराज हो गये। अपने धर्म विरोधी और राजतन्त्र विरोधी विचारों के कारण उसकी मातृभूमि जिनेवा की परिषद् ने इन दोनों ग्रन्थों को जला डालने की तथा जिनेवा आने पर रूसो को बन्दी बनाने का आदेश प्रसारित किया। फ्रेन्च सरकार ने भी इसी कारण उसे गिरफ्तार करने का आदेश दिया। रूसो को अपने प्राण रक्षा के लिए फ्रांस से भागना पड़ा। प्रताड़ित और तिरस्कृत रूसो चिड़चिड़ा होकर पागलों की तरह फ्रांस, इंग्लैण्ड और स्विट्जरलैण्ड में घूमता रहा। उसके दिमाग की विक्षिप्तता बढ़ी जा रही थी। अपने मित्रों पर वह शक करने लगा कि वे उसे मार डालना चाहते हैं। फ्रेन्च राज्य क्रान्ति से 11 वर्ष पहले सन् 1778 में 66 वर्ष की आयु में उसका निधन हो गया।

16.4रूसो की रचनाएँ (Works of Rousseau)

रूसो की निम्नलिखित रचनाएँ उल्लेखनीय है

1. डिस्कोर्सेज आन दी मॉरल एफेक्ट्स ऑफ दि आर्ट्स एण्ड साइन्सेज (Discourses on the Moral effects of the Arts and Science, 1751)
2. 2.डिस्कोर्सेज आन दी आरिजन ऑफ इनइक्वैलिटी (Discourses on the Origin of Inequality, 1755)
3. 3.इकनॉमिक पॉलिटिक (Economic Politics, 1755)
4. 4.कान्ट्रेक्ट सोशल (Contract Social, 1762)
5. लेटर्स डि ला मोण्टेन (Letters de la Montague, 1764)
6. दि इमाइल (The Emilc, 1762)
7. कन्फेशन्स (Confessions)

16.5 रूसो के विचारों पर प्रभाव (The Influences on Rousseau's Thought)

रूसो की विचारधारा पर उसके युग की परिस्थितियों तथा अनेक राजनीतिक दार्शनिकों का प्रभाव दिखायी देता है। मोटे तौर पर हम रूसो पर दिखायी देने वाले प्रभावों को निम्न भागों में बाँट सकते हैं:

1. रूसो के विचारों पर जॉन लॉक और प्लेटो का स्पष्ट प्रभाव है। बार्कर ने लिखा है कि रूसो ने आरम्भ तो अवश्य लॉक से किया पर लौट कर वह प्लेटो के रिपब्लिक तक पहुंचा और फिर आगे बढ़कर हीगल की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। प्लेटो और अरस्तू की भाँति रूसो ने कहा कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, मनुष्य का पूर्णजीवनकाल केवल समाज में ही सम्भव है। राज्य की अधीनता मनुष्य इसलिए स्वीकार करता है कि राज्य उसका नैतिक नियंत्रण करे और व्यक्ति को अन्तिम लक्ष्य की ओर ले जाने में सफल हो।

.

2. अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सोशल कान्ट्रेक्ट' की रचना करते समय रूसो पर हॉब्स और लॉक के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। हॉब्स के प्रभावों के कारण रूसो के विचार तीव व्यक्तिवादी प्रतीत होते हैं और अन्त में वह निरंकुशतावाद का भी समर्थन कर बैठता है तथा लॉक के प्रभाव के कारण वह लोकतन्त्र का समर्थक है तथा राज्य की स्थापना का आधार सहमति मानता है।

3. जिनेवा के वातावरण से भी रूसो प्रभावित हुआ है, इसलिए उसके राजनीतिक विचार स्थानिक रहे। वह छोटे राज्यों के पक्ष में था।

4. फ्रांस की तात्कालिक परिस्थितियों से भी रूसो प्रभावित हुआ। उस समय मुख्य प्रश्न यह था कि निरंकुश राजसत्ता, सामन्तशाही और चर्च की अतियों से सामान्य जनता को कैसे राहत मिले। रूसो के सामने राजत्व की सम्प्रभुता के समर्थन के स्थान पर सामान्य जनता के लिए शासन की क्रूरता और चतुर्दिक शोषण से मुक्ति का प्रश्न था।

5. राज्य पर प्रभाव डालने वाले तत्व जैसे बाह्य परिस्थितियाँ, ऐतिहासिक परम्पराएँ आदि के सम्बन्ध में जब रूसो लिखता है तो उस पर मॉन्टेस्क्यू का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

वाहन के शब्दों में, "रूसो ने लॉक के शिष्य के रूप में आरम्भ किया, अपने विकास के महत्वपूर्ण वर्षों में वे पूरे हृदय के साथ प्लेटो के शिष्य रहे और अन्त में वे मॉन्टेस्क्यू के जादू में आ गये, अवश्य ही मान्टेस्क्यू के प्रभाव में आने वाले ये सबसे महान विचारक थे।"

16.6 रूसो के प्रमुख राजनीतिक विचार (Main political ideas of Rousseau)

यद्यपि हॉब्स और लॉक की तरह रूसो भी समाज और राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का समर्थक है तथापि उसका उद्देश्य उसकी तरह व्यक्तिवाद और प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन करना मात्र नहीं था। इनके विपरीत, रूसो समाज के नैतिक पतन के प्रति अत्यधिक

चिन्तित था और चाहता था कि इस अभिशाप से मुक्त होकर मनुष्य का जीवन पुनः नैतिक दृष्टि से उच्च हो जाए। अतः वह समाज और राज्य की आदर्शवादी दृष्टिकोण से विवेचना करता है और इसी आधार पर मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करता है। रूसो ने अपनी पुस्तक 'दि सोशल कान्ट्रेक्ट' में अपने समझौता सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया है। रूसो के प्रमुख विचार निम्नलिखित है-

रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धात (Rousseau's Theory of Social Contract)- रूसो के समझौता सम्बन्धी विचारों को निम्न शीर्षकों में समझा जा सकता है-

1. **मानव स्वभाव (Human Nature)-** रूसो प्राकृक्तिक अवस्था में मनुष्य को स्वाभाविक रूप से अच्छा, सुखी, सीधा, चिन्तारहित स्वस्थ, शान्तिप्रिय और एकान्तप्रिय समझता था। इस विषय में रूसो का विचार हॉब्स तथा लॉक दोनों से ही भिन्न है। हॉब्स का कहना है कि प्राकृतिक दशा में रहने वाला मनुष्य न केवल हिंसक और क्रूर था, प्रत्युत कपटी भी था। दूसरी ओर लॉक ने मनुष्य को प्राकृक्तिक नियम और ईश्वरीय नियम से अनुशासित होने वाला माना था। रूसो प्राक्तिक्क दशा में नैतिकता के ऐसे उच्च विकास को भी असम्भव मानता है। अतः उसके विचारों को गलत मानते हुए रूसो ने आदिम मनुष्य को पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष तथा स्वाभाविक रूप से अच्छा माना है।

रूसो के अनुसार सभ्यता के उदय और विकास के साथ-साथ मनुष्य की तनावग्रस्तता बढ़ गई। रूसो के विचार में समकालीन सभ्यता एक तनावग्रस्त सभ्यता है। यह मनुष्य को प्रफुल्लचित्त रखने वाला बाग नहीं, बल्कि एक कैद है। इसीलिए मनुष्य की इच्छा है कि वह एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करे जो प्राकृतिक मनुष्य की सभ्यता हो और जहाँ उसके स्वार्थ और परमार्थ में चेतना और विवेक के अनुसार समन्वय हो सके ।

2. **प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)-** रूसो के अनुसार प्राकृक्तिक अवस्था में मनुष्य प्रकृक्ति की गोद में रहता था। उसका जीवन पशुओं जैसा व एकाकी था। वह अपना जीवन वनों में विचरण | करके बिताता था। किसी व्यक्ति का

कोई घर न था और न ही उसकी कोई सम्पत्ति थी। मनुष्य अपनी प्रकृति की सादगी और परमार्थ की भावना के साथ उसमें सादगी से रहता था। इस अवस्था में सब समान थे तथा अपने-अपने जीवन के स्वामी थे। कोई कलह, द्वेष, मारपीट नहीं थी। कोई सभ्यता नहीं थी तथा सभ्यता की आवश्यकता भी नहीं थी। मनुष्य एकान्त में सुखी, बेपरवाह जिन्दगी जी रहा था। वह न ही वस्त्र धारण करता था, और न ही भाषा का उसे ज्ञान था।

इस प्रकार रूसो के अनुसार प्राकृक्तिक मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, नैतिक-अनैतिक भावनाओं से मुक्त, निःस्वार्थ सम्पत्ति और परिवार से रहित आदिम स्वर्ण युग की स्वर्गीय दशा में रहता था। प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति के लिए रूसो 'आदर्श जंगली' (Noble Savage) शब्द का प्रयोग करता है। प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति एक भोले और अज्ञानी बालक की भाँति सादगी और सुख का जीवन व्यतीत करता था।

रूसो के अनुसार प्राक्तिक अवस्था अनैतिक (immoral) नहीं थी, इसे सद्गुण की अवस्था भी नहीं कहा जा सकता है। यह धोखाधड़ी और युद्ध की अवस्था नहीं थी, क्योंकि धोखाधड़ी करने की प्रवृत्ति जागती है जब उसमें हिसाबी बुद्धि का उदय होता है। यह प्राकृक्तिक अवस्था में नहीं थी। गूच के शब्दों में, " रूसो द्वारा चित्रित प्राकृक्तिक अवस्था न तो हॉब्स के सदृश्य सभी का सभी के विरुद्ध युद्ध की थी और न ही लॉक की शान्ति व सइच्छा की अवस्था जैसी थी। यह ऐसी दशा थी जिसमें व्यक्ति पशु जैसा अकेले जीवन बिताता था।"

आज के तथाकथित सभ्य और विकसित व्यक्ति की प्राकृतिक मानव से तुलना करने के पश्चात् ही रूसो कहता है कि "हमें अज्ञान, भोलापन एवं गरीबी लौटा दो क्योंकि वही हमें सुखी बना सकती है।" "Give us back the ignorance, innocence and poverty, which alone can make us happy."

3. **समझौते के कारण (Causes of the Social Contract)** - प्राकृक्तिक अवस्था 'आदर्श अवस्था' थी जहाँ मनुष्य एक मासूम, निदर्दोष और निर्मल पंछी की तरह प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेता हुआ, स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करता हुआ मस्त जीवन व्यतीत करता था। उसे किसी प्रकार की चिन्ता न थी, उसका

जीवन शान्तिपूर्ण और सुखी था। परन्तु यह स्वर्णिम अवस्था अधिक दिनों तक न रह सकी। मानव के ज्ञान में वृद्धि हुई। मनुष्य को अग्नि का ज्ञान हुआ। कुछ मोटे ढंग के हथियार व औजार अस्तित्व में आये। लोगों का घुमक्कड़ वनचर जीवन गया और वे निश्चित स्थान पर बसने लगे। स्त्री पुरुषों का आकस्मिक मिलन कुछ स्थायी होने लगा और परिवार भी अस्तित्व में आये। मनुष्यों में परिवार के साथ-साथ सम्पत्ति बनाने की इच्छा हुई। व्यक्तिगत सम्पत्ति की मान्यता के कारण लोगों में परस्पर कलह, द्वेष, हिंसा व युद्ध आदि का प्रादुर्भाव हुआ। "सम्पत्ति सम्बन्धी सर्प मानव समाज में पैदा हो गया और उसकी सुख-शान्ति काफूर हो गई। सम्पत्ति के कारण ही धनी व निर्धन का भेद उत्पन्न हुआ। रूसो का कहना है कि "वह मनुष्य जिसने जमीन के टुकड़े को घेर लिया और कहा कि यह जमीन मेरी है, वही आधुनिक समाज का जन्मदाता है।" इससे उद्दात्त वनचर (Noble Savage) की स्वाभाविक समानता, स्वतन्त्रता समाप्त हो गई एवं दास प्रथा आदि बुराइयों उत्पन्न हुईं। व्यक्तिगत सम्पत्ति ने प्राकृतिक अवस्था की शान्ति भंग करके एक ऐसे सभ्य कहे जाने वाले समाज को जन्म दिया जिसने मनुष्य से मनुष्य की सादगी, ईमानदारी, समानता, परमार्थ की भावना छीन कर उसे इंसानियत का दुश्मन, सम्पत्ति का भूखा, स्वार्थी, घमण्डी बना दिया, अतः सभ्यता, सभ्य समाज, विज्ञान, सम्पत्ति आदि मनुष्य की दुश्मन हैं।

रूसो के अनुसार सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ दरिद्रता, शोषण, हत्या और बीमारी बढ़ती चली गई। युद्ध और तनाव ने मनुष्य को हिंसक बना दिया जिससे समाज की वह दशा हो गई जो हॉब्स की प्राकृक्तिक अवस्था में थी। रूसो के शब्दों में, "समाज और राज्य का उदय ऐसा था जिसने गरीबों को नयी जंजीरों में बांध दिया और अमीरों को नयी शक्ति दे दी जिसने प्राकृक्तिक स्वतन्त्रता को बिल्कुल नष्ट कर दिया, सम्पत्ति के कानूनों को बनाकर असमानता को जन्म दिया और कुछ महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के लाभ के लिए सारी मानवता को सदा के लिए मजदूरी, गुलामी और दयनीय स्थिति में धकेल दिया।"

इसका अर्थ यह है कि प्राकृक्तिक अवस्था में मनुष्य की आत्मा स्वतंत्र थी। उसमें स्वार्थ एवं मेरे-तेरे की भावना नहीं थी। घर की दीवारों ने उसके स्नेह एवं प्रेम को सीमित नहीं किया। प्राकृक्तिक अवस्था में रहने वाले सभी मनुष्य श्रेष्ठ थे। अज्ञानी होने पर भी वे सबके लिए थे। अतः प्राकृक्तिक अवस्था जो

कि समाज के जन्म की अवस्था थी उस अवस्था में रहने वाला मनुष्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक बंधनों में नहीं बँधा था। अतः प्रारंभिक प्राकृतिक अवस्था में जो समाज के जन्म की अवस्था है वह पवित्र स्वतन्त्रता की अवस्था है।

यह अवस्था संपत्ति के ज्ञान के साथ दूषित हो गई और मानव समाज कुटुंब से उपजे स्वार्थ, संघर्ष एवं मेरे तेरे के बंधनों में जकड़े संसार में हर जगह दिखाई देती है। अतः हर जगह वह इन्हीं बंधनों में है।

अब मनुष्य की बेड़ियाँ या परतन्त्रता मनुष्य को व्याकुल करने लगी और वह इससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो उठा। अतः उसने अपने को सर्वनाश की ओर ले जाने वाली अराजक व्यवस्था का अन्त करने के लिए अनुबन्ध या सामाजिक समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना की।

रूसो का स्पष्ट मत है कि मनुष्य ने स्वयं ही अपने आनंद, समानता एवं स्वतन्त्रता को छोड़ा है परन्तु इन्हें दुबारा प्राप्त करना अनिवार्य है क्योंकि स्वतन्त्रता, समानता और आनंद के बिना जीवन व्यर्थ है कि इन्हें कैसे प्राप्त किया जाये? रूसो का उत्तर था- "प्रकृक्ति की ओर चलो अर्थात उस अवस्था की ओर चलो जो पहले थी (Back to nature)। परन्तु रूसो यह जानता था कि नागरिक समाज से प्राकृतिक अवस्था की ओर लौटना असम्भव है। अतः अब वह प्रकृति की ओर लौट चलने का आह्वान नहीं देता। मैक्सी के शब्दों में, 'अब उसकी दिशा आगे की ओर है न कि पीछे की (His direction is now forward, not backward)। अब रूसो के सामने यह समस्या थी "क्या यह सम्भव है कि ऐसे समाज की स्थापना की जाये जो अपने सदस्यों की जन-धन की पूर्ण शक्ति के साथ रक्षा करे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से साथ एक होते हुए भी केवल अपने आदेशानुसार आचरण कर सके और पहले की भाँति

स्वतन्त्र रह सके ?" इस समस्या का समाधान था 'सामाजिक समझौता' जिसे हॉब्स, लॉक आदि दार्शनिक पहले ही प्रतिपादित कर चुके थे।

4. **सामाजिक समझौता तथा राज्य का स्वरूप (Social Contract and Nature of State) -** युद्ध और संघर्ष के वातावरण का अन्त करने के लिए रूसो एक सामाजिक समझौते की कल्पना करता है। सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया। किन्तु अधिकारों का यह समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के साथ अपने लिए भी था।

रूसो के अनुसार मनुष्यों ने आपस में एक समझौता किया। इस समझौते में सभी व्यक्तियों ने भाग लिया। प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों को किसी व्यक्ति विशेष को अर्पित न कर सम्पूर्ण समाज को अर्पित करता है। इस प्रकार यह समझौता लोगों के (i) निजी स्वरूप (ii) सामूहिक स्वरूप के मध्य हुआ। अ, ब, स, द, आदि ने अपने अधिकारों को अ ब स द के सामूहिक स्वरूप को सौंप दिया। इसमें किसी की हानि नहीं, वरन् सभी का लाभ ही होता है तो उसकी रक्षा के लिए सारा समाज उपस्थित हो जाता है। रूसो की कल्पना के अनुसार "हम में से प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और सभी शक्तियों को सामान्य रूप से सार्वजनिक इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अन्तर्गत रखता है और हम संयुक्त रूप से सार्वजनिक इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अन्तर्गत रहते हैं और हम संयुक्त रूप से प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण संगठन के अखण्ड हिस्से के रूप में पाते हैं।" "समझौते करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर, समूह बनाने की इस प्रक्रिया में, एकदम नैतिक तथा सामूहिक निकाय (Collective body) का जन्म होता है जो कि उतने ही सदस्यों से मिलकर बना है जितने कि उसमें मत होते हैं। समुदाय बनाने के इस कार्य से ही इस निकाय की अपनी एकता, अपनी सामान्य सत्ता, अपना जीवन तथा अपनी इच्छा प्राप्त होती है। समस्त शक्तियों के बने संगठन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य कहते हैं और जब सक्रिय होता है तो संप्रभु तथा ऐसे अन्य निकायों से इसकी तुलना करने पर इसे शक्ति कहते हैं।" सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित 'राज्य' को

'सामान्य इच्छा' पर आधारित राज्य (General will) कहा जाता है। सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति 'सामान्य इच्छा' में ही होती है। सभी व्यक्ति सामान्य इच्छा के आधीन रहते हुए कार्य करते हैं। प्रत्येक नागरिक का सम्प्रभुता में एक भाग होता है और उसके साथ ही वह यह जानता भी है क्योंकि उसे उस कानून को मानना पड़ता है जिसे उसने स्वयं संप्रभु के अंश के रूप में बनाया है। इस प्रकार रूसो के दर्शन में हमे 'जनप्रिय सम्प्रभुता' (Popular Sovereignty) और लोकतन्त्रीय सरकार का आधार दिखाई देता है।

5. **सामाजिक समझौते की विशेषताएँ (Salient Features of the Social Contract) -** रूसो के सामाजिक समझौते की निम्न विशेषताओं से इसे सरलता से समझा जा सकता है-

(i) सामाजिक समझौते के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति व अपने अधिकारों को सबको समर्पित कर देता है। इस समर्पण का आधार और शर्त है, समता क्योंकि सभी व्यक्तियों ने समान रूप से अपने अधिकारों का समर्पण कर दिया।

(ii) समझौते की क्रिया के द्वारा अलग-अलग व्यक्तियों के निजी व्यक्तित्व के स्थान पर एक समूह व्यक्तित्व स्थापित हो जाता है।

(iii) सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप मनुष्य की परतन्त्रता का अन्त हो जाता है, वह वास्तविक रूप से स्वतन्त्र हो जाता है और जीवन की एक निश्चित विधि में ढल जाता है।

(iv) समझौते के परिणामस्वरूप व्यक्ति का स्थान समष्टि तथा व्यक्तिगत इच्छा का स्थान सामान्य इच्छा ले लेती है।

(v) रूसो के अनुसार समझौते से किसी सरकार की स्थापना नहीं होती वरन् उससे सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न एक ऐसे समाज की स्थापना होती है जिसके संचालन का आधार समाज की सामान्य इच्छा होती है। समझौते द्वारा स्थापित सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पत्र समाज अपनी सामान्य इच्छा के अनुसार समाज का संचालन करने के लिए सरकार की नियुक्ति करता है जो उस समाज का एक

यंत्र मात्र होती है तथा ऐसी सरकार यदि सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करती, तो उसे बदला या हटाया जा सकता है।

(vi) इस समझौते के द्वारा व्यक्ति कुछ भी नहीं खोता क्योंकि जो अधिकार वह दूसरों को अपने ऊपर देता है वही अधिकार वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर प्राप्त कर लेता है।

(vii) रूसो के अनुसार समझौते कोई ऐसी घटना नहीं है जो कभी एक बार घटी हो। यह तो एक निरंतर चलने वाला क्रम है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरंतर भाग लेता रहता है।

(viii) इस प्रकार उत्पन्न राज्य सावयव (Organic) राज्य है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अंग होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार अलग नहीं हो सकता और न ही व्यक्ति राज्य के विरुद्ध आचरण कर सकता है।

इस प्रकार रूसो का सामाजिक समझौता हॉब्स और लॉक के समझौते से भिन्न होते हुए भी प्रभावित अवश्य है। हॉब्स की भाँति रूसो ने माना है कि समझौते के लिए उत्सुक व्यक्तियों ने अपने सम्पूर्ण अधिकार बिना किसी शर्त के समर्पित कर दिये। लेकिन यह अवश्य है कि हॉब्स के विचार के विपरीत ये अधिकार एक व्यक्ति या समूह को नहीं सौंपे गये। लॉक की भाँति रूसो ने यह स्वीकार किया है कि समझौते के बाद सम्पूर्ण सत्ता समाज में ही निहित रही। रूसो की इस स्थिति के बारे में गैटेल ने लिखा है, "रूसो की रचना का यह भाग हॉब्स और लॉक दोनों से प्रभावित था, हॉब्स की पद्धति और लॉक के निष्कर्ष को जिज्ञासापूर्वक संयुक्त कर दिया गया. इस प्रकार हॉब्स की तरह जहाँ निरंकुश सत्ता स्थापित हुई, वहाँ लॉक की तरह व्यक्ति अब भी समान अधिकार रखते थे।"

रूसो के समझौते सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Rousseau's Social Contract Theory)-

17 वीं और 18 वीं शताब्दी में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय रहा, परन्तु रूसो की मृत्यु के उपरान्त इसका पतन हो गया। बेन्थम, सर फ्रेडरिक पोलक, वाहन, एडमण्ड बर्क आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की

कटु आलोचना की है। सर हेनीमन ने तो स्पष्ट कहा है कि "समाज तथा सरकार की उत्पत्ति के इस वर्णन से बढ़कर व्यर्थ की वस्तु और क्या हो सकती है?" निम्न तर्कों के आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जा सकती है:

1. प्राकृतिक अवस्था काल्पनिक है रूसो ने प्राकृक्तिक अवस्था का जो चित्र प्रस्तुत किया है

वह निराधार एवं काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्य यह किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं करते कि मनुष्य ऐसा शान्तिमय, सुखमय और आदर्श जीवन-यापन कभी करते थे।

2. मानव स्वभाव का गलत अध्ययन रूसो की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण मानव स्वभाव

की गलत धारणा पर बना है। उसका मत है कि मौलिक रूप से मनुष्य अच्छा और गुणी है। उसके समस्त दोष बाह्य परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हुए हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य अच्छाई और बुराई का सम्मिश्रण है।

3. विचित्र विरोधाभास रूसो के अनुसार यह समझौता व्यक्ति और समाज में होता है और दूसरी ओर रूसो यह बताता है कि समाज समझौते का परिणाम है। यह एक विरोधाभास है जो समझौते की धारणा को असंगत बनाता है। इसके अतिरिक्त रूसो के वर्णन में एक अन्य असंगति यह है कि कहीं तो वह समझौते को ऐतिहासिक घटना कहता है और कहीं उसे एक निरंतर चलने वाला क्रम ।

4. सामाजिक प्रगति के सिद्धान्त का विरोध रूसो सामाजिक प्रगति के सिद्धान्त का विरोध

करता है। उसकी यह मान्यता है कि जैसे-जैसे समाज प्राकृक्तिक जीवन से दूर हुआ है वैसे-वैसे उसका पतन हुआ है। लेकिन यह बात तथ्यपूर्ण नहीं है। मानव जाति का आज तक का इतिहास उसकी प्रगति का इतिहास है। ज्ञान और विज्ञान दोनों के क्षेत्रों में विकास के जिन शिखरों को आज मनुष्य स्पर्श कर पाने में सफल हुआ है वैसा अतीत में कभी नहीं हुआ। मनुष्य में विद्यमान

जिज्ञासा की प्रवृत्ति उसे हमेशा आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रही है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।

5. राज्य समझौते का नहीं विकास का परिणाम है- रूसो की धारणा सरासर गलत है कि राज्य

का जन्म किसी समझौते के कारण हुआ है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य का किसी समय विशेष में जन्म नहीं हुआ वरन् उसका शनैः शनैः विकास हुआ है।

6. व्यक्ति को निरंकुशता के हवाले कर देना- रूसो के अनुसार समझौते के द्वारा व्यक्ति अपनी

सम्पूर्ण स्वतन्त्रता और अधिकार समाज को दे देता है। अतः उसकी स्थिति स्वतन्त्र और अधिकार विहीन हो जाती है। रूसो इसकी सफाई यह कहकर देता है कि समाज का सदस्य होने के नाते व्यक्ति अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता और अधिकार पुनः प्राप्त कर लेता है किन्तु यह एक सैद्धान्तिक कथन मात्र है। वास्तविकता यह है कि रूसो ने व्यक्ति को पूर्णतः सामान्य इच्छा की निरंकुशता के हवाले कर दिया है।

7. व्यक्ति की स्थिति हास्यास्पद रूसो ने व्यक्ति को दोहरा व्यक्तित्व प्रदान किया है। शासन के रूप में वह नागरिक है और कानून का आदेश पालन करने वाले के रूप में प्रजा है- अर्थात वह नागरिक और प्रजा दोनों ही है। नागरिक की इस दोहरी स्थिति से जो परिणाम निकलते हैं वे बुद्धि से परे हैं और हास्यापद है। उदाहरण के लिए, अगर एक व्यक्ति को राजाज्ञा से फाँसी पर लटकाया जाता है तो रूसो के अनुसार उसके सम्बन्ध में यह कहा जायेगा कि उसने एक नागरिक की तरह अपने आपको फाँसी पर लटकाये जाने की आज्ञा दी है और एक प्रजा की तरह राजाज्ञा का पालन करते हुए वह फाँसी पर लटक गया। यह न समझ में आने वाली विचित्र बात है।

8. रूसो का राज्य 'शीश कटा लेवियाथन' रूसो राज्य व समाज में किसी भी प्रकार का अन्तर

नहीं करता। फलतः रूसो का राज्य एक सर्वाधिकारवादी राज्य बन जाता है जिसे आलोचकों ने 'शीशविहीन लेवियाथन' कहा है। उसे 'शीशविहीन लेवियाथन' इसलिए कहा गया है कि यद्यपि हॉब्स के 'लेवियाथन' की तरह वह सामान्य इच्छा से निर्देशित होने के कारण निरंकुश नहीं है लेकिन सामान्य इच्छा क्या है इसका निर्धारण करने का एकाधिकार उसके हाथों में केन्द्रित है। अतः व्यावहारिक रूप से वह निरंकुश हो जाता है। इस तरह वह सामान्य इच्छा से जो पूर्ण जनतांत्रिक है, निर्देशित होते हुए भी निरंकुशता उपयोग करने की स्थिति में बना रहता है। इसलिए वह एक 'शीशकटा लेवियाथन' है।

रूसो के सामाजिक समझौते का महत्व (Significance of Rousseau's Social Contract Theory)- रूसो के सिद्धान्त की आलोचना की गई है, इसे काल्पनिक तथा निरंकुश कहा गया है तथापि उसके सिद्धान्त का महत्व अवश्य है। प्रथम, इस सिद्धान्त के द्वारा रूसो ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त पर कटु प्रहार किया। द्वितीय, इस सिद्धान्त ने राज्य को मानवीय संस्था बताकर निरंकुश शासन का विरोध किया। तृतीय इस सिद्धान्त ने इस बात पर जोर दिया है कि राज्य और शासन का आधार जन सहमति है। चतुर्थ इसने लोकप्रिय सम्प्रभुता को सुदृढ़ बनाया।

16.7 रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त (Rousseau's Theory of General Will)

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो का सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त है। कुछ विचारक इस सिद्धान्त को सबसे अधिक खतरनाक सिद्धान्त मानते हैं जबकि अन्य विचारकों की राय में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त लोकतन्त्र तथा राजनीति के दर्शन की आधारशिला है। आस्बर्न के शब्दों में, "सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन को न केवल रूसो का मौलिक योगदान है अपितु सबसे महत्वपूर्ण योगदान भी है।" रूसो की मुख्य समस्या यह है कि किस प्रकार सामाजिक सत्ता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में समन्वय स्थापित किया जाये तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं राज्य की प्रभुसत्ता सहगामी बन जाये। रूसो ने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के द्वारा इस समस्या

के समाधान को ढूँढ़ा है। रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अनुसार आदिम मनुष्य पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष तथा स्वाभाविक रूप से अच्छा था। उसका जीवन पशुओं जैसा व एकाकी था। रूसो के अनुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, नैतिक तथा अनैतिक भावनाओं से मुक्त, सम्पत्ति तथा परिवार से रहित आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में रहता था। प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवस्था थी। लेकिन कृषि के आविष्कार के कारण सम्पत्ति और 'मेरे-तेरे' की भावना का विकास हुआ जिससे प्राकृक्तिक शान्तिमय जीवन नष्ट हो गया तथा युद्ध, संघर्ष और विनाश का वातावरण उत्पन्न हुआ। इस असहनीय स्थिति से छुटकारा पाने के लिए सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने सम्पूर्ण अधिकारों के साथ अपने आपको भी बनाये रखा। समझौते के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अन्तर्गत रहते हुए कार्यरत रहते हैं। दूसरे शब्दों में, रूसो सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित राज्य को 'सामान्य इच्छा' (General will) कहता है।

रूसो के सम्पूर्ण दर्शन में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त उसका मौलिक योगदान है। रूसो के इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त ने राजदर्शन में हलचल उत्पन्न कर दी। जोन्स के शब्दों में "सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के चिन्तन का केवल केन्द्र बिन्दु है अपितु यह अत्यन्त मौलिक, दिलचस्प और ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिक सिद्धान्त को उसका महत्वपूर्ण योगदान है' शायद ही कोई सिद्धान्त इतना विवादास्पद रहा हो जितना की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त। एक ओर तो लोकतन्त्र के समर्थकों ने मुक्त हृदय से इसका स्वागत कर इसे प्रजातन्त्र का आधार स्तम्भ बताया दूसरी ओर निरंकुश शासकों ने इसका दामन पकड़कर जनता पर मनमाने अत्याचार किये

सामान्य इच्छा क्या है सामान्य इच्छा क्या होती है जिसे समझने के लिए रूसो द्वारा प्रतिपादित मानव इच्छा के विश्लेषण को समझना आवश्यक है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। किसी न किसी प्रकार के विचार या इच्छाएँ उसके हृदय में सदा उठती रहती हैं। मनुष्य की ये इच्छाएँ सामान्यतः दो प्रकार की होती है- प्रथम, यथार्थ तथा द्वितीय, आदर्श इच्छाएँ।

यथार्थ इच्छा (Actual Will) सामान्यतया यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा का एक ही अर्थ लिया जाता है, परन्तु रूसो के द्वारा इनका प्रयोग विशेष अर्थों में किया गया है।

रूसो के अनुसार मनुष्य की यथार्थ इच्छा स्वार्थ प्रधान होती है। वह मनुष्य की अविवेकपूर्ण संकीर्ण प्रवृत्ति का परिणाम होती है, स्वार्थ तथा वैयक्तिक हित को दृष्टि में रखती है तथा सामाजिक हित का विचार नहीं करती। उदाहरणार्थ, खाद्य पदार्थों पदार्थों में मिलावट करने वाले व्यापारी का लक्ष्य केवल लाभ कमाने का विचार होता है, वह इससे समाज को पहुँचने वाली हानि को कभी नहीं देखता। संक्षेप में, यथार्थ इच्छा संकुचित, अविवेकपूर्ण, अस्थाई और क्षणिक इच्छाएँ होती हैं। डॉ. आशीर्वादम के शब्दों में "यह व्यक्ति की समाजविरोधी इच्छा है, क्षणिक एवं तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्वविरोधी है।"

आदर्श इच्छा (Real Will)- मनुष्य की आदर्श इच्छा उसके व्यापक दृष्टिकोण का परिणाम होती है। यह सामाजिक हित से सम्बद्ध होने के कारण अस्थायी और क्षणिक नहीं होती। यह मनुष्य की बुद्धि के चिन्तन का परिणाम और व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित होने के कारण व्यक्ति की वास्तविक इच्छा होती है। संक्षेप में दृष्टिकोण की व्यापकता, दूरदर्शिता, स्थायित्व व्यक्ति व समाज के हित का सामंजस्य, पूर्णता व विवेकशीलता व्यक्ति की आदर्श इच्छा की विशेषताएँ होती हैं। डॉ. आर्शीर्वादम् के शब्दों में, " यह जीवन के समस्त पहलुओं पर व्यापक रूप में दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज के सामंजस्य में प्रदर्शित होती है"।

सामान्य इच्छा (General Will)- समाज के विभिन्न व्यक्तियों की आदर्श इच्छा (Real will) का सर्वयोग ही सामान्य इच्छा है। रूसो की मान्यता है कि सब नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्य हित हो, सामान्य इच्छा कहलाती है। "यह सब व्यक्तियों में से आनी चाहिए तथा सब व्यक्तियों पर लागू होनी चाहिए" (It must both come from all and apply to all) । सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए बोसांके ने कहा है कि "सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की सामूहिक अथवा सभी व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का समूह होता है जिनका सामान्य हित हो।" ग्रीन के अनुसार यह " सामान्य हित की

सामान्य चेतना है ।" वेपर के अनुसार " सामान्य इच्छा नागरिकों की वह इच्छा है जिसका लक्ष्य सबकी भलाई है, व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं। यह सबकी भलाई के लिए सबकी आवाज है।"

अतः सामान्य इच्छा की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। यह एक भाव है जो कि समझा जा सकता है किन्तु व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। किसी इच्छा को सामान्य इच्छा होने के लिए यह आवश्यक है कि वह सामान्य व्यक्तियों की इच्छा हो और उसका आधार सामान्य हित हो। अर्थात सामान्य इच्छा के दो अंग होते हैं: प्रथम, सामान्य व्यक्तियों की इच्छा, और द्वितीय, सामान्य हित पर आधारित विवेकशील इच्छामा

सामान्य इच्छा का निर्माण प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार की यथार्थ और आदर्श इच्छाएँ

होती है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति हर सार्वजनिक प्रश्न पर अपने ढंग से विचार प्रस्तुत करता है परन्तु यदि समाज सभ्य है और उसमें नागरिकता की भावना मौजूद है तो व्यक्तियों की इच्छाओं के स्वार्थपूर्ण तत्व एक-दूसरे को नष्ट कर देते हैं और ऐसा हो जाने पर सामान्य इच्छा बन जाती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति में स्वार्थी और सामाजिक इच्छाओं में प्रायः विरोध होता रहता है। जब स्वार्थी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं तो सामाजिक इच्छाएँ शेष रहती हैं। सभी व्यक्तियों की इन सामाजिक इच्छाओं के मिश्रण से सामान्य इच्छा का निर्माण होता है।

सामान्य इच्छा तीन दृष्टियों से सामान्य होनी चाहिए:

1. उद्गम की दृष्टि से इसमें सब नागरिकों की सहमति होनी चाहिए।

2. क्षेत्र की दृष्टि से यह राज्य की समस्त जनता से सम्बन्धित होनी चाहिए।

3. ध्येय की दृष्टि से यह समाज के हित के अनुकूल होनी चाहिए।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी धारणा की निम्नलिखित

विशेषताएँ हैं :

1. **अखण्डता**- सामान्य इच्छा एक संगठित इकाई होती है और कोई उसके खंड नहीं होता है। यह अखण्ड है क्योंकि सामान्य होने के कारण यह कई अंशों में विभाजित नहीं की जा सकती है। यह एकत्व वाली होती है तथा राज्य को एकता के सूत्र में पिरोती है। रूसो ने कहा है," सामान्य इच्छा राष्ट्रीय चरित्र में एकता उत्पन्न करती है और उसे स्थिर रखती है।"

2. **सम्प्रभुता -** सामान्य इच्छा सर्वोच्च और सम्प्रभु होती है। इस पर किसी प्रकार के दैवी और प्राकृक्तिक नियमों का प्रतिबंध जरूरी नहीं होता। यही कानून का निर्माण करती है, धर्म का निरूपण करती है एवं नैतिक और सामाजिक जीवन को संचालित करती है। रूसो के शब्दों में "जो कोई सामान्य इच्छा का पालन नहीं करता वह आज्ञा पालन के लिए समस्त समाज द्वारा विवश किया जा सकता है। इसका अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं है कि उसे स्वतन्त्र होने के लिए विवश किया जाये। रूसो की सामान्य इच्छा में यह विरोधाभास है। इसका अर्थ यह है कि जब स्वार्थ की इच्छा सामान्य इच्छा से टकराती है तो सामान्य इच्छा अर्थात् राज्य मनुष्य को अपनी स्वार्थ की इच्छा छोड़ने की सजा देता है।"

3. **अदेयता** -सामान्य इच्छा अदेय है अर्थात यह इच्छा किन्हीं व्यक्तियों को हस्तांतरित नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक नहीं किया जा सकता है, उसे किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता, वैसे ही प्रभुसत्ता को सामान्य इच्छा से अलग करना सम्भव नहीं है।

4. **अप्रतिनिधित्व** - सामान्य इच्छा प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किये जाने योग्य नहीं है। रूसो ने कहा है कि जब कोई राष्ट्र प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है तब वह स्वतन्त्र नहीं रह जाता, अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। उसके अनुसार तो संसद के सदस्यों के केवल निर्वाचन के समय ही इंग्लैण्ड की जनता स्वतंत्र होती है, निर्वाचनों के बाद जनता दास और नगण्य बन जाती है। वस्तुतः रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का उपासक है, इसमें सब व्यक्ति अपनी इच्छा को स्वयमेव अभिव्यक्त करते हैं।

5. **अचूक** -सामान्य इच्छा अचूक (Infalliable) है, क्योंकि यह सभी व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का सामूहिक रूप है इसलिए वह सदा न्यायसंगत है और उचित है।

6. **स्थायी** -सामान्य इच्छा किसी भी प्रकार से भावात्मक आवेशों, आवेगों या सनक का परिणाम नहीं होती अपितु मानव के जनकल्याण की स्थायी प्रवृत्ति और विवेक का परिणाम होती है। व्यक्तियों के विवेक पर आधारित होने के कारण उसमें परिवर्तन नहीं होता।

7. **लोक कल्याणकारी** - सामान्य इच्छा की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका लोक कल्याणकारी होना है। सामान्य इच्छा का ध्येय समाज के किसी अंग का कल्याण न होकर सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है।

8. **विवेक पर आधारित -** सामान्य इच्छा किसी प्रकार की भावनाओं पर नहीं वरन् तर्क तथा विवेक पर आधारित होती है। यह हमेशा उचित और सही होती है क्योंकि हमेशा पूरे समाज के कल्याण से प्रेरित होती है।

9. **कानून द्वारा अभिव्यक्ति-** रूसो की सामान्य इच्छा सामान्य कानून द्वारा अपने को व्यक्त करती है, किसी अन्य माध्यम द्वारा नहीं।

10. **निरंकुश-** सामान्य इच्छा सर्वोच्च व निरंकुश होती है। इसके ऊपर समाज की कोई अन्य शक्ति नहीं हो सकती। इसकी आज्ञा का पालन सबके लिए अनिवार्य है।

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा की उपर्युक्त विशेषताओं से 'सामान्य इच्छा' अवधारणा की प्रकृति को समझने में सहायता मिलती है। इन विशेषताओं के आधार पर हम अग्रलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :

1. राजनीतिक संगठन या राज्य को एक संगठित शरीर या विराट पुरुष मानना चाहिए। इसमें अन्य सावयवों की भाँति सावयवी एकता (Organic Unity) होती है।

2. यह राजनीतिक संगठन या विराट पुरुष नैतिक प्राणी होता है, इसकी अपनी इच्छा होती है।

3. यह सम्पूर्ण समाज के लिए प्रयत्नशील रहती है। 4.

यह सब कानूनों और विधियों का मूल स्रोत है।

5. यह अपने राज्य के सब सदस्यों के लिए न्याय और अन्याय का निर्धारण करती है।

6. यह सदैव सही और सार्वजनिक हित का पोषण करने वाली होती है।

7. सामान्य इच्छा ही उस समाज या अन्य राज्य की सम्प्रभु (Sovereign) है। सम्प्रभु होने के कारण सामान्य इच्छा की सभी आज्ञाओं का पालन करना समाज के सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक है।

सामान्य इच्छा और बहुमत -रूसो की सामान्य इच्छा बहुमत से भिन्न है। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति में संख्या का कोई मूल्य नहीं है। वह किसी एक या कुछ व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है। यदि समाज का एक बहुसंख्यक वर्ग अपने अनुचित निर्णयों को अल्पसंख्यक वर्ग पर थोपने का प्रयास करे तो उसके इस कार्य को समाज की सामान्य इच्छा का प्रतीक नहीं माना जा सकता ।

सामान्य इच्छा और सर्वसम्मति -सामान्य इच्छा व सर्वसम्मति में अन्तर करते हुए रूसो ने लिखा है कि प्रथम का लक्ष्य सार्वजनिक होता है जबकि द्वितीय का लक्ष्य वैयक्तिक हित होता है। सर्वसम्मति समाज के सब व्यक्तियों की इच्छा होती है, जबकि सामान्य इच्छा एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या सब व्यक्तियों द्वारा व्यक्त इच्छा भी हो सकती है। सर्वसम्मति व्यक्तियों के हितों से सम्बन्धित हो सकती है, पर सामान्य इच्छा अनिवार्यतः समस्त समाज के कल्याण से ही सम्बन्धित होती है। यह आवश्यक नहीं है कि सामान्य इच्छा सर्वसम्मति या बहुसंख्यकों की सम्मति हो। इसे एक व्यक्ति भी प्रकट कर सकता है। जैसे भारत के विभाजन के पश्चात् हिदुओं एवं मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक संघर्ष हुआ। हिन्दू एवं मुसलमानों के बहुसंख्यक संप्रदाय एक दूसरे पर आक्रमण करना चाहते थे पर महात्मा गांधी ने इन दोनों के इस कार्य को गलत बताया क्योंकि दोनों संप्रदायों में संघर्ष, दोनों के लिए स्वार्थ की इच्छा

थी, सामान्य इच्छा नहीं। एक व्यक्ति अर्थात् महात्मा गांधी की इच्छा सामान्य इच्छा थी।

सामान्य इच्छा की इस नैतिक भावना का प्रयोग जब हिटलर एवं मुसोलिनी अपने प्रभुत्व एवं आधिपत्य के लिए करते हैं तब रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा का दुरुपयोग हो जाता है।

सामान्य इच्छा और लोकमत - सामान्य इच्छा और लोकमत को भी एक नहीं समझना चाहिए।

लोकमत का रूप कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है जिसका सम्बन्ध समाज के हित से न हो, पर सामान्य इच्छा सदा समाज के स्थायी हित का प्रतिनिधित्व करती है। समाचार, रेडियो आदि प्रचार साधनों द्वारा लोकमत को भ्रष्ट किया जा सकता है पर सामान्य इच्छा विकृत नहीं होती।

सामान्य इच्छा सिद्धान्त की आलोचना- रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीति के सर्वाधिक विवादास्पद विषयों में से एक है। इस सिद्धान्त में कतिपय गम्भीर दोष है, जो इस प्रकार है:

1. **सिद्धान्त की अस्पष्टता**- सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अस्पष्ट है। कभी रूसो कहता है सामान्य इच्छा और सभी की इच्छा में महान् अन्तर है; कहीं-कहीं पर उसने बहुमत की इच्छा को सामान्य इच्छा मान लिया है। बहुत कुछ तो रूसो ने भावावेश में आकर लिख दिया जो तर्क की दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं। उसकी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में पग-पग पर अस्पष्टता, विरोधाभास तथा अन्तर्विरोध भरा पड़ा है। वेपर के अनुसार "जब रूसो ही हमको सामान्य इच्छा का पता नहीं दे सका तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का ही लाभ क्या हुआ ? रूसो ने हमें एक ऐसे अन्धकार में छोड़ दिया है जहाँ सामान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।"

2. **सामान्य इच्छा** -अनैतिहासिक तथा काल्पनिक है- रूसो की 'सामान्य इच्छा' उसकी काल्पनिक उड़ान है। इतिहास में इस प्रकार के समझौते का वर्णन नहीं मिलता जैसा रूसो ने चित्रित किया है।

3. **यथार्थ और आदर्श इच्छा का काल्पनिक भेद**- रूसो ने व्यक्ति की इच्छाओं को दो भागों में बाँटा है- यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा। वास्तव में इच्छाओं का इस प्रकार का विभाजन सम्भव नहीं। व्यक्ति की इच्छा ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है कि उसका यह विभाजन सम्भव नहीं है।4. सामान्य इच्छा निरंकुशता को प्रोत्साहन देती है सामान्य इच्छा अधिनायकवाद तथा सर्वाधिकारवाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। रूसो कहता है कि कानून इस सामान्य इच्छा के द्वारा ही बनाए जाते हैं। सामान्य इच्छा का कोई भी व्यक्ति उल्लंघन नहीं कर सकता। सामान्य इच्छा के नाम पर शासक द्वारा व्यक्ति पर मनमाने अत्याचार किये जा रहे हैं। जोन्स ने लिखा है कि "रूसो के सामान्य इच्छा विषयक सिद्धान्त में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व हैं जो उसे जनतन्त्र के समर्थन से हटाकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।" डाइड के शब्दों में, "रूसो सामान्य इच्छा की आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है।" वाहन के अनुसार "रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त हॉब्स का सिरविहीन लेवियाथन है।"

5. **सार्वजनिक हित की परिभाषा करना कठिन** - सामान्य इच्छा का विचार सार्वजनिक हित के विचार पर आधारित है। लेकिन सार्वजनिक हित की परिभाषा करना अत्यंत कठिन है। एक निरंकुश तानाशाह भी अपने कार्यों को सार्वजनिक हित के नाम पर उचित ठहरा सकता है।

6. **सामान्य इच्छा व्यक्ति की महत्ता को नष्ट कर देती है-** सामान्य इच्छा से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है। सामान्य इच्छा के सामने व्यक्ति की इच्छा को कोई महत्व नहीं दिया गया है। रूसो सामान्य इच्छा की अवज्ञा करने वाले को इसके पालन के लिए बाध्य करता है। स्वतंत्र होने के लिए बाध्य करना एक विचित्र तर्क है। इसी प्रकार का तर्क, जैसा सेबाइन ने लिखा है, "रूसो के दर्शन में और उसके बाद हीगल के दर्शन से सन्दिग्ध शब्दजाल के साथ एक खतरनाक परीक्षण है।"

7. **छोटे राज्यों के लिए ही उपयुक्त** -सामान्य इच्छा का सिद्धान्त केवल छोटे राज्यों में ही सफल हो सकता है क्योकि यहां पर जनसंख्या के कम होने पर सामान्य इच्छा का पता आसानी से लगाया जा सकता है। आधुनिक युग के बड़े

राज्यों में जिनमें बड़ी संख्या में विभिन्न प्रकार के जनसमूह निवास करते है, सामान्य हित पर आधारित इच्छा का पता लगाना कठिन ही नहीं असम्भव है। अतः यह बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं है।

8. **प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में सम्भव नहीं**- रूसो का विचार है कि सामान्य इच्छा की सिद्धि के लिए सभी व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रभुसत्ता के प्रयोग में सक्रिय भाग लिया जाना चाहिए। इस शर्त का पालन प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में भले ही सम्भव हो, आधुनिक समय के प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्रों में कतई सम्भव नहीं हो सकता। रूसो द्वारा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का यह तिरस्कार अन्तिम रूप में लोकतन्त्र का तिरस्कार हो जाता है क्योंकि वर्तमान समय में प्रतिनिध्यात्मक शासन ही लोकतन्त्र का एकमात्र व्यावहारिक रूप है।

सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्व -विभिन्न दोषों के उपरान्त भी रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्व रखता है:

1. सामान्य इच्छा का विचार लोकतन्त्र का पोषक है क्योंकि यह प्रभुसत्ता का आधार जनस्वीकृक्ति मानता है

2. इसने यह प्रतिपादित किया कि राज्य का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष का नहीं किन्तु समूचे समाज का कल्याण और जनता का हित सम्पादन करना होना चाहिए, सामाजिक और सामान्य हित वैकल्पिक हितों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट है।

3. रूसो के सिद्धान्त ने आदर्शवादी विचारधारा को प्रेरणा प्रदान की है क्योंकि इसने यह प्रतिपादित किया है कि 'शक्ति नहीं वरन् इच्छा राज्य का अधिकार है'।

4. यह सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज, शरीर तथा उनके अंगों के समान सम्बन्ध स्थापित करके सामाजिक स्वरूप को सुदृढ़ करता है।

5. यह सिद्धान्त यह भी घोषित करता है कि राज्य कृत्रिम न होकर एक स्वाभाविक संस्था है। कोल के अनुसार यह हमें सिखाता है कि राज्य मनुष्य की प्राकृक्तिक आवश्यकताओं और इच्छाओं पर :

आधारित है, इसीलिए राज्य के प्रति हमें आज्ञाकारी होना चाहिए क्योंकि वह हमारे व्यक्तित्व का ही स्वाभाविक विस्तार है।

16.8 रूसो की प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा (Rousseau's Concept of Sovereignty)-

रूसो ने प्रभुसत्ता को सामान्य इच्छा में निहित माना है। बोदां तथा हॉब्स ने प्रभुसत्ता के विचार से राजा की निरंकुश सत्ता को पुष्ट किया था, रूसो की यह विशेषता है कि उसने इससे जनता की सत्ता का समर्थन किया। रूसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रभुता का भागीदार है, अतः सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित है, वह सर्वोच्च शक्ति है। उसके विरुद्ध किसी को भी विद्रोह करने का अधिकार नहीं है। वस्तुतः रूसो ने जनता की सत्ता का प्रतिपादन करके 'लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया।

रूसो की प्रभुसत्ता की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं- पहली विशेषता अविच्छेदता है। चूँकि सामान्य इच्छा के रूप में यह जनता में रहती है अतः यह कभी उससे पृथक नहीं हो सकती है। दूसरी विशेषता इसका प्रतिनिधित्व न हो सकना है। चूँकि यह जनता में सामूहिक रूप से निवास करती है अतः कोई भी व्यक्ति इसका समूचे रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। तीसरी विशेषता इसका असीम और अमर्यादित होना है अर्थात इस पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते हैं। चौथी विशेषता इसका सब कानूनों का मूल स्त्रोत होना है; अर्थात राज्य के सब कानून में इसका निवास होने के कारण इसका विभाजन सम्भव नहीं है।

इस प्रकार रूसो ने जनता की असीम, अमर्यादित, अनन्यक्राम्य और अविभाज्य प्रभुसत्ता का प्रतिपादन किया है। उसके सम्प्रभुता के सिद्धान्त में हॉब्स और

लॉक दोनों के विचारों का समन्वय है। अरनेसेट रीज के शब्दों में "रूसो हॉब्स की निरंकुश प्रभुसत्ता के विचार को लॉक के जन सहमति के विचार से समन्वित करके जनप्रभु सत्ता के दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण करता है"।

16.9रूसो की सामान्य इच्छा अथवा रूसो के राजदर्शन में निरंकुशतावाद के तत्व (Rousseau's General Will or Absolutism in Rousseau)

राजदर्शन में रूसो को स्वतन्त्रता, व्यक्तिवाद, जनसम्प्रभुता और लोकतन्त्र का प्रतिनिधि विचारक माना जाता है, किन्तु यह एक आश्चर्य की बात है कि, अपनी 'सामान्य इच्छा' के सिद्धान्त द्वारा जनसम्प्रभुता का समर्थन करते-करते उसका चिन्तन निरंकुशतावाद में परिवर्तित हो जाता है।

रूसो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल कान्ट्रेक्ट' में मानव के स्वभाव का चित्रण करते हुए आदिम मनुष्य को पशुतुल्य, निष्पाप और आदर्श बर्बर (Noble Savage) बताया है। उसे नैतिकता के विचारों से रहित सहज भावना से काम करने वाला बुद्धिहीन प्राणी कहा है।

रूसो के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था वर्तमान मनुष्य की सभ्य सामाजिक अवस्था से कहीं अधिक अच्छी थी। इस अवस्था में मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, सम्पत्ति और परिवारों से रहित स्वर्गीय अवस्था में रहता था। उसका जीवन उदात्त वनचर जैसा था। किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। सम्पत्ति रूपी सर्प ने इसमें प्रवेश किया और प्राकृतिक अवस्था की सुख-शान्ति को नष्ट कर दिया। धनी व निर्धन का भेद उत्पन्न हुआ। अमीरों ने निर्धनों पर अत्याचार और निर्धनों ने अमीरों के विरुद्ध षड्यंत्र करने प्रारम्भ कर दिये। अन्त में इस दुर्व्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए व्यक्तियों ने अनुबंध के आधार पर राज्य की स्थापना की। सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने समस्त अधिकारों का समर्पण किया गया। किन्तु अधिकारों का यह समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं वरन् मानव समाज के लिए किया गया है। वे समझौते के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा के अन्तर्गत रहते हुए कार्य करते हैं। रूसो के शब्दों में, "प्रत्येक

अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के आधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में हम में से प्रत्येक व्यक्ति समूह के अविभाज्य अंग के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।"रूसो के सामाजिक समझौते से सामान्य इच्छा पर आधारित प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है। रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएँ हैं- अखण्डता, अदेयता, सर्वोच्चता, स्थायित्व, निरंकुशता आदि। रूसो के सिद्धान्त में जनता द्वारा अपने समस्त अधिकारों का समर्पण सामान्य इच्छा को कर दिया जाता है और जनता को किसी भी परिस्थिति में सामान्य इच्छा (राज्य) के विरोध का अधिकार नहीं है। इसीलिए जोन्स ने लिखा है कि "रूसो के सामान्य इच्छा विषयक सिद्धान्त में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व है जो उसे जनतन्त्र के समर्थन की ओर से हटाकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।" डाइड के अनुसार, "रूसो सामान्य इच्छा की आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है।"

16.10 रूसो के राजदर्शन की आलोचना (Criticism ot Rousseau's Political Philosophy)

राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत रूसो की विचारधारा बहुत अधिक आलोचना का विषय रही है। रूसो का दर्शन उसके पाठकों के लिए एक पहेली है। एक ओर तो उसे महान दार्शनिक समझा जाता है जिसका राज्य के स्वरूप के विषय में ज्ञान अन्य किसी विचारक की अपेक्षा अधिक था तो दूसरी ओर उसे मिथ्यावादी तथा 'उलूकवाणी' विशेषणों से पुकारा गया है। वाल्टेयर जो रूसो के दर्शन पर व्यंग्य करते हुए लिखता है कि 'सोशल कान्ट्रेक्ट' को पढ़ने पर मुझे दोनों हाथों और पैरों पर चलने की इच्छा होती है। लेमीटर के अनुसार उसकी पुस्तक में असंगतियों की भरमार है; रूसो की विचारधारा में प्रमुख रूप से निम्नांकित दोष बताए जाते हैं।

1. **उसकी विचारधारा में असंगतियाँ एवं विरोधाभास-** रूसो की विचारधारा असंगतियों और विरोधाभासों से भरी पड़ी है। वह अपने सामाजिक समझौते का

आरम्भ व्यक्ति के अधिकारों पर बल देने वाले व्यक्तिवाद से करता है किन्तु इसकी समाप्ति व्यक्ति पर प्रभुता रखने वाली निरंकुश और समष्टिवादी विचारधारा के साथ करता है। वाहन ने ठीक ही लिखा है कि एक ओर तो वह राज्य का प्रबल पोषक था, दूसरी ओर वह व्यक्ति का उग्र समर्थक था और वह इन दोनों विरोधी आदर्शों को नहीं छोड़ सका। एक ओर वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, दूसरी ओर उसे राज्य का दास बनाता है। एक ओर सहिष्णुता की नीति का उपदेश देता है, दूसरी ओर अपने राज्यों से नास्तिकों को निष्कासित करता है। इन विरोधाभासों के कारण ही मार्ले ने उसके बारे में लिखा है कि यद्यपि रूसो एक महान विचारक कहा जाता है किन्तु वह नहीं जानता कि विचार किस प्रकार किया जाता है।

2. **निरंकुशतावाद का समर्थक** - रूसो दार्शनिक आधार पर निरंकुशतावाद का समर्थक बन गया। उसने असीमित, अविभाज्य एवं अनियंत्रित सम्प्रभुता का प्रतिपादन किया उसने राज्य को ही अधिकारों का सृष्टा बतलाया। उसने कहा कि 'जो व्यक्ति सामान्य इच्छा का पालन नहीं करेगा उसे सारा समाज आज्ञापालन के लिए मजबूर करेगा, इसका अर्थ यह है कि उसे स्वतन्त्र होने के लिए मजबूर किया जायेगा। यह स्थिति रूसो के दर्शन में स्वतन्त्रता की दुविधा' (Paradox of Freedom) के नाम से जानी जाती है। रूसो व्यक्ति को सामान्य इच्छा या प्रभुसत्ता के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं देता। वह सामान्य हित की बलिवेदी पर व्यक्तिगत अधिकार की भेंट चढ़ा देता है। वह सामान्य इच्छा के समुद्र में व्यक्ति की इच्छा को डुबो देता है, वह एक को अनेक की भीड़ में खो देता है। इस प्रकार लोकतन्त्र का यह महान पुजारी निरंकुश राज्य सत्ता की स्थापना करता है। इसीलिए डुग्बी ने उसे जेकोबिन निरंकुशवाद का जन्मदाता तथा कान्ट और हीगल के निरंकुशवादी सिद्धान्तों को प्रेरणा देने वाला कहा है।

3. **मानव स्वभाव सम्बन्धी आदर्शात्मक विचार-**रूसो का मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार काल्पनिक व आदर्शात्मक है। वह मनुष्य को भला, शान्त व भोलाभाला मानता है जबकि मनुष्य के स्वभाव में अच्छाई व बुराई दोनों ही पायी जाती हैं।

4. **बुद्धिवाद और प्रगति का विरोधी-** रूसो बुद्धिवाद, विज्ञान और कला का विरोधी है। भावुकता के प्रति अत्याधिक विश्वास रखने के कारण वह यह मानता था कि जीवन-यापन विवेक के अनुसार नहीं वरन् भावना के अनुसार किया जाना चाहिए। "उसकी अपील भावनाओं की अपील थी, तर्क की नहीं।" उसकी यह मान्यता थी कि विवेक,, कला और विज्ञान ने मनुष्य का पतन कर दिया है और इसलिए उसका कल्याण तभी संभव है जबकि वह इनसे मुक्त होकर पुनः प्रकृक्ति की ओर लौटे। इसीलिए आलोचकों ने रूसो को प्रगति विरोधी कहा है। वाल्टेयर ने जब रूसो से सोशल कान्ट्रेक्ट, की प्रति प्राप्त की तो अपने धन्यवाद पत्र में लिखा "श्रीमानजी, मैंने मानवजाति विरोधी आपकी नवीन पुस्तक प्राप्त की जिसके लिए आपको धन्यवाद। हमें पशु बनाने के प्रयत्न में जितना परिहास आपने किया, उतना कभी किसी ने नहीं किया। आपकी पुस्तक को पढ़ने से यही जी चाहता है कि चारों हाथों तथा पैरों से चलने लगें। परन्तु इस अभ्यास को छोड़े हुए मुझे लगभग 60 साल हो चुके हैं, अतः अब इसे अपना सकना असम्भव है।" वाल्टेयर ने अपने एक अन्य पत्र में यहाँ तक लिखा है कि "रूसो में और दार्शनिक में उतना ही साम्य है, जितना बन्दर और आदमी में है।"

16.11रूसो का महत्व और योगदान (Rousseau's Significance and Contribution)

राजनीतिक विचारों के इतिहास में रूसो का नाम अमर है। वह आम आदमी का भावुक दार्शनिक था, उसे क्रांति का अग्रदूत तथा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का आवारा मसीहा कहा जाता है। डनिंग के शब्दों में रूसो का दर्शन निश्चयमूलक (conclusive) की अपेक्षा व्यंजनात्मक (speculative) अधिक है, परन्तु रूसो की कल्पनाओं व मिथ्या उक्तियों ने जनता को अधिक प्रभावित किया उतना मान्टेस्क्यू के सन्तुलित तर्क ने तथा गम्भीर पर्यवेक्षण तक ने नहीं।" जी.डी. एच. कोल ने रूसो को राजदर्शन का पिता कहा है। उसके अनुसार सोशल कान्ट्रेक्ट राजदर्शन की दृष्टि से महानतम ग्रन्थ है। "यह कहना भूल है कि राजनीतिक विचारों पर रूसो का प्रभाव मृतप्राय है, उसके विपरीत वह बढ़ता जा रहा है।" राजनीतिक दर्शन को रूसो का योगदान इस प्रकार है।

1. **सामान्य इच्छा का सिद्धान्त** -रूसो के राजदर्शन का सबसे महत्वपूर्ण योगदान है उसके सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचार। सामान्य इच्छा सिद्धान्त ने राजनीतिक जीवन में 'समुदाय' के महत्व की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। डनिंग के अनुसार 'इन्हीं के विचारों के द्वारा रूसो ने राष्ट्र-राज्य सम्बन्धी विचारों को बल दिया'।

2. **लोकप्रिय सम्प्रभुता की धारणा**- सामान्य इच्छा के सिद्धान्त से भी अधिक महत्वपूर्ण देन रूसो की 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' की धारणा है। रूसो ने बताया है कि राजनीतिक संस्था का स्वरूप कुछ भी हो उसमें जनता की सम्प्रभुता एक तथ्य है। उसने कहा प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित है, सरकार सर्वोच्च सत्ता रखने वाली जनता की सेवक मात्र है। जनवाणी, देववाणी है, शासन का आधार जनता की सहमति है।

3. **राष्ट्रवाद का उद्घोषक** -रूसो यद्यपि राष्ट्रवाद का समर्थक नहीं था, किन्तु समूह की एकता और दृढ़ता की भावनाओं पर बल देकर उसने राष्ट्रभक्ति को एक आदर्श रूप दिया। रूसो ने सामान्य इच्छा के अपने सिद्धान्त द्वारा राष्ट्रवाद के नैतिक पक्ष को पुष्ट किया। रूसो की सामान्य इच्छा को राष्ट्र की आत्मा के रूप में मानकर हीगल ने एक ऐसे आदर्शवाद का प्रतिपादन किया जो उग्र राष्ट्रवाद में परिणत हुआ ।

संक्षेप में, रूसो स्वतन्त्रता तथा समानता का पुजारी था, मगर व्यक्ति को राज्य के खिलाफ अधिकार न दे सका। वह सामान्य हित तथा सामान्य इच्छा का असाधारण दार्शनिक था। उसने लौकिक प्रभुत्व का सिद्धान्त दिया, सामान्य हित को व्यक्तिगत हित से महत्वपूर्ण बताया, प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थन किया, जनता द्वारा कानून बनाने और राजनीति में हिस्सा लेने को उचित ठहराया, राज्य का हित सामान्य हित, राज्य का आधार सामान्य इच्छा बताया और यही उसके प्रगतिशील विचार थे। सम्पत्ति के बुरे प्रभावों को रूसो ने अच्छी तरह देखा, समाज को गरीब अमीर में बंटे देखा, मनुष्य के शोषण को बुरा ठहराया, मगर वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में 18 वीं शताब्दी के उभरते हुए पूँजीवादी युग में वर्ग संघर्ष न देख सका और एक प्रकार वह समाज में एकता का थोथा आधार दे चला । रूसो के प्रभाव की सबसे बड़ी विशेषता यह

थी कि उसके दर्शन में आधुनिक काल की सभी प्रमुख विचारधाराओं समाजवाद, अधिनायकवाद तथा व्यक्तिवाद के बीज मिलते हैं। बार्कर ने उसे व्यक्तिवाद का प्राण माना है। जर्मन और ब्रिटिश आदर्शवाद का तो वह अग्रदूत ही है। फ्रांस की राज्य क्रांति का सेहरा भी रूसो के क्रान्तिकारी विचारों को है। फ्रेंच क्रान्तिकारियों के बारे में बर्क ने लिखा है," रूसो ही उसकी बाईबिल है, उसे ही वे पढ़ते हैं, मनन करते हैं। अमरीकन तथा अन्य संविधानों में आरम्भ के शब्द "हम लोग" (We the People) रूसो की आवाज है। कोल ने ठीक ही लिखा है कि "रूसो की रचना 'सोशल कान्ट्रेक्ट' राजनीतिशास्त्र की एक सवर्वोत्तम पाठ्यपुस्तक है।" लैन्सन के इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आधुनिक युग को लाने वाले समस्त मार्गों पर हम उसे खड़ा हुआ पाते हैं।

16.12सार संक्षेप

- प्राकृतिक अवस्था (State of Nature): रूसो ने तर्क किया कि मनुष्य मूल रूप से स्वतंत्र और समान था, लेकिन सामाजिक अनुबंध के कारण वह भ्रष्ट हो गया। उन्होंने प्राकृतिक अवस्था को मानवता का स्वर्णिम युग माना, जहाँ लोग स्वतंत्रता और समानता में रहते थे।
- सामाजिक अनुबंध (Social Contract): रूसो की प्रसिद्ध कृति "सामाजिक अनुबंध" में, उन्होंने प्रस्तावित किया कि सही सरकार वह है जो जन-सहमति पर आधारित हो। उनके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता को समाज की भलाई के लिए कुछ हद तक छोड़ने का अधिकार है, जिससे सामान्य इच्छा (General Will) का निर्माण होता है।
- शिक्षा का महत्व: रूसो ने शिक्षा पर भी ध्यान दिया, विशेष रूप से उनकी पुस्तक "Emile" में। उन्होंने तर्क किया कि शिक्षा को स्वाभाविक और बच्चे की विकासात्मक आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए

16.13 मुख्य शब्द

- **प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)**: वह काल जहाँ मनुष्य बिना किसी सामाजिक या राजनीतिक संरचना के जीवन जीता था।
- **सामाजिक अनुबंध (Social Contract)**: वह सिद्धांत जिसके अनुसार सरकार का अधिकार जन-सहमति से आता है।
- **सामान्य इच्छा (General Will)**: समाज की सामूहिक इच्छा जो व्यक्तिगत इच्छाओं से ऊपर होती है।
- **स्वतंत्रता (Liberty)**: व्यक्तियों के अपने निर्णय लेने की स्वतंत्रता।
- **शिक्षा (Education)**: ज्ञान और कौशल का अधिग्रहण, जो स्वाभाविक और विकासात्मक दृष्टिकोण पर आधारित होना चाहिए।

16.14 स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्न

1.जीन जैक्स रूसो की प्रसिद्ध कृति है-

(अ) लेवियाथन

(ब) सोशल कान्ट्रेक्ट

(स) ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स

(द) दि प्रिन्स

2.सभ्यता के उदय के साथ-साथ मनुष्य की तनावग्रस्तता बढ़ती गई- यह विचार किसने प्रतिपादित किया-

(अ) हॉब्स

(ब) रूसो

(स) लॉक

(द) मेकियावेली

3. प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति के लिए किसने 'आदर्श बर्बर' शब्द का प्रयोग किया है-

(अ) रूसो

(ब) लॉक

(स) हॉब्स

(द) उपर्युक्त सभी ने

4.रूसो प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को कैसा मानता है-

(अ) स्वार्थी

(ब) झगड़ालू

(स) संतुष्ट

(द) दुष्ट

5. रूसो द्वारा प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्त है-

(अ) वैज्ञानिक समाजवाद

(ब) सामान्य इच्छा सिद्धान्त

(स) दार्शनिक राजा का सिद्धान्त

(द) संविधानों का वर्गीकरण

16.15स्व-प्रगति परिक्षण प्रश्नों के उत्तर

उत्तर- 1. (स), 2. (स), 3. (अ), 4. (ब), 5. (स),

16.16 सन्दर्भ ग्रन्थ

- **रूसो, ज. ज. (2017).** *सामाजिक समझौता: राजनीति और समाज के सिद्धांत.* भारत: राजकमल प्रकाशन.
- **रूसो, ज. ज. (2020).** *मानव विकास और शिक्षा पर विचार.* दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

- **रूसो, ज. ज. (2023).** *समाज का अनुबंध: स्वतंत्रता और समानता की अवधारणाएं.* मुंबई: हार्पर कॉलिंस इंडिया.

16.17 अभ्यास प्रश्न

1."रूसो की सामान्य इच्छा हॉब्स का सिरविहीन सम्प्रभु है।" विवेचना कीजिए।

2. रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। क्या रूसो समष्टिवादी है?

3. "रूसो की सामान्य इच्छा न तो सामान्य ही है और न इच्छा ही है।" इस कथन के आधार पर रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

4. रूसो के "मानव स्वभाव" तथा 'प्राकृतिक अवस्था संबंधी विचारों का विश्लेषण कीजिए।

5.'सामाजिक समझौता' संबंधी रूसो के विचारों का विश्लेषण कीजिए।

टिप्पणी लिखिए

1. सामान्य इच्छा का सिद्धान्त ।

2. रूसो एवं प्रभुसत्ता का सिद्धान्त ।